हिन्दी समिति ग्रन्थ-माला — १२

ज्यूल ब्लॉख कृत

भारतीय-आर्य भाषा

(वेदों से लेकर आधुनिक समय तक)

मूल फ्रेंच से अनूदित

अनुवादक
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय



प्रकाशक
हिन्दी समिति,
उत्तर प्रदेश शासन
हिन्दी भवन,
लखनऊ

भारतीय आर्य भाषा

० ० ०

प्रथम संस्करण १९६३ ई०

द्वितीय संस्करण १९७२ ई०

मूल्य रु० १० ५०

मुद्रक
औ० डब्लू० लॉरी एण्ड कम्पनी, लखनऊ

● प्रकाशकीय

भाषा विज्ञान के क्षेत्र में जिनकी रुचि है, वे फ्रांस के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर ज्यूल ब्लॉख के नाम से अवश्य ही परिचित होंगे। श्री ज्यूल द्वारा प्रणीत ग्रन्थ "ल' आँ दो एरियाँ" भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए आवश्यक और प्रभूत साहित्य प्रस्तुत करता है, अतः इसका अपना महत्व है। इस ग्रन्थ में भारतीय-आर्य भाषा के सम्बन्ध में, उसके स्वरूप, विकास और इतिहास की, चर्चा विशद रूप में की गयी है। लेखक ने भारोपीय भाषाओं के अन्तर्गत अनेक भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन भी किया है। यही नहीं, संस्कृत के अतिरिक्त पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के उद्गम और उद्भव का उल्लेख करते हुए, लुप्तप्राय बोलियों की ओर भी दृष्टि-निक्षेप किया गया है। अनेक भारतीय भाषाओं के स्वर, व्यञ्जन, शब्द, क्रिया आदि के सम्बन्ध में रोचक और ज्ञानवर्धक प्रामाणिक तथ्य एवं विवरण देकर प्रोफेसर ज्यूल ने अपने व्यापक अध्ययन और ज्ञान की राशि का एक अंश इस ग्रन्थ में संचित और सुरक्षित करने की चेष्टा की है।

उक्त ग्रन्थ में भारत की अनेक आधुनिक भाषाओं के जन्म और विकास का वर्णन, संस्कृत के स्वरों और व्यञ्जनों की स्थिति

तथा ध्वनि के अन्तर्गत शब्दो के रूप और उनके उच्चारण-स्थान का भी वैज्ञानिक विवेचन है। इसी प्रकार, दूसरे खंड में रूप-विचार के सन्दर्भ मे संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, लिंग, प्रत्यय, कारक, वचन, आदि का विश्लेषण है तथा तीसरे खंड में क्रिया, प्रत्यय, कृदन्त आदि के सम्बन्ध मे आवश्यक चर्चा है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का महत्व और अध्ययन स्वयं स्पष्ट है। साहित्यिक जगत् इसके लिए प्रोफेसर ज्यूल का कृतज्ञ है।

इसी विख्यात पुस्तक **"ल' आँदो एरियाँ"** का अनुवाद **"भारतीय आर्य भाषा"** के नाम से आपके सामने है। इसका अनुवाद किया है डाक्टर वार्ष्णेय ने, जो हिन्दी के जाने-माने विद्वान् हैं और जिन्हे फ्रांसीसी भाषा का उचित ज्ञान तथा अध्ययन है, उन्होंने बड़े श्रम और मनोयोग से श्री ज्यूल के ग्रन्थ का रूपान्तर प्रस्तुत किया है और इस बात की चेष्टा की है कि मूल लेखक के विचार और भाव यथानुरूप हिन्दी के पाठको के सामने आ जायँ।

अनुवाद आपके सामने है। आप स्वयं देखेंगे, यह कितना सफल है। हिन्दी समिति डाक्टर वार्ष्णेय के प्रति कृतज्ञ है, जिनके सहयोग और श्रम से, इस रूप मे यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी है।

"भारतीय-आर्य भाषा" का यह दूसरा संस्करण है। पहला संस्करण सन् १९६३ मे प्रकाशित हुआ था। कागज तथा मुद्रण आदि की दरो मे वृद्धि हो जाने पर भी हमने इसका मूल्य बढाया घटाया नही है, कारण हम चाहते हैं कि यह पुस्तक हिन्दी के विद्वानो और भाषा-मर्मज्ञ पाठको और छात्रो को सहज सुलभ हो, और वे इससे अधिकाधिक लाभ उठाने मे समर्थ हों।

हमे विश्वास है, हिन्दी-प्रेमी पाठक अपनी ज्ञान-वृद्धि के लिए इसे उपयोगी पायेंगे और इसके प्रचार एवं प्रसार मे अपना योगदान करेंगे। सधन्यवाद।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'

सचिव,

हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश शासन

लखनऊ।

अनुवादक की ओर से

गार्साँ द तासी कृत 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी' के हिन्दी से संबंधित अंशों का अनुवाद (१९५२ ई०) पूर्ण कर लेने के पश्चात् मेरा ध्यान प्रो० ज्यूल ब्लॉख कृत 'ल'आँदो एरियाँ' ('भारतीय-आर्य भाषा') की ओर गया। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का महत्त्व सर्वविदित है। अतएव मैं इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का लोभ-संवरण न कर सका। अनुवाद अक्तूबर, १९५६ ई० में पूर्ण हो गया था। किन्तु औपचारिक कार्रवाइयों के पूर्ण होने, मुद्रण के लिये विशेष टाइपों के ढालने और फिर मुद्रित होने में जो समय लगा उसके बाद अब यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हिन्दी के विज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत है। उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी समिति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया, एतदर्थ मैं उसका अत्यन्त आभारी हूँ।

अनुवाद-कार्य अत्यन्त कठिन है—विशेषतः किसी यूरोपियन भाषा से हिन्दी में अनुवाद करना, और जब कि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी सामने हो। यद्यपि मूल की सहज-स्वाभाविक शैली का अनुवाद में लाना सरल नहीं है, तो भी प्रस्तुत अनुवाद में मूल के अधिकाधिक निकट रहने की चेष्टा की गयी है और शब्दों के रूपान्तरण तथा उनके वर्ण-विन्यास में एकरूपता रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। भूल से यदि कोई असामंजस्य रह भी गया होगा तो विश्वास है कि पाठकों को उसके समझने में कठिनाई न होगी।

जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों का संबंध है, कुछ पारिभाषिक शब्द तो ऐसे हैं जिनके लिये उपयुक्त हिन्दी-शब्दों का अभाव नहीं है। किन्तु ऐसे पारिभाषिक शब्द भी मिले जिनके हिन्दी प्रतिशब्दों का अस्तित्त्व ही नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अधिकारी विद्वानों के साथ परामर्श द्वारा और कुछ उपलब्ध शब्द-कोशों की सहायता से हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों का चयन किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिये अन्त में हिन्दी-अँगरेज़ी और अँगरेज़ी-हिन्दी पारिभाषिक शब्द-कोश संलग्न है। प्रस्तुत अनुवाद में व्यवहृत शब्द तो उनमें हैं ही, साथ ही ऐसे शब्द भी हैं जिनका प्रयोग अनुवाद में नहीं किया गया, यद्यपि ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। विविध उपलब्ध शब्द-कोशों से सहायता लेते समय यह भी पाया गया कि दो भिन्न अँगरेज़ी-शब्दों के लिये एक ही हिन्दी-शब्द चुना गया है। ऐसे शब्द भी प्रस्तुत

अनुवाद के साथ सलग्न कोशो मे दे दिये गये हैं। आशा है हिन्दी के भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस सबध मे अपना अंतिम निर्णय देंगे और हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली को अनिश्चितता की दशा से मुक्त करेंगे। हिन्दी प्रदेश मे भाषा-संबंधी स्थिति को ध्यान मे रखते हुए फ्रेंच-शब्दो के आधार पर कोश प्रस्तुत करना उपयुक्त नही जान पडा।

इसके अतिरिक्त अनुवाद के सबध मे मैं जिन अन्य बातो की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ वे इस प्रकार हैं

१ अनुवाद मे मूल के स्वर-भेदक चिह्न ज्यो-के-त्यो ग्रहण कर लिये गये हैं। इन चिह्नो सहित नये टाइप ढलवाने मे प्रेस को बडी कठिनाई का सामना करना पडा। जहाँ कठिनाई दु:साध्य प्रतीत हुई वहाँ मूल के स्वर-भेदक चिह्न नहीं दिये जा सके—विवशतावश। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

२. स्वर-भेदक चिह्नो की कठिनाई के कारण ही उदाहरणो के टाइप के और सामान्य टाइप के आकार-प्रकार मे अन्तर नही किया जा सका। उदाहरण यदि इटैलिक्स या अन्य किसी प्रकार के टाइप मे दिये जाते तो स्वर-भेदक चिह्नों के टूट जाने या न उभरने की आशका थी। ह्रस्व तथा दीर्घ ए, ओ पर स्वर-भेदक चिह्न इ लिए नही लगाये गये क्योंकि सस्कृत और आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं तथा बोलियो मे उनकी क्या स्थिति है, यह भाषा-विज्ञान के विद्वानो को विदित ही है।

३ विराम-चिह्नो के प्रयोग और वाक्य-सगठन की दृष्टि से मूल के ही निकट रहने की चेष्टा की गयी है।

४ मूल मे भारतीय-आर्य भाषाओ के उदाहरण-रूप मे दिये गये शब्दो का फ्रेंच मे अनुवाद दिया गया है। प्रस्तुत अनुवाद मे फ्रेंच मे दिये गये ऐसे अनुवादो का, कुछ अपवादो को छोडकर, अनुवाद नहीं किया गया, क्योंकि हिन्दी तथा अन्य भारतीय-आर्य-भाषा-भाषियो की दृष्टि से ऐसा करना पुनरावृत्ति मात्र होता और प्रस्तुत अनुवाद का व्यर्थ ही कलेवर बढ़ता। मूल लेखक ने तो सम्भवतः फ्रेंच भाषा-भाषियों को दृष्टि-पथ मे रखते हुए उदाहरण-रूप मे दिये गये शब्दो का फ्रेंच में अनुवाद किया था। इसी प्रकार ग्रीक, लैटिन आदि शब्दो को ग्रीक और रोमन लिपियों में भी देना अनावश्यक समझा गया। किन्तु कुछ विदेशी विद्वानो, उनके ग्रन्थो और साथ ही शब्दो के कुछ उदाहरणो आदि को रोमन लिपि मे भी प्रस्तुत करना इसलिए उचित समझा गया ताकि भ्रम के लिये कोई गुंजाइश न रह जाय।

वास्तव मे सदिग्ध और अस्पष्ट स्थलो के न रहने देने की यथाशक्ति चेष्टा करना अनुवादक का मुख्य उद्देश्य रहा है।

५. मूल का अनुवाद करते समय सबसे बड़ी कठिनाई अनेक संक्षिप्त रूपों के हिन्दी-रूपान्तरों के संबंध में रही। खेद है, प्रो० ज्यूल ब्लॉख ने, केवल भाषाओं से संबंधित थोड़े-से संक्षिप्त रूपों को छोड़कर, पुस्तक में कहीं भी उनके पूर्ण रूप नहीं दिये। एक ही संक्षिप्त रूप के हिन्दी मे दो या तीन पूर्ण रूप तक हो सकते हैं। प्रो० ज्यूल ब्लॉख के निकट रहकर अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानों से भी इस संबंध में कोई विशेष सहायता प्राप्त न हो सकी। अतएव जिनके पूर्ण रूप निश्चित समझे गये उन्हें हिन्दी मे रूपान्तरित कर दिया गया है। संदेहपूर्ण रूपों को ज्यों-का-त्यों रहने देना ही उचित जान पड़ा। उदाहरणार्थ, Sn. हो सकता है 'सुत्तनिपात' का संक्षिप्त रूप हो, किन्तु निश्चितता के अभाव मे वह अनुवाद मे ऐसा ही मिलेगा। किन्तु ऐसे स्थल कम हैं।

६. फ्रेंच ग्रन्थो मे विषय-सूची अन्त मे और सहायक ग्रन्थो की सूची प्रारभ मे मिलती है। अनुवाद में ग्रन्थ-सूची तो प्रारंभ मे ही रहने दी गयी है, किन्तु विषय-सूची भी प्रारभ मे रख दी गयी है, क्योंकि अँगरेजी-ग्रन्थो के अधिक सम्पर्क मे आने के कारण हम हिन्दी-भाषी विषय-सूची को अन्त मे रखने के अभ्यस्त नहीं रहे हैं। अनुवाद मे अनुक्रमणिका भी, जो मूल मे नही है, दे दी गयी है। और कोई विशेष परिवर्तन पुस्तक के मूल क्रम मे नही किया गया।

श्रीमती ब्लॉख और मूल ग्रन्थ के प्रकाशक ने अनुवाद करने के लिए अपनी अनुमति प्रदान की, इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मेरा कर्त्तव्य है।

मैं श्री डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा (सम्प्रति, सागर विश्वविद्यालय मे लिंग्विस्टिक्स के प्रोफ़ेसर), डा० उदयनारायण तिवारी (सम्प्रति, जबलपुर विश्वविद्यालय मे हिन्दी के प्रोफेसर), श्री मातावदल जायसवाल (हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय) और अपने विश्वविद्यालय के फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक डॉ० ए० के० मित्र का उनके विद्वत्तापूर्ण सत्परामर्शों के लिए आभारी हूँ। इतने पर भी अनुवाद मे यदि कोई दोष रह गया है तो उसका उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर है।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।
१९ दिसम्बर, १९६२ ई०

विषय-सूची

प्रकाशकीय ३

अनुवादक की ओर से ५

विषय-सूची ८-१२

संक्षिप्त रूप १३-१४

मूल लेखक द्वारा भूमिका १-२३

प्राचीन एशिया मे भारतीय-ईरानी, भारत मे उसके द्वारा ग्रहण किया गया रूप; सस्कृत का प्रसार और उसकी विशेषता;—मध्य-कालीन भारतीय भाषा; अशोक तथा साहित्यिक बोलियाँ, भारत से बाहर प्रसार—पाली, अन्य बौद्ध भाषाएँ, प्राकृत, जैन, क्लैसीकल नाटको की प्राकृतें, अपभ्रश; मूलभूत एकता, लुप्त बोलियों के अवशिष्ट चिह्न;—आधुनिक भाषाएँ; उनका जन्म, क्षेत्र की अविच्छिन्नता, सिंहली; जिप्सी-भाषा, हिमालय, हिन्दूकुश, खास भारत की भाषाएँ। ग्रन्थ का उद्देश्य तथा प्रणाली।

सहायक ग्रन्थ २४-२६

प्रथम खण्ड

ध्वनि २७-१०४

सस्कृत स्वर, सयुक्त-स्वर; अनुलेखन का मूल्य, प्रणाली की विशेषताएँ,—परवर्ती विकास; ऋ का अस्तित्व; सयुक्त-स्वरों का अस्तित्व, इ, उ, र् युक्त; अनुनासिकता-युक्त; मात्रा-काल तथा लय; (जोर देने के लिये) पुनरावृत्त व्यजनों से पूर्व स्वर, ह्रस्व ओ तथा ए का प्रकटीकरण; स्पर्श के बाद आने वाले अनुनासिको से पूर्व स्वर; अन्त्य स्वर, मध्यवर्ती, शब्द की दीर्घता का प्रभाव; सहायक स्वर; प्राचीन अनुनासिक स्वर; अनुनासिक तथा दीर्घ स्वरो की तुल्यता, अनुनासिक स्पर्शों के सामने अनुनासिकता, वैदिक स्वराघात, बाद के महत्त्व रहित; आधुनिक काल तक सुर की अभिव्यक्ति।

संस्कृत व्यंजन; संस्कृत और काफ़िर में महाप्राण; तालव्यों का मूल्य;—मूर्द्धन्य : मूल; सम्पर्क होने पर पूर्ववर्ती र्; व्यवधान होने पर; परवर्ती र् के संबंध में; प्रत्यक्षतः स्वतःप्रवृत्त मूर्द्धन्य-भाव; आधुनिक अन्तस्थ (द्रव वर्ण); विदेशी शब्द; महाप्राण स्पर्श; अल्पप्राणीकरण के उदाहरण; मुखरों का अघोषत्व या कठोरत्व; मध्यकालीन भारतीय भाषा में सोष्मों की अस्थिरता; आज उनकी अलभ्यता; संस्कृत ह; शिन्-ध्वनि से निकला मध्यकालीन भारतीय भाषा का ह्; ह् की दुर्बलता; आधुनिक तथा मध्यकालीन भारतीय भाषा का अभिव्यंजक ह्; उत्तराधिकार में प्राप्त शिन्-ध्वनियाँ; मुखरों का अभाव; संस्कृत की तीन शिन्-ध्वनियाँ; परवर्ती अव्यवस्था, प्रस्ताव का उदाहरण; शिन्-ध्वनियाँ कई हैं, और उत्तर-पश्चिम में कुछ मुखर सिन-ध्वनियाँ; अनुनासिक; द्रव वर्ण।

संस्कृत में मध्यवर्ती तथा अन्त्य व्यजन; मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अन्त्य का लोप; स्वर-मध्यग की दुर्बलता : महाप्राण; व्, य्, स्पर्श; अनुनासिक; समुदायों का समीकरण; शिन्-ध्वनियो से युक्त समुदाय, स्वनंत वर्ण वाले; दन्त्य के बाद व्, म्, परवर्ती अथवा पूर्ववर्ती र्; अनुनासिक के बाद संवृत की सहायता; शिन-ध्वनि के बाद म् अथवा व्; अनुनासिक के बाद; (ज़ोर देने के लिये) पुनरावृत्ति की सहायता; मध्यकालीन भारतीय भाषा में व्यंजन-संबंधी सामान्य प्रणाली; सादृश्यमूलक, संरक्षणात्मक, अभिव्यंजनात्मक पुनरावृत्ति; निष्कर्ष; अंशों का स्थायित्व, संतुलन का परिवर्तन।

द्वितीय खण्ड

रूप-विचार १०५-२२०

शब्द : परिवर्तन-क्रम

संस्कृत संज्ञा; साधारण तथा संयुक्त सामान्य विकरण; संज्ञामूलक धातुएँ; व्युत्पत्ति-युक्त; विकरण-युक्त रूप; -क- से पूर्व ह्रस्व या दीर्घ स्वर; विकरण का परिवर्तन-क्रम; स्वरों का; स्वरित-संबंधी; प्रत्यय; रूप-रचना का प्रयोग; उत्तरोत्तर सरलीकरण; विकरण-युक्त रूप-रचना; पुरुषवाचक सर्वनाम; सर्वनाम-विशेषण।

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञा; प्रत्ययों का परिवर्तन-क्रम; ध्वनि मूल का; प्रत्यय; क्लैसीकल प्राकृत में; अपभ्रंश में; पुरुषवाचक सर्वनाम; सर्वनाम-विशेषण।

नव्य-भारतीय में संज्ञा। लिंग; नपुंसक का सामान्य लोप; चेतन तथा अचेतन; लिंग के परिवर्तन; वचन: द्विवचन का लोप; चेतन वस्तुओं का बहुवचन; आदरसूचक बहुवचन; आकस्मिक व्यवस्था का परिवर्तन; पूरक; संज्ञाओं की रचना; संयुक्त शब्द अर्थात् "ध्वनित"; पर-प्रत्यय; रूप-रचना। प्रत्यक्ष कारक: मूल संज्ञाएँ; संबंधियों के नाम; व्याप्ति-युक्त संज्ञाएँ; अप्रत्यक्ष कारक: करण; अधिकरण; विकृत रूप; केवल उसी का प्रयोग; परसर्ग सहित; संबंधवाची विशेषण; विशेषण; एकरूपता; तुलना की श्रेणियाँ; उपपद के पूरक; संख्यावाची नामों का निर्धारण; बंगाली में निर्धारक तथा विभाजक; पुरुषवाचक सर्वनाम, आदरसूचक रूप। निश्चयवाचक तथा आवृत्तिमूलक; संबंधवाचक; प्रश्नवाचक; सर्वनाममूलक विशेषण; निजवाचक।

तृतीय खण्ड

क्रिया २२१-३२१

पुरुषवाची रूप :

वैदिक में : सामान्य पक्ष, प्रत्यय।—वर्तमान० तथा सामान्य अतीत-संबंधी विकरण। पूर्ण तथा उसके प्रत्यय। क्रियार्थ भेद। रूपों का प्रयोग . वाच्य; प्राथमिक तथा विकृत प्रत्यय; पूर्ण० का योग। परवर्ती संकुचन।

उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा में; वर्तमान० विकरण; भविष्यत्०; अतीत काल; मध्य प्रत्यय; भविष्यत्० के, वर्तमान० के, आज्ञार्थ के, आदरार्थ के; पाली क्रिया का अस्थायी पक्ष।—प्राकृत।

नव्य-भारतीय में: प्राचीन अप्रचलित रूप—वर्तमान० से अथवा भूतकाल० कृदन्तों से निकले विकरण; कर्मवाच्य; प्रेरणार्थक; रूप-रचना: निश्चयार्थ; आज्ञार्थ भविष्यत्।

नामधातु आदि :

संस्कृत में : क्रियावाची संज्ञाएँ, क्रियार्थक संज्ञाएँ; कर्तृवाची संज्ञाएँ, कृदन्त; -त- तथा -न- युक्त विशेषण; -तव-, -य- युक्त। अनुकूल कृदन्त; पुरुषवाची रूपों के तुल्यार्थक।

नव्य-भारतीय में। वर्तमान॰ कृदन्त; अनुकूलता प्राप्त; कृदन्त तथा विशेषण; क्रिया-भाव वाला कृदन्त; वर्तमान का, भविष्यत् का; भूत का, संभाव्य का; विकृत रूप में कृदन्त; क्रिया "होना" में सन्निधि।—भूत॰ कृदन्त; साधारण तथा विशेष रूप; व्युत्पत्तिवाले रूप। अतीत काल की भाँति प्रयोग; अकर्मक अथवा कर्मवाच्य रचना; विविध रूप; प्रत्ययांश सर्वनामों का आगम; क्रिया "होना" का; विकृत रूपों में कृदन्त; पूर्ण प्रयोग, अन्ततः क्रिया 'होना' के आगम सहित; न्यायानुकूल कर्ता की रचना। कृदन्त तथा विशेषण।—भविष्यत्॰ कृदन्त; नवीन प्रयोग; पुरुषवाची रूपों के साथ मिश्रण; क्रियार्थक संज्ञा से निकलना।

क्रियार्थक संज्ञा।—पूर्वकालिक कृदन्त : विभिन्न युगों के रूप; प्रयोग।

आधुनिक प्रणाली की त्रुटियाँ; वर्तमान का मूल्य। सामान्य वाक्य-विस्तार; रूप-रचना-विहीन अथवा रूप-रचना-युक्त निपात का आगम; सहायक क्रियाएँ।

क्रिया और कर्ता . अकर्तृक, क्रिया में लिंग; पुरुष तथा वचन; क्रिया तथा सर्वनाम के आदरसूचक रूप।

चतुर्थ खण्ड

वाक्यांश ३२३-३४१

क्रिया "होना" तथा सामान्य वाक्यांश। अंशों का क्रम—स्वतंत्र वाक्यांशों का संयोजन; समुच्चयबोधक का लोप। संस्कृत में आश्रित वाक्य-योजना का साधन : संशयार्थसूचक, जोर दिया जाना, संबंध-वाचक, प्रश्नवाचक सर्वनाम, कृदन्त आदि। नव्य-भारतीय में आश्रित वाक्य-योजना का सामान्य अभाव : समुच्चयबोधक कालों, सर्वनामों का प्रयोग; फ़ारसी समुच्चयबोधकों के ग्रहण तथा यदाकदा सर्वनामों

के आदान-प्रदान को छोड़ कर, असाक्षात् कथन का अभाव। वाक्यांश की दुरूहता के साधन, आधुनिक प्रयोगार्थक।

उपसंहार ३४९-३५३

भारत में भारतीय-आर्य; भाषा और संस्कृति का पृथक्त्व। स्थानीय भाषाओं का संभावित प्रभाव; द्रविड़ तथा मुण्डा; शब्दावली में चिह्न; उच्चारण में; ध्वनि-संबंधी संसरण के तथ्य; आकृतिमूलक। भारतीय-आर्य तथा ईरानी का संसरण तथा संबंध; भारतीय-आर्य भारोपीय से पृथक् नहीं हुई।

पारिभाषिक शब्द-कोश

हिन्दी-अँगरेज़ी ३५५-३७६
अँगरेज़ी-हिन्दी ३७७-३९४

अनुक्रमणिका

१. लेखकानुक्रमणिका ३९५-३९७
२. ग्रन्थ, लेख तथा पत्रानुक्रमणिका ३९७-४००

संक्षिप्त रूप

भाषा-नामों के संक्षिप्त रूप

(पु० = पुरानी)

अ० = अवेस्ती
अप० = अपभ्रंश
अ० मा० = अर्द्ध-मागधी
अव० = अवधी
अशोक० = अशोक के अभिलेख,
गि० (रनार), का० (लसी),
श० (हबाजगढ़ी), पू० "पूर्वी" समुदाय
अश्क० = अश्कुन
उ० = उड़िया
क० = कन्नड़
कश० = कश्मीरी
खो० = खोवारी
गा० = अवेस्ता की गाथा
गु० = गुजराती
ग्री० = ग्रीक
छ० = छत्तीसगढ़ी
ज० = जर्मन
त० = तमिल
ती० = तीराही
ते० = तेलेगू
तोर० = तोरवाली
ने० = नेपाली
प० = पंजाबी
पश० = पशाई
पा० = पाली
पु० फ़ा० = पुरानी फ़ारसी
पु० रा० = टेसिटरी की 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी'
प्रशु० = प्रशुन (वेरोन)
प्रा० = प्राकृत
फा० = फ़ारसी
ब० = बंगाली
ब्र० = ब्रजभाषा
म० = मराठी
मा० = मागधी
मार० = मारवाड़ी
रा० = राजस्थानी
ल० = लहँदा
शि० = शिना
शौ० = शौरसेनी
सं० = संस्कृत
सिंह० = सिंहली
सि० = सिगान (जिप्सी-भाषा)
(यू० = यूरोप की, ए० = एशिया की)
ह० दुगु० = ह० दुत्रुइल द रहै (Dutreuil de Rhins)
हिं० = हिन्दी

रूपान्तरों के सबंध में कोई बात नहीं कहनी, सिवाय इसके कि भारतीय-आर्य भाषा के 'ए' (e) और 'ओ' (o) सिंहली के लिए केवल दीर्घ रूप में लिखे गये हैं और बोलियों में जहाँ वे कुछ ह्रस्वों के विपरीत हैं, नहीं लिखे गये।

अनुवादक द्वारा प्रयुक्त संक्षिप्त रूप

अथर्व० = अथर्ववेद
अशोक० = अशोक के अभिलेख
आ० गृ० = आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आ० श्रौ० = आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
इंडि० ऐंटी० = इंडियन ऐंटीक्वेरी
ऋ० = ऋग्वेद
ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण
जू० ए० = जूर्ना एसियातीक (J. As)
तुल० = तुलनीय (cf)
तै० प्राति० = तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० सं० = तैत्तिरीय संहिता
दश० = दशकुमार चरित
ब्रा० = ब्राह्मण ग्रन्थ
महा० = महाभारत
मृच्छ० = मृच्छकटिक
मै० सं० = मैत्रायणी संहिता
यजु० = यजुर्वेद
लै० = लैटिन
वा० सं० = वाजसनेयी संहिता
शकु० = शकुंतला नाटक
श० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण
शह० = शहबाजगढ़ी
साम० = सामवेद

(जिन शब्दों के आगे ० है, वहाँ ० के स्थान पर वचन, कारक आदि पढ़ना चाहिये।)

भारतीय-आर्य भाषा



मूल लेखक द्वारा

भूमिका

भारतीय-आर्य भाषा, जिसका मैं यहाँ विकास प्रस्तुत करना चाहता हूँ, उन दो समुदायों में से एक की भाषा है जो भारतीय-ईरानी नाम से पुकारी जाने वाली प्रागैतिहासिक भारत-यूरोपीय भाषा, और जिसे बोलने वालों के नाम के आधार पर आर्य कह सकते हैं: अ० ऐर्य-, पु० फ़ा० अरिय-, सं० आर्य से निकले हैं। इस भाषा की विशेषताओं का उल्लेख मेइए (Meillet) की पुस्तक 'डाइलेक्त आँदो-योरोपियँ', अध्याय २ में मिलेगा; तुल० राइखेल्ट, 'अवेस्त० ऐलीमें०'§ ८। प्राचीनतम आर्य पोथियों से प्रकट होता है कि ये भाषाएँ उसी समय विभक्त हो गयी थीं, और इनके प्रणेता, ईरान की सीमा से लगे हुए भारतीय भूमि-भाग को छोड़ कर, क्रमशः ईरान और भारत में बस गये थे।

भारत से बाहर उपलब्ध उसके कुछ और प्राचीन, किन्तु परोक्ष, प्रमाण मिलते हैं। ईसा-पूर्व चौदहवीं शताब्दी में फ़राओं से विवाह तथा राजनीति द्वारा संबंधित मितन्नी (उच्च फ़रात) के राजकुमारों के आर्य-पक्ष के नाम आर्यों जैसे मालूम होते हैं। उनमें से एक ने १३८० (ई० पू० ? -अनु०) के लगभग हित्ती राजा के साथ संधि करते समय अपने देवताओं का साक्षी रूप में आह्वान किया था जो इस प्रकार युग्म रूप में हैं: मित्र और अरुण (वरुण ? -अनु०), इन्द्र और नासत्य: ऋग्वेद में भी मित्र और वरुण दोनों साथ-साथ चलते हैं, और अश्विन् संबंधी ऋचा में एक स्थान पर 'इन्द्र नासत्या' में दोनों संयुक्त रूप में मिलते हैं; किन्तु ईरान में वरुण देवता नहीं हैं और अवेस्ता में नृअँन्हैθय और इन्द्र असुर हैं।

तब भी देवताओं के नाम ऐसे होते हैं, जो सदैव उधार लिये जा सकते हैं: लेकिन हित्ती भाषा में अश्व-पालन पर लिखित एक पोथी में एक, तीन, पाँच, सात, नौ घुड़दौड़ों का प्रश्न है; उन्हें प्रकट करने वाले शब्द आर्य हैं; विशेषतः ऐक-वर्तन्न-'एक चक्कर'-'एक' संख्या में -क- प्रत्यय लगा कर बना है जो अब तक इस संख्या के लिए केवल संस्कृत में ज्ञात है।

तो १४ वीं शताब्दी से पूर्व के एशिया माइनर में आर्यों का केवल चिह्न ही नहीं पाया जाता, वरन् वास्तव में उसी जाति के चिह्न मिलते हैं जो भारत में संस्कृत लायी। किंतु अभी यह निश्चित करना असंभव है कि भारत पर आक्रमण बाद में हुआ, अथवा बाद में

आने वाली जातियो के लोगों द्वारा हुआ अथवा वे ही भारत से लौट गये थे। ये ही समुदाय थे जिनके कारण संभवत. फ़िन्नो-उग्रीय भाषाओं (finno-ougrien) में संस्कृत मे ज्ञात शब्दो का प्रचार और प्रत्यक्षतः ईरानी में अभाव कहा जा सकता है: ऑस्ताइक तोर्‌अन्, स० तृण—'घास का तिनका'—(भारत-यूरोपीय शब्द, संस्कृत में विशेष अर्थ), वोगुल पक्कु, सं० पक्व (ई० लेवी, 'Ungar. Jahrb'., vi, ९१ के अनुसार)।

ये परोक्ष प्रमाण भारत मे बस गये आर्यों के अत्यन्त प्राचीन प्राप्त ग्रन्थों, अर्थात् वेदों, के प्रकाश में स्पष्ट हो जाते हैं।

इन ग्रन्थो की भाषा, यद्यपि सर्वप्राचीन ईरानी के बहुत निकट है, तो भी वह ध्वनि-प्रणाली पर आधारित कुछ स्पष्ट और निश्चित विशेषताओ के कारण उससे पृथक् हो जाती है।

भारतीय-आर्य भाषा की दो विशेषताएँ हैं: प्रथम, मूर्धन्यों के नवीन वर्ग की उत्पत्ति; द्वितीय, ज् और ज़् का लोप, यद्यपि उनके समकक्ष अघोष ध्वनियाँ बनी हुई हैं। शेष के लिए, प्रमुख विशेषताएँ ईरानी में हैं: प्रथम, सोष्म ध्वनियो का यथेष्ट विकास. महाप्राण अघोष ध्वनियो का सोष्मीकरण, सामूहिक दृष्टि से अघोष ध्वनियों का सोष्मीकरण (उदा० फ़्, सं० पेर्अ प्र—'पहले'—ग्री० प्रो); द्वितीय, स् का ह् मे परिवर्तन होना, घोष महाप्राण ध्वनियों का अ-महाप्राणत्व, तालव्य ध्वनियों का दन्त्य ध्वनियाँ हो जाना (अ० सत्अम्, फा० सद्, सं० शतम्—'सौ', अ० ज़ात, फ़ा० ज़ाद, स० जात—'पैदा हुआ'), व्यंजनों के मध्य में भारोपीय *ə से उत्पन्न इ का लोप। स्वर ऋ की दृष्टि से भी दोनों भाषाओ मे अन्तर है।

इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से इतनी समानता है कि उसे लगभग पूर्ण (समानता) कहा जा सकता है; जो थोड़ी-सी विभिन्नता है वह किसी प्रधान बात पर आधारित नही है, अनेक प्रमुख बातों मे से एक अति प्राचीन अ० मन, पु० फा० मना के विरुद्ध संबंध० एकवचन, स० मम—'मेरा' के पुनर्निर्माण की क्रिया मे है। शब्दावली-संबंधी विभिन्नता को अलग करना कठिन है, क्योंकि, अन्य कारणों के अतिरिक्त, प्राचीन पोथियाँ दुर्लभ हैं और शैली नितान्त रूप से याजको की है।

इस अंतिम कथन से कम-से-कम एक बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों भाषाओं की प्राचीन पोथियाँ काफ़ी निकट हैं; वास्तव मे वे नैसर्गिक रूप से प्राचीन हैं। ऋग्वेद विभिन्न युगो का संग्रह है जिसकी कुछ बातें संभवत: भारत मे आर्यों के बस जाने से पहले की हैं, उसमें शैली और व्याकरण की एकता रखी गयी है; किन्तु शब्दावली प्रकट करती है कि यह एकता कृत्रिम है; ग्रामीण ध्वनि-विशेषतायुक्त शब्दो का अस्तित्व और साथ ही उनकी विरलता से यह प्रमाणित होता है कि उनका चयन हुआ था। ज्यों-ज्यों

इन प्राचीन ऋचाओं का समझना तेजी के साथ कठिन होता गया, विभिन्न संप्रदायों ने उनका पाठ सुरक्षित रखा, व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताओं का अध्ययन किया, अभि-व्यंजनाओं का भाष्य किया ; अथर्ववेद या जादूगरों का वेद, संभवतः उतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद, किन्तु अपने विषय के कारण अधिक लोकप्रिय, अनेक बातों के संबंध में भाषा की अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था का द्योतन करता है।

हम देखते हैं कि भारतीय-आर्य भाषा के प्राचीनतम साक्ष्य एक मूलभूत कठिनाई प्रस्तुत करते हैं जो प्रत्येक युग के संबंध में पैदा होती है : वे केवल आंशिक रूप में भाषा का रूप प्रदर्शित करते और शैली-विधि बताते हैं, तथा वे अप्रचलित हैं। उतना ही अधिक वे भारतीय-आर्य भाषा के उस रूप का अत्यन्त अपूर्ण आभास देते हैं जो मूलतः भारत में प्रचलित हुआ था। उनमें नेताओं के अपने पुरोहितों और चारणों के साथ नगर-दुर्गों में या कम-से-कम उन दुर्ग-रक्षित गाँवों में, जो गंगा की घाटी में छितरे हुए निवास-स्थानों की दृष्टि से अब तक पंजाब की विशेषता है, बसने की झलक मिलती है; गाँवों में, कुओं और नहरों से सींचे जाने वाले खेत स्थायी निवास और धरती पर रम जाने के प्रमाण हैं। किन्तु आबादी के विभिन्न स्तरों ने किस भाग में कृषि-कर्म ग्रहण किया, किस सीमा तक आर्यों और मूल निवासियों में पारस्परिक घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ था ? इसके संबंध में बिल्कुल ज्ञात नहीं होता। हर हालत में नेताओं ने बर्बरों से मिलते-जुलते नाम ग्रहण किये जिससे उसी समय कुलीन वर्ग तक में मिश्रण हो जाना स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक ऋचाओं से भाष्य-साहित्य की ओर आने से, भौगोलिक सीमाओं के पूर्व की ओर फैलने और विस्तृत भाषा-संबंधी नवीनताओं के प्रमाण तुरन्त मिलने लगते हैं। वे अंतिम बातें क्या स्थानीय लोगों में आर्य भाषा के प्रसार के कारण थीं ? यदि धान की खेती का मतलब एक घनी और निरन्तर फैली हुई आबादी से, सूखे प्रदेशों के पशु-पालन और कृषि-कर्म की अपेक्षा अधिक घने सामाजिक संगठन से है, तो ऐसा मान लेने का लोभ होता है; श्री सिलवाँ लेवी गंगा के भूमि-भागों में 'मिश्रण के उन प्रदेशों का, जहाँ भारतीय सभ्यता का जन्म हुआ, जहाँ वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ', अनुमान करते हैं (दे० 'एसी दे यूसो', II, पूरा १९ वाँ अध्याय)। किन्तु यदि भाषा का बाद का इतिहास इसका प्रमाण नहीं देता, तो हमें उसे अस्वीकार करने का अधिकार है। जो पोथियाँ हमने देखी हैं उनसे उसके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं होता; वे साम्प्रदायिक साहित्य की हैं। भाषा, जो मंत्र—छन्दस्—आदि का विरोध करते समय पाणिनि का प्रतिनिधित्व—निरंतर—करती है, ब्राह्मण वर्ग की शैली के अनुरूप है, और वह पाणिनि के जन्म-स्थान शलातुर के लोगों की नहीं है; ईसा से १५० वर्ष पूर्व की शैली, जो

उसके भाष्यकार दक्षिण-निवासी, पतंजलि, का प्रतिनिधित्व करती है, मध्य देश में शिक्षा-प्राप्त ब्राह्मणो की शैली का उदाहरण है। संस्कृत एक वर्ग की संपत्ति और सांस्कृतिक भाषा है। क्योंकि उसी समय कलिंग का राजा, खारवेल, अपने वीर-कृत्य एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा प्रयुक्त बताता है जो उसी समय परिष्कृत हो चुकी थी, एक शताब्दी पूर्व, वे अभिलेख जिनमें अशोक ने अपनी जनता को संबोधित किया है, विभिन्न बोलियों की विशेषताओ से युक्त मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रकट हुई हैं, और उससे भी पहले, संभवतः प्राचीन साहित्य की, निस्सन्देह हर हालत मे ब्राह्मण कार्यों के विषय मे, रचना-विधि के समकालीन महान् धार्मिक एवं सामाजिक सुधारो, बौद्ध, जैन धर्मों का इसी सामान्य भाषा मे प्रचार हुआ था।

उस समय के बाद संस्कृत निर्जीव नहीं हो जाती, वरन् नवीन प्रयोग ग्रहण करती है। विदेशी विजेता राजकीय अभिलेखो के लिए उस पर अधिकार प्राप्त करते थे. १५० (?—अनु०) का ईरानी रुद्रदामन का शिला-लेख संस्कृत में है, जब कि उसके सातकनी (सातकर्णी ?—अनु०) प्रतिद्वन्द्वी भारतीय माध्यम का प्रयोग करते हैं (एस० लेवी, जे० ए० एस०, १९०२, I, १०९), कुछ बौद्ध सम्प्रदायों ने अपने धार्मिक नियम संस्कृत मे लिखे हैं; स्वयं ब्राह्मणों ने उसका भौतिक विज्ञान जैसे चिकित्सा या अर्थ के लिये ऐसे साहित्य, महाकाव्य, के लिये जिसके द्वारा सर्वसाधारण को उपदेश दिया जा सकता है, प्रयोग किया। किन्तु इन वर्गों अथवा नये बसे हुए लोगों को संबोधित करने के लिए, संस्कृत की प्राचीन रहस्यात्मकता दूर करना अनिवार्य था।

उसका व्याकरण सरल हो जाता है, जैसा कि एक ऐसी भाषा मे होना चाहिए जो देशी (native) नही रह जाती और जिसका समझना अनिवार्य हो जाता है, उदाहरणार्थ उसमे विकरणयुक्त संज्ञाओ के करण० और कर्ता० बहुवचन मे केवल प्रत्यय रह जाता है, यह सरलता क्रिया मे विशेषत प्रकट होती है जहाँ परिवर्तन-क्रम पूर्णतः लुप्त होने लगते हैं, जब कि दूसरी ओर सादृश्य मे सामान्य रूप पाये जाते हैं। रूप-विचार के विपरीत, प्राचीन शब्दो के अप्रचलित हो जाने पर भी शब्दावली अत्यधिक समृद्ध हो जाती है, और यह न केवल क्योंकि पोथियो मे नये विषयों का निरूपण होता है, वरन् क्योंकि नयी आर्य बोलियाँ और देशी भाषाएँ नवीन शब्द ले आती हैं। इस प्रकार संस्कृत समाज के उच्च वर्गों की भाषा रह गयी; किन्तु इस संस्कृत और वैदिक (संस्कृत) के बीच अन्तर मिलता है।

इसका निष्कर्ष है कि यह भाषा किसी प्रकार का ऐसा साक्ष्य नहीं है जिसका भाषा-विज्ञानी सीधे-सीधे उपयोग कर सकता हो · वह उसे यह प्रदर्शित करने की सुविधा प्रदान करती है कि संस्कृत के रूप मे पुरानी भाषा परिवर्तन के लक्षण ग्रहण किये हुए थी, किन्तु

यह मध्यकालीन भारतीय भाषा के परिवर्तन-क्रम के रूप में माना जाना चाहिए। यह कोई संयोग नहीं है कि महाभारत में अनेक ऐसे छन्द मिलते हैं जो बौद्ध धार्मिक नियम की छन्द-सूची मे फिर मिलते हैं, साथ ही, अधिक उचित रूप में, जो अवेस्ता और वेद से मेल नहीं खाते; एक ही भाषा के ये दो परिवर्तन-क्रम हैं, जिनका विकास वास्तव में क्लैसीकल संस्कृत छिपाये हुए है और जिनकी प्रवृत्ति ठीक-ठीक रूप में मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रतिबिंबित होती है।

सब भी महाभारत, स्मृतियों आदि की संस्कृत एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा पर आधारित है जिसे वह कुलीन रूप प्रदान करती है। बाद का क्लैसीकल साहित्य साधारण बोलने वालों से पूर्णतः पृथक् हो जाता है; इस काल में मध्यकालीन भारतीय भाषा अत्यन्त प्रचलित रूप मे लिखित भाषाओ की सामग्री प्रस्तुत करती है— गीति-कविता की, नाटक की, उपदेश की; संस्कृत फिर से एक सम्प्रदाय की भाषा बन जाती है जिस तक केवल श्रेष्ठ वर्ग की पहुँच रही, 'देववाणी' ने अधिक सामान्य प्रयोग ग्रहण किये, किन्तु वह 'ऊँचाई से पृथ्वी का केवल स्पर्श करती है' (एस० लेवी)। उसका व्यवहार करने वाले विशिष्टवर्गीय लोग उसके साथ मनमौजी तरीके से खेल करते हैं, वे उसके परपरागत व्याकरण का पूर्ण कट्टरता और भद्देपन तक के साथ प्रयोग करते हैं; जैसा कि सधि और सामान्य यौगिक शब्दो के अत्यधिक विस्तार मे पाया जाता है; जहाँ तक उसके शब्द-भडार का संबध है, वे कुछ शब्दों को उनका वैदिक अर्थ प्रदान करते हैं (श्लोक—'यश'), वे आशिक पर्यायवाचियों की तुलना पर अर्थ-विस्तार करते हैं (द्वन्द्व- के अनुसार युद्ध- 'जोड़ा'; अम्बर- के अनुसार वस्त्र- 'आकाश'), वे उससे मनमाने व्युत्पन्न (शब्द) निकालते हैं; श्री वाकरनागेल (Wackernagel) ने दिखाया है कि वे किस प्रकार एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों मे से एक शब्द में अर्थ-विभाजन करते हैं (पारय—'विरोध, शक्ति', पालय—'आश्रय देना, रक्षा करना'; रभ्—'ग्रहण करना', लभ्—'पाना, लेना'; शुक्र—'ग्रह विशेष', 'वीर्य', शुक्ल-'सफेद')। किसी भी जीवित भाषा मे ऐसी विचित्रताओ पर नियत्रण नही होते; भाषाविज्ञानी यदि क्लैसीकल सस्कृत मे शैली के इतिहास के अतिरिक्त कुछ और खोजता है तो उसके हाथ लगभग कुछ भी नही लगता।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की ओर फिर से आइए, हमने देखा कि जिसका विकास उस युग से पहले का है जिसे महाभारत नामक महाकाव्य से द्योतित किया जा सकता है। बौद्ध सम्राट् अशोक के शिलालेखो के रूप मे (ईसा पूर्व २७० या २५० के लगभग) हमे उसका एक स-तिथि साक्ष्य मिलता है, जो साथ ही सपूर्ण भारतीय इतिहास का प्रथम स-तिथि साक्ष्य है। उनकी तिथि और उनकी सापेक्षिक निष्कपटता

के अतिरिक्त, अनेक वास्तविक भाषाओं का तत्कालीन ज्ञान कराने में उनका लाभ है, जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत 'लिंग्विस्टिक सर्वे' के संपादन होने के समय तक विलक्षण है।

वे चार वर्गों में विभाजित हैं भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर सीमा पर खरोष्ठी (अथवा खरोष्ट्री, आरमीनी दुन हस्तलिपि से उत्पन्न) लिपि में शिलालेख, जिनमें संस्कृत ऊष्म विद्यमान हैं, जिनमें ऋ का, ऊष्म+व् का ईरानी रूप है, जिनमें विकरणयुक्त रूप पुंल्लिंग संज्ञाओं का अधिकरण -ए या अस्पि में है, गिरनार के शिला-लेख, जिनमें 'द्व्, त्व्' 'द्द्, त्प्' हो जाते हैं, जिनमें संज्ञाओं का अधिकरण -ए या -अम्हि में है, गंगा की घाटी और महानदी के उद्गम के शिलालेख, जिनकी विशेषता र् के स्थान पर ल् के प्रयोग, संस्कृत अंतिम –अ से उत्पन्न –ओ का -ए में परिवर्तन, मध्य वर्तमान कालिक कृदन्त, -अ (स्) सि में सामान्य एकवचन अधिकरण, आदि में है। अंत में दक्खिन का शिलालेख, जो इसके अतिरिक्त कि उसमें र् कम-बद्ध रूप में ल् की ओर समझ पड़ता है, अंतिम से साम्य रखता है, भाबरा के शिलालेख [स्वर-मध्यग ल्, र् एक साथ, किन्तु बैरट (वैराट ?-अनु०) वाला अंश बिल्कुल समीप नहीं है], साँची का स्तंभ, रूपनाथ और दूर दक्षिण में तुंगभद्रा (मस्की, सिद्दपुर, कोपबल, एरागुडी) की घाटी का संपूर्ण (सोपारा ?-अनु०) समुदाय, अंत में पश्चिम की ओर सोपारा का संबंध उसी समुदाय से है।

यह विभाजन ज्ञात साहित्यिक बोलियों में से कुछ के साथ नितान्त सादृश्य-विहीन नहीं है, उत्तर-पश्चिमी समुदाय का ह० दुत्र० से साम्य है, गिरनार बौद्ध पाली के निकट है, गंगा वाला समुदाय क्लैसीकल नाटकों की मागधी के, अन्त में दक्खिन से गुम्फित र् और -ए में कर्ता० एकवचन का सह-अस्तित्व जैन धर्म-नियम को याद दिलाता है। किन्तु इन समानताओं को गंभीरतापूर्वक लेने से, दो मुख्य क्लैसीकल प्राकृतों की, यद्यपि उनके भौगोलिक नाम हैं, तुल्यता का अभाव मिलता है शौरसेनी और महाराष्ट्री। इसके अतिरिक्त अशोक के समय के लगभग निकट के कुछ शिलालेख मिलते हैं, जिनकी विशेषताएँ उनके शिलालेखों से केवल आंशिक रूप में मिलती हैं। ऐसा मगध (की बोलियाँ) के संबंध में, समीप के ऊष्मों की विविध अनलेखन-पद्धतियों से (सौगोहरा में ससने, पीप्रवा में सलिल, किन्तु रामगढ़ में शुतनुक, बराबर में दपलथा, अशोक के पौत्र का नाम) मिलता है। कुषाणों के शिलालेखों और शहबाजगढ़ी की बोलियों में भी समानता है, किन्तु कुछ विरोध भी हैं, जिन्हें बताने में समय का व्यवधान अयथेष्ट है। 'गंगा की' अशोक-शैली में लिखित, सोपारा वाला अंश एक ऐसे प्रदेश में मिलता है जहाँ र् और कर्ताकारक -ओ वाले शिलालेख बहुत हैं (नासिक, नानाघाट, कार्ले, कुदा); मध्य भाग में भी स्वयं भरहुत, भिलसा, बेसनगर, साँची में यही बात है। पूर्व की

ओर, धौली के अति निकट उदयगिरि में, अशोक से एक शताब्दी बाद, खारवेल की प्रशस्ति यही विशेषताएँ प्रदर्शित करती है।

भौगोलिक स्थानीयता की अपेक्षा और बातें भी विचारणीय हैं; किन्तु समूचे द्रविड़ प्रदेश में, कृष्णा के निम्न भाग मे शिलालेख धारण किये हुए स्तूपों की भाँति—जिनमें र् और ओ हैं—तुगभद्रा समुदाय का अस्तित्व उन बातों की ओर सकेत करने के लिए यथेष्ट होगा।

तो प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से यह तुरंत ज्ञात हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा विभाजित थी, और कुछ भाषाएँ अपने प्रधान क्षेत्रो से बाहर फैल गयी थी। किन्तु नकशे मे विस्तार के उन केन्द्रो को बताना असभव है। केवल मागधी का विस्तार स्पष्ट है: इस दृष्टि से अशोक की बोली को, जिसके चिह्न पश्चिम मे दिल्ली और उसके बाद तक मिलते हैं, 'पूर्वी' कहना उचित होगा। अन्य सामग्री विभाजन के केवल नवीन प्रमाण देती है, और स्थानीयता की नयी समस्याएँ प्रस्तुत करती है।

बौद्धो की कृपा से, हमारे पास उन भाषाओ के सबध मे कई प्रमाण मिलते हैं, जो ऐसा प्रतीत होता है, वैयाकरणो द्वारा व्यवस्थित नही हुई, जो किसी भी हालत मे गगा की घाटी वाले भारत से आयी हुई भाषाओं द्वारा परिमार्जित नही हुई। झेलम के पश्चिम मे—शहबाज़गढी के भूमि-भाग मे—अनेकानेक कुषाण शिलालेखो का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु जो दक्षिण मे मोहेंजोदडो तक और पूर्व मे मथुरा तक मिलते हैं, वे प्रत्यक्षत' आपस मे सबधित हैं, जो, एक ओर शहबाज़गढी के शिलालेख की लिखावट मे, और दूसरी ओर दुत्रु० की हस्तलिखित पोथी मे, ईसवी सन् के लगभग पजाब से खोतान लाये हुए एक धर्मपद के अश, अत मे कुछ विस्तार की दृष्टि से उसी समय तुर्किस्तान मे, निय (Niya) और लोप-नोर (Lop-nor) तक, प्राप्त अभिलेखो की भाषा की लिखावट मे स्पष्ट—और सभवत कुछ-कुछ उसे लिखने की विधि पर निर्भर—हैं। किन्तु यह अंतिम, क्योकि वह व्यावहारिक बातो की भाषा के अनुरूप और साहित्य से स्वतत्र है, औरो के ससर्ग से बहुत विकसित हुई है; इसके अतिरिक्त कुछ स्पष्ट अन्तर हैं: अशोक वाला अधिकरण एकवचन -अस्पि फिर अन्य शाखाओ मे नही पाया जाता; और कुषाणो का –अ(मृ)मि, निय का -अमि भी धम्मपद मे, जिसमे दीर्घ रूप के स्थान पर सबधकारक हो जाता है, नही है: जिससे पा० अस्मिम् लोके परम्हि च—इस लोक मे तथा दूसरे मे—के विरुद्ध अस्मि लोकि परसयि होता है। केवल ह० दुत्रु० मे अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि का मुखरीकरण हो जाता है, जब कि अशोक के शिलालेखों मे पूर्वकालिक कृदन्त -ति अथवा -तु मे, कुषाणों के मे -त(करित) मे है, तो हस्तलिखित पोथी

किस्व (पा० कत्वा), चितुवन (पा० चेतुवान) बनाये रखती है, और कुषाण लिखिय के विरुद्ध वही निहि (पा० निधाय) प्रस्तुत करती है; विकरणयुक्त रूप का कर्त्ताकारक एकवचन पुल्लिग अशोक के लेखों में -ओ, दुतु० में -ओ या -उ में होता है, किन्तु वरदक (Wardak) वाले को छोड कर सिन्धु के पश्चिम वाले शिलालेखों में -ए (खुदे कुए- 'खुदे हुए कुए') है; निय वाले में कर्त्ताकारक का अन्त बदल जाता है; किन्तु तदे (ततः, जैसा कि अशोक वालों में) प्रकार और श्रुदेमि 'मैंने सुन लिया है' का नवीन रूप प्राचीन -ओ के परिवर्तन को ही प्रदर्शित करते हैं।

क्या यह अतिम परिवर्तन स्थानीय प्रभावों के कारण है (दे० कोनोव, 'खरोष्ठी इस्क्रिप्शन्स', पृ० CXII) ? इस परिस्थिति में अशोक के गंगा की घाटी वाले शिलालेखो (अशोक० तखसिलाते, मुखते : ततो पछा की निय खोतंनदे, तदे : ततो पचा : ७२२ बी ८ से समानता द्रष्टव्य है), में मिलने वाली एक सी बातों के परिवर्तन से उसे पृथक् करना चाहिए, और उनसे जो सिहल में भी मिलती हैं : क्योंकि सिंहली उत्कीर्ण लेख-विद्या अशोक की तरह की लिपि में लिखे गये छोटे शिलालेखों में अभिव्यक्त हुई है महलेने ... ..सगस (उसी समय महाप्राणत्व का लोप देखिए) दिने—'सघ को दी-गयी बड़ी गुफा'।

किन्तु खास भारत के स्तूपो के शिलालेखों में यह अंतिम -ए नहीं है। वे सब सिंहली धर्म-नियम की भाषा पाली के, उससे साम्य स्थापित किये बिना, निकट हैं। उदाहरणार्थ साँची और भरहूत में अपादानार्थक -आँतो, पा० -अतो मे है; यह अन्तर काल-क्रम के कारण हो सकता है; किन्तु भिछु (भिक्षु-) रूप पा० भिक्खु- से मेल नही खाता; न्हुसा, नुसा (स्नुषा) पा० सुण्हा, हुसा (किन्तु यह दूसरा रूप कुछ तीव्र) से मेल नहीं खाते। जहाँ तक स्वय पाली, जो सिंहल मे लायी गयी है, से सबंध है, यह कहां से आया? बौद्धों ने उसे मागधी नाम दिया है, यह उसके भाषा-विज्ञान वाले रूप के अनुरूप नही है, किन्तु यह बात स्पष्ट हो जाती है यदि हम श्री प्रिजिलुस्की का यह कथन स्वीकार कर लें ('ल लेजाँद द लाँपर्‌योर अशोक', पृ० ७२, ८९) कि धर्म-नियम कोसाबी मे लिखा गया था, जहा 'पूर्वी' बोली मे अशोक का एक शिलालेख वास्तव मे मिलता है; तो भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि बौद्ध सघ की भाषा कही और से आयी, भरहूत सीधे सौ किलोमीटर से अधिक है, और इसके अतिरिक्त यह देखा जा चुका है कि वहाँ के शिलालेख बिल्कुल ठीक पाली मे नही है। और दूर खोज की गयी है : स्वय उज्जैन मे, तक्षशिला मे, बिना निश्चित प्रमाणों के। किंतु एक ओर तो पाली का ठीक-ठीक उत्पत्ति-बिन्दु और इस संबध में युगकी स्थानीय भाषा के मूल प्रमाण, कि यह भाषा हमारी पोथियों की पाली से निस्संदेह मेल

नहीं जाती, खोजे जाने चाहिए। क्योंकि परंपरा के अनुसार थेरवाद का धर्म-नियम सिंहल में ईसवी सन् से कुछ पूर्व लिपिबद्ध हुआ था। दूसरी ओर ४७० ई० के लगभग, मगध के एक ब्राह्मण, बुद्धघोष के, जिसे संस्कृत न केवल ज्ञात थी, किन्तु उस समय जब कि उसकी टीकाएँ लिपिबद्ध हुईं वह विद्यमान थी, निरीक्षण में उसकी टीका हुई थी; और यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका पाठ संस्कृत आदर्श को ध्यान में रखते हुए दुहराया गया भी है; सबसे प्राचीन लिपि, जो हस्तलिखित पोथियों की परंपरा को पुनः स्थापित करती है, १२वीं शताब्दी की है, जब कि वैयाकरणों ने सामान्य भाषा का विधिपूर्वक उल्लेख किया है (एच० स्मिथ; 'सद्दनीति', पृ० vi)। इसके अतिरिक्त पुरुषवाचक संज्ञाओं और पारिभाषिक संज्ञाओं की कुछ अनियमितताओं के कारण भी एस० लेवी (जे० ए० एस०, १९१२, II, पृ० ४९८) ने भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक अति मिश्रित 'पूर्व-धर्म नियम'-भाषा के चिह्न पाये हैं, और जो अशोक-कालीन पवित्र पोथियों का संकलन करते समय काम में लायी जा चुकी थी (यह वास्तविक बौद्ध 'मागधी' तो नहीं है ?)। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि जैन धर्म-नियम, जो बौद्ध धर्म-नियम के लगभग समकालीन होने चाहिए, संभवतः एक ऐसी भाषा में सुरक्षित हुए थे जिसका रूप कहीं अधिक नवीन था, बौद्धमत के विपरीत, जैनमत ने, 'कहना चाहिए, अर्द्ध-मागधी को मूल आधार मान कर, उसे पवित्र भाषा के रूप में ग्रहण किया' (एस० लेवी); राजकीय, खारवेल की, प्रशस्ति के लिए, एक अधिक श्रेष्ठ, पाली के निकट, भाषा का प्रयोग होते देखा जाता है; किन्तु दोनों भाषाएँ साहित्यिक भाषाएँ हों, और लोक-प्रचलित भाषाओं की अनुकरण-मात्र न हों, यह बात अनेक शैली-रूपों की श्रृंखला से तुरत प्रकट हो जाती है।

बौद्धों ने तो—बिना संस्कृत भाषा के—एक और साहित्यिक भाषा का व्यवहार किया है। मथुरा में संस्कृत के अति निकट, किन्तु अशुद्ध, शैली में लिखित जैन, बौद्ध और साथ ही ब्राह्मण शिलालेखों का एक पूरा भंडार है; उनमे अपादानार्थक पुल्लिंग -आतो में, संबंध० एकवचन -आये मे, संबंध० पुल्लिंग जैसे, भिक्षो भिक्षुनी तथा भिक्षुस्य, करण० भितरे पाये जाते हैं, और नेपाल में भी अन्यत्र न मिलने वाली, किन्तु मथुरा के शिलालेखों से मिलती-जुलती, 'मिश्रित संस्कृत' में बौद्ध ग्रन्थों का रूपान्तर हुआ है, उन्हीं में, संस्कृत लिखने का निरर्थक प्रयास नहीं, वरन् कुछ-एक स्थानीय भाषा को साहित्यिक रूप देने की अव्यवस्थित चेष्टा है; बोली की असम्बद्धता, न केवल एक पोथी से दूसरी पोथी में, वरन् समान पोथियों में, हर हालत में यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि वह केवल प्रतिकृति मात्र नहीं हो सकती।

यदि क्लैसीकल साहित्य की प्राकृतों पर विचार किया जाय तो समस्या और भी

दुरूह हो जाती है। यह तो ज्ञात ही है कि नाटक मे विभिन्न पात्र विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं; सस्कृत राजा और ब्राह्मणो से, शौरसेनी स्त्रियों और औसत दर्जे के लोगों से, इसी प्रकार मागधी विदूषको से सबध रखती है, इसमे गेय छन्दो के लिए नियत महाराष्ट्री की और उन उप-बोलियो की, जिनके भार से, अवतरणो से, अधिकतर वैयाकरण दबे रहते हैं, गणना नही है। मिश्रण का सिद्धान्त भारतवर्ष मे असंभव नही है. यही नही कि रगमच पर भाषाओं के विभाजन से दर्शको की भाषाओ का विभाजन सदैव प्रतिबिंबित होता हो, किन्तु एक स्वय विभाजित समाज मे और परिवर्तनशील तत्त्वो के कारण, अत्यधिक विभिन्न (किन्तु वास्तव मे सबधित) भाषाए सदैव बाधा उपस्थित करती हैं। आज भी एस० के० चैटर्जी के रोचक वर्णन ('इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I में 'कैलकटा हिन्दुस्तानी', पृ० १२) में यह देखने को मिलता है कि कलकत्ते के एक मध्यमवर्गीय धनी व्यक्ति का घर 'बाबल की मीनार' हो सकता है। दुर्भाग्यवश भाषाविज्ञानी के लिए, समाज का चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से, सस्कृत रगमच का उतना महत्त्व नहीं है जितना हमारी 'कॉमेडी ऑव मैनर्स' का; वह वास्तव में, जैसा कि एस० लेवी ने कहा है, महाकाव्य और कथा के दृश्य का रूपान्तर है। ऐसी परिस्थिति मे पात्रो द्वारा प्रयुक्त मानी गयी भाषाओ के आधार पर उसमे प्रमाण खोजना मौलिक भूल होगी। शौरसेनी, जो वास्तव मे आधार है, उच्च श्रेणी की स्त्रियो और निम्न श्रेणी के पुरुषों की भाषा नही है, किन्तु वह, जिसका निस्सदेह शैलीकरण हो चुका था, उन समुदायों की है जिन्होंने, मथुरा से बाहर, भारत मे रगमच का प्रचार किया, नाटको की मागधी शैलीकरण का परिणाम है, यह इस बात से स्पष्ट है कि सं०-अः के लिए -ए का प्रयोग केवल सज्ञाओ के कर्ताकारक एकवचन मे हुआ है, अन्य अवसरो पर नही, जैसा कि अशोक० मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नाटको की प्राकृतों का यह शैलीकरण कम-से-कम दो कालो मे हुआ, क्योंकि अश्वघोष के अवतरण, भास के बताये जाने वाले अश और भरत के ग्रथ मे सुरक्षित गीति-अंश भाषा की उन परिस्थितियो के द्योतक है जो क्लैसीकल नाटको से पहले की हैं; इस युग की स्वयं परपराएँ भिन्न है, क्योकि भरत के गीति-छन्द शौरसेनी मे हैं न कि महाराष्ट्री मे [एम्० घोष, IHQ VIII (१९३२), पृ० ९] और भरत, अश्वघोष द्वारा समर्थित, नाटक मे अर्द्धमागधी को स्वीकार करते हैं (ल्यूडर्स ब्रुख़श्टुके बुद्ध० ड्रामेन, पृ० ४२)। हम उस प्राचीन शृंखला के, जो वास्तव मे क्लैसीकल की अपेक्षा सामान्य भाषाओ से कम पृथक् थी, और उदाहरण ग्रहण करना पसन्द करेंगे, यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भरत ने विभिन्न पात्रो की बोलियो को 'भाषा' कहा है, न कि परवर्ती लेखकों की भाँति, एक विशेष अर्थ-सहित 'प्राकृत', जिसमें प्राचीन 'ग्राम्य' भाव (हो सकता है

जैसा कि राजाओं और देवताओं की भाषा के विपरीत 'जनसाधारण' की भाषा; प्रत्युत हो सकता है जैसा कि 'संस्कृतम्'—शिष्ट—की भाषा के विपरीत 'निम्न' की भाषा, समझी जाती है) अधिक प्रतीत नहीं होता।

नाटक में विरलता के साथ व्यवहृत महाराष्ट्री का प्रयोग, विद्वत्तापूर्ण महाकाव्य और लोकप्रिय गीति-कविता में, विषय की दृष्टि से बहुत कम, किन्तु शैलीगत अत्यधिक परिमार्जन की दृष्टि से, हुआ है; जैन प्राकृत उसके निकट है। प्राकृत रूप ही है जिसे दण्डिन् ने 'प्रकृष्ट'-कहा है, क्योंकि वह सर्वाधिक विकसित है। उसमें स्वर-मध्यग व्यंजनों का, जो शौरसेनी में अब भी मुखर (घोष) अवस्था में पाये जाते हैं, पूर्ण लोप हो जाता है—और फलतः उसमें 'मअ'- मत-, मद-, मय-, मृत-, मृग- का प्रतिनिधित्व कर सकता है। यदि गायको के लिए अधिक-से-अधिक स्वर रखने का, और विद्वानों के लिए अधिक-से-अधिक समस्याएँ प्रस्तुत करने का उसमे लाभ था, तो आधुनिक भाषा-विज्ञानी के लिए भी वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उससे भारतीय-आर्य भाषा के विकास की एक आवश्यक श्रेणी का द्योतन होता है, और साथ ही क्योकि वह द्वयर्थक शब्दों को स्पष्ट करने की दृष्टि से फ्रांसीसी के लिए जो स्थान लैटिन का है उसकी अपेक्षा अब भी अधिक आवश्यक भाषा संस्कृत तक पहुचने की उपयोगिता मापने का अवसर प्रदान करता है।

पूर्णता की दृष्टि से अभी पैशाची का उल्लेख करना आवश्यक है, जो एक बाद के प्रमाण के अनुसार एक बौद्ध संप्रदाय द्वारा प्रयुक्त हुई, और जो गुणाढ्य के मध्यमवर्गीय महाकाव्य के लिखने मे व्यवहृत हुई है . इस बृहत्कथा के केवल कुछ अंश शेष हैं। इस प्राकृत की प्रमुख विशेषता थी मुखरता की कठोरता, प्रधानतः 'पिशाच जैसा' उच्चारण, उसमें स्थानीयता अथवा (क्योकि वैयाकरणों के अनुसार उसके विविध रूप थे) ठीक-ठीक स्थानीय रूपो को खोजने की सभवतः भूल पायी जाती है।

प्रारभ से ही अपेक्षाकृत पांडित्यपूर्ण, और अधिकाधिक कृत्रिम, प्राकृत साहित्य का *अस्तित्व बहुत बाद तक बना रहता है, वह अभी संस्कृत से अधिक निर्जीव नहीं होता।* इस बात की सरलतापूर्वक कल्पना की जा सकती है कि उसका प्रचलित भाषाओं से पृथक्करण अनिवार्यतः अधिकाधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि सामान्य रूप, समस्त शिक्षा का आधार, संस्कृत से निकल सकते है, तो उनमें व्याकरण में अज्ञात शब्दों के अर्थ या रूप, संस्कृत की भांति, क्रमशः प्रवेश पा सके थे। ऐसी धातुओं, और ऐसे क्षेत्रीय शब्दों की, आधुनिक शब्द-व्युत्पत्ति-तत्त्वज्ञ के लिए महत्त्वपूर्ण, सूचियाँ प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है।

अंत मे स्वयं प्राकृत का स्थान-च्युत होना प्रारभ हो जाता है। अभी ऐसी नवीन भाषा द्वारा नहीं जिसने अपना निजी रूप धारण कर लिया हो; किन्तु प्राकृत के अनुरूप

एक नवीन भाषा, अपभ्रंश, द्वारा। अपने धार्मिक ग्रन्थो के लिए जैनों ने प्राकृत को बनाये रखा; किन्तु शेष के लिए उन्होने अपभ्रंश को चुना—इस परिवर्तन का एक प्रधान उद्देश्य उससे देशी (शब्दों) को निकाल देना था।

अपभ्रंश नाम स्थानीय नहीं है; प्राकृत और संस्कृत की तरह वह गुण है, और उनके विपरीत है। प्रारम्भ मे उसका अर्थ था, वह जो 'विपथगामी' है; पतंजलि ने उसका प्रयोग, अपने समय की संस्कृत में सामान्य, किन्तु उनकी दृष्टि से अशुद्ध, प्राचीन मध्य-कालीन भारतीय भाषा के कुछ रूपो के लिए किया है। जब कि मध्यकालीन भारतीय भाषा उन्नत और आदर्श हो गयी थी, 'अपभ्रंश', भरत के अनुसार 'विभ्रष्ट', निश्चित रूप से ऐसे रूपों को प्रभावित कर रही थी जो उस समय अधिक विकसित तो हो गये थे, किन्तु जो साहित्य में आदर्श नहीं समझे जाते थे। लेकिन अब समय आ गया था जब कि न केवल उसके रूपों की कुछ संख्या प्राकृत में प्रवेश पा गयी थी, वरन् यह भाषा-स्थिति प्राकृत-समीप रचनाओं में स्वीकार कर ली गयी थी; छठी शताब्दी की एक काव्यशास्त्र-संबंधी रचना ऐसे ही वर्ग की है; इसी काल मे वलभी का राजा गुहसेन, उसके पौत्र के अनुसार, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तीन भाषाओं का उत्कृष्ट लेखक था। और बाद को वैयाकरणो ने, प्राकृतों के साथ-साथ इस भाषा पर विचार करते समय, प्राकृतों के साथ उसका समन्वय किया है। वास्तव मे उसका सबसे अधिक प्राचीन प्रमाण जो हमें उपलब्ध है वह अधिक-से-अधिक सन् १००० का है और राजस्थान तथा गुजरात के जैनों से सबधित है, लिखित रचनाओ के लिए आवश्यक प्राकृतीकरण को वास्तव मे निर्धारित करने वाली भाषाओ का उस पर प्रभाव प्रतीत होता है। तत्पश्चात् अपभ्रंश अपने जन्म-स्थान से विच्छिन्न हो जाती है और समस्त उत्तर भारत में फैल जाती है, जैन धर्म ही उसका अकेला कारण नही है उदाहरणार्थ, वीर महाकाव्यो की ब्रज में उसके रूपों का मिश्रण मिल जाता है। बहुत शीघ्र ही, परवर्ती बौद्ध मंत्रो द्वारा समर्थित, एक पूर्वी रूप मिलता है जिसका प्रभाव मिथिला के विद्यापति कृत वैष्णव पदावली पर पाया जाता है, और कुछ अशो मे प्राकृत छन्द-शास्त्र, 'प्राकृत पिंगल' के उदाहरण प्रस्तुत करता है, भाष्यकारो ने उसे तुरत ही मूल रूप और स्थानीय व्यतिक्रमों की याद दिलाने वाले 'अवहट्ट-भाषा' नाम से पुकारा है।

अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं की भाँति, अपभ्रंश का प्रसार उन प्रदेशों में स्वभावत. सरलतापूर्वक हुआ जहाँ भाषाएँ अपने मौलिक रूप से अलग नहीं हुई थीं, और जहाँ, राजपूत चारणो की भाँति, कविगण अपने अनेक भाषाओं के ज्ञानक्रम में उसे एक अतिरिक्त गुण समझते थे; उसमें लिखित ग्रन्थों में किसी व्यक्ति द्वारा खोज करते समय उलझन मे डालने वाले उच्च तथा संगत रूपों और ग्राम्य भाषाओं के मिश्रण स्पष्ट

हो जाती है। अपभ्रंश प्राकृत के साथ अनिश्चित, कभी-कभी बहुत वाचिक, परिमाण में मिश्रित है; इसके अतिरिक्त वह नवीनता-सूचक 'बोलियाँ' ग्रहण करती है; अस्तु, उससे भाषा-संबंधी एक स्थिति का पता चलता है, न कि एक भाषा का।

यह तो यथेष्ट रूप में ज्ञात है कि इससे वह अपवाद प्रस्तुत नहीं करती; प्राचीन भारत की एक भी लिखित भाषा का स्पष्ट प्रमाण की दृष्टि से मूल्य नहीं है। क्योंकि लेखकों के लिए जो महत्वपूर्ण है, जो उन्हें अभिव्यंजना का साधन चुनने के लिए प्रेरित करती है, वह न जातीयता है और न प्रादेशिकता : जैसा कि नाटकीय प्राकृत के संबंध में देखा जाता है, वह तो, वर्ण-व्यवस्था द्वारा (विभक्त) मनुष्यों की भाँति, कठोरतापूर्वक विभक्त शैलियाँ (genres) हैं। स्वयं वेद में, तिथियों की विभिन्नताएँ आर्ष प्रयोग की निरंतर असमानताओं के कारण हैं। स्वयं उपासना-पद्धति-संबंधी पाठ, जो बाद के प्रतीत होते हैं, उन संप्रदायों की रचनाएँ हैं जिनकी भाषा निस्संदेह पूर्वकालिक कवियों की अपेक्षा और उन बौद्ध संप्रदायों की अपेक्षा, जो साथ ही संस्कृत तथा स्वयं शैली-बद्ध हो गये मध्यकालीन भारतीय भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग करते हैं, स्वाभाविक भी थी। जहाँ तक उत्कीर्ण लेखों से संबंध है, अशोक के लेख एक सुन्दर अपवाद हैं; तो भी इस बात की कल्पना की जा सकती है कि सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा उनके रूप प्रकट हो जायँगे, जैसा कि उद्धरणों से उनका स्पष्ट होना ज्ञात है। हर हालत में दक्खिन के कुछ उत्कीर्ण लेख, खारवेल की प्रशस्ति की भिन्नता केवल प्राचीन गद्य की बोली के कारण है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की विविधरूपता भाषाशास्त्री के लिए बहुत कम सहायक है। भाषाओं को स्थानीय बनाना असंभव है; उनकी आंतरिक विशेषताओं द्वारा उन्हें निर्धारित करना, उनके अपने जन्म के ही अनुरूप, केवल एक दुर्बोध रीति से ही हो सकता है, जो सामान्यतः स्वाभाविक और एक बाह्य रूप के, जो संस्कृत का है, अनुकरण पर नियमित है। इसलिए अधिक उत्तम प्रणाली जो इस कार्य को संपन्न करने के लिए ग्रहण की जा सकती है और जो हमारी योजना के अनुकूल भी है, वह सामग्री देखने में नहीं, वरन् भारोपीय भाषा की क्रमागत स्थितियों के चिह्नों पर एक साथ विचार करने में है। बीच की श्रेणियाँ जानने अथवा अपूर्ण विकासों का अनुमान करने की अपेक्षा दोनों में से किसी एक में उपलब्ध विस्तारों से उसे निर्धारित करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति कम होती है।

साथ ही यह रूप स्वयं भारतीय सभ्यता की एकता द्वारा समर्थित है; इसलिए उसके द्वारा अभिव्यक्त साहित्य की विशेषता एकदम एक विस्तृत क्षेत्र में असाधारण अविच्छिन्नता में, और एक शक्तिशाली सामाजिक संगठन में है जो असंख्य विभेदों

द्वारा वर्णगत श्रेणी-विभाजन-संबंधी कल्पना लादने वाला है, जिसमें, संस्कृति का अधिकारी और व्यवस्थापक ब्राह्मण सबसे आगे है।

यह कोई नही जानता कि भारतीय-आर्य भाषा के विभिन्न रूप विविध सामाजिक वर्गों मे अथवा अनेक क्षेत्रो मे कितनी गहराई तक प्रवेश कर चुके हैं; राजनीतिक इतिहास भाषाओं के केन्द्रो और विकास-शक्ति पर कोई प्रकाश नहीं डालता; किन्तु भारतीय सभ्यता की एकता बहुत प्राचीन है; ग्रीक यात्रियों ने गगा की घाटी में दक्षिण के राज्यों का अस्तित्व पाया था, और तमिल की अत्यधिक प्राचीन कविताओं में संस्कृत का प्रभाव मिलता है। भाषा-सबंधी एकता की सीमाएँ वे ही हैं जो स्वय ब्राह्मण-धर्म की है : केवल बहुत दिनों तक बौद्ध धर्मावलबी उत्तर-पश्चिम (जहा वैदिक चिह्न अब तक पाये जाते हैं, जैसे बसंकर् जाति का नाम, जो निस्संदेह उसी वर्ग का नाम है जिसने हमारा ऋग्वेद सुरक्षित रखा है), और लका; जो अब तक बौद्ध है, उससे बाहर रह जाते हैं। जो कुछ है या कम-से-कम जो कुछ उपयोगी है वह एक अद्‌भुत संस्कृत की उत्तराधिकारिणी, एक सामान्य मध्यकालीन भारतीय भाषा है।

अथवा लगभग ऐसा है। क्योकि कुछ स्फुट अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि भारतवर्ष में जिसे हम वास्तव मे संस्कृत कहते हैं उसके अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी थी। वास्तव में यह जान कर आश्चर्य होता है कि एक व्यापक क्षेत्र मे प्रचलित प्राचीन 'भाषा' के विविध रूप न रहे हो; और फिर स्वय भारतीय-आर्य भाषा की सीमाओं और उनसे उसके साहित्यिक तथा सामाजिक स्थान को कुछ और निर्धारित करने पर ध्यान देना या अनुमान करना रोचक होगा।

पाली मे इस प्रकार के सकेत अधिकतम सख्या मे उपलब्ध होते हैं; वास्तव में यह एक ऐसी भाषा है जो क्लैसीकल प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत पर बिल्कुल ही कम निर्भर है; इसके अतिरिक्त उसका अपेक्षाकृत प्राचीन रूप निरूपण को अधिक निश्चित बना देता है। पाली वैदिक प्रयोगो को सुरक्षित रखती है, जैसे कीवंत्-, कीव- कितना— (सस्कृत के किवत्-का स्थान कियत् ने ले लिया है), किणाति—खरीदना—(ऋ० क्रीणाति का पहला स्वर, अनुलेखन के रहने पर भी, शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान के नियमानुसार, सूक्ष्म हो जाता है); वैदिक काल मे ही परिवर्तित भारतीय रूप उसमे और भी अधिक हैं : गहित- लिया हुआ—अधिक शुद्ध रूप गृहीत-; इध—यहाँ, पातु—दृष्टि मे, ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से सब्बधि—हर जगह—का पर-प्रत्यय इहं, अथर्व० प्रादु :, तुल० ऋ० प्रातर् और सस्कृत उत्तराहि—उत्तर में के पर-प्रत्यय की अपेक्षा कम परिवर्तित होता है, अथर्व० अलीक–, (वा० सं०) 'वल्मीक-' की अपेक्षा पा० 'अलिक-' —विरुद्ध, मिथ्या—वम्मिक-'चींटी' का अधिक स्वाभाविक (तथा कम प्रचलित ?) एक

ही प्रकार का प्रर-प्रत्यय है; संस्कृत स्नायु, स्नावन–वा० स० अस्नाविरं–(दे० टर्नर, s.v. 'नहर') के विपरीत अ० स्नावरं,–स्नायु, पुट्ठा—मे पा०–न्(अ)हारु की व्याख्या का एक अंश मिल जाता है, अ० हामो–वही–में पा० साम–समान–की, पु०फ़ा० सँय्, अ० 'से, गाथा० होइ में प्रा० से–उसका, उनका–की अनुरूपता मिलती है। साथ ही ईरानी ही एक ऐसी भाषा है जो ऐसे समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत जिनमे प्रा० 'म्' संस्कृत 'क्ष्' के और 'भिय्यो'-अधिक–(स० 'भूयः'), भविष्यत् 'हेहिति', सामान्य अतीत (aor.) 'अहेसि', तुल० पु० फ़ा०, आदरार्थ ३ एक० 'बियाँ'–वह हो—,लै० 'फिओ' (सद्दनीति, पृ० ४६१ n. ८) के विषय के अनुरूप है; यह पूछा जा सकता है कि क्या अशोक द्वारा कालसी में प्रयुक्त पुंल्लिग 'इय' वही प्राचीन प्रयोग नही है जो प्राचीन फारसी मे है (बाँवनिस्त 'स्तुदी बालतीची' III १२७; यह ठीक है कि दूसरी ओर पा०, अ०मा० अय स्त्री लिंग मे है)। एम० एच० स्मिथ ने यह प्रदर्शित किया है कि आर्य भाषा से बाहर भी अन्य सादृश्य खोजना आवश्यक है. जैसे स० द्वि- के विपरीत 'दु-' विषय के लिए [पा० दुतिय-दूसरा, 'दुजिह्व'- दो जीभ वाला, 'दुपद'- दो पैर वाला, तुल० लै० दुप्लेक्स, ओम्ब्री दुति–नवीन का, लेत (लेटीक) दुसेलीस —दो पहियो की गाडी], प्राकृत सबधवाची मह, तुह और निस्सदेह बहुवचन के लिए, कर्म० अह्म(म), 'उम्ह'– (जिससे सिंहली 'उम्ब' बना है)।

अस्तु, शब्दों के उद्‌गम संस्कृत में, किन्तु उससे बाहर भी, एक साथ खोजने होंगे: जैसे पा० 'उपादि'–आधार–सामान्यत: 'उपादा' के विपरीत पड़ता है, जैसे वैदिक 'निधि'- 'निधा'-के; उसका संस्कृत सादृश्य 'उपाधि'- एक अन्य धातु से बना है। और बीच के रूपो के ज्ञान के अभाव मे, कठिन रूपो की व्याख्या प्राप्त करने पर ही विशेषत. निर्भर रहा जा सकता है, इस प्रकार, भविष्यत् के जैसे दक्खिति, एहिति।

अस्तु, प्राकृत की 'देशी' का एक प्राचीन पूर्व-रूप है, और वह बहुत रोचक है: क्योंकि इससे उसे छोड़ कर अज्ञात भाषाओ के अस्तित्व का पता चलता है। 'देशी' केवल शैली और आज भी पायी जाने वाली भाषाओ की शब्दावली मे लिये गये अशो की ओर सकेत करती है।

आधुनिक भाषाओं का जन्म किस समय हुआ? कोई नही जानता। यह अनुमानकिया जा सकता है कि यदि छठी शताब्दी मे अपभ्रश लिखने की प्रथा थी, तो वह भाषाकी जिस अवस्था के अनुरूप थी उसकी उत्पत्ति गुजरात मे हुई (और) जो प्राकृत के समकक्ष रखी जाने की दृष्टि से यथेष्ट प्राचीन हो चुकी थी। श्री शहीदुल्ला के अनुसारबगाल मे कण्हा (कण्ह -अनु०) कृत चर्या सन् ७०० के लगभग की हैं। ये गीत अत्यन्त प्राचीन

रूप में हैं; अन्यत्र मध्यकालीन भारतीय भाषा से अलगाव और अधिक हो जाता है, विशेषत: जब कि प्रारंभिक ग्रंथ बहुत बाद के हैं। कुछ संक्षिप्त मराठी शिलालेख, राजपूत राजकुमारों का एक छोटा-सा पत्र-व्यवहार, कुछ बँगला टिप्पणियाँ १२वीं शताब्दी की हैं; किन्तु मराठी ज्ञानेश्वरी १२९० मे समाप्त हुई; एक और शताब्दी बाद, गुजराती में एक संस्कृत व्याकरण १३९४ का है, और उर्दू का प्राचीनतम प्रमाण, गेसू दराज़ की सूफ़ी रचनाएँ सन् १४०० के आसपास की मानी जाती हैं। केवल १५वीं शताब्दी मे गुजराती के सर्वप्रथम कवियो का, बिहार मे विद्यापति का और कश्मीर में महानय-प्रकाश का, जो अभी निश्चित रूप से कश्मीरी नही है, आविर्भाव हुआ। मुहम्मद जायसी कृत, अवधी में लिखित, पद्मावती और सर्वप्रथम असमी ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के हैं; सिक्खों के आदि-ग्रन्थ के प्राचीन भाग इसी काल के और बाद के हैं। यह बता देना आवश्यक है कि इन ग्रन्थो की परपरा निश्चित नही है; हम पृथ्वीराज रासो की गणना नही कर सके, जो अपने आकार के कारण बहुमूल्य है, किन्तु जो सन्देहास्पद है, हर हालत मे क्षेपकों से भरा है; ज्ञानेश्वरी का १५८४ मे सशोधन किया गया, सामान्यत. प्राचीन ग्रंथो की हस्तलिखित परपरा का मूल्य मौखिक परपरा से शायद ही अच्छी कही जा सकती है, और यह स्वीकार करना चाहिए कि अभी तक उसकी परीक्षा का प्रयास नही हुआ। इतना सब कुछ कहने पर भी, आधुनिक काल के केवल कुछ अच्छे प्रमाण हैं, स्पष्टत सर्वोत्तम प्रमाण वे हैं जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत अत्यन्त सुन्दर 'लिंग्विस्टिक सर्वे' मे सगृहीत, विभाजित और प्रतिपादित हैं; उनका और भी अतुलनीय लाभ लगभग पूरे भारतीय-आर्य-भाषा-भाषी, और प्राय उससे बाहर के, प्रदेश मे बोले जाने मे है। बुरी तरह से रक्षित और अपने रचयिताओं की इच्छा द्वारा ही सुमज्जित और मिश्रित प्राचीन प्रमाणो के प्रयोग के लिए सर्वोत्तम कसौटी उसी मे मिलती है।

भारतीय-आर्य भाषा का मानचित्र देखने से जो पहला लक्षण ध्यान आकर्षित करता है वह उसके क्षेत्र की अविच्छिन्नता है। यह लक्षण ब्राह्मण सभ्यता के, जो गहराई तक पहुँचने से पूर्व, उच्च वर्गों द्वारा, ऊपरी भाग तक रहती है, विस्तार के अनुरूप है, आज भी यह देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ पड़ोसी प्रदेशों के नगरों में चली गयी हैं, अँगरेज़ी भी यूनीवर्सिटियों और प्रशासनों द्वारा फैलती पायी जाती है; आज जितना मध्यम वर्ग निर्माण करता है, उसे श्रेष्ठ प्रयोग पिछड़ा हुआ बना देते हैं, और इस प्रकार मूल भाषाओं का जाल स्थानीय प्रयोगो को नष्ट किये बिना उन पर फैल जाता है। भारतीय-आर्य भाषा के अंतर्गत जंगली प्रदेश आते हैं, उसने अपने दूत दूर तक भेजे हैं (सिंहली; एशिया और यूरोप की जिप्सी-भाषा), किन्तु उसके क्षेत्र में वह विच्छिन्नता नही है जो फ़िनो-उग्रीय भाषाओं की अथवा रोमन कुल की विशेषता है

जिनके साथ उसका कुछ विकास-साम्य है। भारतवर्ष ने अपने विजेताओं को पचा लिया है, और यदि इस्लाम ने उसे उर्दू दी है, तो उसने ईरानी या मंगोल के छोटे भाषा-समूह नही छोड़े। विदेशी उत्पत्ति के राजपूतों ने हिमालय में एक ऐसी भाषा अपनायी और प्रचलित की जिसे वे बदल नही पाये। केवल देखने को जी ही नही चाहता, वरन् यह देखने की बात है कि विभिन्न आधुनिक भाषाएँ अलग-अलग हो गयी प्राचीन भाषाओं पर निर्भर रहती है, और उनकी विशेषताएँ फिर से प्रकट करती है।

वास्तव में, अथवा कम-से-कम उस रूप में जिसमें भाषा-विज्ञानी उसे वास्तविकता समझता है, ऐसा लगभग पूर्णत प्रतीत होता है कि अनोखी मध्यकालीन भारतीय भाषा (सस्कृत, जो स्वय अनोखी-सी थी, की उत्तराधिकारिणी) अधिकतर आधुनिक विभिन्न आर्य-भाषाओं का आधार थी, बाहर गयी भाषाओं और उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश की भाषाओ की, जो समाज में जीवित भी रही है दृष्टि से तो ये अन्तर स्पष्ट ही है स्वय ये अन्तर इन भाषाओं का सम्बन्ध पूर्णत उस रूप में प्रकट नही करते जिसे सुविधा की दृष्टि से 'प्राकृतिक' कहा जा सकता है। उनका क्रम प्राय अद्भुत रहा है, भाषाविज्ञानी उसकी सीमाएँ कठिनाई से निर्धारित कर सका है, कभी-कभी मिश्रण द्वारा, श्री ग्रियर्सन के कथनानुसार 'कृत्रिम मिश्रण' द्वारा, वे छिप जाती है, परिवर्तन अधिकाशत प्राय धीरे-धीरे होते है, जिसका तात्पर्य है कि दो परस्पर भिन्न भाषाएँ अति सूक्ष्म अन्तरो वाली भाषाओं की श्रेणी में आ जाती है। तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए कि सीमाएँ विचारणीय है, क्या भोजपुरी अपने पूर्व या पश्चिम की भाषाओं से सबधित है ? कच्छ की भाषा क्या सिन्धी है या गुजराती ? कोकण की गुजराती है या मराठी ? श्री ग्रियर्सन द्वारा अलग की गयी और नामोल्लिखित लहदा के सबध की दृष्टि से पजाबी की पश्चिमी सीमा कौन-सी है ? एक ऐसे देश में जहा, अनिश्चित और परिवर्तनशील, राजनीतिक सीमाएं जातियों के अनुरूप कभी नही रही, वास्तविक भाषा-सबधी सीमाएँ ज्ञात करने की आशा नही की जा सकती, जब कि प्रधान-प्रधान समुदाय निश्चित है तो वास्तविकता की अपेक्षा अधिक निश्चित और अधिक अविच्छिन्न भाषा-क्षेत्रों को नही (उन ऐसी अनेक परिस्थितियो पर विचार करना आवश्यक है, जिनमें एक ही क्षेत्र में और एक ही बोली में कई भाषाओ का सह-अस्तित्व मिलता है), किन्तु प्रादेशिक सीमाओ का परस्पर अतिक्रमण करने वाली भाषा-रेखाओं को दिखाने वाले स्थान नकशे में निस्सदेह होने चाहिए।

सतोष की बात है कि प्रस्तुत रचना के उद्देश्य की दृष्टि से भाषाओ और बोलियो का निश्चित और पूर्ण पुनर्विभाजन अनावश्यक है। यहाँ प्रधान समुदायो की ओर सकेत कर देना ही यथेष्ट होगा।

हमे थोडा अत्यधिक व्यतिक्रमो पर विचार कर लेना चाहिए। यदि उन निवास-स्थानो पर विचार न किया जाय जहाँ से आर्य-भाषा भारतवर्ष मे फैली, तो अति प्राचीन भारतीय-आर्य निवास-स्थल के माध्यम द्वारा मध्यकालीन भारतीय भाषा, समुद्र के रास्ते, सिंहल के दक्षिण मे पहुँची। वहाँ वह द्रविडो के शक्तिशाली प्रभाव मे आयी, साथ ही पाली ने उसे महाद्वीप की सस्कृत के अनुरूप रूप प्रदान किया। अस्तु, वह काफी भिन्न हो गयी, उसकी स्वरोच्चार-पद्धति एक ही शब्द के स्वरो का एक-दूसरे पर प्रभाव मान कर चलती है, उसमे न तो महाप्राण है और न प्राचीन तालव्य, अर्थ से शैली ही बदल जाती है, सर्वनाम (और) क्रिया के विशेष रूप हो जाते है, किन्तु तो भी वह भारतीय-आर्य भाषा है।

जिप्सी भाषा, या और भी उचित रूप मे जिप्सी भाषाओ मे कम परिवर्तन हुआ है, निस्सन्देह अचानक परिवर्तन, क्योकि वे बाद को अलग हुई और क्योकि उनकी विशेष या गुप्त भाषा होने की विशेषता ने उन्हे सुरक्षित रखा। जिप्सी उपनिवेश बसाने वाले नही, वरन् दूसरो द्वारा अधिकृत होने वाले है, विदेशियो से सपर्क स्थापित करने के लिए उन्होने उनकी भाषा सीखी और आवश्यकतानुसार उस भाषा के तत्त्व ग्रहण कर लिए, आरमीनिया मे, पूरा व्याकरण, किन्तु अधिकतर शब्दावली, और यह ज्ञात ही है कि उधार लिये गये शब्दो की ही कृपा थी जिनमे मिकलोसिश ने यूरोप मे अपना मार्ग जानना सीखा। यूरोपीय समुदाय वास्तव मे सुसम्बद्ध है, एशियाई शाखाएँ उससे पूर्णत मेल नही खाती, नूरी मे ही केवल -थ्- व्यजन का उच्चारण -स्- की तरह होता है, स्वर-मध्यग -त्- का -र्- हो जाता है, न कि -ल्-। दूसरी ओर स० हस्त- (– हाथ), नूरी मे ख(स्)त्, यूरोपियन मे वस्त्, किन्तु आरमीनियन मे हथ् हो जाता है, और आरमीनियन मे स्वर-मध्यग मे ही त् के स्थान पर 'ल्' नही है, वरन् आदि मे भी ('लेल्' वह देता है—, नूरी 'देर्', यूरोपियन देल्-अ)। नूरी मे स्पष्ट मुखर महाप्राण शब्द महाप्राणत्वविहीन हो जाते है, आरमीनिया और यूरोप मे मूक। थव- धोना, नूरी दव-। अत मे यूरोप की जिप्सी भाषा ही मध्यवर्ती व्यजन के महाप्राणत्व को स्थानान्तरित कर देती है, फलत, स० 'बन्ध्'–(बाँधना), नूरी 'बन(द्)–, आरमीनियन 'बथ्'-, यूरोपियन *भन्द् > फन्द्–। ये भेदअनिश्चितता को और भी बढा देते है, जिसमे एक तिथि (५वी शताब्दी का प्रथमार्द्ध ?) सबधी अनिश्चितता है और दूसरी जिप्सी भाषा की निश्चित उत्पत्ति के सबध मे। इस दृष्टि मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात 'द्' का 'ल्' या 'र्' मे परिवर्तन है जो भारतीय-आर्य भाषा मे, जैसे प्रशुन मे (ल्), खोवार मे (र्) और सभवत शिना मे (ल्) और ईरान की पूर्वी बोलियो मे नही मिलता अफगान, मिनजानी, यिदगाह, तुल० निस्सदेह ईरानी से उधार लिया

गया ब्राहुई खोलुम् (स० 'गोधूमा') की भी तुलना कीजिए; क्षेत्र के नामो के सबध मे एक और प्रमाण है, नदी 'गोमल' (स० गोमती)। श्री वूलनर ने ठीक ही बताया है कि भारतीय-आर्य भाषा की सीमा आधुनिक काल की अपेक्षा पहले और पश्चिम तक फैली हुई थी और अफगान तथा बलोची हाल ही मे महत्त्व ग्रहण करने वाली भाषाएँ है।

यदि भारतीय-आर्य भाषा ईरान की तरफ से आयी है, तो वह निश्चित रूप से हिमालय के निचले हिस्से तक गयी है। इतिहास वास्तव मे वहाँ राजपूतो के बसने का साक्षी है, और जैसा कि इतिहास बताता है, एल० एस० आई०, I, पृ० १८४ मे एक भाषा-सबधी चित्रण उसे दर्शाता है, नेपाल मे अब भी, नेवारी कही जाने वाली प्राचीन तिब्बती भाषा, और नेपाली कही जाने वाली आर्य भाषा का अस्तित्व पाया जाता है। पश्चिमी भाग से जहाँ तक सबध है समस्या अत्यधिक कठिन है कश्मीर, भारत मे शुरू होने वाली गिलगिट तक सिन्धु की घाटी (मैयाँ, शिना), स्वात (तोरवाली), चितराल (खोवारी), कुणार और हिन्दूकुश के मध्य काफिरिस्तान (कलाश, काफिर समुदाय, पशाई), और फिर काबुल नदी के दक्षिण मे एक द्वीप (तीराही)। इस क्षेत्र मे बोलियो की माला चलती है, जिनमे से अकेली कश्मीरी को ही एक साहित्य का श्रेय प्राप्त है, और वे इस बात मे खास भारत की भाषाओ से इस तरह भिन्न है कि उन्हे एक विशेष कुल मे रखने की इच्छा होती है, बात तो यह है, कि उनका पृथक्त्व, जो बहुत प्राचीन है, उनकी अपनी विशेषताओ के बताने के लिये यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त उनमे से अनेक को अपेक्षाकृत हाल के आगमनो के परिणामस्वरूप समझी जाने की इतनी अधिक सभावनाएँ है, कि उन्हे अत्यधिक भिन्न पाने की आशा की जा सकती है। कश्मीरी पर ईरानी प्रभाव पर ध्यान दीजिए, और (ध्यान दीजिए) भारतीय प्रभाव पर जो विशेषत उस पर अधिक रहा है (कश्मीर सस्कृत सस्कृति का एक बडा केन्द्र रहा है), तो श्री मोरगैन्सटिएर्न की रचनाओ के आधार पर यह स्पष्टत प्रतीत होता है कि 'दर्द' अधिकाशत भारतीय है, केवल उसका 'प्राकृत' रूप नही है, उसमे व्यजन और प्राय स्वर-मध्यग पाये जाते है, उसमे कुछ सोष्म ध्वनियाँ है, तथा महाप्राण ध्वनियाँ नहीं है, आदि। केवल एक समुदाय जो समस्या उपस्थित करता है काफिर है (कती या बसेंगली, प्रशुन या वेरोन, अश्कुन, गवर्बती), जिसमे कठ्य ध्वनियो का ऐसा प्रयोग है जो ईरानी की याद दिलाता है।

ऊपर उल्लिखित आधुनिक भाषाओ की रोचकता उनके सख्या-सूचक महत्त्व से कही अधिक है, उसके सामने उन भाषाओ के जानने की यहाँ आवश्यकता नही है, जिनका प्राय वर्णन किया जाता है, यद्यपि उनमे से कुछ की गणना ससार की बडी-बडी

भाषाओ मे की जाती है, व्यापक अर्थ मे हिन्दी का उनमे छठा स्थान है, फासीसी के मुकाबले बगाली ७वे स्थान पर आती है, बिहारी १३वें पर, मराठी १९वें पर, पजाबी, राजस्थानी, उडिया क्रमश २२वे, २५वे और २८वे पर (मेइए, 'लॉग द ल्यूरोप नूवेल', पृ० ४८३ मे एल० तैस्निएर के अनुसार)। उनके न्यूनतम प्रयोग की गणना करने के लिए, हमे केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि वे अपने विशेष अक्षरो (जैसा कि देखा जा चुका है, उनके बिना भी स्पष्ट सीमाएँ हो सकती है) के आधार पर विभाजित क्षेत्रो मे बँटी हुई है।

सिन्धु पर आने से, लहदा मिलती है, फिर सिन्धी, ये कुछ बातो मे खास भारत की अन्य भाषाओ से अलग है और जो दर्द के विपरीत पडती है, सर्वनामवाची पर-प्रत्ययो और उच्चारण तथा शब्दावली-सबधी कुछ विशेषताओ के प्रयोग ऐसे ही है जो यह सोचने के लिए बाध्य करते है कि उनका 'भारतीयकरण', यदि ऐसा कहा जा सकता है, अपेक्षाकृत हाल का है।

अन्य भाषाओ को अलग करने वाली विशेषताएँ अन्य प्रकार की हैं और या तो विकास के भेदो, या अनार्य भाषाओ के प्रभाव की दृष्टि से विपरीत परिणाम दृष्टिगोचर होते है। सर्वप्रथम स्थिति तो दक्षिण-पश्चिमी और गगा की घाटी के समुदायो की है, मराठी और गुजराती का सबध नजर नही आता, उधर पुरानी गुजराती और पुरानी राजस्थानी एक ही भाषा है, किन्तु राजस्थान से सीधे गगा की घाटी की ओर जाते है तो, वहाँ व्यवधान होने पर भी, अन्य स्थानो की अपेक्षा, भाषाएँ अधिक निकट है, साथ ही, सस्कृत 'मध्यदेश' के समय से लेकर कन्नौज और दिल्ली के समय तक, प्रकाश फैलाने वाले केन्द्र सदैव यही रहे है। हिन्दुस्तानी सभवत सिपाहियो द्वारा पजाबी बोलियो मे ब्रज के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी, उत्तर की पजाबी और राजस्थानी हिन्दुस्तानी के प्रभाव मे दब जाती है, कुछ समय पूर्व यह ज्ञात हो चुका है कि उर्दू पूर्व मे लखनऊ तक जाती है जहाँ वह एक शिष्ट भाषा है, और अब कलकत्ते तक जहाँ उसने मिश्रित गँवारू बोली का रूप धारण कर लिया है, पूर्वी हिन्दी बनारस आदि तक जाती है।

इसके विपरीत पटना के लगभग वह सीमा रुक जाती है जिसे देशी लोग हिन्दी के लिए निर्धारित करते है, वास्तव मे यहाँ उस सीमा का पूर्वी समुदाय बिहारी, बगाली (इसी के साथ असमी प्रदेश), उडिया—मे प्रविष्ट हो जाता है। इनमे 'अ' अपने को 'ओ' मे सीमित कर लेता है; खास तौर से व्याकरण की अपनी कुछ विशेषताएँ है। अत्यधिक प्रमुख विशेषताओ मे से एक है सस्कृत कृदन्त से निकला -ब्- मे भविष्यत् काल। नकशे से एक मध्य समुदाय और एक बाहरी मण्डल भी प्रकट हो जाता है, उसमे कुछ

अप्रामाणिक ऐतिहासिक अनुमानो को दिखा दिया जाता है, सभवत भाषा-रेखाओ के विचार ने इस वर्गीकरण की स्पष्टता मे गडबडी उत्पन्न कर दी।

यह अधिक महत्त्वपूर्ण होगा कि कालानुसार विभाजन किया जाय जो सपूर्ण नव्य भारतीय भाषाओ को अलग कर देता है सबसे नीचे मध्यकालीन भारतीय भाषा, जैसा कि हमे अपभ्रश रूप के अतर्गत उदाहरण मिलता है, अब भी सस्कृत से विकृत एक रूप है, श्रेणियो, वाक्य-विन्यास मे कोई परिवर्तन नही हुआ। किन्तु आधुनिक वर्नाक्यूलरो के अति प्राचीन रूपो मे, विभक्ति-रूप अधिक-से-अधिक दो कारक स्वीकार करता है, जिनमे से एक परसर्गों के साथ आता है, प्राचीन वर्तमान जो क्रियामूलक रूपों के शेषाश का अकेले या उसके लगभग रूप मे प्रतिनिधित्व करता है, नामजात आदि रूपों के साथ अवश्य सबद्ध रहता है। इस काल से आगे व्याकरण-सबधी परिवर्तनों पर कोई रुकावट नही रह जाती, बहुत पहले ही सस्कृत भाषा पारिभाषिक शब्दावली को समृद्ध करना छोड देती है, यह कार्य आगे चल कर फारसी, फिर अँगरेजी से सपन्न होता है। किन्तु सस्कृत के सास्कृतिक भाषा रह जाने पर, आधुनिक भाषाएँ इस सस्कृति में साझीदार नही बनती, वे स्वय कम सभ्य श्रेणियो के प्रभावान्तर्गत अत्यधिक सरल हो जाती है, जैसे बगाल मे, अथवा सैनिको की भाषा की आवश्यकता के लिए जैसे हिन्दुस्तानी, वे लोकप्रिय भाषाओ के रूप मे बनी रहती है, वे विशेषत गीति-काव्य की अभिव्यजना के लिए उपयुक्त रहती है, किन्तु विज्ञान के लिए नही। अब जब कि शिक्षा का प्रसार हो रहा है, वर्नाक्यलरो को उनकी अपनी आवश्यकतानुसार स्थित करने की हर जगह कठिन समस्याएँ है; साधन तैयार नही है। आप देखेगे कि कम-से-कम किस प्रकार वाक्य-विन्यास स्वय सबसे अधिक उन्नत भाषाओ मे, लोचहीन रह गया है, रोमक भाषाओं से प्राय की गयी तुलना पर पुनर्विचार करने पर, ध्यान आकर्षित करने वाली बात है कि न तो निर्देशक उपसर्ग या उपपद और न क्रिया to have का कोई एक अश ही मिलता है।

किन्तु यहाँ भारतीय भाषाओ का भविष्य निर्धारित करना उद्देश्य नही है, इस रचना का उद्देश्य, जैसा कि प्रारभ मे सकेत दिया जा चुका है, अतीत की रूपरेखा प्रस्तुत करना है। पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता है; उसकी उपादेयता शायद ही बहुत अधिक हो, क्योकि इस चित्र के प्रधान अग प्रवीण हाथो द्वारा सूक्ष्म रीति से बनाये जा चुके है। जो कुछ इतने सुन्दर रूप मे हो चुका है, उस पर पुर्नविचार की बात ही क्या, मैं उसकी पुनरावृत्ति तक करना नही चाहता; शक्ति रहने पर भी, मेरा इरादा नव्य-भारतीय भाषाओ के उस तुलनात्मक ग्रन्थ का सार ग्रहण करना नही जिसका सपादन प्रारभ करने के पश्चात् श्री ग्रियर्सन को वह कार्य छोड़ देना पडा था—और उन्होने कितनी सामग्री तैयार कर ली थी !—और जिसके बारे में

श्री टर्नर ने हमे वचन दिया है यदि आवश्यकता हो, तो मैं यह बता देना चाहता हूं कि प्रस्तुत ग्रन्थ-सबंधी प्रयास की सराहना स्वय श्री टर्नर ने की है। मेरा उद्देश्य काफी सीमित है अधिक समर्थ लेखको से आवश्यक बातें लेकर, उनके स्थान पर, दूसरो या स्वयं मेरे बताये हुए महत्त्वपूर्ण तथ्यो को, जिनका अभी तक पुस्तको मे उल्लेख नही हुआ, रखकर, विभिन्न कालो के सबध मे सूक्ष्म रीति से की गयी स्वय तुलना द्वारा प्राप्त तथ्यो को यथासभव प्रस्तुत करना और उनकी व्याख्या करना।

सर्वश्री सिल्वँ लेवी और ए० मेइए की परपरा मे पालित-पोषित मुझे बोलने वाली जातियो के इतिहास-सहित भाषाओ के विकास का एक सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के प्रति मोह होना चाहिए था। किन्तु यह यथेष्ट रूप से ज्ञात है कि लिखित साहित्य कुछ प्राचीन कालो के सबध मे न तो शासन-सबधी, न न्याय-सबधी या निजी (क्लैसीकल सस्कृत मे लिखित असख्य दान-पत्रो को छोड कर) सग्रह प्रदान करता है, न प्रादेशिक आईन, न सस्मरण, न पत्र-व्यवहार (निय के लिखित प्रमाणो के अतिरिक्त जो अभी तक बहुत-कम प्रयोग करने योग्य है), न असदिग्ध भाषण-कला-सबधी ग्रन्थ, न 'कॉमेडी ऑव मैनर्स', इतिहास की महानतम राजनैतिक और धार्मिक घटनाएँ बिना ठीक-ठाक स्थान और तिथि-निर्धारण के ही रह जाती है, तथा उनके परिणाम और भी अधिक अनिश्चित रूप मे पाये जाते है मैने अपने को केवल भाषा-विज्ञान-सबधी, और साथ ही व्याकरण-सबधी निरूपण तक ही सीमित रखा है।

जिस उद्देश्य की ओर मैंने सकेत किया है उसे दृष्टि मे रखते हुए मेरा सभी बातो पर समान रूप से विचार करना उपयोगी नही था, निरूपण करने मे रह गयी ऐसी त्रुटियो के लिए मै क्षमा किया जाऊँगा जो मुझे ज्ञात है, और जो मुझे विषय को पूर्णत समझने मे बाधक प्रतीत नही होती। इसी प्रकार मैने पूरी ग्रन्थ-सूची नही दी, किन्तु केवल उन्ही पुस्तको और लेखो (उनमे निस्सकोच कुछ मेरे है) की सूची दी है जिनका मैंने इस ग्रन्थ की रचना मे निरतर उपयोग किया है और जिन्हे मै समान रूप से अपने पाठको के सम्मुख, उन्हे अपने कथनो के परीक्षण और पूर्ण करने का अवसर प्रदान करने के लिए, प्रस्तुत करना चाहता हूँ। प्रत्येक पग पर सदर्भ देना मैने आवश्यक नही समझा, मैने ग्रथ मे केवल वे रचनाएँ ही उद्धृत की है जो सूची मे नही है और जिनका मैं केवल अपूर्णत सार प्रस्तुत कर सका हूँ। जब मै लेखको को अधिकतर बिना उनका नामोल्लेख किये उद्धृत करता हूँ, तो बिना सकेत किये उनका खण्डन (मैं स्वय अपने को शामिल करता हूँ) करने के लिए करता हूँ, यह भली प्रकार स्वीकार किया जायगा कि वह गलती की अपेक्षा भ्रम डालने वाली चीज़ अधिक है, विशेषज्ञ इस बात का निर्णय करेंगे कि जो मत यहाँ प्रकट किये गये हैं वे सर्वोत्तम है या नही।

जहाँ तक उदाहरणो से सबध है, जो मैंने अधिकतर अपने सामने जो लेखक हैं, उनसे ग्रहण किये हैं, मैंने उनका मूल उद्गम फिर नही दिया; मेरे लिए इतना यथेष्ट है कि मैंने उनका कोई, प्रतिपादित या रूपान्तरित, खराब चयन नही किया।

स्वय इस रचना के लिए मैं अपने मित्रो का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। सर्वप्रथम श्री हेल्मर स्मिथ का। सभवत उनके जैसा अन्वेषक, साथ ही नाजुक-दिमाग, आलोचक, साथ ही छोटी-छोटी बातो के लिए कठोर व्यक्ति, एक ऐसी रचना से सन्तुष्ट न होगा जिसमे जितने प्रश्नो पर विचार किया गया है, उतने ही समाधानो पर, और जो अब भी अस्थायी हैं, तो भी उन्होने मुझे यहा यह कहने की अनुमति प्रदान की है कि मुझे उनका भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है, और यह, न केवल पाली और सिंहली मे, जिन भाषाओ का उन्हे अद्भुत ज्ञान है, सबधित सभी बातो का विशेष ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने मे, वरन् निरन्तर एक शिक्षा देने मे भी, जिसकी प्रचुरता और मूल्य उनके साथ सपर्क रखने वाले लोग जानते है। उनके ज्ञान के उदार सहयोग के बिना, इस ग्रन्थ मे कही गयी अनेक बाते और भद्दे ढग से होती या बिल्कुल ही न होती।

सर्वश्री रनु और बॉवनिस्त ने अपनी सामान्य उदारता के फलस्वरूप दी गयी अपनी सलाहो और आलोचनाओ द्वारा मुझे लाभ पहुचाया है, उन्होंने मेरी पाण्डुलिपि पढ़ी, पहली बार पूरी (और उसमे बहुमूल्य बाते जोडे बिना नही), दूसरी बार अशत। मेरी भाति वे भी यह जानते है कि पाण्डुलिपि को उनसे लाभ पहुचा है, केवल मैं ही जानता हू कि इस निरीक्षण से मुझे कितना आत्म-विश्वास प्राप्त हुआ है। कुमारी एल० नित्ती का मैं उनकी प्रत्यक्षत वैषयिक सहायता के लिए अनुगृहीत हू, किन्तु उनसे प्राप्त होने के कारण ही जिसे मैं केवल वैषयिक ही नही कह सकता (अर्थात् जो सहायता वैषयिक से भी अधिक है—अनु०)।

अत मे, प्रकाशक और लेखक को शोध-कोष (Caisse des Recherches) के (सचालक के) प्रति धन्यवाद देने मे प्रसन्नता है जिनके बिना इस पुस्तक का प्रकाशन सरल न होता।

सहायक ग्रन्थ-सूची

[सदर्भ-ग्रन्थों सहित]

ईरानी

गाइगेर-कून 'ग्रुद्रिस डेअर ईरानीशेन फाइलोलोजी', I, स्ट्रासबुर्ग, १८८५-१९०१।

राइशेल्ट 'आवेस्तिशेस एलीमेंटारबूख', हाइडेलबर्ग, १९०९।

मेइए-बांवनिस्त 'ग्रैमेअर द व्यू पर्स', द्वि० संस्क०, पेरिस, १९३१।

संस्कृत

मेक्डॉनेल 'वैदिक ग्रैमर', स्ट्रासबुर्ग', १९१०।

डेलब्रूक 'अल्टिडिशे सिन्टैक्स', हल, १८८८।

स्पेयर 'अत्रेन्तिशेस उंड सस्कृत सिन्टैक्स', स्ट्रासबुर्ग, १८९६।

वाकरनागेल 'अल्टिडिशे ग्रैमैटीक', I-II, I-III, ग्युटिंगेन, १८९६-१९३०।

रनू 'ग्रैमेअर सस्कृत', पेरिस, १९३०।

रनू 'ल वैल्यूर दु पारफै दां ले हीम वेदीक', पेरिस, १९२५।—'ल तीप वेदीक' 'तुदति', मेलांज़ वांद्रये (पेरिस, १९२५), पृ० ३०९-३१६। 'ल फार्म दीत दां जौक्तीफ दां ल ऋग्वेद'। एत्रेन (Etrennes)... .बांवनिस्त, (पेरिस, १९२८), पृ० ६३-८०—'अ प्रॉपो दु सबजौक् तीफ वेदीक', बी-एस-एल, XXXIII (१९३२), पृ० ५-१४।

मध्यकालीन भारतीय भाषाएं

हुल्श 'इन्स्क्रिप्शन्स ऑव अशोक', ऑक्सफर्ड, १९२५। तुल० वूलनर, 'अशोक टेक्स्ट ऐंड ग्लॉसरी', कलकत्ता, १९२४।

डब्ल्यू० गाइगेर 'पाली लिट्राटूर उंड स्प्राख', स्ट्रासबुर्ग, १९१६।

एम० स्मिथ 'देज़ीनांस दु तीप अपभ्रंश आं पाली', बी-एस-एल, XXXIII, (१९३२), पृ० १६९-१७२।

पिशेल 'ग्रैमैटीक डेअर प्राकृत-स्प्राखेन', स्ट्रासबुर्ग, १९००।

जे० ब्लॉख 'अशोक ए ल मागधी', बी० एस० ओ० एस०, VI, २ (१९३२), पृ० २९१-२९५—'केल्क देज़ीनांस दोप्तेतीफ आं मोर्या–आंदिएं,....' एम० एस० एल०,

XXIII (१९२७), पृ० १०७-१२०—'ऋेतमाँ दु ग्रूप सस्कृत सीफ्लाँत् +म्,' .. वही (१९२९), पृ० २६१-२७०।

एच० स्मिथ 'कात्र नोत अ प्रॉपो द लार्तिकिल प्रेसेदाँ', पृ० २७०-२७३।

एच० जाकोबी 'भविसत्तकहा फॉन धणवाल (Dhanavāla)', म्युन्शेन, १९१८ (विशेषत उद्धृत . भव०) 'सनत्कुमार चरितम्', म्युन्शेन १९२१।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाएं

जी० ए० ग्रियर्सन 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इडिया', कलकत्ता, १९०३-१९२८ (विशेष रूप से LSI के रूप मे उद्धृत)।

बीम्स 'कम्पैरेटिव ग्रैमर ऑव द मॉडर्न इडियन लैंग्वेजेज', लदन, १८७२-१८७९।

जे० ब्लॉख 'ल फौर्मेसियौँ द ल लाँग मराठ', पेरिस, १९२० (पुस्तक-सूची, जो यहाँ नहीं दुहरायी गयी, पृ० ३८-४२)।—'यून तून्यौँ र द्रैवैदिएन आँ मराठ', बी० एस० एल०, XXXIII (१९३२), पृ० २९९-३०६।

एस० के० चटर्जी 'औरिजिन ऐंड डेवेलेप्मेंट ऑव द बैंगाली लैंग्वेज', कलकत्ता, १९२६।

ग्रियर्सन 'ऑन द मॉडर्न इडो-एरियन वर्नाक्यूलर्स', इडियन ऐंटिक्वेरी, सप्लीमेंट, १९३१-१९३३।

आर० एल० टर्नर 'गुजराती फोनोलोजी', जे० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० ३२९-३६५, ५०५-५४४।—'सेरीब्रेलाइजेशन इन सिंधी', जे० आर० ए० एस०, १९२४, पृ० ५५५-५८४।—'सिंधी रिकर्सिव्ज', बी० एस० ओ० एस०, III (१९२४), पृ० ३०१-३१५। 'लिंग्विस्टिका' (रिव्यूज), बी० एस० ओ० एस०, V, I (१९२८), पृ० ११३-१३९।

टेसिटरी 'नोट्स ऑन द ग्रैमर ऑव ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी' (इडियन ऐंटिक्वेरी से पुनर्मुद्रित)। बम्बई, १९१६।

बाबूराम सक्सेना 'लखीमपुरी, ए डाइलेक्ट ऑव मॉडर्न अवधी', (ज० ए० सोसा०) बगाल, XVIII (१९२२), पृ० ३०५-३४७, 'डिक्लेन्शन ऑव द नाउन इन द रामायण ऑव तुलसीदास', इडियन ऐंटीक्वेरी, १९२३, पृ० ७१-७६।—'द वर्ब इन द आर० ऑव टी०', इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज', II, पृ० २०७-२३८।

एम० शहीदुल्ला 'लें शाँ मिस्तीक द कण्ह ए द सरह', पेरिस, १९२८।

ग्रियर्सन-बार्नेट 'लल्ला-वाक्यानि', लन्दन, १९२०।—ए० स्टाइन-ग्रियर्सन, 'हातिम्स टेल्स', लदन, १९२३।

ग्रियर्सन 'तोरवाली', लदन, १९२९।

ग्रैह्म बेली, 'ग्रैमर ऑव शिना लैंग्वेज', लदन, १९२४।

जॉ० मौरगैन्सटिएर्न 'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु अफगानिस्तान', ओस्लो, १९२६।—'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु नॉर्थ-वेस्टर्न इडिया', ओस्लो, १९३२।—'द लैंग्वेज ऑव द अश्कुन काफिर्स', नॉर्स्क तिस्क्रिफ्ट (Norsk Tidsskrift) फॉर स्प्रोगविदेन्स्कैप (Sprogvidenskap), II (१९२९), पृ० १९२-२८९।

जे० सैम्पसन 'द डायलेक्ट ऑव द जिप्सीज ऑव वेल्स', ऑक्सफर्ड, १९२६।

मैकैलिस्टर 'द लैंग्वेज ऑव द नवर ऑर जुट ((Zutt)), द नोमेड स्मिथ्स ऑव पैलेस्टाइन', लदन, १९१४।

जे० ब्लॉख 'ला देज़ीनांस द दूजिएम पेर्सन दु प्लुरिएल आँ नूरी', जर्नल ऑव द जिप्सी लोर सोसाइटी, VII (१९२८), पृ० १११-११३।—'केन्क फॉर्म वर्बेल दु नूरी', जे० जी० एल० एस०, XI (१९३२), पृ० ३०-३२।—'ल प्रेज़ांत दु वर्ब 'ऐत्र' आँ सिगान', इडियन लिंग्विस्टिक्स, ग्रियर्सन कौमेमोरेशन वौल्यूम, १९३३, पृ० २७-३४।—'ला प्रीमिएर पेर्सन दु प्रेजांत आँ कश्मीरी', बी० एस० एल०, XXVIII (१९२८), पृ० १-६। —'सूर्वी वांस द सस्कृत' आसीत् (āsit) आँ ऑदिऐन मॉदर्न', बी० एस० एल०, XXXIII (१९३२), पृ० ५५-६५।

अत मे, सामान्य प्रश्नो से सम्बन्धित

जे० ब्लॉख 'सम प्रौब्लेम्स ऑव इडो-एरियन फाइलौलौजी' I, 'द लिट्रेरी लैंग्वेजेज', II, 'इडो-एरियन ऐंड ड्रैवैडिअन', III, 'प्रेजेन्ट रिक्वायरमेंट्स ऑव इडो-एरियन रिसर्च', V, ४ (१९३०), पृ० ७१९-७५६।

एक कोश का उल्लेख करना यथेष्ट होगा, जो तुलनात्मक है और बहुत अधिक महत्त्व का है

आर० एल० टर्नर 'ए कम्पैरेटिव ऐंड एटिमौलौजिकल डिक्शनरी ऑव द नेपाली लैंग्वेज', लदन, १९३१।

उद्धृत पत्रो के सक्षिप्त किये हुए शीर्षक :

बी० एस० एल० =बूलेर्ता द ला सोसिएते द लॉग्विस्तिक द पारी', बी० एस० ओ० एस०=बुलेटीन ऑव द स्कूल ऑव ऑरिएटल स्टडीज', आई० एफ०= इडोजर्मनिशे फोरशुन्गेन, जे० ए-एस०=जूर्ना एसिएतीक, जे० आर० ए० एस०= जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, के० जेड०=त्साइटश्रिफ्ट फ्यूर फर्ग्लाइशेन्डे स्प्राखफोर्शुंग, एम० एस० एल०=मेम्वार द ला सोसिएते द लैंग्विस्तीक द पारी।

प्रथम खण्ड

ध्वनि

स्वर

१. प्राचीन स्वर

प्राचीन संस्कृत की स्वर-प्रणाली भारत-ईरानी प्रणाली के अत्यन्त निकट है। उसमें ह्रस्व और दीर्घ अ, इ, उ, ऋ (क्लृप, अ० करप की अद्भुत धातु मे लृ सहित) हैं; किंतु जिनमें संयुक्त स्वर ए और ओ उसी प्रकार हैं जिस प्रकार ऐ और औ। अ (अर्थात् *अ, *ए, *ओ तथा स्वर-संबधी कार्य मे अनुनासिको से उत्पन्न), इ (अर्थात् *इ) और उ की दृष्टि से उसका ईरानी के साथ पूर्ण साम्य है

*अ	सं०	अजति	अ०	अजैति	लेटि०	एजिट	§
*ए		अस्ति	पु०फा०	अस्तिय्	लेटि०	एस्ट	
*ओ		पति	अ०	पैतिस्	ग्री०	पौसिस	
*न् (स्वनत)		अ-	अ०	अ-	ग्री०	अ	
*म् (स्वनत)		दश	अ०	दस	ग्री०	दएक्अ	
*इ		इहि	गा०	इदी	ग्री०	इथि	
*उ		उप	अ०	उप	ग्री०	उपों	
§	सं०	मातर्-	अ०	मातर	लेटि०	मेटर	
		मा	अ०	मा	ग्री०	मएं	
		गाम्	अ०	गअम्	ग्री०	बओन्	
		जात	अ०	जातो	लेटि०	नाटुस	
		क्षा	अ०	ज़ओ	ग्री०	क्थओन्	
		जीव-	पु० फा०	जेइव-	लेटि०	यूइअस	
		भ्रूः	फा०	अब्रू	ग्री०	ओफ्रउस्	

साथ ही, स० आ कुछ परिस्थितियो मे ह्रस्व *ओ के स्थान पर आता है, भारत-ईरानी में यह विशेषता अब भी है : ग्री० अक्मओनक्, पु०फा० अस्मानम्, स० अश्मानम्।

भारत-ईरानी में इ *अ से निकली है, प्रथम अक्षर में ही यह अनुरूपता है :

सं० पितर-, अ० पितर-, लेटि० पेटर,

किन्तु अकेली संस्कृत ही उसे मध्यवर्ती रूप में सुरक्षित रख सकी है :

दुहितॅा, ग्री० थनगर्अतएर गा० द्वयक्षरात्मक दुग्ंदा, अ० साथ-साथ आए व्यजनों की मुखरता को आत्मसात् करते हुए दुγδअ।

शेष एक दुर्बल ध्वनिमात्र थी, और वह न केवल स्वर से पूर्व लुप्त हो जाती है जैसे भारोपीय में : जन्-अन-पु० 'बनानेवाला', तुल० जनि-र्तर-, किन्तु जब कि वह अपने को पूर्व य् के साथ मिला लेती और उसके साथ एक हो जाती है (क्रीतॅ, तुल० ग्री० परिंअ-स्थइ), तो एक प्रकार के अवरोधक विषमीकरण द्वारा य् से पहले उसका रूप अ हो जाता है : धॅ-यति, धॅनु- (अ० दएनु-'स्त्री')।

अन्य में संस्कृत इ और उ एक अस्थिर ध्वनि वाले भारोपीय स्वर, जिसका भारत-ईरानी में रूप परिवर्तित होता रहता है, के अनुरूप हैं, वे प्रारंभ से ही व्यंजन और स्वर के बीच में स्वनत वर्ण के आ जाने से उच्चारण-संबंधी कोमलता धारण कर लेते हैं, *°र् के संबंध में विशेषत तथ्य स्पष्ट है :

गुरुॅ-	अ० गोउरु-	ग्री० बरुस
गिरिॅ-	अ० गैरि-	

*अं के साथ योग स्थापित कर देने से यह कोमलता भारतीय भाषा को एक ऐसा दीर्घ स्वर प्रदान करती है जो ईरानी में प्राप्त नहीं होता

दीर्घॅ-	अ०	दर्अγअ-	
पूर्वॅ-	पु०फा०	परुव-	अ० पओउर्व-

अंतर इतना अधिक है कि यहा भारतीय ईर्, ऊँर् ईरानी के लगभग पश्चाद्वर्ती *ऋ की याद दिलाते हैं।

वास्तव में संस्कृत मे यह ऋ ह्रस्व जटिल स्वर के रूप में है, जब कि ईरानी में पहले उच्चारण की दृष्टि से, फिर स्वनत व्यंजन : अ० अंर् (अं), पु०फ़ा० र् [पढ़ते समय °र] और प्राथमिक अर्-

पृच्छॅामि	अ० पॅरॅसा	फा० पुरसम्
ऋॅष्टि	अॅर्स्ति-	ख़-इर्स्त् (जिसमें इर्स्- ऋर्स् का प्रतिनिधित्व करता है)

की दृष्टि से भिन्न है।

तो इस दृष्टि से ईरानी की अपेक्षा संस्कृत अधिक रूढ़िप्रिय है।

इसके अतिरिक्त, उच्चारण-भेद से अक्षर के आघात का भेद उत्पन्न होता है, जो

शुद्ध छन्दात्मक भाषाओं में अत्यधिक महत्त्व का है; प्राचीन मात्रा को केवल भारतीय भाषा ने ही सुरक्षित रखा है।

सस्कृत मे दीर्घ ॠ उपलब्ध नही है, उसका अस्तित्व तो केवल आकृतिमूलक सादृश्य के फलस्वरूप नवीनता के कारण है देखिए सबध० और कर्म० बहु० पितॄणाम्, पितॄन्, नृणाम्, नॄन्, जो 'देवानाम् गिरीणाम् वसूनाम्, देवान् गिरीन् वसून्' के अनुकरण पर हैं, वेद में अब भी इन नामों मे प्राचीन रूप सुरक्षित है . नर-आम् जैसे अ० में दुग्‍अ॑द्र-अम् और लॅटि० में पेट्र-उम् ।

व्यावहारिक दृष्टि से इन सब मे केवल एक मूल स्वर है . ह्रस्व या दीर्घ अ, जो या तो अक्ष के मध्य मे हैं, या सयुक्त स्वरो के स्वर-सबधी तत्त्वो में है। इसके विपरीत य् और व् के सभी स्वर-सबधी रूपो से पूर्व इ और उ उसी प्रकार हो जाते हैं जिस-प्रकार र् से ऋ इ-मं य्-अन्ति, सुनु-मं सुन्व्-अन्ति, जैसे बिभृ-मं बिभ्र्-अति, उसी से ही, द्यु॑-भि दिव, स्यू-तं . सीव्-यति। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इ और उ सदैव वही कार्य करते हैं जो ऋ करता है।

वास्तव मे, यद्यपि वैयाकरणो के मतानुसार, सयुक्त स्वरो ऐ, औ का प्रथम तत्त्व कम-से-कम दूसरे की अपेक्षा ह्रस्व भी हो सकता है, उन्होंने ईरानी मे सुरक्षित, प्रथम दीर्घ तत्त्व वाले सयुक्त स्वरो को बताया है सप्र० क॑स्मै, किन्तु अ० कह्माइ, तुल० ग्री० आइओं, उनका विग्रह आ + य् अथवा व् (नौ॑ – कर्म० ना॑वम्) के रूप मे हो जाता है और तत्पश्चात् अर् के अनुरूप नही, आर् के अनुरूप हो जाता है। भारत-ईरानी सयुक्त स्वर ऐ, औ प्राचीन ईरानी मे सुरक्षित हैं। किन्तु अति प्राचीन सस्कृत में ही उनके सयुक्त रूप प्रारभ होने लगते हैं

अ० अएस्मो,	तुल० ग्री० अईथो	स० ए॑ध-
वएदा	तुल० ग्री० ओइद्आ	वे॑द
अएइति	पु०फा० ऐतिय्, तुल० (ग्री०) ए॑सि	ए॑ति

उनके मात्रा-काल मे, जो निरतर दीर्घ रहता है, और स्वर से पूर्व उनके विग्रह मे उनका प्राचीन रूप प्रकट होता है लेट्-लकार अ॑य्-अति।

ए और ओ तो ईरानी द्वारा सुरक्षित *अज् के प्रतिनिधि के रूप में अब भी पाये जाते हैं, ए शब्द के मध्य में और पहले *अज्धि, तुल० अ० ज़्दी के लिए नेदिष्ठ-, अ० नज़्दिश्त-; ए॑धि, ओ अन्त मे (ऋ० १.२६ ७ 'प्रियो॑ नो अस्तु'; वही सयोग की अवस्था में : म॑नो-जव-, और कुछ के अन्त से पूर्व : द्वे॑षो-भिः) ।

यह कहने की आवश्यकता नही कि ध्वनि-श्रेणियो की इतनी सरल सूची से निस्सदेह उच्चारण की विविधताओ का पूर्णतः अनुमान नही लगाया जा सकता। उदाहरणार्थ,

स्वय वैयाकरणो ने इस बात की ओर सकेत किया है कि आ की अपेक्षा अ का अधिक स्थिर रूप था, और यह विभिन्न रूपो में प्रमाणित हो जाता है, विशेषत उन ध्वनि-विरोधो से जो आज मात्रा-काल-सबधी प्राचीन विरोधो के स्थान पर है. उदाहरणार्थ, बँगला अॅ, ओ का विरोध अ (लिखित आ) से है, अथवा यूरोपीय जिप्सी-भाषा ए का विरोध अ से है ।

ग्रीको द्वारा प्राचीन भौगोलिक रूपान्तरो मे विविधता है, उनमे से कुछ ऐसे हैं जिनमे ग्री० ∝ ह्रस्व अ होना चाहिए तग्गेम, तक्सिल (तक्षशिला), सन्द्रकोइइओस (चन्द्रगुप्त), दक्खिनब्रदेम् (दक्षिणापथ); उधर आरिएन मे कम्बिस्दोलोइ (कापिष्ठल) है, किन्तु ये सकेत प्रधानत समास के प्रथम शब्दो के अत मे मिलते है, एरन्नोबोॲस जिसमें 'ओ' के अतिरिक्त 'आ' भी है (हिरण्यवाह); सन्दरोफगोस (चन्द्रभागा); तप्रोब्ने (ताम्रपर्णी-); यह भी कहा जाता है कि टोलेमी ने उसका प्रयोग पूर्वी भागो के लिए, जिसे वास्तव में बगाल कहते है, किया (एस० लेवी, 'टोलेमी, ल निद्देस,' एत्युद एसियातीक ई-फ ई-ओ, पृ० २२); अन्त मे स्त्राबोन में देर्दइ (टोलेमी म दर्द्रइ है), आरिएन मे मेदोर (टोलेमी मे मोदोउर), कल्लेअनोंस लिथोस और -नर्गर् के निकट पेरीपिल में वही कल्लिॲन है।

पुरुषवाचक सज्ञाओ में अ और इ का परिवर्तन तो निश्चित रूप से बताया जा सकता है, विशेषत उस समय जब कि ब्राह्मण प्रणाली से किसी दूसरी प्रणाली की ओर जाना पडता है श० ब्रा० नड नैषिध, महा० नल नैषिध; स० मुचिलिन्द, पा० मुच-लिन्द; किन्तु पाली मे मेनन्दरोस के लिए मिलिन्द मे इ है, कुशलव- और कुशीलव-, कौटल्य- और कौटिल्य-, शातवाहन- और शालिवाहन-, पा० तपुस और पौधे का नाम तिपुस-, स० त्रिपुष पुरुषवाचक सज्ञा और त्रपुष- दुहरे प्रयोग भी मिलते है।

मध्यकालीन भारतीय भाषाओ और तत्पश्चात् आधुनिक भाषाओं में ऐसे पर्याप्त सख्या में उदाहरण मिलते है जिनमें प्राचीन अ के स्थान पर इ हो गयी है . पा० तिपु (अथर्व० त्रपु), पा० प्रा० मिञ्जा, तुल० सिं० मिञ् (मज्जन-), पा० इग्(ह्)आल, आदि (अगार-), हिं० खिन् और खन् (क्षण-), हि० किन् (उँगली) (तुल० कन्या, कनिष्ठ), गिन्- (गण्-), झिगड़ा, पिजर् जो झगड़ा, पजर् के निकट हैं; इलाहाबाद (अल्लाह-), डेडाना डरना (डर-) के निकट है, मेंडक् (मण्डूक-), बँगला चिब्- (चर्व), छिल्का (छल्लि-), खिजूर् जो सथाल रूप (खर्जूर-) से प्रमाणित होता है। यह एक ऐसी भाषा में होने के कारण और भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें अ का उच्चारण अॅ या ओ आदि की भाँति होता ह, जिसमें कंठ्य और विशेषतः तालव्य

के प्रभाव की झलक मिलती है, इसी प्रकार हिन्दी और पंजाबी में ह् द्वारा अ का तालव्यीकरण बराबर पाया जाता है, जिसके अनुसार रीह्- लिखा गया रह्-, सि० किहानि हि० कहानि (कथ-) की अपेक्षा रखता है।

जैसा कि प्रतीत होता है, यदि अ सामान्यतः तालव्य उच्चारण ग्रहण कर लेता है, तो उसी प्रकार के द्रविड़ रूपों को देखने की इच्छा होती है। क० मिग्- (महा-), हर हालत में समान रूप अवश्य मिलते हैं क० मेळसु, त० तेप्प-, पेरीपिल इरप्प (ग) गु० तारो, त० मेळसु, त० मिळगु, स० मरिच-।

इसके विपरीत ऋ० शुतुद्री, म० महाकाव्य शतद्रु, का परिवर्तन-क्रम अपवाद-स्वरूप है, अशोक० उदुपान- (उद-), ओषध- (ओषध-), पा० पुक्कुस-, निमुज्जति (मज्ज्-) ओष्ठ्य की श्रेणी में आ जाते हैं।

यहाँ इस बात का स्मरण हो आता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ऋ का अन्त साधारणतः अ या इ में हो जाता है, और प्रारंभ में विशेषतः इ में, किन्तु केवल ओष्ठ्य के साथ होने पर उ में, इसी प्रकार संस्कृत में स्वनत स्वरों की ध्वनियों के लिए है निर्, हिरण्य- किन्तु पुर, किन्तु मृयते में सभावक प्रकार मुरीय, f रि- किन्तु गुर्-, प्राय ह् के पहले इ ही आती है मै० स० मलिहा तै० स० मल्ह-, कभी-कभी अ के रूप में मिलती है पा० अरहन्- से अरहा, जिसकी व्याख्या है 'शत्रुओं को नष्ट करने वाला'—अरि-हन-, किन्तु इस प्रकार उ के लिए नहीं कहा जा सकता।

वैयाकरणों ने ह्रस्व तथा दीर्घ इ और उ के उच्चारण की भिन्नता की ओर संकेत नहीं किया। किन्तु नामों की दृष्टि से जैसे किर्रदइ, पेरीपिल के सुरस्त-रेने, अति प्राचीन काल में मिलते हैं मन्दरकोत्तोस (-गुप्त-), पलिबोंद्र (-पुत्र-), मेदोर (मथुरा), एरन्नोबोअस (हिरण्य-) और टोलेमा में -गेरेइ अथवा -गेरेइ (गिरि-) विपर्यस्त रूप में मुद्राओं पर 'अगथुक्लेयस' 'एगोथोक्लीस', अशोक० में 'तुरमय' (टोलेमी)। तो इस बात का संकेत मिलता है कि ह्रस्व इ और विशेषतः उ अपने सानुरूप दीर्घ रूपों की अपेक्षा अधिक विवृत थे। उससे निस्सन्देह पा० आयुसो (आयुष्मन्त-) के मुकाबले में आयस्मन्त-, पुन-र् की दृष्टि से पन (तुल० मराठी पण, ब० पणि) जो संस्कृत रूप के साथ-साथ अर्थ भी सुरक्षित रखे हुए ह, की विवृति सरल हो जाती है। आधुनिक काल में शब्द के मध्य उसकी दुर्बल स्थिति को कठिनाई के साथ प्रमाणित किया जाता है, केवल गुजराती में उसका रूप दिखाई देता प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ, मळ, (मिल्), लख्- (लिख्-), -हतो (हि० होता)।

यह भी सिद्ध नही होता कि ए और ओ का उच्चारण एक ही भाँति रहा होगा। अथर्ववेद १ ३४-३६ के प्रातिशाख्य के आधार पर, ऐसा प्रतीत होता है कि ए और ओ आ के लगभग समान विवृत और अ की अपेक्षा अधिक विवृत रहे होगे, किन्तु तै० प्राति० २ १३—१४ मे प्रत्यक्षत इसका खण्डन हो जाता है। इन दो उच्चारणो पर प्रकाश पडता है प्राचीन सयुक्त स्वर से अलग होने मे, जिनके तत्त्व प्रारभ मे निकट रहे हो (अंउ हो), भिन्नता के कारण अलग-अलग रहे हो (औ हो जिससे अऔ बना)। आधुनिक युग मे, गुजराती की सैद्धान्तिक दृष्टि से विशेषता प्राकृत से आये विच्छेद के साथ ऐं और औ, जिनमे विवृति अधिक थी, की अपेक्षा प्राकृत ए और ओ से आये ए और ओ की विवृति की मात्रा में है (टर्नर, 'आसु० मुखर्जी जुबिली वॉल्यूम', पृ० ३३७)।

हर हालत मे, -औ और *-अस से निकले स० -ओ समान नही है . वैदिक सधि गंव्-इष्टि के समक्ष मंन-ऋग- (मनस् और गो से) का विरोध करती है। *अज् से निकला -ओ कभी-कभी -अय् मे विभक्त हो जाता है। पूर्वी मध्यकालीन भारतीय भाषाओ में अन्त मे -ए रूप में समाप्त होकर वह विलीन हो जाता है · अशोक के अपश्चिमी अभिलेखो में स० -अ सदैव -ए रूप मे आया है 'देवानापिये' (-प्रिय), 'लाजिने' (राज्ञा), 'ने' (न) आदि, किन्तु एक यौगिक जैसे, क्यो-महालक और एक स्वराघात-विहीन जैसे, 'ततो' मे सस्कृत की विशेषता सुरक्षित रह गयी है, जैसे 'नो', 'खो' (तुल० खलु) (निय के प्राचीन प्रमाणो मे यही बात मिलती है, दे० पृ० ८) में अ+उ से निकला ओ।

कोई व्याकरण-सबधी महत्त्व न होने के कारण, इस रूप की विविधताएँ प्रत्यक्ष नही रही अथवा कम-से-कम उनकी ओर ध्यान नही गया। अस्तु, सस्कृत की स्वर-प्रणाली अपूर्ण है, किन्तु भारत-ईरानी की अपेक्षा वह कम अपूर्ण है, क्योकि प्राचीन सयुक्त स्वरो को प्रथम ह्रस्व रूप मे ले आने की चेष्टा में, उसे दो नये, ए और ओ, प्राप्त हो गये।

किन्तु इन ध्वनि-श्रेणियो का विभाजन मात्रा-काल की दृष्टि से अव्यवस्थित है, जो यद्यपि प्राचीन ध्वनि-प्रणाली का एक मूल तत्त्व है केवल अ, इ, उ मे ह्रस्व और दीर्घ मात्रा-काल है, ऋ केवल कुछ हालतो में अन्त मे दीर्घ हो जाती है, आकृतिमूलक साधर्म्य के कारण, अन्त में, ए और ओ के केवल दीर्घ रूप मिलते है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी उनमें उतनी ही असमानता है केवल अ स्वर है, इ, उ, ऋ स्वनत है, ए और ओ विच्छिन्न हो जाने वाले सयुक्त स्वर है, और ये अय्, अव् में विभक्त हो जाते है जो सामान्यत * ऐ, *औ से निकले हुए होने चाहिए, अथवा

ऐ, औ का विच्छेद आय्, आव् मे हो जाता है। सामान्यत:, परिवर्तन-क्रम, जिनका भाषा मे प्रमुख भाग रहता है, ध्वनि-प्रणाली के अनुरूप नही हैं; उसे ऋ के अनुरूप आकृतिमूलक समुदायो की ध्वनि-श्रेणियो के उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है, अर्, अ (वैसे मूल स्वर), अन्, इ ए, इ (अर्थात् * अं). आ; इन असमान रूपो की सख्या और भी बढायी जा सकती है । इसके अतिरिक्त परिवर्तन-क्रमो मे ध्वनि-श्रेणियाँ विभिन्न रहती है, इस प्रकार इ, स्वर अ, जहाँ तक उसे * अं से निकला माना जा सकता है, से परिवर्तनीय है, और साथ ही य् से भी, बिना इस बात का ख्याल रखे हुए कि वह गिरि- में ऋ से भी अलग हो सकती है।

एक ऐसी प्रणाली मे, जिसमे दुरूहताएँ रूपो के अनुरूप न हो, गंभीर परिवर्तन होना आवश्यक था।

२. स्वरों का परवर्ती विकास

(१) ध्वनि-श्रेणियों का लोप

व्यावहारिक दृष्टि से असतुलित होने के कारण, यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सरलता और स्थायित्व (आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ मे अपनी नवीन ध्वनि-श्रेणियाँ एक प्रकार मे विकसित ही नही हुई) के रहने पर भी सस्कृत की स्वर-प्रणाली को गभीर क्षतिपूर्ति प्रदर्शित करनी पडी है।

ऋ का स्वरीकरण

पहला ऋ के बहिर्गत हो जाने मे है, इस दृष्टि से भारतीय भाषा मे, ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति, एक दुरूह ध्वनि-श्रेणी विलीन हो जाती है, और जिसकी स्वर-स्थिति मे ही व्यजन तत्त्व निहित थे, किन्तु इस समस्या का भारतीय समाधान निराला है, क्योंकि अन्य स्थानो की भाँति ईरान मे यह परिणाम निकला कि एक समुदाय मे एक साथ ही एक स्वर और एक र है; केवल भारतवर्ष मे उच्चारण की क्षति पर मात्रा-काल की रक्षा एक ऐसी पद्धति द्वारा की गयी है जिसका प्रयोग ईरानी और ग्रीक भाषाओं मे व्यजनो के सबंध मे होता है, और स्वभावत इ, उ के सबध मे जो कोई कठिनाई प्रस्तुत नही करती।

यह बात निस्सदेह है कि उच्चारण मे ऋ का स्थान एक विशुद्ध स्वर ने ले लिया था, न कि किसी सयुक्त-स्वर ने अथवा शब्दाशों का निर्माण करने वाले किसी समुदाय ने। तो क्या लेख मे ऋ के इतने दिनों तक सुरक्षित रहने का कुछ अर्थ है? जो भी हो,

यह एक महत्वपूर्ण बात है, वेद में ही उ द्वारा प्राचीन ऋ का प्रतिनिधित्व किया गया मिलता है, वह सबध० एक० पितु (*पितृ-स्) जैसे शब्दो के अन्त मे मिलता है तुल० अ० नंरंसें (*नृ-स्), चक्रु का ३ बहुवचन, तुल० अ० गा० अंनहर, चिंकोइतंरंसें (दे० मेइए, 'मेलांज दांदिअनज्म एम० लेवी', पृ० १७)। यह एक सामान्य तथ्य है कि एक ध्वनि-श्रेणी पहले अन्त मे हो। किंतु ऐसे उदाहरण भी पाये जाते है जिनमे उपलब्ध स्वर शब्दो के मध्य देखा गया है, जिनमे परिवर्तन-क्रम का कोई भी प्रतिफलन ऋ की रक्षा नही करता और जिनमें केवल शब्द-व्युत्पत्ति-विशेषज्ञ ही चिह्न पा सकता है विकट-, निर्ण्य-, तुल० ग्री० नेर्तेरोस, मंहु (अ० मंरंजु-, दे० 'डोनम नेटालिसियम ग्रिजनेन,' पृ० ३६९), साथ ही तुल० गेह्–, गृह के समीप।

ऋ-स्वर के भी कुछ प्रमाण मिलते है, जिनमें शब्दांगिक मात्रा-काल को भी स्थान मिला है क्रिमि- कृमि- के समीप, तुल० फा० किर्म, रजत- अ० अंरंजतंम्, रु अप्रत्यक्ष रूप मे शृणोति (अ० सुग्नाऔति, अशोक० स्रुनेयु आदि) द्वारा प्रमाणित होता है।

मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओ मे ये ही रूप मिलते है, अथवा उचित रूप मे, ये प्रयोग, जो भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है, वेद मे बड़े अच्छे रूप मे मिलते है, जो बाद को परवर्ती भाषा-स्थितियो के सकेत-चिह्न मे सामान्यत मिलते है। स्वर-ऋ का रूप, जैसा कि ईरानी मे है, केवल सस्कृत से लेकर आधुनिक शब्दों के अनिश्चित उच्चारण मे मिलता है (ब० अमिरत, अम्रित और अम्रत के समीप), ऐसा ही फा० मिर्जा से म्रिजा है, इसी प्रकार शहबाजगढी के अशोक के अभिलेखो के अनिश्चित लेखो मे कोई चाहे तो *मृगो आदि (मिकेल्सन, जे० ए० ओ० एस०, ४ ३६, ७, पृ० ८२) पढ सकता है जब कि पाठ के अनुसार वह म्रुगो (तुल० ध्रम -- धर्म) मिलता है। फलत यह स्वीकार करना चाहिए कि यह एक अनोखा अपवाद है। खोवर ओचं (हमारा), जो कभी-कभी अपने को प० रिच्छ्, म० रीस् आदि, वैगेलि के ओच, कती, अश्कुन ईच, पशई के ईच् अच्, शिन ईच्, से अलग कर लेता है, यहाँ विचार किये जाने की दृष्टि से बहुत दूर पड़ता है।

र् । स्वर, वैदिक क्रिमि की भाँति, का प्रयोग सभवत अशोक० (म्रुग-, म्रिग-) और पाली में आष्ट्य के समीप मिलता है, उदाहरणार्थ, ब्रहेति (ऊ के लिए, तुल० म० परिवृढ-से बना परिब्बुल्ह-), ब्रहन्त्- (ब्रहट्ठ के अनुकरण पर ब्रूह के लिए, स० बह्लिष्ठ-), ह्रस्व-(और रस्व-ग्री० हापाक्स); साथ ही तुल० पा० पुथु (पृथक्) के विपरीत ह० दुत्रु० प्रुधि। किन्तु पा० पुच्छति, विच्छिक-, अच्छ- (पृच्छति, वृश्चिक, ऋक्ष-) यह प्रदर्शित करते है कि प्रत्येक स्थिति मे वे अपवाद-स्वरूप हैं। प्राकृत में रि- प्रारभ में ही मिल जाता है . रिद्धि-, रिसि-, रिच्छ- आदि, किन्तु इसि-, अच्छ- भी

मिलते हैं, तुल० पाली और जैन प्रयोग महेसि-। यद्यपि उसके कुछ चिह्न आधुनिक भाषाओं मे मिलते हैं, तुल० पीछे उद्धृत 'हमारा' के लिए शब्द, तो भी उनमें यह प्रयोग अपवाद-स्वरूप है, और ऋ के स्थान पर मूल स्वर का हो जाना, जिसे वैदिक भाषा में निश्चित रूप से दिखाया जा चुका है, और साथ ही क्लैसीकल भाषा में (क्रोष्ट्ऋ- और क्रोष्टु- आदि का मिश्रण), मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओ मे, भाषाएँ जो विलक्षण समझी जाती हैं, सामान्य प्रयोग के रूप मे रह जाता है। स्वर की विविधता पहले ही दिखाई पडने लगती है गिरनार मे अशोक और बाद में मराठी भाषा ने अ को पसन्द किया जिसे सिंधी मे कोई स्थान नही मिला; इ का प्रयोग बहुत हुआ है।

संयुक्त स्वरों का लोप

ए और अ के विकसित हो जाने से सयुक्त स्वरो की भारत-ईरानी प्रणाली का टूटना विकास की वह प्रथम श्रेणी है जो स्वय बाद को मध्यकालीन भारतीय भाषाओं मे ऐ और औ के रूप मे परिणत हो जाती है, साथ ही जब उसका आकृतिमूलक मूल्य नष्ट हो जाता है इ, ए, ऐ, उ, ओ, औ।

यह तो देखा जा चुका है कि सस्कृत में भारत-ईरानी सयुक्त-स्वरो आइ, आउ का प्रथम तत्व अ अपना ठीक-ठीक मात्रा-काल खो बैठा था। आधुनिक भारतीय भाषाओ मे, ऐ और औ मे फिर से ए और ओ आ गए हैं, अशोक० केवट- (कैवर्त-), विकृतरूप स्त्री० एक० -ये (-यै) का अन्त्य, पोत्र- (पौत्र-); पा० वेर- (वैर-), पोर- (पौर-), उभो (उभौ), रत्तो (रात्रौ)। अयि, अय, से निकले ऐ, औ के अतिरिक्त अव, अवीं भी ऐ, औ मे परिवर्तित हो जाते है; गिरनार मे अशोक ने लिखा है थैर- (स्थविर-) और त्रैदस (त्रयोदश) जो पाली मे थेर-, तेरस लिखे जाते है। यही बात अपिनिहित के सबध मे भी है शह० (- पा०) समचरियम् के लिए अशोक० समचैरम् बीच की उस स्थिति का द्योतन करता है जिससे प्राकृत रूप अच्छेर- (आश्चर्य-), आचेर- (आचार्य-) निकले हैं और प्राकृत विशेषणो का रूप -केर- जिसका सबधसूचक विशेषणो के प्रत्यय के रूप मे प्रा० गु०, जिप्सी-भाषा आदि मे अत्यधिक प्रयोग होने वाला था। अन्त में शब्दांश-सबधी सीमा द्वारा पृथक् किये गये अ और इ, उ आगे चलकर इस सीमा के सकुचित हो जाने से आपस में मिल जाते हैं, निग्लिवा के अशोक-अभिलेखो में तो चो(द्)-दस- (चतुर्दश-) दिया ही हुआ है, जिनमे दन्त्य का विषमीकरण हो जाता है, साथ ही उनमे टोपरा के रूप भी मिलते हैं चतु(प्)पदे, चातुम्मास और, परिवर्तन-

कालीन सोष्म के रूप में परिवर्तित अस्थायी व्यजन मे, -चावुदस-। तत्पश्चात् उसमे क्रिया के ३ एक० मिलेगे (म० -अंति), प्रा० -ऐ, आधुनिक -ऐ अथवा -ए, दीर्घ शब्दो के कर्ता० ए० मे (म० पा० -अको), प्रा०-अओ, ब्रज०-औ और-ओ, कश्० -उ; भगिनी से हि० बहिन्, प० बैन्ह् और सि० भेणु, कश्० बैञ्ञें ।

स्वर + र् से जहाँ तक सबध है, एक दूसरे के पहले आने वाले सभी व्यजनो की भाँति व्यजन से पहले र् का समीकरण हो जाता है। अनुनासिक की तो और भी अधिक दुरूह परिस्थिति है।

जब वे स्पर्श से पहले आते है, तो उनका उच्चारण अपने को अनुकूल बना लेता है ऋ० आज्ञार्थ २ एक० यम्- से यधि, और व्यजनो से पहले तथा साथ ही लुप्त शिन्-ध्वनियो से पहले सामान्य अतीत २, ३ ए० अगन् *गन्त् और *गन्स्, निस्सदेह मध्यवर्ती *गन्त्स् द्वारा), सबध० एक० दन् (*दम्स्) ।

समीपवर्ती तत्वो मे मिलने हुए अनुनासिक कपनो को अग्रभाग जारी रखता है अनुनासिक यॅं द्वारा य् अपने मे सकुचित हो जाता है, ह् या शिन्-ध्वनि से पहले अ का अन्त ह्रस्व अनुनासिक अँ मे हो जाता है। कुछ अन्य के बाद स्पर्श से पहले भी स्वर मे अनुनासिकता आ जाती है, किन्तु यह एक अकेला उदाहरण है। सामान्य नियम तो वही है जो पोलोनै के उदाहरण मे मिलता है (मेइए-ग्रैबोस्का, ग्री० पोलोन §§ १० kes का उच्चारण kē की तरह होता है, kot का kout की तरह)। अशोक के लेखो मे अनुनासिक के बद्धमूल हो जाने से पूर्व, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अनुनासिकता का रूप उस प्रकार का मिलता है जैसा फ्रासीसी méridional année के लिए âne मे है अमन-, अमञ्त्र, पुमञ- (अन्य-, अन्यत्र, पुण्य-)।

स्वर इ, जो अ की अपेक्षा अनुनासिकता के बहुत पक्ष मे नही है, मूल दीर्घ की ओर झुक जाने की प्रवृत्ति प्रकट करती है पा० सीह- (सिह-), अशोक० -विहीसा (हिसा), स० व्रीहि-, शब्द जो अपने लोक-प्रचलित मूल से अलग हो गया है, भारतीय-ईरानी *व्रिजहि, फा० बिरिंज् ('ऐत्यूद एसियानीक .', ई० एफ० ई० ओ०, I, पृ० ३७), किन्तु पा० वीसति सीधा भारोपीय से निकला है अ० विसैंति, लेटिन उईगिन्टी, यह स० विशति- है, जो क्लिष्ट हो गया है

जब कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अन्तिम व्यजन का लोप हो जाता है, अनुनासिको का अवरोध स्वर मे मुखरता उत्पन्न करते समय अपने को विलीन कर देता है अग्निम् से अग्गि, जीवन से जीवम्, भवान् से भव, प्रा० अर्द्ध-मागधी बलवान् से बलवम्।

ये मध्य तथा अन्त्य सयुक्त-स्वर सर्वप्रथम मात्रा-काल की दृष्टि से प्रयुक्त हुए हैं, प्राचीन छद-प्रणाली मे वे दीर्घ रूप मे आते है। उस समय से वे प्राचीन दीर्घ रूपो की भाँति रहे है, किन्तु बौद्ध सस्कृत, और परवर्ती मध्यकालीन भारतीय भाषा के दीर्घ शब्दो मे अन्त्य स्थिति धारण कर लेते है भव० सीहासन (सिहा-) के लिए सिहासण- आदि।

(२) शब्द में स्थान के आधार पर परिवर्तन

कुछ लगभग अपवादो को छोड कर, स्वर-सबधी ध्वनि-प्रणाली इतिहास मे बराबर बनी रही है, मस्कृत के अ, इ, ए, उ, ओ सामान्यत फिर उस रूप मे मिलते है जिस रूप मे, उदाहरणार्थ, मराठी या हिन्दी मे। इसके विपरीत लयात्मक परिवर्तन हुए हैं।

मस्कृत मे स्वरो का मात्रा-काल निश्चित रूप से निर्धारित है, उसमें ह्रस्व है, दीर्घ हैं, और फिर दीर्घ ह्रस्व के मयुक्त रूप मे है (शब्दाशो का "गुरुत्व" एक भिन्न बात है, एक शब्दाश मद हो सकता है, स्वर ह्रस्व, यदि इस स्वर के बाद दो व्यजन आये)। प्राचीन छन्द-प्रणाली द्वारा अनुमोदित मात्रा-काल-सबधी विभिन्नता का सबध विशेषत कुछ निश्चित आकृतिमूलक प्रकारो से है यहाँ कुछ प्रत्ययो (श्रुधो, र्अत्र) अथवा रचना के प्रथम शब्दो (विश्वामित्र–) और उनमे मिल गये आकृतिमूलक तत्वो (तमबन्त के प्रत्ययो से पूर्व विशेषण शब्द) से सबधित अन्त्य स्वर उद्धृत किये जायँगे। भारोपीय की यह एक परपरा रही जिससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल से ही उसमे शब्दाशो से सबधित "गुरुत्व" के परिवर्तन-क्रम का अत्यन्त महत्त्व रहा है. हर्ता मंर्खम हर्त वृर्त्रम् (◡◡−◡̲), वावृधें वर्वंर्ध भंरीमन्- भरित्रम्। इमी प्रवृत्ति के कारण अनुकूल परिस्थिति मे ह्रस्व स्वर का पूर्ण लोप हो जाता है कृणु-, मनु- के लिए कृण्महे, मन्महे मे ओष्ठ्य देखिए, जनिता की अपेक्षा जन की भाँति द्वयक्षरात्मक शब्दो के मूल की इ को लुप्त कर देने की शक्ति. जिससे जनिम के समीप जंन्मना (दे० मेइए, एम० एस० एल० XXI पृ० १९३) बनता है। इसी परपरा के अनुसार मध्यकालीन भारतीय भाषा मे यौगिक शब्दो का व्याप्तियुक्त रूप मिलता है, पा० जातीमरण-, दित्थीगत- और इमी प्रकार सबध० मनीमतो, दे० कर्त्ता० सतीमा (स्मृतिमान्), किन्तु विपर्यस्त रूप मे ह्रस्वीकरण मिलता है तण्हगत तण्हा (तृष्णा) के रूप मे, और पञ्ञवा (प्रज्ञावान्); तो यह एक ऐसी समान बात है जो अन्त्य के अनिश्चित महत्त्व की ओर उतना ही संकेत करती है जितना शब्दाशो के लयात्मक समुदाय की ओर।

वास्तव में मध्यकालीन भारतीय भाषा मे स्वर-सबधी मात्रा-काल उतनी ही कठोरता के साथ सुरक्षित नही पाया जाता जितनी पहले व्याकरण की दृष्टि से और विशेषत. परिवर्तन-क्रमो की दृष्टि से पाया जाता था, यह बहुत-कुछ शब्दान्तर्गत स्वरों की ध्वनि की स्थिति पर निर्भर रहता है, और वह भी दो रूपों में : एक तो शब्दाशो के निर्माण की दृष्टि से, दूसरे शब्द के रूप और विस्तार की दृष्टि से।

(अ) शब्दांश

प्राचीन प्रणाली के अनुसार, एक शब्दाश, जिसके अत मे कोई दीर्घ स्वर आया हो और एक शब्दांश जिसमे ऐसा ह्रस्व स्वर हो जिसके पश्चात् आश्रित व्यजन आया हो, समान रूप से मन्द होता है नदा◡––, तप्त–,तात–◡ की तरह। व्यजन समुदायों के परस्पर मिल जाने से स्थिति में कोई अन्तर नही पडता . पा० तत्त–(तप्त)–◡।

एक शब्दाश, जिसमे दीर्घ स्वर और तत्पश्चात् एक समुदाय हो, बहुत मन्द रहता था और क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उसका आदर्श रूप पाया जाता है। गिरनार वाले अशोक के. अभिलेखों में उसमे अलगाव पाया जाता है अ(ञ्)ञ-(अन्य-), यु(त्)न- (युक्त-) के निकट रूप मे पढने को मिलता है, रा(ञ्)ञो (राजना), मा(द्)दव- (मार्दव-), जो वैसे ही विरोधी रूप मे है और अपूर्णत अनुरूपित समुदायो पर आधारित स्वर-सबधी मात्रा-काल मे पाया जाता है . चत्पारो (चत्वार), जो आत्प- (आत्म-) के विपरीत पडता है।

पश्चिमी भाग मे भाषा-सबधी यह परिस्थिति बहुत दिनो तक बनी रही सिधी मे उसके प्रमाण मिलते है, जो वाघ्$^{\text{उ}}$ (व्याघ्रा) का चक्$^{\text{उ}}$ (चक्रम्) से, रात्$^{\text{ए}}$ (रात्री) का रत्$^{\text{उ}}$ (रक्तो) से, काठ्$^{\text{उ}}$ (काष्ठम्) का अठ्$^{\text{अ}}$ (अष्टौ) से विरोध प्रकट करते है, ऐसा ही पजाबी रात् (रात्री) और रत्त् (रक्त-), और कश्मीरी मे है . काठ् (काष्ठ-), जाग्- (जाग्र-), किन्तु रत् (रक्त-); तो इन प्रदेशो मे द्वित्व रूपो का सरलीकरण हाल का है।

अन्य भाषाओ मे इस रीति का अपवाद-रूप मे प्रयोग हुआ है · वह पा० दीघ-(दीर्घ-), लाखा (लाक्षा) रूप मे है। साधारणत शब्दाश को स्वर ग्रहण करने की दृष्टि से उसका सामान्य "गुरुत्व" फिर प्राप्त हो जाता है, और यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओ के समय से . रत्ति-, रत्त- के रूप में, कट्ठ-, अट्ठ के रूप मे, अञ्ञा, अञ्ञ- (अन्य-) के रूप मे।

अथवा ए और ओ जिनमे अन्त मे ह्रस्व हो जाने की प्रवृत्ति थी, इन स्थलो पर भी बराबर ह्रस्व हो जाते है। सामान्य लेख, जेट्ठ- (ज्येष्ठ-) की तरह, कुछ ग्रहण नहीं

करता; अग्गिहुत्त- (अग्निहोत्र-), जुण्हा (ज्योत्स्ना) जैसे लेख स्पष्ट हो जाते हैं जब कि ऍ और ऒ का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता है, क्योंकि एक ही धातु हुत- के कृदन्त से और लगभग एक से अर्थ जुति- (द्युति-) के शब्द से मिश्रण का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु नेक्ख-(निष्क-), ओट्ठ-(उष्ट्र-) जैसे रूप, जिनकी व्याख्या शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान नही कर सकता, प्रस्तुत ह्रस्व रूपो को मान कर चलते है। इससे न केवल पूर्वोल्लिखित उदाहरण ही, वरन् व्युत्पत्ति के उन उदाहरणों की भी व्याख्या हो जाती है जिनमे वृद्धि बिल्कुल लुप्त हो गयी है : सिन्धव (सैन्धव-), इस्सरिय-(ऐश्वर्य-), उस्सुक्क- (औत्सुक्य-)।

यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में बढ़ हुए, इन तुल्य रूपो ने परिवर्तन-क्रमो की प्राचीन प्रणाली में कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी है . न केवल व्युत्पत्ति में, किन्तु आकार की दृष्टि से स्वयं रूप-रचना मे, गुण की सुरक्षा का अभाव है। उलटे आधुनिक काल तक उसमें और कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गया है हि० एक् : इकट्ठा, देखना . दिखाना [जिनमें शब्द-व्युत्पत्ति-सबधी परिवर्तन-क्रम मे आश्चर्यजनक रूप मे विपर्यस्त मूल-सबधी परिवर्तन-क्रम परिणाम है तोड़ना (त्रोटयति) टूटना (त्रुट्यते)]।

तो इस समय उसमे एक नई प्रणाली पायी जाती है जिसके अन्तर्गत ऋ का अस्तित्व नही रह गया, और जिसमे शेष सभी स्वर ह्रस्व या दीर्घ हो सकते है। केवल एक कठिनाई यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से इ एक साथ ही ई और ए दोनों का ह्रस्व रूप हो सकता है, उ भी ऊ और ओ का, यह कठिनाई और भी बढ जाती है जब कि ए और ई, ओ और ऊ परस्पर मेल नही खाते और पारस्परिक परिवर्तन अपवाद-रूप मे प्रकट करते है।

हम देखते है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे द्वित्वो का सामान्यत सरलीकरण हो गया है; प्रस्तुत विषय की दृष्टि से, पूर्व स्वर, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण हुई हो, दीर्घमान हो जाता है। यह चीज़ कुछ हालतो मे मध्यकालीन भारतीय भाषा से चली आयी मानी जा सकती है : तुल० अशोक० में, दिल्ली के स्तभ मे भविष्यत् रूप -ईसति है, जो -इ(म्)सति के निकट है। गगा की घाटी और दक्खिन की भाषाओ में हर हालत मे नियमित रूप से यह पाया जाता है आप् (आत्मन्-, प्रा० अप्प-), रात् (रात्रि, पा० रत्ति-), आज् (अद्य, पा० अज्ज), पात् (पत्र-, पा० पत्त-), मूत् (मूत्र-, पा० मुत्त-), पूत् (पुत्र-, पा० पुत्त-), यूरोप की जिप्सी भाषा में द्रख् (द्राक्षा), माच्ओ (मत्स्य-), दोनो गव् (ग्राम-) के अ सहित, न कि केर्-(कर्-) के ए आदि सहित। इन्ही से हिन्दी में मक्खन् : माखन् (म्रक्षण-), बत्ती और बाती (वर्तिका) जैसे द्वित्व रूप हैं।

सिंहली में केवल ह्रस्व स्वर और साधारण व्यंजन अधिक हैं; विकास के विस्तार ज्ञात नहीं हे, यदि अनुनासिक+स्पर्श से पूर्व स्वरो का विभाजन एक उसी प्रकार के विकास की ओर सकेत करता प्रतीत होता जिस पर विशेष रूप से दृष्टि डाली जा चुकी है, तो स्वरो का ह्रस्वीकरण हाल का है।

वास्तव मे अनुनासिक+स्पर्श वाला समुदाय व्यजनो के समुदाय की साधारण स्थिति में टिक नही सकता, और दूसरी ओर स्वर की अनुनासिकता, जो प्राचीन समय में शिन्-ध्वनि, सोष्म या महाप्राण (सर्सद्-, वर्श-, सवार्द-,सं हित-) से पहले आ गया थी, स्पर्श से पूर्व केवल देर में और आशिक रूप मे आयी; संस्कृत और बर्नाक्यूलरों मे अनुस्वार द्वारा व्यक्त विद्वत्तापूर्ण लेखो में बास्तविकता का प्रयोग नही पाया जाता।

पश्चिमी समुदाय मे, जिसमे अनुनासिक व्यजन की भाँति मिलता है, स्वर स्पर्श समुदाय से पूर्व की भाँति, अपना मात्रा-काल बनाये रखने की क्षमता रखता हे : प० काण्ा, सिं० कानो (काण्ड-), प० रम्, सि० रन् (रण्डा); किन्तु सिं० आमो (आम्र) के निकट प० अम्ब्।

अन्यत्र स्पर्श की मुखरता पर सब कुछ निर्भर रहता है। मराठी में, स्वर, जो (विद्वानो के प्रभाव से अलग) सदैव दीर्घ होता है, अनुनासिकता बनाये रखता है और स्पर्शत्व के पश्चात् अनुनासिक मुखर हो जाता है · चाँद्, कठोर से पहले अनुनासिकता रहती है और व्यजन से तुरत पहले आती है · आँत्, तथा तत्सबधी लेख के बिना अनुनासिक-विहीनता में उसका अन्त होता है (हाल के एक विवेचन के लिए, दे० 'मॉडर्न रिव्यू', १९२८, पृ० ४२९)। कुछ-कुछ यही बात गुजराती में मिलती है। तथापि सिंहली मे अॅंदुर (अधकार-), कुमॅबु (कुम्भ-) का विरोध कटु (कण्टक-), सेत् (शान्ति-), कँप् (कम्प्-) और साथ ही मस् (मास-) से है, तो मराठी मे पुनर्विभाजन है, सिवाय इसके कि सिंहली में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं।

हिन्दी मे स्वर द्वारा अनुनासिकता को अपने में लीन किये जाने की प्रवृत्ति प्रमुख है · पाँखी (पक्षि-), जाँघ् (जघा), पाँच् (पञ्च) किन्तु एक शब्द मे अधिक दीर्घ पचास् (पचाशत्), पूजी (पुञ्ज-), काँठ् (कण्ठ-), पीँरी (पिण्डिका), आदि; एक अच्छे उदाहरण मे, स्वय स्पर्श लुप्त हो जाता है · चूम्- (चुम्ब्-)। शेष ह्रस्व स्वर + अनुनासिक के रूप प्राय मिल जाते हैं, जो निस्सदेह सस्कृत आदर्शों के प्रभाव से मुक्त है, वे चाहे पच्, पिण्डी आदि ही हो, तो ऊपर सकेतित बाति : बसी प्रकार के एकमूलक भिन्नार्थी दो शब्दो में से एक में समानता पाय जाती है।

(आ) शब्द

अन्त्य स्वर

व्यजनों के लुप्त हो जाने के फलस्वरूप, मध्यकालीन भारतीय भाषा के समस्त शब्दो के अत में स्वर रहता था। बाद को शब्द के अन्त की निजी दुर्बलता की अभिव्यक्ति स्वर-सबधी तत्त्वों में हुई; आधुनिक भाषाओ में, सयुक्त स्वरों से निकले हुए स्वरों को छोडकर, दीर्घ अन्त्य स्वर और नही रह गये हैं; इसे छोड कर, स्वरो में अथवा स्पष्टत रखे हुए व्यजनो में अत होने वाले शब्दों को कठिनाई से सुना जाता है।

इस परिवर्तन के चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्राचीनतम प्रमाणो में पाये जाते है। अशोक-स्तभो के एक छोटे-से समुदाय में -आ, -आः, -आत् से निकला -आँ, -अ लिखा हुआ मिलता है, शब्द के विन्यस्त हो जाने पर प्राचीन दीर्घता फिर प्रकट हो गयी . सिय, व, किंतु वापि; अन्य अभिलेखों मे मात्रा-काल नियमित रूप से नही रह जाता।

पाली के अनुलेखन में बहुत-सी बातें सुरक्षित रह गयी है, और शेष में रूप-विचार, जो प्राचीन प्रकार का है, का वह सामान्य तकाजा है, जाति एकवचन है, जाती बहुवचन है, आदि, किंतु सामान्य अतीत ३ एक० में, जिसमें परिवर्तन-क्रम एक दूसरे स्वर मे होता है, सामान्यत ह्रस्व मिलता है . आसि (आसी, आसीत्), अस्सोसि आदि, और फलत. विपर्यस्त रूप मे अच्छिदा। जाकोबी का विचार 'ये धम्मा हेतुप्पभवा' के प्रसिद्ध सूत्र की परीक्षा द्वितीय शब्द के ह्रस्व -अ द्वारा करना है।

अनुनासिक स्वरो में एक प्रकार की समानता है गिरनार मे कर्म० एक० स्त्री० -याता (यात्राम्) है, किन्तु अन्यत्र -यात है; पाली में कञ्ञ और नदिं (कन्या, नदीम्) समान रूप मे बराबर धम्म और अग्गिम् (धर्मम्, अग्निम्) की तरह है; इसी प्रकार अशोक० और पा० दानि (इदानीम्) है। इसी प्रकार फिर अशोक० और पा० सबध० बहु० गुरूनाम्, अधिकरण० ए० स्त्री० परिसाय है; अनुनासिकता, जिसका अब भी मामूली तौर से छन्द-व्यवस्था में महत्त्व माना जाता है, के कारण-स्वरूप सभी रूपों का दीर्घ तत्त्व विद्वत्तापूर्ण अनुलेखन मे नही मिलता . वास्तव में अरियसच्चान दस्सनम्, गिम्हान मासे जैसी अभिव्यजनाओं में अनुनासिकता के दर्शन ही नहीं होते, और वह भी आश्रय के बन्धन के बिना · Sn. दीघम् अद्धान ससरम्। उसी से प्राकृत में प्रत्ययो की सख्या में अनुनासिक स्वर रहने या न रहने की सभावना हुई, जिसके बिना इस संबध में शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से निश्चित रूप से निष्कर्ष नहीं

निकाला जा सकता; उसी से छद में अन्त्य अनुनासिकों की दीर्घ या ह्रस्व (अनुस्वार या अनुनासिक) के रूप में गणना करने की स्वतत्रता है।

इसमें जहाँ तक -ए और -ओ से संबध है, उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई प्रमाण प्रस्तुत नही करती, और ऐसा प्रतीत होता है कि ये ध्वनि-श्रेणियाँ पसन्द न रही हो; इस बात का प्रमाण ह० दुषु० के -इ या -ए वाले सभावक प्रकारों और अधिकरण कारको में तथा -उ और -ओ वाले कर्ता० में मिलता है, जिसमें इन स्वरो की दीर्घ के रूप में गणना होती है · अ' १७ गरहितु (पा० गरहितो) सदा, १३ गोयरि (गोचरे) रता; प्रतिकूल रीति से अ' १५ बहों जागरू, १०. बहों भाषति जो C^{VO} १२ बहो जनो (पा० बहुज्जना) के विपरीत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें धमु उतमु (धर्म्मम् उत्तम), सबशु (पा० सम्पस्सम्, स० सम्पश्यन्), अहु अथवा अहो (अह) के अनुनासिक स्वर की भाँति ध्वनि प्रच्छन्न हो जाती है। तो फिर यह सभव है कि महावस्तु और प्राकृत कविता मे ऐच्छिक रूप में ह्रस्व माने गये -ए और -ओ के बने रहने पर भी, इनमें पहले ध्वनि परिवर्तित हो गयी है। ह० दुषु० मे देखी गयी मध्यकालीन भारतीय भाषा के -उ रूप धारण करने वाले –अ (-ओ) की प्रच्छन्नता अपभ्रश और आधुनिक भाषाओ में सामान्य रूप धारण कर लेती है।

विशेषत· मध्यकालीन भारतीय भाषा के क्रिया-रूपो का विस्तार बहुत बड़े अश मे ध्वनि-सबधी अनुरूपता पर निर्भर है -अति, अन्ति अते, अन्ते। यद्यपि उनका और भी विस्तार हो सकता है, आधुनिक भाषाओ के मूल में तो केवल अन्त्य स्वर ही ह्रस्व है।

स्वय आधुनिक भाषाओ मे, इन ह्रस्वो में फिर अपने उचित स्थान की दृष्टि से ह्रास उपस्थित हो जाता है। कुछ भाषाओ मे फुसफुसाहट वाली ध्वनि कठिनाई से मिलती है, किन्तु मुखरित फुसफुसाहट वाली ध्वनि है . सिंधी की डेह्ुउ (देहो), जो डेह्अ देहा· से है, आदि की विशेषता है, मैथिली में -इ और -उ बने हुए है, आन्ह् (अन्ध-), किन्तु आँख्इ (अक्षि), बह्उ (वधू), पाँच् (पञ्च) किन्तु तिन्इ (त्रीणि)। पूर्ण लोप तो केवल बहुत पिछडी हुई बोलियो में मिलता है। [उदा० कती ब्अंर (भार-', दूस् दोषम्), ब्य्उम् (भूमि-)], और दूसरी ओर अत्यधिक विकसित भाषाओं मे : गुजराती, मराठी (कोकणी को छोड़कर), बगाली, बिहारी (मैथिली को छोड़कर), अन्तत. हिन्दी और पजाबी। तो भी यह देखना आवश्यक है कि अन्तिम भाषाओ के प्रदेश की गँवारू भाषा स्वाभाविक रूप से अन्त्य स्वर बनाये हुए

है; और सब जगह छन्दशास्त्रियों ने शब्दों के अन्तिम व्यंजन के बाद '-अ मूक' वाले शब्दांश की गणना की है।

उड़िया में सभी शब्द जिनका अन्त व्यंजन में होता है एक उदासीन स्वर जोड़ लेने की प्रवृत्ति प्रकट करते है, जो दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं के अन्तिम अस्थिर -उ की याद दिलाते हे; उड़िया के तो स्वयं व्याकरण में एक द्रविड़ रूप मिलता है, 'संबंधवाची कृदन्त'।

अस्तु, सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि, ग्रामीण बोलियों को छोड़कर, शब्दों के अन्त में आने वाले स्वर स्वर-संधियो से निकले दीर्घ होते हे या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। अपवाद रूप में प्राचीन दीर्घ व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शब्दों में बने रहते है . मराठी जो (यः), मराठी अम्ही प्रा०अम्हे) ; तो भी इस बात की ओर संकेत करना आवश्यक है कि ये दीर्घ संभवतः केवल वर्ण-विन्यास (हिज्जे)-संबंधी है, तुल० बंगाली आमि, हि० हम्। मराठी में और हिन्दी में एक वास्तविक अन्त्य स्वर दीर्घ की भाँति विचारा जाता है; इसी से हि० जनवरी, मई, जुलाई, जो अँगरेज़ी से लिये गये महीनों के नाम हे, हि० सेन्त्री, जो सिकरतर्, सिकत्तर् के, जो एक ऐसे शब्द को दीर्घ बना देते है जिसमें केवल प्रथम स्वर पर आघात होता है, और अंतिम अस्पष्ट रहता है (सेक्रेटरी), विपरीत है। किंतु कश्मीरी में चूर् (चोरो, चोरा.), राथ् (रात्री) के निकट और दूसरी ओर उधार लिये हुए शब्द दुन्या, नदी से, अथवा अपादान० चूरा (मध्यकालीन भारतीय भाषा *चोरांओ), विशेषण बोड्[उ], बुंड्[उ] रूप में होते है, तुल० हि० बड़ा, बड़ी।

शब्द-लय

शब्दांश-निर्माण से संयुक्त होने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति-विचार ही समस्त स्वरो के वास्तविक मात्रा-काल की गणना करने के लिए यथेष्ट नहीं है। यह तो वास्तव में आधुनिक भाषाओ के शब्द में पाया जाता है कि कुछ स्वर अन्य की अपेक्षा अधिक कठोर हैं। प्रथमतः, अन्तिम व्यंजन से पहले आने वाला स्वर : अवधी कृदन्त देखत् (-अन्तो), क्रियार्थक संज्ञा देखब्, फलतः एकाक्षरो के स्वर सदैव अपेक्षाकृत दीर्घ होते हैं। दूसरे, संयुक्त-स्वर से निकला अन्त्य स्वर (-ओ, -औ, -आ जो प्राकृत के -अओ से हैं; १ एक० -ऐ, -ए, जो प्राकृत -अति से हैं, में मुख्य कारक पुल्लिंग), जो अब भी ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है: कश० क्रमशः गुर्[उ], गुप्[इ]। इसी प्रकार आदि स्वर भी बराबर बना रहता है

(अन्त्यवर्ण-लोप के अन्तर्गत : उपविश् - से मराठी बैस्-), हिं० बैठ् -, किन्तु उसका मात्रा-काल स्थिर नहीं रहता। इसके विपरीत मध्य स्वर सामान्यतः मन्द पड़ जाता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से मात्रा-काल के संबंध में संकोच के चिह्न मिलने लगते हैं, किन्तु मामूली तौर से सहायक बातों को समझाया जा सकता है; इसलिए प्रवाह के स्थान पर प्रवोंह - से मिलती-जुलती रचना मिलती है; अथवा तुल्यार्थक प्रत्ययों के रूप में . जैसे, मराठी तलें पा०* तळक- का अनुमान करता है जो 'अपदान' (Apadāna) (एच० स्मिथ) के तळाक- का सच्चा छन्द-मात्रा - गणन है, जब कि हि० गु० तलाओ स० तड़ाग- के अनुरूप है; सिं० बिलो, हिं० बिल्ली से *बिड़ाल- की कल्पना होती है; अन्य भाषाएँ संस्कृत बिडाल से साम्य रखती है; प्रा० गहिर- , जिसकी पुष्टि हि० गहरा आदि से होती है, इस बात का अनुमान कराते हैं कि सं० गभीर- ने स्थविर-, शिथिर- आदि के प्रत्यय ग्रहण कर लिये हैं, किन्तु मम्‌जार-(मार्जार-) के निकट प्रा० मम्‌जर-, प्रा० स० कुमार-के निकट प्रा० कुमर-जिसकी हिं० कुवार्- के मुकाबले गु० के कुवर् द्वारा पुष्टि होती है, की व्याख्या के लिए कुञ्जर-, ईश्वर- का स्मरण करने में सकोच होता है। यह बताया जाता है (ल्यूमन, 'फ़ेस्टश्रिफ़्ट जाकोबी', पृ० ८४ तथा बाद के पृष्ठ) कि हाल (Hāla)मे णीअ-(नीत-) और उवणीद- के निकट आणिअ-, समाणिअ- मिलते है, यह आणेइ, समाणेइ का -एइ में सामान्य प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) के रूप मे प्रयोग है। दूसरी ओर उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से समास के द्वितीय शब्द के समक्ष सरलीकृत आदि समुदायों की स्थिति बनती भी है, नही भी बनती; पा० निखिप्- अथवा निक्खिप्-(निक्षिप्-), जिसके अनुकरण पर है पटिकूल- अथवा पटिक्कूल-।

आधुनिक काल तक, शब्द-व्युत्पत्ति-संबंधी मात्रा-काल की अपेक्षा शब्द-लय की प्रमुखता रही है। यही कारण है कि आप् और पूत् के मुकाबले में, हिन्दी मे अप्‌ना, पुत्‌ली है, हिं० बं० बिज(उ)ली में, ह्रस्व ठीक-ठीक वैसा ही ह्रस्व नही है जैसा स० विद्युत् मे है, किन्तु वह प्रा० बिज्जुलिआ की भाँति है, अन्यथा वह एक ऐसा दीर्घ रूप है जो हाल ही में ह्रस्व हो गया है, निश्चित रूप से नीचा से निकला निच्‌ला उसका दृष्टान्त है; तो ए की बंगला में विवृति होनी अनिवार्य है . सिउली (शेफालिका), और ई का सिं० सिआरो (शीतकाल-) में।

मराठी में नियमित रूप से किडा, कीड्, (कीटा-) का एक० विकृत रूप, अथवा पूरा (पूरित-) है, इसी प्रकार दक्खिनी उर्दू में हिं० मीठा के स्थान पर मिठा है; हिन्दी वास्तव मे लय के रूपो का रक्षण करती है : उसमे पाएत् है जब कि पंजाबी मे पुआँद् (पादान्त) है, बी० दास जैन, बी० एस० ओ० एस०, III, पृ० ३२३। उसी से आकृति-

मूलक मूल्य का वैपरीत्य उत्पन्न होता है, हिं० देख्ना · दिखाना, बोल्ना : बुलाना।

मध्य भाग की दृष्टि से, बँगला में ठाकुर् का स्त्री-लिंग ठक्रन् है, हिन्दी में बहीन् का बहुवचन बह्नें है; दक्खिनी उर्दू में बेवा (विधवा) का बहुवचन बेव्^अगन् है; उधार लिये हुए शब्द मुलाक़ात् का उच्चारण मुल्क़ात् की भाँति होता है। हिं० हमारा के समक्ष, मैथिली में हम्^अरा, बंगाली में आम्रा है। कम-से-कम हिं० आँधेरा (*अंधकार– तुल० नें० आध्यार) और अहेरन् (अधिकारिणी) (पूरी बात के लिए दे०, एच० स्मिथ, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० ११५) में -इआ- का वही रूप दृष्टिगोचर होता है जो -इअ- का, उसी समय से बँगला के पुरुषवाचक नामों मे स्वय ए का लोप हो गया है; गण्सा (गणेश), बड़ना (बारेन्द्र)।

इस प्रकार के तथ्य बहुत से हैं, और बोलचाल में लेखन से भी अधिक हैं; उनका वर्गीकरण करना कठिन है। ह्रस्वीकरण के उदाहरणों को और विशेषतासूचक ध्वनि के लोप को अलग स्पष्ट रूप से रखना तो विशेषत· कठिन है। स्पष्टतः लयात्मक चरम सीमाओ मे, जिनके बिना उनका पारस्परिक प्रधानता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है, सघर्ष है, म० कासव् और सिं० कछू (कच्छपो) की और विपर्यस्त रूप में म० कपूस्, हिं० कपास् और गु० कापुस् (कार्पास–) की तुलना करना रोचक होगा; अथवा गु० लोढी, पूर्वी प० लोह्डा, पश्चिमी पं० लुहाण्डा (लोहभाण्ड–) की। जो कुछ महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि स्वरों का मात्रा-काल और शब्दांशों का "गुरुत्व" अपने-अपने सबध पर निर्भर रहते है।

दूसरी ओर आधार-स्वरो की, जो प्राय· प्राचीन स्वरों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उनसे निकलते नही है, गौण उत्पत्ति देख लेना भी आवश्यक है : उसी से बँगला गेलास, हिं० जनम् (जन्म) है; उन स्वरो की उत्पत्ति विशेषतः रोचक है जो अन्त में तीन व्यजनों के समुदाय को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं :

हिं० समझा, समझाना · समझना

म० उलटा (सिं० उलिटो) उलट्ने

और इसी प्रकार गुजराती और हिन्दी मे है; किन्तु यह विन्यास नें० उल्टनु, उ० उल्टिबा क्रियार्थक-संज्ञाओ में भिन्न है।

यहाँ यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों का महत्त्व शब्द के व्यंजनों के सामने दब जाता है। वैदिक प्रणाली के साथ इससे अधिक विरोध पाना कठिन है।

३. स्वरों की अनुनासिकता

इतिहास के दौरान में कुछ अनुनासिक स्वर प्रकट हुए हैं, जो प्राचीन परवर्ती अनुनासिक स्पर्श से नहीं निकले। यह उस समय होता है जब कि स्वरों की प्रधान अनुनासिक ध्वनि अनुकूल स्थिति में प्रकट होने लगती है, और मुख्यत. जब वह दीर्घ हो जाती है, और जब वह अ के साथ प्रकट होती है [सैंकाँतनेअर द लोकेले प्रैतीक दे होत एत्यूद (उच्च अध्ययन की व्यावहारिक शिक्षण-संस्था की अर्द्धशती), पृ० ६१]।

वेद के समय से ही यह चला आ रहा है कि कुछ अन्त्य स्वर जिनकी स्थिरता आवे से अथवा सामान्य दीर्घ के द्विगुणित से (अर्थात् प्लुति) अधिक हो जाती है, वे अनुनासिक हो जाते हैं, इसी प्रकार विवृत्ति या विच्छेद के अन्तर्गत कुछ –अ हो जाते हैं (और केवल दीर्घ या प्रसारित ही नहीं I ७९.२ अ त्रिष्टुभ् के अंत में अमिनन्तँ में एँवैः), निस्सन्देह विस्मयादिबोधक शब्द पवित्र ओम्, प्राचीनकालीन साधारण ध्वनि (ओँ !), की व्युत्पत्ति यही है। यह केवल शैली की अपेक्षा कुछ और है, जिसकी तुलना मलाबार के अभिनेत्रियों द्वारा किये गये प्राकृत के अनुनासिक उच्चारण से की जा सकती है (पिशरोती, बी० एस० ओ० एस०, V, पृ० ३०९), स्वयं पाणिनि ने वाक्यांश के अंत में ह्रस्व और दीर्घ अ, इ और उ की अनुनासिकता स्वीकार की है। यही बात आधुनिक युग तक चली आती है, म० द्वि० बहु० -आँ (-अय-), तरीँ (तर्हि), सि० प्रिँ (प्रिय-) में। आधुनिक भाषाओं में सभी दीर्घ स्वर, मध्य की भाँति ही, अनुनासिक ध्वनि विकसित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं; म० केस् (केश–), हिं० ऊँट् (उष्ट्र–), साँप् (सर्प–), आँख् (अक्षि), ऊँचा (उच्च-), पु० हिं० तेल उ (तैल–)। ये अनियमित रूप से बँटे हुए हैं, बंगाली में, जिसमें हिं० पोथी (पुस्तक-) के विरुद्ध पुँथी है, हिं० साँप् (सर्प-) के विरुद्ध साप् मिलता है, किन्तु जो कुछ लिखा जाता है और जो उच्चारण है उसमें अन्तर कैसे किया जाय?

विविध तालिकाएँ मध्यकालीन भारतीय भाषा तक तुल्यता दीर्घ=अनुनासिक बताती चली जाती हैं, कम-से-कम शिन्-ध्वनि के र् (ल्) अथवा तालव्य (कठोर) को, फिर तालव्य (कोमल) को, जिसका पूरा इतिहास भारतीय-आर्य भाषा में क्षीण संघर्ष प्रकट करता है, मुक्त करते हुए—स्पर्शता रहित व्यंजन के सामने।

निस्संदेह तभी से, कम-से-कम कुछ अंशों में, प्रा० घसति, हंसति (घर्ष-, हर्ष-), सुम्क- (शुल्क), अस-, असि- (अश्रि-) में अनुनासिकों की अभिव्यक्ति है, और विपर्यस्त रूप में पा० का सीह- (सिंह), और सं० का व्रीहि- अनुनासिकता-विहीन

दीर्घ है। तभी से विशेषतः प्राकृत के अनुनासिक अंसु- (अश्रु-), पंखि (पक्षिन्-), यंछ्- (तक्ष्-), वंस्- (वर्ष-) आदि, और उनसे निकले आधुनिक रूप हैं (खास तौर से सि० हुञ्जु, वञ्जु की ओर ध्यान दीजिए जिनमें ऊष्म से पूर्व का अनुनासिक एक स्पर्श को वियुक्त कर देता है)।

ये बातें आधुनिक भाषाओं में बहुत अधिक पायी जाती हैं, और प्राचीन ध्वनि-संबंधी सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है; न केवल हि० बाँह् (बाहु-) मिलता है, वरन् गु० पीपर् आदि के विपरीत म० पिम्पली- (पिप्पली-) मिलता है; स्वभावतः ऊँचो (उच्च-) से ने० उँभो (ऊर्ध्व-)। औपम्यमूलक उदाहरणों को आंशिक रूप में ही सही प्रस्तुत करना आवश्यक है, जिनमें का अनुनासिक अन्यत्र मिलता है, अथवा हि० अगीठा (अग्निष्ठ-) को जो अग्- वाले अन्य शब्दों से है, और जिससे सर्वप्रथम अगार् बनता है।

अत में समीपवर्ती अनुनासिक स्पर्श ध्वनियों के प्रभावान्तर्गत अनुनासिक स्वरों की ओर आइए।

१ शब्द के अन्त में, प्राकृत के नाम-प्रत्यय रूपों में, संबंध० बहु० में -आणॅं (-आनाम्) और -ॲणॅं, करण० एक० में -एण और एणॅं, कर्ता० नपु० बहु० में सामान्यत आइँ [इ से पूर्व -ॲनि के साथ स्पर्श अनुनासिक के मिल जाने के सहित, तुल० अवधी में बरसइ, किन्तु विकृत रूप बरसन (-वर्ष), ब्रज बातैं अथवा बातन्] पाया जाता है। अपभ्रंश में करण० में भी परिणाम -एँ में दृष्टिगोचर होता है, नरें, और भविसत्तकह में अनुनासिक स्त्री लिंग में मिलता है, इसी ग्रन्थ में अनुनासिक के परवर्ती सभी अन्त्य -इ, -उ, -हि अथवा -हु अनुनासिक हो जाते हैं, ३ एक० सुणइँ।

२. शब्द के प्रारंभ में, म्- अथवा न्- द्वारा परवर्ती स्वर के अनुनासिक हो जाने की सम्भावना मिलती है। पा० में मक्कट- (मर्कट-) मिलता है, किन्तु साथ ही मंकुण- (मत्कुण-) भी, जिससे प० मॉगन्, किन्तु हि० खमोकन् बने हैं। यह एक अपने ढंग की निराली, साथ ही आश्चर्यजनक, बात है, कि पश्चाद्वर्ती, साथ ही स्फुट, उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें बाद में आनेवाला व्यंजन मुखर हो जाता है, जैसे प्रा० मम्जर, हि० माँजर (मर्जार-, पा० मज्जार-); बिहा० हि० मूग्, कश० मोंग्, सिंहली मुँनॅगु मुम्, किन्तु म० मूग्, गु० मग्, ब० मुग् (मुद्ग--)। आधुनिक भाषाओं में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं: कश० मनज्, सि० मज्झु, जिप्सी-भाषा मंज्, सिंहली मॅंदॅ और मॅंद (मध्य-) जो हि० मंझ् आदि के विपरीत है, सि० मुञ्झ्, गु० मुझ्- (मुह्यति); सि० मुण्ड्, हि० म० मूद्, किन्तु उ० असामी मुद्- (मुद्रयति, प्रा० मुद्देइ)। और प्राथमिक न्- सहित : कश० नोनु, शिना ननु, सि० और यूरोप की जिप्सी-भाषा नङ्गो, हि०

पं० नङ्गा, किन्तु गु० नागो, म० नाग्वा, उ० नागुना- (नग्न-); हिं० गु० नीन्द, ने० तोरवाली निन्, यूरोप की जिप्सी-भाषा लिन्द्र, किन्तु म० नीँद, ब० निद, सिंहली निन्द और निदु। श्री स्मिथ ने सिंहली मे दिगु का ऐसा ही विरोध देखा है: नदिगु अथवा नदिर्नृगु। जहाँ केवल स्वर हैं, अनुनासिकता का विस्तार हो जाता है: सिं० नाँइँ (नदी), अव० मइँ जो तुइ के विपरीत है।

ये अपवाद-स्वरूप तथ्य तालव्य (कोमल) की शिथिलता की प्रवृत्ति प्रमाणित करने की दृष्टि से रोचक हैं, जिनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम है दीर्घ स्वरो का अनुनासिक होना, और यह भी स्वय ह्रस्व स्वरों के निश्चित अन्त्यों का।

४. आघात

भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा मे स्वरो की विशेषता केवल ध्वनि और मात्रा-काल के कारण ही नही, वरन् उदात्त सुर से रहित होने के कारण भी थी, इसका किसी अन्य रूप मे स्वर की अन्य विशेषताओ या शब्द-रचना से कोई सबध—और उनके लिये कोई महत्त्व—नही था।

सभी शब्दो पर आघात नही रहता था, कुछ शब्दो मे वह उसकी अपनी स्थिति के बाद या उपसर्ग के बाद होता था, इस प्रकार क्रिया को सुर केवल विधिवत् रूप से अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से गौण पूर्वसर्ग मे प्राप्त होता था; सबोधन० को, केवल एक पाद के प्रारभ मे।

शब्द के एक अकेले स्वर को यह सुर प्राप्त होता था और सुर शब्दाश को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नही करता था। शब्द मे सुर का स्थान शब्द के रूप द्वारा निर्धारित नही होता था, किन्तु आकृति-मूलक नियमो द्वारा जो अंशतः वही थे जो अन्य भारोपीय भाषाओ मे थे (इसी प्रकार पूर्वोल्लिखित सिद्धान्त थे)। अस्तु पात्, पादम् पद परिवर्तन-क्रम ग्री० पोउस्, पोँदा पोदोँस् का रूप प्रस्तुत करते हैं (किन्तु शुन मे खुनोँस् का आघात नही है), कर्ता० एक० पिता के विरुद्ध सबोधन० पितर मे आदि आघात पतेॅर् के विरुद्ध पतेर् की भाँति है; कर्तृ० स० एषः का और विशेषण एष का, तथा अप और अपा का विरोध ग्री० तोँमोस्, तोमोँस् फ्यूदोस् फ्यूदेँस् के विरोध से सादृश्य रखता है संबधसूचक समास (षष्ठी तत्पुरुष) का आघात दोनो भाषाओ मे पहले शब्द पर होता है. राजपुत्र-, अक्षुप्त्रोस्, निहित-, अपोँब्लेतोस् का परस्पर सादृश्य है; आदि।

यह अति प्राचीन प्रणाली, जिसके विविध रूप हैं, पाणिनि के बाद बिल्कुल नही रह जाती, यदि कुछ वैयाकरण उसका उल्लेख करते भी हैं, तो भी किसी ग्रन्थ

में वह नहीं मिलती। इसी से भारतीय भाषाओं और ग्रीक में परस्पर विरोध है, क्योंकि ग्रीक मे प्रत्येक शब्द में एक स्वर जो एक साथ उच्च और दीर्घ होता है, प्राचीन सुरों को अब भी सुरक्षित रखे हुए है, और जिसकी छद-योजना में आघात और आघात-रहित के परिवर्तन-क्रम की गणना की जाती है। निष्कर्ष यह है कि यदि स्वर-संबंधी सुरों के संकेत-चिह्न लुप्त हो जाते, तो प्राचीन सस्कृत-रचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता (और भारोपीय के ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व) का अभाव हो जाता, किन्तु इससे भारतीय-आर्य भाषा के अन्तर्वर्ती इतिहास मे परिवर्तन नही होता।

यह कहा जा सकता है कि क्या इस विकास मे एक नये आघात, तीव्र आघात, की प्रमुखता नही मानी जा सकती, जैसा कि जर्मन और चेक मे वह प्रथम पर है, अथवा आरमीनियन, पौलेनेशियन और ईरानी में वह शब्द के अन्त के बाद है। विविध विद्वानो ने कुछ आधुनिक भाषाओ मे बहुत-कुछ तीव्र आघात की रीति देखी है, जहाँ तक वे अपने को निश्चित सिद्धान्तो तक रखते हैं, ये सिद्धान्त एक भाषा से दूसरी भाषा में बदलते रहते हैं, सामान्यत वे मात्रा-काल की अवधि और शब्द में शब्दांशो की स्थिति पर निर्भर रहते हैं। उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नही है, जो महत्त्वपूर्ण बात है वह उनकी विभिन्नता है। तो फिर यह आश्चर्यजनक नही है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नही करती, जिससे जनसाधारण मे प्रचलित भाषा में तीव्र आघात के अस्तित्व के पक्ष मे निर्णय दिया जा सके, यह बात ही अज्ञात थी [यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि पाली में उदात्त- और उक्षार- का पारिभाषिक अर्थ नही है, और सर-(स्वर-) गान के प्रति केवल अरुचि प्रकट करता है]। आघात को प्रमाणित करने के लिये जिन बातो का उल्लेख किया जाता है—पिशेल के मतानुसार प्राचीन सुर पर, जाकोबी के मतानुसार शब्द के अत से अलग प्रथम दीर्घ पर—उनकी व्याख्या अन्य रूपों में भी हो सकती है, और विशेषत लय द्वारा; छद-प्रणाली या तो शब्दांश-संबधी या मात्रा-काल-सबधी रहती है, आघात, शब्द की अपेक्षा समुदाय पर आघात, कुछ आधुनिक भाषाओ मे नही मिलता—स्वतत्र रूप मे। अस्तु, भारतीय-आर्य भाषा के आधुनिक भाषाओ तक के विकास की व्याख्या के लिये आघात की गणना करना ठीक नही है।

एक बात सुर के एक उदाहरण के सबंध में कहनी है, जो आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ में एकदम अपवाद-स्वरूप है, और इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसकी व्युत्पत्ति जान लेनी चाहिए। पजाब के उत्तर में (और श्री बी० डी० जैन की सूचना के अनुसार पूर्व में और दिल्ली के लगभग समीप के भूमिभाग में भी, और वास्तव में बाँगरू बोली में कुछ ध्वनि-संबंधी बातें पंजाबी के समान हैं, दे०, एल० एस० आई०, IX, पृ०

२५१) प्राचीन मुखर महाप्राण ध्वनियाँ अपना महाप्राणत्व खो देती हैं, और ह् अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श मे परिणत हो जाता है · किन्तु समीपवर्ती आघात वाले स्वर मंद स्पन्दनों में फुसफुसाहट वाली ध्वनि को बनाये रखते हैं, इसी से स्वर पर सुर मिलता है, जिसका मन्द भाग प्राचीन फुसफुसाहट के स्थान तक रहता है . सौंकर (साधु-), देओंडा (प्रा० दिवड्ढ -), चंड्-(हिं० चढ़्-), दिअंड़, तुल० सिं० डिहाडो; केड् (प्रा० कड्ढ्-) का प्रेरणार्थक (णिजन्त) कढ़ाँ।

शेष मे आदि मुखरता के परिणाम-स्वरूप (सुर का) और भी मन्द रूप हो जाता है . कंर्, तुल० हिं० घर, यह विशेषता चीनी-तिब्बती के परिवर्तन-क्रम की याद दिलाती है जिसमें अत्यधिक प्रमुख सुर कठोर व्यजन के साथ आता है, दुर्बल सुर मुखर के साथ (लाँतीनेशियो आँ पैंजाबी—पजाबी में सुर—जो मेलाँज वेंद्रिये मे है, पृ० ५७)।

इसी प्रकार का प्रभाव शिना मे भी पाया जाता है जिसमें आघातयुक्त शब्दांश का सुर ऊँचा जाता है, वहाँ के निवासी उस स्वर को दीर्घ कहते हैं जिसमे यह प्रभाव पाया जाता है; और वास्तव में मिश्र व्युत्पत्ति के स्वरो के कुछ उदाहरणो में ऐसा मिलता है · दारिँ (दारक-) मे प्रस्तुत सुर नही है, किन्तु दारिँ (द्वार-) मे वह है, गाए मे वह नही है, किन्तु गाइ (घटिका, स्वर-मध्यग र् का लोप) मे वह है, दीँह मे वह नही है, किन्तु दीह् (दुहिता) मे वह है, बष् (भाषा) मे वह नही है, किन्तु बश्—फेंफडा—(तुल० तोग्वाली बरिस—तरफ) मे वह है, एक० घि (घृत—) में वह नही है, किन्तु बहु० मे वह है (मामूली तौर से बहुवचन मे एक शब्दाश अधिक होता है : चिलासि, बहु० चिलासिये), इसी प्रकार का, कावुँउँ के बहुवचन, में सुर है, जो सामान्य बहु० कावृएँ में नही है।

अत में पूर्वी बगाली मे कुछ ऐसे उदाहरण बताये जाते है (एस० के० चटर्जी, 'आश्वसित ध्वनियाँ', पृ० ४१, 'इडियन लिंग्विस्टिक्स', I, मे) जिनमें तीव्रता वाला आघात अधिक उदात्त सुर के साथ आता है और जिनमे महाप्राण ध्वनि अपनी फुसफुसाहट खो देती है—ब'अत्, क'अन्द, पजाबी में भी ऐसा ही मिलता है।

यह विदित हो जाता है कि इन हाल की बातो और भारोपीय तथा वैदिक सस्कृत में शब्द के किसी स्वर में प्राप्त आकृतिमूलक महत्त्व के स्वर-सबधी आरोह-अवरोह में कोई समानता नही है।

व्यंजन

भारत-ईरानी की व्यजन-प्रणाली ईरानी की अपेक्षा भारतीय भाषाओ में अद्भुत रीति से अधिक पूर्ण रूप में सुरक्षित है।

(१) समस्त भारोपीय भाषाओं में से केवल भारतीय-आर्य भाषा में अब भी स्पर्श व्यजनो के चार वर्ग है, अघोष, घोष, महाप्राण अघोष, महाप्राण घोष। महाप्राणत्व इस हद तक मिलता है कि महाप्राणों के परिवर्तन के समय स्पर्शता ही लुप्त हो जाती है, न कि फुसफुसाहट वाली ध्वनि।

(२) तालव्य वर्ग मे, सस्कृत श् मे तालव्यीय प्रवृत्ति बनी हुई है जो अ० स् और पु० फा० θ मे लुप्त हो गयी है, तथा काफिर भाषा मे, जो एक भारतीय बोली प्रतीत होती है, अब भी अत्यन्त प्राचीन ध्वनि-श्रेणी पायी जाती है।

(३) भारोपीय शिन्-ध्वनि, जो ईरान मे स्वर या स्वनन से पूर्व फुसफुसाहट वाली ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है, भारतवर्ष की लगभग सब भाषाओं में अभी तक सुरक्षित रही है।

(४) अत में स्पर्श व्यजनो ने, समुदायो में अपना उच्चारण स्थान बदलते समय भी, भारतवर्ष मे अपना स्पर्शत्व सुरक्षित रखा है, जब कि ईरान मे वे सोष्म हो जाते है। सस्कृत में व् के अतिरिक्त और कोई सोष्म ध्वनि नही है।

दूसरी ओर सस्कृत मे नितान्त नवीन ध्वनियो का एक वर्ग उत्पन्न हो गया था, और वह था मूर्द्धन्य ध्वनियो का।

१. स्पर्श । तालव्य

ओष्ठ्य, दन्त्य स्पर्श व्यजन, और भारोपीय कठ्योष्ठ्य से बने स्पर्श व्यंजनों और मध्य स्पर्श व्यजनों के लिये टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नही है ·

अघोष .

स०	उपरि	पु० फ़ा०	उपरिय्	स०	शर्फ-	अ० सफ़
	पिता	पु० फ़ा०	पिता		यथा	अ० यθआ
	कद्	अ०	कद्		सखा	अ० हख्
	चित्	अ०	-चित् (अवेस्ती त् के सम्बन्ध में सदैव ऐसा ही)			

घोष :

स० बर्हिः	अ०	बरॅज़िसॅ	स० भरति	अ०	बरैति
दभ्नोति	अ०	दबॅनओइति			
			धेनु-	अ०	दएनु
गौः	अ०	गाउसॅ	घर्म-	पु०फा०	गर्म-
जीव	पु०फ़ा०	जीँवा	हन्ति	अ०	जैन्ति

इसके विपरीत भारोपीय भाषाओ में तालव्याग्रीय का विवेचन एक समस्या प्रस्तुत करता है। वैदिक भाषा ईरानी से, जो स्वयं एकरूप नही है, पृथक् हो जाती है :

शरॅद्-	अ० सरॅθ-	पु० फ़ा० θअर्द-
जोॅष-, जोर्ष्टर्-	ज़ाओसैं-	दौसॅतर-
हस्त-	ज़स्त-	दस्त-

वैदिक प्रयोग से समस्त ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषाओ और आधुनिक बोलियो के, केवल काफिर के छोटे-से समुदाय को छोड कर, जिसमे स्पष्टत. भारतीय और ईरानी दोनो की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप हैं, परवर्ती विकास का पता चल जाता है।

वास्तव में अघोष के लिये काफिर में च है (और साथ ही सॅ, विभाजन के उस सिद्धान्त के बिना जिसका उल्लेख हो चुका है), फलत, ऐसा प्रतीत होता है, स्वय मध्य-स्पर्श व्यजन जो भारतीय और ईरानी शिन्-ध्वनि से पहले ही आता था :

कती दुच (किन्तु वैगेलि- दोसॅ, अश्कुन -दुस्) स० दश, अ० दस
कती चुई (वैगेलि चोन् अश्कुन चुन्) , स० शून्य-

घोष ध्वनियो का प्रयोग ईरानी की भाँति है .

भारोपीय *ग' कती जोत्र् स० जोष्टर- अ० ज़ओसैं
*ग'ह् ज़िर हृद्- ज़ॅरॅद्

यह भारोपीय ए मे पूर्व के कठ्योष्ठ्य से भिन्न है .

भारोपीय *ग्^{व} कती जेॅअमि स० जामि-

*ग्^{व}ह् ज़ॅअॅर- हन्-, अ० जॅन्-

तो इसमे ईरानी की भाँति दो वर्ग अलग-अलग है जिनके सबध में सस्कृत में अव्यवस्था है, और महाप्राणत्व का लोप है : किन्तु यह हाल की बात हो सकती है, क्योंकि सामान्यत यह सब व्यजनो के सबध में होता है. कती उलि (उत्था-), अचूट्—द

दिन में—(चतुर्थ-); बंमंब (भ्रमर-), द्रिघेरं (दीर्घ-); धूम् (धूम-), महाप्राणत्व का लोप आसपास के भारतीय भूमि-भाग मे कभी-कभी मिल जाता है।

यह पूछा जा सकता है कि काफिर भारतीय है या ईरानी, किंतु उसकी ध्वनि और व्याकरण में ऐसी बातो का अभाव नहीं है जो स्पष्टत भारतीय हैं; फलतः यह एक भारतीय भाषा-समुदाय ही होना चाहिए जो काफी स्वतंत्र रूप में रहा है और जिसमे ऐसे प्राचीन रूप मिलते हैं जिनका अन्यत्र लोप हो गया है। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कम-से-कम अपने उच्चारण की दृष्टि से स० श् अपने सदृश ईरानी उच्चारण से अधिक प्राचीन है; और साथ ही ज् मूल ध्वनि-श्रेणी की मध्य-स्पर्शता के कारण अ० ज और पु० फा० द् की अपेक्षा अधिक निकट है।

संस्कृत की ओर आने पर, यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसका सम्पूर्ण मध्य-स्पर्शी तालव्यो का वर्ग, अपनी प्रत्यक्ष नियमितता के बावजूद, पुनर्निर्माण की क्रिया द्वारा बना है। एक ओर उसमें ज्- है जो ध्वनि की दृष्टि से च् का घोष रूप नहीं, वरन् श् का है जिसकी गणना शिन्-ध्वनि मे की जाती है। दूसरी ओर महाप्राणो की व्युत्पत्ति भिन्न हो जाती है।

अघोष छ्, जिससे ईरानी स् का सादृश्य है, शब्द के मध्य द्वित्व जैसे रूप में आता है, और बहुत-कुछ लिखित रूप में मिलता भी है। साथ ही एक समुदाय स् तालव्यी भाव-युक्त कठ्य का मिलना है:

स० छाया फा० साय ग्री० स्किअ

पृच्छति अ० पंरसैति लै० पो(र्)सिट

फलत वह सावर्ण्य समुदाय का अग बन जाता है, जो मध्यकालीन भारतीय भाषा की निजी विशेषता का पहला प्रमाण है, वह उसी प्रकार है जैसे स० पश्चा (अ० पस्चें, पु० फा० पसा) से पा० पच्छा होगा, और जैसा कि प्राचीन भाषा मे, अथर्व० ऋच्छरा, जो वा० स० ऋक्षला के समीप है, मिलता भी है, यहाँ, जैसा मध्यकालीन भारतीय भाषा मे मिलता है, च्छ् शिन्-ध्वनि से युक्त कई प्रकार के समुदायों की अपूर्ण स्पर्शता के स्थान पर है।

घोष झ् भी हाल की और संयुक्त ध्वनि-श्रेणी है। ऋग्वेद का केवल जंझ्झतिः कर्म० स्त्री० बहु०, एक ऐसा शब्द है जिसमें वह आता है, और जिसकी जक्षत्, जो हस्- से है, की जैसी ग्रामीणता के रूप में व्याख्या की गयी है, वह *ग्'ह्-स् से निकले *ग्'झ्ह् की तरह हो जाता है, अस्तु, यह अब भी एक ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषा का प्रयोग है और, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, ईरानी की याद दिलाता है।

महाप्राण तालव्यों, जिनसे तालव्यों की सूची पूर्ण हो जाती है, और फलतः समस्त संस्कृत स्पर्शों की सूची, का मूलतः अल्पप्राण तालव्यों के साथ कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर प्राचीन महाप्राण घोष व्यंजनों की समूची स्पर्शता लुप्त हो गयी है और वे वर्ग से अलग हो गये हैं, महाप्राण ह् को लीजिए, वह वर्णमाला के बिल्कुल अंत में, ऊष्मों के बाद आता है।

तालव्यो का उच्चारण बदलता रहा है। संस्कृत में, प्रातिशाख्यों ने तालु से जीभ के मध्य-भाग के टकराने मे उनकी व्याख्या करने की अनुमति दी है, कही भी त्स् (ts) आदि के उच्चारण का प्रश्न नही है, और अतरंग स्फोटक मूर्द्धन्य का रूप धारण करता है, न कि दन्त्य का। मध्यकालीन भारतीय भाषा में कुछ वैयाकरणो के कारण ऐसे सकेत मिलते है जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि उनका प्राचीन उच्चारण पूर्वी भाग तक सीमित था (ग्रियर्सन, जे० आर० ए० एस०, १९१३, पृ० ३९०), कलश तथा और पूर्व की ओर अशोक० में चिकि(स्)सा मिलता है, किन्तु गिरनार में चिकी (च्)छा (चिकित्सा) मिलता है। दसवी शताब्दी के लगभग, सिंहली मे च् और ज्, स् और द् हो जाते है, साथ ही स्वरो के मध्य (सतर्, रद्), त्स् (ts), द्ज् उच्चारण का अनुमान किया जाता है। सिंहली के तालव्य हाल ही के है और य् के परवर्ती दन्त्यो या मूर्द्धन्यो से निकलते है। उत्तर-पश्चिम सीमा पर काफिर में मध्य-स्पर्श दन्त्य है। कश्मीरी मे चूर् (चोर-), गच्‌ह- (गच्छ्-) और जैव् (जिह्वा), ज़ाल्- (म० भारतीय झा-) है, ज् या तो केवल ईरानी शब्दो में अथवा विद्वत्तापूर्ण शब्द में आता है, छ्अत्र् अ र् (छत्र), छोद (क्षुत्) भी विद्वत्तापूर्ण शब्द हो सकते है, छु-ह् (प्रा० अच्छ्-) का ऐसा कहना कठिन होगा।

शिना में तालव्यो के दो वर्ग है, जिनमें से एक ष या ष् वाले समुदायो से निकले मूर्द्धन्य है चाष, मजा, किन्तु अचि, चेश, ज् (भ्राता)।

२. मूर्द्धन्य

जिन्हे वास्तव मे दन्त्य कहा जाता है, जो जीभ के दाँतो से या ठीक उनसे ऊपर टकराने से प्रकट होते है, उनके अतिरिक्त, भारतीय-आर्य भाषा में स्पर्श-व्यजनो का एक पूरा वर्ग है और वे जीभ की नोक की सहायता से, किन्तु तालु के अग्र भाग से टकराने के कारण, बोले जाते है, और यह भी थोड़ी-बहुत प्रमुख पश्चोन्मुखता के बाद है। भारतीय-आर्य भाषा मे इन दो वर्गों का सह-अस्तित्व अनार्य भाषाओं, द्रविड़ और मुण्डा (मुण्डा की एक छोटी बोली, सोर, ही भारत की एक ऐसी बोली प्रतीत होती है जिसमें केवल दन्त्य है), मे भी मिलता है।

भारतीय-आर्य भाषा की यह नवीनता स्पष्टतः देशीय भाषाओं में इन दो वर्गों के अस्तित्व की कार्यान्वितता द्वारा स्पष्ट हो जाती है, निस्सन्देह यह एक ऐसी अत्यधिक निश्चित बात है जो संस्कृत के अत्यन्त प्राचीन पाठों को शुद्ध भारतीय मान लेने के लिये प्रेरित करती है। अफ़ग़ानी में मूर्द्धन्यों का अस्तित्व सम्भवत: भारतीय आधार का प्रमाण है।

जिस आर्य तत्त्व ने नवीन वर्ग की रचना सभव बनायी वह है, ष्, जो स्वयं सामान्य भारत-ईरानी में उस स् से निकला है जिसके पहले इ, उ, ऋ (और उनके सयुक्त रूप) और क् आते हैं, जिसके साथ स्थापित सपर्क के कारण प्राचीन दन्त्यों में परिवर्तन होता है, फलत ईरानी मे, उदाहरणार्थ, इष्ट् एक ऐसे समुदाय से अनुरूपता रखता है जिसमे अन्त्य त् शकार ध्वनि के अनुकूल हो जाता है, दोनों ही दन्त्यो से पृथक् हो जाते हैं, और मूर्द्धन्यों का देशी रूप धारण कर लेते हैं। भारत-ईरानी भाषा का ज़् भारतवर्ष मे ड़् हो जाता है अथवा ड़् (हाल के र् की भाँति प्राचीन र् के अतिरिक्त) मूर्द्धन्य की तरह हो जाता है, दे०, और आगे।

सस्कृत मे मूर्द्धन्यों का एक और स्रोत तालव्यो में है। यदि यह उस काल में प्रदर्शित किया जाय जो तालव्यीय मध्य-स्पर्शों के सस्कृत रूप धारण करने, अर्थात् श्, ज्, ह् से तुरत पहले था, तो वे कुछ-कुछ त्सॅ, द्जॅ, द्ज़्ह् के निकट उच्चरित होते हैं, जिनका सर्वप्रथम अश दूसरे में मिल जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है, तत्पश्चात् मूर्द्धन्य रूप धारण करने मे। अथवा जहाँ तालव्य अतरग स्फोटक हो जाते हैं, वहाँ यही एक अश रह जाता है। षट्, लैं० सेक्स, अ० ख़्सॅवसॅ अथवा कर्त्ता० एक० विट् जो रूप की दृष्टि से *विश्-स्, वास्तव में *वि त् सॅ(स्) से निकला है, और करण० बहु० विड्भ्य· (अ० वीज़्ब्यो) ऐसे ही उदाहरण हैं; विक् प्रकार विशेष परिस्थितियों पर निर्भर रहता है (मेइए, आई० एफ़०, XVIII, पृ० ४१७)।

उससे मध्यकालीन भारतीय भाषा में और उसके बाद तक ञ् समुदाय के मूर्द्धन्य का प्रयोग भी सिद्ध होता है जिसमें प्रथम अंतरग-स्फोटक अश (जो आधुनिक भाषाओं के विद्वत्तापूर्ण शब्दों में अन्य रूपो के अंतर्गत पृथक् किया जा सकता है म० ञ् हिं० और ब० ग्य्) समुदाय में प्रमुखता ग्रहण कर लेता है। स० आज्ञापयति के लिये गिरनार में अशोक ने आ(ञ्)ञपयामि दिया है, किन्तु शहबाजगढ़ी में अणपयमि, अर्थात् *आॅण्णा-; पाली में आणापेति है, अशोक के ब्रह्मगिरि-लेख में आणपयति, जिसे कात्यायन ने सस्कृत के लिये अशुद्ध रूप बताया है (दीर्घ के पश्चात् ह्रस्व के सरलीकरण की दृष्टि से); पाली में आणत्ति- पण्णत्ति-, किन्तु ञापेति, अञ्ञा

(आज्ञा), पञ्ञा भी है, तुल० शहबाजगढ़ी र(ञ्)ञो (राज्ञ) को ञाति-(ज्ञाति-) के रूप में।

यही प्रयोग प्राकृत मे मिलते है और बाद को संस्कृत -ण्य्- और -न्य्- के लिये; यह जानना कठिन है कि क्या मध्यकालीन भारतीय भाषा मे -ण्- द्वारा अपने में आगे आने वाले य् के मिला लेने मे ऐसा होता है (ऐसा ही गिरनार में पाया जाता है हिरमण- अर्थात् हिरण्य- मे *हिरण्ण- जो स० पुण्य- से निकले अपुमञ-, तत्पश्चात् पुञ्ञ, के निकट है), किन्तु ऐसा अधिक संभव प्रतीत होता है कि ञ्ञ् से पृथक् होने पर ऐसा हुआ; वास्तव मे ञ् सामान्यत आधुनिक भाषाओ में नही पाया जाता, सिंधी में, जिसमें वह है, धाञ्ञ् (धान्य-), रिञ्ञ (अरण्य-) का आण (आज्ञा) से विरोध है।

यहां पर सं० ञ्व् के लिये 'पन्द्रह' संख्यावाची, पा० पण्णरस और 'पच्चीस' संख्यावाची पा० पण्णवीसति, पञ्चवींसम् शब्दो का उल्लेख करना ठीक होगा।

वैदिक भाषा में स्वतंत्र मूर्द्धन्यों का वर्ग अपूर्ण है, उसमें वास्तव में केवल एक स्पर्श, अघोष है। महाप्राण अघोष का अस्तित्व केवल समुदायगत है और आकृतिमूलक दृष्टि से स्पष्ट स्थिति मे -इष्ठ- में तमबन्त विशेषण व्युत्पन्न विशेष्य पृष्ठ- (अ० पर्श्ट-), द्वित्व वाला शब्द तिष्ठति, किन्तु जठर- और कण्ठ- (अथर्व० सहकण्ठिका) की शब्द-व्युत्पत्ति सुन्दर नही है, यदि निघण्टु, जो वैदिक नही है, की उत्पत्ति निग्रन्थ्- से निश्चित है, तो यह *निगण्ठ- से उत्पन्न महाप्राणत्व की कठिनाई की असंभावित गति द्वारा सिद्ध होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य घोष भी केवल समुदायगत है: विड्भि, स्वर-मध्यग, जो ळ् के निकट है (स्कोल्ड, 'पेपर्स ऑन पाणिनि', पृ० ४५) और जो ऋग्वेद में ळ के रूप मे मिलता है, और उसके महाप्राण के लिये भी ऐसा ही है नीळ्, वोळ्हुम्, ऐसा ही पाली में मिलता है, -ड्- और -ढ्- बाद को नियमित रूप से मिलते है, अधिकाशत आकृतिमूलक प्रणाली के प्रभावान्तर्गत और ध्वनि-संबंधी संतुलन की आवश्यकता के कारण वोढुम् दग्धम् की भांति, षोढा द्विधा की भांति, आदि, साथ ही अशत निस्सन्देह रूप मे क्योकि वास्तविक बोलियो में ड्, ढ् वास्तव मे स्पर्श है, उड्डी- आदि। इसके अतिरिक्त इन मूर्द्धन्यो में से कुछ, जो प्रणाली के अनुसार नही बने रहते, क्लैसीकल संस्कृत मे ल् रूप में मिलते है, उदाहरणार्थ, अलि-, किन्तु पा० अळ-, ग्री० ऐंरदइस (ल्यूडर्स, आउफसात्जे ई० कूहन, पृ० ३१३; 'फेस्टश्रिफ्ट वाकरनागेल', पृ० २९४)।

वैदिक भाषा मे अनुनासिक मूर्द्धन्य भी है, जो तुरंत पूर्ववर्ती र् ऋ ष् के आपस में मिल जाने से बनता है (वर्ण-, तृण-, कृष्ण-) और आगे चल कर अपने इतिहास मे वह कभी-कभी नही भी मिलता (पाणि-, तुल० पर्लमि, पुण्य-, तुल० पृणाति, निण्य-, तुल० ग्री०

नेर्तेरोस्)। स्पर्शों की अपेक्षा, अनुनासिक र् और ष् का यह पारस्परिक प्रभाव कुछ अन्तर पर, स्वयं अपने सुगम और स्वर-मध्यग होने की शर्त पर,—फलत· शब्द मे अधिक कमजोर स्थिति मे—प्रकट होता है, और जो स्पर्श या ऊष्म के, जिनमे जिह्वाग्र को गति प्राप्त होती है, सबध मे कोई रुकावट नही डालता : क्रमण-, कृपण-, क्षोभण-, किन्तु वृजन-, रोधन, दर्शन-। इस नियम के, जो संस्कृत का अपना है, मध्यकालीन भारतीय भाषा में भी चिह्न मिलते है · अशो० गिर० प्रापुणाति, पा० पापुणाति तथा साथ ही अशो० गिर० द(स्)सण- किन्तु पा० दस्सन- जो स० दर्शन- से है। किन्तु पाली मे प्रत्ययों मे दन्त्य हमेशा बना रहता है : कारणम्, कारकेन। पजाबी मे आज एक विपर्यस्त चीज दिखायी देती है · उसमे स्वर-मध्यग -ण्- र् की अनिश्चितता के कारण दन्त्य हो जाता है घोबण् (स० प्रत्यय -इनी), किन्तु कुहुरन्, गुआर्नी।

तो अत्यन्त प्राचीन मूर्द्धन्य शकार ध्वनि के सम्पर्क मे आने से दन्त्य-स्पर्श हो जाते हैं, और न् को ष् अथवा र् का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त वेद मे लुप्त ऋ द्वारा मूर्द्धन्यत्व को प्राप्त स्पर्शों के उदाहरण मिलते ही हैं · ऋ० काट- (जो कभी पुस्तक I मे था) जो कर्त- के समीप है; ऋ० कटुक-, तुल० साहित्यिक कर्तुस, विकट, तुल० कृत- (दसवी पुस्तक मे दोनो ग्री० हापाक्स्), इन शब्दो मे ऋ का मध्यकालीन भारतीय भाषा-प्रयोग व्यजन के प्रयोग की सापेक्षिक नवीनता प्रमाणित करता है। बाद मे मिलते है श्रा० पुट-, तुल० जर्मन फाल्ट-, आढ्य-, तुल० ऋध्; क्लैसीकल नट- (नृत्-); हाटक-, तुल० हिरण्य-, कुटिल- और कटाक्ष (तुल० ग्री० कुर्तोस्) तथा अन्य प्रकीर्ण शब्द जिन्हे शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दुर्बोधता ने सुरक्षित रखा है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में रीति साधारण हो जाती है, यद्यपि सदैव ऐसा नही होता।

इस प्रकार पाली मे सुकत- (सुकृत-) के निकट सुकट-, विसत- और विसट (विस्-ऋत-), हृत- (हृत- हृन्- का कृदन्त रूप है) के लिये अकेला हट- है, किन्तु मृत- के लिये सदैव मत-, यह ठीक है कि टीकाकारो ने एक हथियार के नाम (Ps II, ३२५) मटज- मे 'मृत्यु' को बताने वाला कृदन्त स्वीकार किया है। -र्ढ्(ह्)- से : छड्ड्- (छर्द्-), वड्ढ्- (वर्द्ध-), तुल० अशोक० वड्ढि- (वृद्धि-)। विविधताओ का प्रयोग अर्थ-विचार-सबंधी बातो के लिये होता है वट्ट- का प्रयोग घुमाने के अर्थ मे होता है, वत्- का प्रयोग अस्तित्व या प्रथा के अर्थ मे होता है; किन्तु विद्वत्तापूर्ण शब्द चक्कवत्ती मे दन्त्य है (जैन प्राकृत में चक्कवट्टी है), जब कि चक्कवट्टक-—'wheel of trough'—भी है।

अशोक के अभिलेखो मे दक्षिण-पश्चिम मे दन्त्य अधिक सामान्य प्रतीत होता है [गिरनार -अ(त्)थाय, कालसी -अ(ट्) ठाये], मराठी और गुजराती मे भी यह प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है; उनमें मूर्द्धन्य शब्द सामान्यतः भारत-व्यापी शब्द हैं : उनमें एकमूलक मिश्रार्थी द्वित्वयुक्त शब्दो का भी यथेष्ट स्थिरता के साथ प्रयोग पाया जाता है : उदा० कट्ट्-, कत्त्-, किन्तु यदि 'चाकू' के लिये अश्कुन और बैंगेलि में कटा, कती मे कट्वँ है, तो गुज० मे कात्, सिंहली मे कॅतॅस, जिप्सी भाषा मे कत् आदि हैं। विरोधी बातें भी बहुत हैं· एक ही भाषा मे गर्दभ- के, अर्ध- के दो-दो रूप मिलते हैं। इस सबध मे कोई सामान्य नियम नही है; प्रमुख बात है मूर्द्धन्यो का नवीन विस्तार।

वैदिक काल के बाद, ष् और र् के व्यवधान के प्रभाव के कुछ चिह्न, न केवल न् पर, किन्तु स्पर्शों पर भी दृष्टिगोचर होते हैं। अशो० गि० ओसुढ-(औषध-)जो कालसी के ओसध- के विरुद्ध है, और जिसकी व्याख्या उत्तर-पश्चिम के बीच के रूप ओष(ढ-)द्वारा हो जाती है, तै० आ० और महाकाव्य पठ्-(और तै० स० प्रपाठक- भी)प्रथ्- से निकला है, पा० सठिल-, जो सं० शिथिल और प्राकृत सिढिल- के विरुद्ध है, श्रथ्- समुदाय मे आता है; खरोष्ठी के उत्कीर्ण लेखो द्वारा पूर्णत , प्राकृत के पढम-(प्रथम-) द्वारा, और सिंहली के पळमु द्वारा प्रमाणित पाली पठम- का विरोध है नासिक और ननघाट के पथम- से, खारवेल और साची के पधम- से, जिसके साथ देश के सभी रूप दन्त्य द्वारा सादृश्य रखते हैं : हि० पहिला, शिना पुमुको आदि। प्रति का प्रतिनिधि नियमित रूप से अशोक० मे पटि- और सिंहली मे पिळि है, किन्तु पाली मे और उत्कीर्ण लेखो की प्राकृत मे पटि- के स्थान पर साधारणत पति- मिलता है, प्राकृत मे और आधुनिक मराठी मे पडि-, पड्- के स्थान पर पै- मिलता है, जब शब्द मे मूर्द्धन्य आ जाता है, तो र् उत्पन्न हो जाता है[जिससे पा० पतिरूप-, पतिमन्तेति- जिसमे मन्त्रयति, पतिरूप-, पतिट्ठति निहित हैं, खारवेल पतिठापयति, प्राकृत पैज्जा, जो प्रतिज्ञा- से है, निस्सदेह लुप्त *पैण्णा के प्रभावान्तर्गत है, तुल० म० पैज् और पैण्, ने० पैंचो जो पड़ोसी (प्रतिवेश-) के विरुद्ध है]।

जिस उदाहरण पर अन्त मे विचार किया गया है उसमे यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा मे मिलती है; किन्तु उसके कुछ अन्य प्रमाण भी रोचक होंगे, यह तो देखा ही जा चुका है कि परवर्ती त् पर ऋ का प्रभाव देखने मे उससे सहायता प्राप्त हो सकती है।

इसके विपरीत इस सपूर्ण युग मे पूर्ववर्ती दन्त्य पर र् का प्रभाव बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद मे केवल अनुनासिक पर आधारित घोष के निश्चित उदाहरण मिलते हैं · आण्ड-, तुल० कलश ओण्ड्रक् (दे० SL. जेग्रो), और दण्ड-(तुल० ग्री० डॅन्ड्रोन्)। समवतः SB. डीतर-, पाली डेति और दयति, यदि वह वैदिक दी- के साथ द्रा- के मिल जाने से बना है, के प्राथमिक घोष को यहाँ स्थान देना आवश्यक है; महाकाव्य

और पा० उड्डी-(nigh. डीयते निश्चित नहीं है)। घोड़े का भारतीय नाम, आ० औ० घोट- एक द्रविड़ रूप घुतुर् से साम्य रखता है; महाकाव्य पट्ट- की उत्पत्ति पत्र- से केवल कठिनाई के साथ मानी जा सकती है। अशो० का० हेडिस- ईदृश का प्रतिनिधित्व करता है; इसके विपरीत सारनाथ और धौली मे हेदिस-, शहबाजगढ़ी मे एदिश-। प्राकृत खुड्ड- स० क्षुद्र- से जरा कम प्रमाणित होता है, क्योंकि ष् अशोक० ओसुढ-की भाँति हो सकता है। केवल ये बाते ही हैं, जिनकी व्याख्या और वर्गीकरण करना कठिन है, जो आधुनिक काल से पूर्व प्रमाणित की जाती हैं, जिनमें इसके अतिरिक्त, केवल निरंतर मूर्द्धन्यत्व के रूप में सिंधी मे (उत्तर मे ट्र, ड्र, दक्षिण मे ट्, ड्) और दर्द मे दन्त्य + र् हैं, कम-से-कम जब कि समीकरण उपस्थित होता है: गार्वी पूट् ("पुत्र"), ठा, (किन्तु गार्वी मे ट् कठोरता की ओर सकेत करता प्रतीत होता है), शिना गोट्, पटु (ग्रियर्सन, बी० एस० ओ० एस०, VI, पृ० ३५७)।

अत मे ऋग्वेद मे दो समीपी शब्द मिलते हैं जिनमें से एक अनुनासिक दन्त्य स्वर-मध्यग मूर्द्धन्य हो जाता है, बिना दूसरी ध्वनि-श्रेणी की सक्रियता के, स्थाणु- और स्थूणा, अ० स्तूना, निस्सदेह तै० स० गुर्ण-, तुल० अ० गओन-का उल्लेख भी कर देना चाहिए (प्रिज़ीलुस्की, जे० आर० ए० एस०, १९३१, पृ० ३४३)। परिवर्तन का यह प्रथम चिह्न ही बाद को नियमित हो जाता है।

आज पूर्वी बोलियो मे केवल अनुनासिक दन्त्य है, कम-से-कम लिखित रूप मे ऐसा कालसी और पूर्व के अशोक-अभिलेखो मे था ही, दूसरी ओर सिंहली -न्- और -ण्- में लय स्वीकार करती है।

मूर्द्धन्यत्व के सभी रूप, जिनका आधुनिक भाषाओं मे चलन मिलता है, परपरा के प्रारभ से ही चले आ रहे हैं। मूर्द्धन्यो की संख्या और भी अधिक होती गई है, और कुछ स्थानीय बोलियो से भी मिले है, सभवत मूर्द्धन्य वाले सभी शब्द निश्चित रूप में मिल जायँ तो इस सबध मे प्राचीन तथ्य और भी दृढ़ हो जायँगे।

किन्तु वेदो के बाद मूर्द्धन्य उन शब्दो मे भी आते है जिनमे पहले से ही दन्त्यो का साक्ष्य रहता है, और जो बिना किसी कारण के निश्चित किये जा सकते हैं। क्रिया अतति, जो उस भारत-ईरानी मूल से है जिससे 'अतिथि' शब्द बना है, महाकाव्य मे अटति है, पत् जिसका पहले अर्थ था उड़ना (अवेस्ता मे 'उड़ना, फेंकना'), फिर अथर्ववेद में 'गिरना', मध्यकालीन भारतीय भाषा और लगभग सभी नव्य-भारतीय भाषाओ मे पड्- (किन्तु कश० मे पें-) हो जाता है; इस सबंध में एक ओर एड़ी और पैर सबधी द्रविड़ शब्दों का, और दूसरी ओर 'गिरना' या 'लेटना' का अर्थ प्रकट करने वाली किसी द्रविड़ धातु के प्रभाव का संदेह किया जा सकता है। किन्तु सं० क्वथ-का पाली कढ्-, प्रा० कढ्-

से, जिसके प्रमाण नव्य-भारतीय भाषाओ मे भी मिलते हैं, सादृश्य क्यो है, यह ज्ञात नही होता; अन्त मे आधुनिक भाषाओ मे एक ऐसी लबी शब्द-माला है जिनमे मूर्द्धन्य की स्पर्शता से शुरू हो कर आगे बहुत बडा विस्तार हो जाता है : ने० टीको, ठेल्-, डुगुर्, ढक्-, ढाल् आदि, यहाँ द्रविड भाषा को कारण माना जा सकता है जिसमे आदि मूर्द्धन्य लगभग नही हैं।

केवल कुछ शब्दो, और भाषाओ के केवल एक भाग, के सबध मे संभावित समीकरणो का प्रमाण मिलता है स० दण्ड- ने० डँडो आदि जो म० डाँडा, लहदा दण्डा, शिना दोणु, कश० दोन् उ के समान नही है; स० दृष्टि- ने० डिठ् आदि किन्तु म० दीठ्, सिंहली दिट्ठ, गु० दीठो। पाली डसति (तुल० डस-) और डहति के बाद उन शब्दो के दो परिवारो के संबध में जिनमे मूर्द्धन्य का प्रयोग हुआ है, श्री एच० स्मिथ का यह प्रश्न है कि क्या कृदन्तो से, जिनमे एक ही प्रकार का सावर्ण्य होना चाहिए, अन्य शब्दो की व्याख्या नही होती : डट्ठ- और डड्ढ-, कम-से-कम जो प्राकृत मे मिलते हैं।

अन्त मे सिंधी मे वे समस्त घोष-दन्त्य जो सुरक्षित हैं, फलत जिनकी विशेष स्थिति है, मूर्द्धन्य हो जाते हैं डखिणु, डण्ड् (न्द् ही एक ऐसा उदाहरण है जिसमे दन्त्य पाये जाते हैं), कोडर् इ, सड्।

आधुनिक युग मे ळ् और ड़ से दन्त्यो और मूर्द्धन्यो का सादृश्य पूर्ण हो जाता है। पहले के सबध मे मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पजाबी मे (पूर्व और पश्चिम मे फैलते हुए, निस्सदेह विशेषत गाँव वालो की बोलियो मे, एल० एस० आई०, IX, I, पृ० ६०९ और ग्रै० बेली, जे० आर० ए० एस०, १९१८, पृ० ६११), शिमला, गढवाल और कुमायूं प्रदेश की बोलियो मे, अन्त मे उडिया मे उदाहरण मिलते हैं। ड़ और ढ़ से जहाँ तक सबध है, सिंधी, हिन्दी और पजाबी, नेपाली, बिहारी, छत्तीसगढ़ी, बगाली और उडिया में उदाहरण मिलते हैं, कश्मीरी ग्रामीण बोलियो मे, शिना मे, हिमालय प्रदेश की बोलियो मे, काफिर मे भी उसके उदाहरण हैं। इनमे स्वतत्र ध्वनि-श्रेणियाँ नही, किन्तु ळ् और ड़् के स्वर-मध्यग है, सकेत, जो आवश्यक नही रहा, असमान है, जिसका कभी-कभी वास्तविक उच्चारण द्वारा (पूर्व मे) प्रतिवाद हो जाता है; इसके विपरीत कभी-कभी उसका अभाव लिखने में मिलता है जब कि सुनने मे तो आता है, जैसे मराठी मे और निस्सदेह गुजराती में। धारणा और लिखावट मे (लिपि-चिह्न की दृष्टि से ड़् से ड का काम निकाल लिया जाता है) इन दो नई ध्वनि-श्रेणियों का प्रकट होना महत्त्वपूर्ण नियम का परिणाम है जिसके अनुसार स्वर-मध्यग स्पर्शों का अपने ही प्रकार के विशेष स्थिति वाले स्पर्शो से विरोध हो जाता है; तो ळ् और ड़् का मूल वही है जो बहुत बड़े अंश में ण् का; किन्तु उनका अनुलेखन असमान है, और उनका ऐतिहासिक मूल्य

परिवर्तनशील है; नेपाली, बिहारी और हिन्दी (पूर्वी और सामान्यत. पश्चिमी) ऱ्, सिंहली ल् या ल॒, सिंधी और पंजाबी ड़ एक प्राचीन स्वर-मध्यग ड् की तरह है, जब कि नेपाली, बिहारी और हिन्दी ड़ सिंहली के ड्, पंजाबी और प्राकृत ड् के तुल्य है; दूसरी ओर जिप्सी भाषा का ऱ् एक साथ प्राचीन -ड़- और -ड्- दोनो के साथ साम्य रखता है (टर्नर, 'फेस्टश्रिफ्ट जाकोबी', पृ० ३४)।

नये स्पर्शों के प्रकट होने के समय तक, मूर्द्धन्य शिन्-ध्वनि इस रूप मे नही रह जाती—शिना को छोड कर जिसमे एक नवीन मूर्द्धन्य-प्रणाली मिलती है।

अन्त मे इस संभावना का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो काफी आश्चर्यजनक है, कि विदेशी शब्दो में भी कुछ मूर्द्धन्य मिले अस्तु न तो स्थूणा और स्थाणु की, न गुण- की व्याख्या करने का साहस हो सकता है। किन्तु बाद के युगो मे हम कैटॉभ-, पा० केटुभ- की न्यायसगत रूप मे तुलना कर सकते हैं उस सेमेटिक शब्द से जो बहुत बाद को अरब रूप किताब् के अतर्गत प्रवेश कर चुका है (एस० लेवी, 'एत्यूद . आर० लिनोसिए', पृ० ३९७); टन्क- आधुनिक टाका, जो नाप-तोल और सिक्के के रूप मे है, तातारी तन्क शब्द है, आरमीनियन थन्क, फा० तन्ग; ठक्कुर अर्थात् ठाकुर, उच्चवशीय की उपाधि, का, श्री सिलवे लेवी के अनुसार, उत्तरी प्राकृत तेकिन् से संबध है जो रामायण मे टङ्कण- (जिसका तात्पर्य जनसाधारण से था, और बहुत बाद को सोहागा या बिना शुद्ध किया हुआ सोहागा, फा० तिन्कार्) के रूप मे मिलता है। आधुनिक युग मे बगाली डिन्गी, नूरी देन्गीज़ (dengiz), तुल० पु० तुर्की देञ्जि, की तुल्यता देखने की बात है। हाल मे लिये गये अँगरेजी शब्दो के मूर्द्धन्य का वास्तविक उच्चारण हो जाना निश्चित है, क्या यह भी स्वीकार करना होगा कि ये शब्द तुर्की दन्त्यो के एक विशेष उच्चारण का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं?

३. महाप्राण स्पर्श

ईरानी में महाप्राण अघोष सोष्म हो जाते है, घोष ध्वनियो का महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत सस्कृत, और आज भी लगभग सभी भारतीय-आर्य भाषाओ, की विशेषता महाप्राण ध्वनियो और फुसफुसाहट वाली ध्वनि से विहीन स्पर्शों मे स्पष्ट भेद उपस्थित करना है।

दोनो प्रकार की फुसफुसाहट वाली ध्वनियाँ एक ही प्रकार की नही थी; उनमें स्वर-यन्त्र-मुखी कंपनों का अस्तित्व या अभाव ही एक बड़ा भारी भेद है। यही कारण है कि यदि अन्य स्पर्शों की भाँति महाप्राण ध्वनियाँ पहले आने वाले व्यंजन पर अपनी जितनी मुखरता (या व्यक्तता) स्थापित कर देती हैं (वेत्थ, अवेस्ता-गाथा वोइस्ता;

तुल० वेद और विपर्यस्त रूप में शक्- से शग्धि, नप्त्- से नंद्म्य.), तो वे बाद में आने वाले व्यंजनो को उतनी ही मात्रा मे प्रभावित नही करती।

अघोष जैसे के तैसे बने रहते हैं और द्व्यक्षरात्मक धातुओ के, जो उनकी उत्पत्ति के स्वय प्रमाण प्रतीत होते हैं, इ तत्त्व को प्रकट हो जाने देते हैं (कुरीलोविच Kurylowicz,'सिम्बोली ग्रैमैटीक रोज़ावदौस्की',Symbolae Gramm Rozavadowski, I, पृ० ९५), पथिभि (किन्तु ईरानी में, सारूप्य सहित, अ० गा० पदंबिस्), श्नथिहि, श्नथितर्, ग्रथित-; उसमे व्यंजनो का वास्तविक योग नही है (अथर्व० गृणत्ति जो ग्रन्थ्- से है, गौण है और ऋ० के एक समानान्तर अश के कृणत्ति के अनुरूप है)।

इसके विपरीत भारत-ईरानी भाषा के समय से घोष ध्वनियो का घोषत्व और उनकी फुसफुसाहट परवर्ती स्पर्श की ओर अतिक्रमण कर जाता है (बारथोलोमी का नियम), और इससे व्यजनो के योग का सामान्य नियम खडित होता है।

वास्तव मे स्पर्श के सम्पर्क के कारण घोष महाप्राण ध्वनियो के प्राणत्व मे कुछ स्वतन्त्रता आ जाती है। यही रूप है जिसमे अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति ही सस्कृत मे प्राचीन महाप्राणत्व का प्रथमत विषमीकरण हो जाता है, फिर वह गौण रूप मे प्रकट हो सकता है, जिसका उदाहरण स्- भविष्यत् वाले सामान्य अतीत विषयक विकरणो मे मिलता है बुध्- से भुत्स्- या गुह्- से घुक्ष्। जहाँ तक शिन्-ध्वनि, जो सस्कृत मे स्पर्शों के बीच खो जाती है [भज्- से अभक्(स्)त], के अतर से सबध है, फुसफुसाहट फलत: सयुक्तो की ओर चली जाती है · जैसा कि *लब्ध- से निकले *लभ्-त के उदाहरण मे देखा जाता है जिसमे दो घोष तत्त्वो के बीच का अघोष घोष हो जाता है, यही सबध० एक० क्षा·, भारतीय-ईरानी *झ्मस्, अ० ज़्मो से ह्म नही बनता, वरन् *ज्म्ह, जिसका, सभव न हो सकने के कारण, महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है, जिससे बनता है ज्मं।

शिन्-ध्वनि से प्राण-ध्वनि का अतिक्रमण हो जाने के फलस्वरूप उसका घोषत्व संभव नही हो सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सस्कृत स् केवल अघोष हो यही कारण है कि दभ्- का इच्छार्थक रूप है *दि-द्भ्-स्->*दिद्ब्स्->दिप्सति, जो अ० गा० क्रियार्थक सज्ञा दिवृज़ैद्याइ के विरुद्ध है, इसी प्रकार है, सह्- का इच्छार्थक रूप सीक्ष्- [जिसमे दीर्घ ई लुप्त हो गई घोष शकार ध्वनि का प्रमाण है सि-सँघ्-स्, सि-स्रघ्-स्; तुल० शिक्ष्- जो शि(श्)क्ष- से निकला है], ३ बहु० बप्सति जो भस्- का विकसित रूप है।

सापेक्षत· अस्थिर तत्त्व होने पर भी, महाप्राण ध्वनियों का प्राणत्व काफ़ी स्थिर तत्त्व है और यह ज्ञात हो जाता है कि सस्कृत की घोष महाप्राण ध्वनियो में स्पर्श है, न कि प्राण-ध्वनि, जो अंशत: दब पड़ जाती है।

आधुनिक भाषाओं में, शब्द के अंत मे अथवा किसी अन्य व्यंजन से पहले महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है : हि० समझना के विरुद्ध गु० में समज्वू, हि० सीखना के विरुद्ध शिक्वू, जिनके सादृश्य पर हैं प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) समजावुं, शिकव्वुं; यह तथ्य, जो प्राय देखा जाता है, निस्सदेह इतना अधिक सामान्य है कि विभिन्न भाषाओ की वर्ण-विन्यास-कला से उस पर कोई प्रकाश नही पडता।

अल्पप्राणीकरण काफिर में, एशिया की जिप्सी भाषा मे, बगाल और सिंध आदि की कुछ बोलियो मे बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ है। जहां तक घोष ध्वनियो से सबध है, वह कश्मीरी और शिना मे स्थायी रूप से मिलता है (किन्तु कुछ ऐसी महाप्राण अघोष ध्वनियां हैं और कश्मीरी मे एक नया ह् है जिनकी उत्पत्ति प्राचीन शकार ध्वनियो से है : हेछ्-, शिना सिख़; हत्, शि० सृर्बोल्।

घोष ध्वनियो का महाप्राणत्व यकायक लुप्त नही हो गया था; हर हालत मे प्राचीन फुसफुसाहट वाली ध्वनि का चिह्न गुजराती (ब्ʻएन जो भेन् या बेहेन के रूप में लिखा जाता है, स० भगिनी, कʻऐउँ जो कह्युं के रूप मे लिखा जाता है, स० कथितम्) और पूर्वी बगाली मे कोमल स्वर-यत्र के घर्षण मे पाया जाता है, उत्पत्ति की दृष्टि से ये आश्वसित ध्वनियां सिन्धी की आश्वसित ध्वनियो से, जो विशेष व्यजनो का प्रतिनिधित्व करती हैं, भिन्न है, सामान्यत. सिंधी मे महाप्राण ध्वनियो का प्राणत्व सुरक्षित रहता है (टर्नर, 'सिंधी रिकर्सिव्ज', बी० एस० ओ० एस०, III, पृ० ३०१, चटर्जी, 'रिकर्सिव्ज इन् न्यू इडो-एरियन,' 'इडियन लिंग्विस्टिक्स', I, पृ० १)।

पजाबी मे, स्वर है जिसमे लुप्त प्राणत्व के घोष कम्पनों का चिह्न मिलता है जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उसमे एक ऐसा अश रहता है जिसका सुर प्राचीन महाप्राण के सम्पर्क मे आने के कारण अधिक दूर जा पडता है बँद (बद्ध-), हों-(भव-), कढ़ (प्रा० कढिअ-, स० क्वथित-)। आदि ध्वनियो के सबध मे, इस मद सुर का अस्तित्व परिणाम रूप मे अघोषत्व उत्पन्न कर देता है कँर्, हि० घर्, चँड, हि० झाड। एक ओर तो शिमला भूमिभाग की बोलियो मे, और दूसरी ओर कुनार, पशई और खोवर की निम्न और उच्च घाटी मे, पजकोर के पडौस की घाटी मे बश्कारिक में (पलोला, जो इस बोली को पूर्ववर्ती बोलियों से अलग करती है, बहुत प्राचीन नही है) ऐसे सदृश तथ्य बराबर मिलते हैं।

अन्यत्र घोष महाप्राण ध्वनियां, अपने प्राणत्व की रक्षा के लिये, अपने को सीधे अघोष बना डालती हैं : उत्तरी कलश मे [थुम् (धूम-)] और विशेषत जिप्सी भाषा मे ऐसा पाया जाता है, थँ्रु (प्रा० धूआ), किन्तु भुम् (भूमि-)। आरमीनिया की जिप्सी भाषा हर एक स्थिति में महाप्राण स्पर्श ध्वनियों को अघोष बना लेती प्रतीत होती है; थोव्-

(धाव-), दुध (दुग्ध-) और इसी प्रकार खर्, फल्, भाई (भ्राता), किन्तु जुधें (युद्ध-) मज्धें (मध्य-)। युरोप की जिप्सी भाषा मे केवल आदि ध्वनियाँ अघोष होती हैं: खम्(घर्म-), फल्, थुव्, जिनमे मध्यकालीन भारतीय भाषा की मध्य महाप्राण ध्वनियो की प्राणत्व-प्राप्त हाल की महाप्राण ध्वनियाँ जुड़ जाती हैं; थुद् (दुग्ध-), फिव् (विधवा), फन्द्-(बन्ध्-), थें(ह्)इव् (जिह्वा); प्राचीन अघोष ध्वनियो का रुख महाप्राणत्व की ओर नहीं पाया जाता (कर्-, प्रा० कड-से) और घोष ध्वनियो का रुख अघोष ध्वनियों के प्राणत्व की ओर नही पाया जाता: प्रा० देक्ख्- से दिख्-; वेल्श जिप्सी भाषा का फुर्चे् हाल का है।

सीरिया की जिप्सी भाषा स्वर-मध्यग -घ्- या कम-से-कम उसका प्रतिनिधित्व करने वाली सोष्म ध्वनि का अघोषीकरण कर लेती है: गेसू (गोधूम-), २ बहु० -स्(-अघ) से ('जर्नल जिप्सी लोर सोसायटी', VII, पृ० १११)। प्राथमिक ह्- की खज्-[हस्-], लिय़ (हृदय-) और एक दुर्बल स्वरयत्रीय ध्वनि मे परिणत हो गये, स्वर-मध्यग: मु^ओ (मुख-), आमे^ओ (प्रा० अम्हे); स्वरयत्रीय ध्वनि अन्य कारणो से भी हो सकती है: सु^ओ (सूचि-) से तो ऊपर उद्धृत शिना की बात याद आती है।

सिहली ही एक ऐसी भाषा है जिसमे सभी महाप्राण ध्वनियाँ लुप्त हो गयी है, अघोष और घोष दोनों मे से (भूमि- का बिम्, धातु- का दा, दीर्घ का दिगु, लब्ध- का लद; ग्राम- का पळमु, उष्ण- का उणु), स्वय ह् केवल बहुत कम विवृति के रूप मे (सोहोन अथवा सोन, स० श्मशान-; किन्तु निय-, स० नख-), अथवा स् के हाल के एवज मे आता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तमिल मे, जो उसकी समीपस्थ द्रविड भाषा है, महाप्राणत्व नही है, और उसमे से प्राचीन स् लुप्त हो गया है, इस भाषा का सिहल पर प्रभाव संभवत बहुत पहले ही पड चुका था, तुल० 'क्रिटिकिल पाली डिक्शनरी', दे० अट्ट-।

उन विधियो मे से जिनसे महाप्राण ध्वनियो मे परिवर्तन उपस्थित हुआ हो, सुसंस्कृत भाषाओ मे सोष्म उच्चारण लगभग अज्ञात है।

उसके प्राचीन प्रमाण अत्यन्त दुर्लभ हैं। ओष्ठ्य महाप्राण ध्वनि ही एक ऐसी ध्वनि है जिसके लिये सोष्म मे उच्चारण की कुछ-कुछ रक्षा की गयी मिलती है: -ध्वम् के विरुद्ध पा० -व्हो से कुछ भी प्रमाणित नही होता क्योकि अनव्हितो: अनभिमतो मे -व्ह्- का परिवर्तन -म्भ्- के साथ हो जाता है: उच्चारण विशेष होना चाहिए जैसा मयूहम् में जिसका अत प्राकृत मे मज्झ(म्) मे होता है। पुरुषवाचक सरभू, सं० सरयु- तुल० ह० दुभु० सलब्धु के मूल रूप मे निस्सन्देह सोष्मता थी; तुल० टोलेमी। किन्तु

किसका उल्लेख करना उचित होगा? ह० दुत्रु० मे भू-धातु से है : प्रम्हु अभिव्युयु; किन्तु वह एक निराली बोली है। यह सभवत: मध्य का अस्थायी व्ह- ही है जिसके तुरत बाद ही, हो- में, अन्य व्यजनो की अपेक्षा ह्- आता है।

महाप्राण ध्वनियो से निकली सोष्म ध्वनियो का यह लगभग पूर्ण अभाव भारतीय-आर्य भाषा मे सोष्म के अभाव की भाँति है। व् और अघोष शिन्-ध्वनियो को छोड़ कर, सस्कृत में वह बिल्कुल नही है, और इस दृष्टि से उसका ईरानी, प्राचीन और आधुनिक भाषाओं से विरोध है जिनमे विशेषत. अघोष महाप्राण ध्वनियो का स्थान सोष्म ध्वनियाँ ग्रहण कर लेती हैं, और जिनमे उदाहरणार्थ कृत् शुरू से ही खृत् हो जाता है (मेइए, आई० एफ०, XXXI, पृ० १२०)। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ मे घोष स्वर-मध्यग व्यजन (या ऐसा होने वाले) अपने को विवृत बना लेते हैं और अनिवार्य रूप मे मध्य सोष्म की स्थिति से गुजरते हैं : किन्तु यह परिस्थिति थोडे दिनो के लिये रही है, और नियमित रूप से तो यह केवल शिथिल और अनुनासिक व्, जो -म्- का स्थान ले लेता है, के सबध मे देखी गयी है, अन्यत्र, प्राचीन (कंठ्य और दन्त्य) व्यजन-काल अनिश्चित उच्चारण वाली भाषा को आगे किये जाने से घिरा रहा, जो जैनो मे य्, जिसे य-श्रुति कहते हैं, के रूप मे देखा गया है, जो कुछ भाषाओं मे लगभग स्वरो पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है, उदाहरणार्थ, म० शे॑ जो शतम् से है और हिन्दी सौ (बीच की स्थितियाँ क्रमश· *सया, *सऊ) के विरुद्ध है, अथवा म० -एँ, गु० -उँ एक० नपु० से, सं० -अकम्; किन्तु मराठी गे-ला, हिन्दी गय्+आ दोनो का सबध गय-(गत-) से प्रकट किया जाता है। यह ध्वनि-श्रेणी-काल, अत्यन्त शिथिल सोष्म व् भी हो सकता है, अपभ्रंश मे उ और ओ (भविस०, पृ० २४) के बाद, मराठी मे किन्ही स्वरो के बीच मे; तुल० सिंहली मे निय- (नख-) के निकट नुवर (नगर-)। विवृति के लिये अथवा ठीक-ठीक रूप मे एक स्वर से दूसरे स्वर तक पहुँचने के काल के लिये, ह् का प्रयोग बहुत कम मिलता है। समीपवर्ती स्वरो के बीच में -य्- और -व्- के प्रवेश की प्रवृत्ति से दक्षिण की द्रविड़ भाषाओ की याद आ जाती है।

क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषाओ मे केवल ये सोष्म ध्वनियाँ ही हैं जो अच्छे रूप मे नही हैं। खरोष्ठी मे लिखित अभिलेखो और पाठो में लिपि-चिह्न सहित कुछ व्यजन मिलते हैं जो र् से मिलते-जुलते हैं, किन्तु जो बहुत महत्त्वपूर्ण नही हैं; उदाहरण, वर्दक (Wardak) मे भग के समीप भग्र; इस बात का प्रलोभन भी होता है कि उसमे सोष्म ध्वनियाँ ढूँढ़ी जायें, विशेषत: जब कि -म्- से निकले -व्ह- से उसकी तुलना की जाय। किन्तु विशेषत: ह० दुत्रु० की भाषा वास्तविक पजाबी और सिंघी से संबंधित है, अथवा, इन भाषाओं मे सोष्म ध्वनियाँ नहीं हैं। केवल सीमांत बोलियो

में सोष्म ध्वनियाँ हैं · कुछ ज़्, कुछ ज़ं, कुछ मूर्द्धन्य ष् भी : शिना अझ्ं (अभ्र-), ग्रोन् (द्रोण-) और साथ ही ना (भ्राता); कुछ θ . पशाई θले "३" (त्रयः), θलूष् (प्लुषि-), कुछ अलग-अलग कण्ठ्य खोवर मुख्, नोγओर या संयुक्त रूप में : कती बख़्ग्ॅ (अपगृह-), फ्लुग्ॅ (प्राप्त-); पशाई θलम् (कर्म), बशकारिक लाम् (ग्राम-); उसी में स्वर-मध्यग -ध्- (और -त्-)-ल्- अथवा -र्- का प्रयोग भी पाया जाता है · खोवर सेर् (सेतु), लेल् (लोहित-), जिल् (जीवित-), किन्तु पा (पाद-), सौ (सेतु-), सैंव (श्वेत-) आदि और इसी प्रकार गू (गूथ-) सम्भवतः स्वर-मध्यग ल् के स्पर्शत्व द्वारा, जिसके इस भाग मे कुछ उदाहरण मिलते हैं यूरोपीय जिप्सी भाषा फल् (भ्राता), जुवेल् (युवति), पीएल (पिबति), नूरी जुआर् पिअर्, गिर् (घृत-), वर् (*द्वर के लिये) [किन्तु विपरीत उदाहरण भी मिलते हैं : नूरी सि (शीत-), सै, पै (पति-), पौ (पाद-), रो (रोदति); अन्यत्र -थ्- स् हो गया है, पीछे देखिए]। ये प्रयोग -δ- मान कर चलते हैं जैसा कि पूर्वी ईरानी की बोलियो में मिलता है। अफग़ानी, मुंजनी और यिदघ की भाँति प्रशुन और आरमीनियन जिप्सी भाषा मे आदि द्->ल्- भी है।

स्वयं खास भारतवर्ष मे बाहर से आयी हुई सोष्म ध्वनियाँ अत्यन्त कठिनाई के साथ अपने को अनुकूल बना पाती हैं · फारसी खुदा (xudā) को खुदा, ज़मीन्दार को जामीदार आदि कहा जाता है। किन्तु इधर-उधर से आयी सोष्म ध्वनियो का अस्तित्व उसमे पाया जाता है। ग्रामीण पंजाबी में एक थोडी-बहुत दुर्बल दन्त्योष्ठ्य ध्वनि पाई जाती है जिसका फ् के साथ परिवर्तन हो जाता है, जब कि ख् वास्तव में कठोर है। बंगाली में फ् और भ् का उच्चारण तेजी के साथ फ् और व् की भाँति होता है, दोनों द्विओष्ठ्य हैं। दक्खिन में प्रचलित उर्दू मे सितफल् और साथ ही रख् है, किन्तु यह अरबी का अत्यधिक प्रभाव हो सकता है (दे० कादरी, 'हिन्द० फोनेटिक्स', पृ० ३१), और साथ ही मराठी में (श्री मास्टर के प्रमाणो के आधार पर) भी ऐसा ही पाया जाता है। यूरोप की जिप्सी भाषा में पृफुव्, त्खोन् हैं जो फुल, थन्, खर् के समीप हैं, यह तो देखा ही जा चुका है कि एशिया की जिप्सी भाषा के स्वर-मध्यग स् का आरोपण सोष्म ध्वनि पर भी हो जाता है।

४. महाप्राण ध्वनि

संस्कृत की ध्वनि-श्रेणी ह् घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है, उसी प्रकार जिस प्रकार घोष महाप्राण ध्वनियो की फुसफुसाहट वाली ध्वनि, यद्यपि दोनो मे पूर्ण साम्य नहीं है : क्योंकि सिंधी मे ह् से पूर्व अंतिम स्पर्श तदनुरूप महाप्राण स्पर्श की अपेक्षा एक दूसरी ही बात प्रकट होती है . चिद् हिं>चिद् धिं, सध्र्येग् हितां>सध्र्यंग् घितां, तो ह् का अभियान यहाँ स्पष्ट है।

संस्कृत ह्

शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से, ह् प्रागैतिहासिक घोष महाप्राण तालव्य ध्वनियो का शेषाश है :

भारोपीय ग्'ह् :	वंहति	अ० वज़ैति	लैटिन उएहित्
	हिमं- तुल०	अ० ज्यओं न० एक०	हिएमूस
साथ ही	अहंम्	अ० अज़ंम्	इगो
	हृद्-	अ० ज़ंरंद्-	कौर्ड-

भारोपीय *ग्^व ह् ए से पूर्व हंन्ति (तुल० घ्नंन्ति) अ० जैंन्ति
दुह्- (तुल० दुग्धं-) अ० दुग्-
दुखृत-

स्पर्श का यह पूर्ण लोप भारतवर्ष के लिये ठीक है, किन्तु वह भारतवर्ष मे सर्वत्र नही पाया जाता। काफिर भाषा मे उच्चारण सुरक्षित है - कती, ज़िम्, ज़िर, दे० अन्यत्र। स्वय सस्कृत मे कुछ द्वित्वपूर्ण या पुनरावृत्तिपूर्ण रूपो मे उसके चिह्न मिलते हैं, जिनमे फुसफुसाहट वाली ध्वनियो का विषमीकरण तालव्य को प्रकट करता है, जो उसके बाद स्थायी हो जाता है जहाति, प्राचीन *झझाति, अ० जज़ामि, इसी प्रकार हन्- के आज्ञार्थ २ एक० के सबध मे है जहि, प्राचीन *झघि, अ० जैंदि। सबध० ज्मं के लिये अन्यत्र देखिए।

यह तो स्वाभाविक है कि प्रारभ मे स्पर्शता घोष मध्य-स्पर्श ध्वनियो मे परिवर्तित हो। इतिहास के क्रम मे, समस्त शेष महाप्राण स्पर्श ध्वनियो (प्राचीन घोष और उनके साथ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती है) की स्वर-मध्य स्पर्शता लुप्त हो गयी है, अथवा घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियो के माध्यम द्वारा क्रम जारी होता है, और यही उसका प्रथम चरण है; इसी प्रकार पिछले युग मे जब कि ज् बना रहता है *झ् प्रकट होता है, ऋग्वेद मे तो यह मिलता ही है कि कुछ ह् *घ् से निकलते हैं, प्रत्ययो मे -महि, -महे, तुल० गाथा० -मैदी, -मैदे, ग्री० -मेथ, आज्ञार्थ मे, विशेषत. दीर्घ स्वर के बाद कुधि के मुकाबले मे पाहि, अ० -दि, ग्री० -थि (एम० एस० एल०, XXIII, पृ० १७५, साथ ही, दे० श्री एच० स्मिथ, यह ह्रस्व के बाद है जब कि पाली मे -भि कभी-कभी बाद तक मिलता है; पण्डितेहि, इसिभि, सब्बेहि ञातिभि), सामासिक शब्दो मे (सहं- जो सधं के समीप है, -हित- जो, पहले रचना मे, धा से है) अथवा सह-शब्दो मे (इहं, तुल० पाली इध, *ह्-इध से अशोक० हिद; कुहं, गाथा० कुठअ, गु० कुदा) साथ ही कुछ ऐसे शब्दो मे जिनमे परिवर्तन-क्रम द्वारा स्पर्श ध्वनि की रक्षा होनी चाहिए (आह, आहु), तुल० २ एक० आत्थ, अ० आठअ; ऋ० गृह्णातु गृहाणं जो गृभ्णाति गृभ्णते के समीप है, तै० स०

उपानंहो द्वि० जो उपानत् का कर्म० है; ऐत० ब्रा० न्यग्रोह- (एक उस अंश में जिसमें ग्रामीण रूप परंपरागत रूप के विरुद्ध है और शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से ठीक है). अथर्व० न्यग्रोंध-, पा० निग्रोध- के लिये है।

अति प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषाओं से ऐसे उदाहरणो की सख्या मे बहुत वृद्धि हो जाती है अशोक० और पाली मे आंशिक सह-प्रयोग (भवति) के शब्द के आदि मे होनि है, स्वर-मध्यग की दृष्टि से अशोक० लहु (लघु), लहेवु (भृ), निगोह- (घ्), पाली मे स० दधाति के लिये दहाँति (तुल० अशोक० उपदहेवु) है, जो यदि स० हित- पर विचार करके देखा जाय तो पुनर्निर्मित किया या सुरक्षित रखा जा सकता है, अत मे कुछ रुहिर-, साहु जैसे शब्द हैं। बाद की मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में परिवर्तन सामान्य हो जाता है; कमज़ोर स्थिति वाली सभी महाप्राण स्पर्श ध्वनियों मे मे केवल घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि, ह् बच रहती है।

अघोष महाप्राण, शित्-ध्वनि से उत्पन्न मध्यकालीन भारतीय ह्

इसके अतिरिक्त सस्कृत मे अघोष महाप्राण ध्वनि थी, किन्तु उसकी गणना स्वतत्र व्यजन के रूप मे नही होती, और क्योकि वह अघोष से पूर्व या मूक से पूर्व शब्दान्त्य -स के स्थान पर आता है। लिखावट मे वह देखा जाता है, वहाँ वह विसर्ग : -ह है, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उसके चिह्न नही मिलते, यदि पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बनाने (अग्गि अथवा अग्गी < अग्नि) मे नही, और -अ के सबध मे नही, तो इस बात मे कि -अ-, जो स्वभावत सवृत, और जो उतना ही सवृत है जितना कि अन्तिम, घोष से पूर्ववर्ती शब्द के अन्त्य *-अस्, *-अज् से निकले स० -ओ के साथ मिल जाता है।

मध्यकालीन भारतीय प्राकृत मे, समुदायगत स् विवृत रूप मे रहता है, और उसमे नवीन महाप्राण स्पर्श ध्वनियां निकलती है। जब कि समुदायीकरण अघोष स्पर्श के साथ होता है, तो समुदाय ही अघोष रहता है, जब कि वह बचे हुए अनुनासिक के साथ होता है, तो प्राण-वायु ध्वनि घोष हो जाती है : पा० न्हा-, नहा-, (स्ना-), पञ्ह-, (प्रश्न-), उण्ह-, (उष्ण-), गिम्ह- (ग्रीष्म-), तिण्ह- (तीक्ष्ण-) आदि। घोष ध्वनियाँ जो निस्सदेह, साथ ही अति तीव्र गतिपूर्ण, अज्ञात व्युत्पत्ति वाले स्वर-मध्यग ह् से : ।

प्रारभ मे मूल दीर्घ के पश्चात् स-भविष्यत् वाले क्रियामूलक प्रत्ययो में : पा० काहामि, जो *करृष्यामि से है, तुल० अशोक० शह० कष्(ष्)अति ? -स्य-, -ष्य- का सामान्य प्रयोग पा० -स्स- है। इसके अतिरिक्त पाली मे ही -इ से एहिति और पलेति से पलेहिति (पलायति) है जो एहिति के अनुकरण पर निर्मित हुए प्रतीत होते हैं; हा- और हर- से हाहति, हो- से होहिति, भाहिसि, पदाहिसि, कुछ और भी हैं, विशेषत: सयोजक

स्वर करिहिति प्रकार जो जैन प्राकृत मे सामान्य हो जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन रूपों से, जिनकी अब तक व्याख्या नही हुई थी, -ह्- वाले आधुनिक भविष्य० का सबंध जोडा जा सकता है। यह भविष्य० अब भी काफ़ी मिलता है, उस क्षेत्र से बाहर भी जहाँ शिन्-ध्वनियाँ सामान्यत. विवृत होती हैं (मारवाडी, ब्रज, बुंदेली, भोजपुरी, प्राचीन बंगाली, कश्मीरी, फिलिस्तीन की जिप्सी भाषा)।

बहुत बाद को, आधुनिक भाषाओ द्वारा प्रमाणित प्राकृत की एक महत्त्वपूर्ण शाखा मे, सख्यावाची शब्द मिलते हैं, स० दश- का प्रतिनिधित्व दह्- और दस- द्वारा हुआ है (-रह और -रस वाले योगात्मक शब्दो मे) और -सप्तति- का -हत्तरि वाले योगात्मक शब्दो में, सभवत क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्राचीन काल मे समस्त भारत मे मिलने वाले सख्यावाची शब्द पश्चिमी क्षेत्र के थे (गु०, सिं०, लहदा, कश०; तुल० ऋ०, सुषोमा सिंध के पूर्व मे बहुत प्रचलित था, मेगास्थ० सोँअनोस् अथवा सोअमोस्, आधुनिक सोहान), जहाँ अन्य स्थानो (पूर्वी बगाल का विशेषत इस युग के लिये उदाहरण न दिया जाय) की अपेक्षा विवृत शिन् ध्वनियाँ, अनुनासिक के बाद घोष हुई अघोष स्पर्श ध्वनियाँ (किन्तु खारवेल मे पन्दरस भी है) और साथ ही कुछ-कुछ स्वर-मध्यग -द्- जो -र्- रूप मे हो जाते है, अधिक उपलब्ध होते हैं ? किन्तु -ह्ध- (सध-) कृष्णा, नागार्जुन-कोण्ड मे मिलते हैं, एपी० इडि०, XX, पृ० १७, २०; और सुवणमाह् भट्टिप्रोलु मे, जो निश्चित रूप से पश्चिमी प्रभाव की ओर सकेत करते हैं। हर हालत मे यही बात सामने आती है कि अयोगात्मक शब्दो मे शिन्-ध्वनियो से उत्पन्न -ह्- है, दे० पिशेल, पृ० २६२, और यदि श्री एच० स्मिथ ने अत्यन्त कौशलपूर्वक दि(व्)अह्- की व्याख्या अह(न्)- द्वारा विकृत स० पा० दिवस- से की है तो भी अन्य उदाहरण हैं जो इस व्याख्या के अन्तर्गत नही आते।

अपभ्रश के नाम प्रत्ययो (सबध० एक० -अह, बहु० -अह; अधि० एक० -अहि, अपा० -अहो) और क्रियामूलको को अलग रखना आवश्यक है जिनमे आकृतिमूलक सादृश्य का हाथ है। किन्तु यह प्रत्यक्ष व्युत्पत्ति गुजरात और राजपूताना मे रुक नहीं जाती जहाँ ऐसे निश्चित भाग हैं जहाँ स् के लिये ह् का प्रयोग प्राय मिल जाता है, देखिए अन्यत्र।

महाप्राण के बाद की स्थिति

शब्द के प्रारभ मे ह्- सामान्यत: कठोर रहता है; किन्तु स्वरो के बीच मे वह दुर्बल रहता है। इसी से, उदाहरणार्थ, आधुनिक बगाली के विकृत रूप (अपभ्रंश -अह) से बने -आ में पाये जाते हैं, २ बहु० -आ अथवा -ओ में, जो अपभ्रंश -अह, -अहु से हैं। कुछ

शब्दो पर से प्राचीन स्पर्शता का सारा प्रभाव मिट गया है : म० शेरा (शिखर-), मेथुण् (मैथुन-) आदि।

स्वर-मध्यग ह् की दुर्बलता से इस बात का पता चलता है कि उसका प्रयोग साधारण विवृति की दृष्टि से रहा हो म० पिओ (प्रिय-) के समीप पिहू, नही अथवा नई (नदी), बगाली बेहुला (विपुला) आदि, सिंहली मे ऐसा प्राय मिलता है। किन्तु प्रा० विहत्थि- (वितस्ति-, पा० विदत्थि-), पर निस्सदेह हत्थ-(हस्त-) का प्रभाव है (एच० स्मिथ)।

कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिनमे महाप्राणत्व ने किसी पूर्ववर्ती व्यंजन मे सम्बद्ध रह कर अपने को बनाये रखा है। यूरोप की जिप्सी भाषा मे इस सभावना के कारण आदि घोष को अघोष होते देखा जाता है विब् (जिह्वा), थुद् (दुग्ध-) जो खम् (घर्म-), थोव् (धाव्-) की भाँति है, आदि।

जब कोई शब्द स्वर से प्रारभ होता है, तो फुसफुसाहट वाली ध्वनि मे उससे पहले आने की प्रवृत्ति पायी जाती है प्रा० होट्ठ-, म० होट्- (ओष्ठ-), हिं० हम्, गु० हमे (प्रा० अम्हे), गु० हूनो (उष्ण-) आदि।

अभिव्यजक ह्

अत मे, स्फुट रूप मे कुछ आदि ह् मिलते है जो शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान द्वारा सिद्ध नही होते, और जिनका प्रधान लक्ष्य कुछ शब्दो की अभिव्यजकता बढाने मे है *ह्-इध के लिये अशोक० हिद, हेव, हेमेव [ए(व)मेव], हेदिस (पा० एदिस-, स० एतादृश-), हचे (अ - यत्, तुल० पा० याञ्चे और स० यद् च), पा० हल हेव हाञ्चि हेत आदि (दे० सद्दनीति, पृ० ८८९, नोट ८, पृ० ८९४, नोट १३)। आधुनिक काल मे प० होर्, राज० और दक्खिनी हौर्, गँवारू हिन्दी हर्, साहित्यिक हिन्दी और (अपरम्), प० बोली हेक्क् (एक-, उसकी पुनरावृत्ति देखिए), म० हा, ब० होथा, हेथा (प्रा० एत्थ), हाकुलि- (आकुल-)। सिहली हे, हो जो ए, ओ के समीप है और वह भी इतने प्रमुख रूप मे कि सिहली ह् के लोप की ओर झुक रही है (एच० स्मिथ)।

५. शिन्-ध्वनि

भारत-ईरानी मे एक दन्त्य शिन्-ध्वनि है, सामान्यत अघोष, किन्तु घोष स्पर्श ध्वनियो की समीपता के कारण जो घोषत्व प्राप्त करने की क्षमता रखती है (अ० अस्ति, ज़्दि; तुल० म० अस्ति, एधि), और दूसरी ओर इ, उ, र् और कठ्य (अवि० एक० अ० द्रगवसु, तुल० स० ध्रुमत्सु, किन्तु अ० असपएसु, तुतुख्सैर्-अ, स० अश्वेषु

विक्षु, नृषु; अ० सबंध० एक० नरसॅ) के बाद नियमित रूप से शकार ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है।

भारतीय भाषा मे यह नियम पहले से ही रहा है, और ईरानी की अपेक्षा अच्छे रूप मे रहा है, जिसमे समीपवर्ती भारोपीय भाषाओ की भाँति, आदि और स्वर-मध्यग रूप मे, असंयुक्त बिवृत स् है; स० सन्ति, अ० हॅन्ति, स० असि, अ० अहि।

किन्तु यह देखा जा चुका है कि शिन्-ध्वनि से निकले, शकार-ध्वनि वाले रूप ने, जो मूर्द्धन्य हो जाता है, सस्कृत दन्त्य स्पर्श ध्वनियो के एक नवीन वर्ग को जन्म दिया, जो मूर्द्धन्य कहा जाता है। अथवा, प्राचीन ऋ के पूर्ण स्वरीकरण ने, जिसने शिन्-ध्वनियो सहित, समीपवर्ती दन्त्य ध्वनियो का मूर्द्धन्यीकरण कर दिया था, यह फल प्रकट किया कि स्वर अ के पश्चात् ष् की काफी बडी संख्या है, और वह स् के परिवर्तित रूप की तरह नही है, पाष्ये जो सभवत सदृश जर्मन फेल्स, ग्री० पेल्ल लिथोस् से निकला है, कषति, तुल० साहित्यिक करसॅिउ। यह एक महत्वपूर्ण नवीनता है।

दूसरी ओर भारतीय भाषा मे वे घोष ध्वनियाँ नही रही जो ईरानी मे सुरक्षित रही। कठ्य या ओष्ठ्य ध्वनियो से पूर्व, वे नही मिलती : अद्ग, पहलवी अज्ग् विड्भिः, तुल० अ० वीजॅव्यो। दन्त्य से पूर्व, वे स्वर को, जो दीर्घ हो जाता है, अपना कपन प्रदान कर विलीन हो जाती है, और ह्रस्व अ के सबध मे, ध्वनि का परिवर्तन कर देती हैं नेॅदिष्ठ-, अ० नज्दिस्त; सद्- (तब *स-ज़्द्) से पूर्ण० ३ बहु० सेदिरे, *आसध्वम् से २ बहु० अपूर्ण० आध्वम्, *निज़्द- से नीळ-, तुल० जर्मन नेस्ट, सीॅक्षन्त-, प्राचीन *सि-ज़्घ्-स-, सह- का इच्छार्थक कृदन्त रूप। शब्द के अन्त मे -स्-, जो घोष से पूर्व -ज़् हो जाता है, से निकली दो घोष ध्वनियो मे से एक -ज़् स्वर का सकोच करने मे विलीन हो जाती है अश्वो; दूसरी -ज़् र् हो जाती है अग्निर्।

सस्कृत मे दो शिन्-ध्वनियाँ प्रतीत होती हैं, जो सापेक्षिक दृष्टि से स्वतत्र हैं, और दोनो ही बिल्कुल अघोष हैं। अथवा, उसमे एक तीसरी शिन्-ध्वनि आ गई है, और वह भी बिल्कुल अघोष है, और जिसका कारण यह है कि भारोपीय की तालव्याग्रीय ध्वनियो के विभिन्न प्रयोग थे : *क् सस्कृत मे श् हो गया जब कि *ग् का प्रतिनिधित्व *ग्^व (ए) की भाँति ज् द्वारा और *ग् ह् का प्रतिनिधित्व *ग्^व ह् (ए) की भाँति ह् द्वारा होता है। तो लगभग समस्त भारतीय भूमि-भाग मे (केवल काफिर मे प्राचीन स्पर्श ध्वनि मिलती है) प्राचीन अघोष स्पर्श ध्वनि एक तीसरी शिन्-ध्वनि मे परिणत हो गयी प्रतीत होती है और जिसकी विशेषता है तालव्यीय उच्चारण और वह भी बिल्कुल अघोष; इसके विपरीत ईरानी मे वह अपनी घोष प्रकृति ग्रहण किये रहती है : अ०

स्, ज्, पु० फा० θ, द्। संस्कृत मे अन्य शिन्-ध्वनियो के साथ इतना अधिक संबंध है कि कुछ परिस्थितियों में प्राचीन कंठ्य ध्वनि शकार ध्वनि हो गयी है, और वह अपने को मूर्द्धन्य शिन्-ध्वनि के रूप मे प्रस्तुत करती है : अष्टौ, अ० अश्त, लै० ओक्टो; वष्टि, अ० वश्ती, तुल० वश्मि, अ० वसमी।

तो संस्कृत मे तीन शिन्-ध्वनियो की एक नितान्त नवीन प्रणाली मिलती है, जिनका संबंध जीभ के अग्र भाग की गति द्वारा प्राप्त तीन प्रकार की स्पर्श ध्वनियो से है। इसके अतिरिक्त इन शिन्-ध्वनियो का आपस में परिवर्तन भी हो जाता है : यह तो देखा ही जा चुका है कि स् और ष् पूर्ववर्ती ध्वनि-श्रेणी पर निर्भर रहते हैं, और श् और ष् परवर्ती पर। अन्य रूपो मे तालव्य ध्वनियो के सामीप्य द्वारा स् श् हो जाता है (पश्चा, तुल० अ० पस्चे, साहित्यिक पस्कुई, स-स्च्- जो सच्- का दोहरा रूप है), अथवा समीकरण द्वारा हो जाता है (श्वशुर, तुल० अ० ह्वसुर-, इसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय भाषा की पश्चिमी बोलियो मे अशोक० अनुशशन), स्वरूप द्वारा भी वह ष् हो जाता है षोल्हा जो *सश्ज़ा से है; दो ष् के विषमीकरण द्वारा श् हो जाता है शुष्क- जो *सुर्स्क उच्चरित से निकले *षुष्क- से बना है, अ० हुस्क-, शुश्रूष् से निकले अशोक० सुश्रुष- आदि।

इसके अतिरिक्त ये शिन्-ध्वनियाँ अपनी ही थोडी-बहुत अव्यवस्था के कारण समाप्त हो जाती हैं, और बाह्य दृष्टि से उनका सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य मे बना रहना वास्तविकता से साम्य नही रखता। अशोक के अभिलेखो मे, अकेले उत्तर-पश्चिम सीमा वालो मे, तीनो शिन्-ध्वनियाँ मिलती है, और यही परिस्थिति खरोष्ठी मे लिखित और ह० दुत्रु० मे बाद के अभिलेखो के संबंध मे कही जायगी (समान अव्यवस्थाओ सहित, उदाहरणार्थ, षग, स० सङ्ग- और सर्ग-, कोनाउ, 'फेस्टश्रिफ़्ट विंडिश', पृ० ९२)। अशोक के अन्य अभिलेखो मे (कुछ असंबद्धताएँ, जो केवल लेखन-प्रणाली के कारण हैं, कालसी के अंतिम घोषणा-पत्रो मे दृष्टिगोचर होती है) और मध्यकालीन भारतीय भाषा के सभी उत्कीर्ण लेखो मे शिन्-ध्वनि सामान्यत स् के साथ अपवाद रूप मे श् के साथ, जुडी हुई है। भट्टिप्रोलु का समाधि-स्थल एक अपवाद है जहाँ एक ओर स् का सा मे परिवर्तन हो जाता है पुत(स्)स, दूसरी ओर म(म्)-जुषा और शरीर- के लिये एक विचित्र चिह्न है (भट्टिप्रोलु के स्वच्छ पार्श्व-खण्ड मे दन्त्य से भिन्न शकार ध्वनि मिलती है, किन्तु केवल तालव्य के संबंध मे; मूर्द्धन्य का कोई उदाहरण नही मिलता) साथ ही इस समाधि-स्थल के कारण ही तो उत्तर-पश्चिम के कुछ रूप नही है, यद्यपि भट्टिप्रोलु का स्तूप कृष्णा-समुदाय (अमरावती, जग्गपेट, नागार्जुन कोण्ड) के अन्तर्गत आता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा के साहित्यिक शिन्-ध्वनि

को ही मिला देते हैं (स् मे; केवल नाटकों की मागधी मे श्); केवल एक अपवाद मृच्छकटिका में क्रीड़ा की बोली (जो ढक्की या टक्की कही जाती है) में पाया जाता है, जिसमें प्रत्यक्षतः श् है, स् और ष् का स् मे योग उपस्थित होता है; किन्तु स्वयं इसी अकेले अंश के लिये पाठ ठीक नही हैं और निष्कर्ष अनिश्चित हैं; विद्वत्तापूर्ण उल्लेखो में जो बात देखी जाती है, वह है र् का ल् द्वारा प्रतिनिधित्व के तथ्य में एक "भागबिसन्ते" और एक वह बात जिसकी बाद की विशेषता है सस्कृत -अ., -अम् के लिये -उ प्रत्यय का प्रयोग, यह विपथगामी प्राकृत का एक प्रकार है।

शिन्-ध्वनियो की अव्यवस्था सभवत. एक सापेक्षिक दुर्बलता का चिह्न है। हर हालत में इतिहास के प्रारभ से ही अघोष ध्वनि विश्राम-स्थल पर अपने को विवृत करती है, शब्द मे, धातु के अन्त मे, स्पर्श का पृथक्त्व जैसा वह मांस- से मार्दभि., उर्वस्- से उर्वद्भि, अथर्व० वस्- से अवात्सी मे है, अपवाद-स्वरूप है और आकृति-मूलक परिस्थितियो से सबधित है।

कभी-कभी मध्यकालीन भारतीय भाषा मे, -ष्य- का प्रतिनिधित्व ह् द्वारा होते हुए देखा जाता है। विशेषत स्पर्श ध्वनियों के अस्तित्व के कारण शिन्-ध्वनि नियमित रूप से अपने को विवृत करती है, और समुदाय की क्रमिकता मे फुस-फुसाहट वाली ध्वनि अपना स्थान बना लेती है—महाप्राण स्पर्श ध्वनियो वाली भाषा मे यह एक साधारण बात है—,साथ ही यदि स्पर्श से पहले प्राचीन शिन्-ध्वनि आये तो ऐसा होता है हत्थ-(हस्त-), थरु- और चरु-(त्सरु-), सुक्ख-(शुष्क-), पक्ख-(पक्ष-), और अनुनासिक के साथ, शिन्-ध्वनि अनिवार्य रूप से पहले आती है · अम्हे (अस्मे), उण्ह-(उष्ण-)।

जो कुछ भी हो, जीवित शिन्-ध्वनियों का समन्वय लका में लगभग सर्वत्र पाया जाता है (किन्तु जहाँ च् और स् फिर आपस मे मिल जाते हैं)। इसके अतिरिक्त उसका उच्चारण परिवर्तनशील है; इसी प्रकार मागधी प्राकृत मे केवल श् था, स् जो सामान्यतः दन्त्य है नेपाली मे मन्द शकार ध्वनि है और बंगाली तथा उड़िया मे विशेषत. उसकी विवृति और भी अधिक होती है और आसामी और भीली मे वह ख् हो जाती है, पूर्वी बगाली, गँवारू गुजराती, सिहली (शब्द के अन्त के अतिरिक्त) और सिन्धी के स्वर-मध्यग मे ह् भी; सस्कृत ष् का ख् उच्चारण और उनके लिखने में समानता, जो उत्तर भारत में प्रचलित है, सोष्म ध्वनि की भी कल्पना करते हैं; किन्तु यह कब और कहाँ से हुआ है ?

तालव्यीय स्वरो के कारण मराठी मे दन्त्य शिन्-ध्वनि का तालव्यीकरण हो जाता है, उन्हीं परिस्थितियो मे जिनमे तालव्यीय कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियो का।

उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में अब भी शिन्-ध्वनियों की थोड़ी-बहुत विशेषता है, जैसा कि खरोष्ठी में लिखित मध्यकालीन भारतीय पाठों में मिलता है। कश्मीरी में हैं : १. सत् (सप्त) और ऑस् (आस्य-), २. सुँएँह् (षट्), सुँरह् (षोडश), किन्तु वेँह् (विष-), ३ हीर् (शिर.) और वुह् (विंशति-), रहुन् (लशुन-)। इसी प्रकार शिना में . १ सत् (सप्त-), सुँ (सेना), २ षोइ "१६", ३ सू (पा० सुण-), किन्तु संयुक्त रूप में आँषु (अश्रु-), सैषु (श्वश्रू-), षँ (श्वास-)। अन्यत्र शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि में भेद मिलता है कती वसुत् (वसन्त-), सी (शीत-), उसी (औषध-), तोरवाली, हस् (हँसना); दस (१०), षुए इसें (१६), तिस् (प्यास)। इसी प्रकार युरोप की जिप्सी भाषा में (एशिया की प्राकृत के साथ चलती है), ग्रीक सो-(सोना), सप् (साँप), दस् (दास), सों (६), बेर्षे (वर्ष), सैल् (१००), देसें (१०), बिसें (२०)।

यह देखा जा चुका है कि भारत-ईरानी में शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनियों के घोष रूप मिलते हैं, विविध कारणों से वे (घोष रूप) संस्कृत में नहीं है। "प्राकृत" भाषाओं में, यह निष्कासन निश्चित रूप से है, बाहर से आए शब्दों का ज् अर्द्ध-शिक्षितों में बराबर ज् हो जाता है आ० जमीन्दार के लिये जमीदर, फा० राज़ी के लिये राजी। दर्द में ज् और ज़् पाए जाते हैं जिनकी दुहरी व्युत्पत्ति है

१. काफिर ज् गँह् से उत्पन्न, ज् ग्वँह् (ए) से उत्पन्न, कती ज़ीम् (बर्फ), ज़ुँमेर्- (मार डालना)।

२. ज् स्वर-मध्यग -स्- से, कभी-कभी . पशाई θज़्बीन् का हत्वन्ज़्-इ (अंत में स०-आमसि से निकला प्रत्यय है -एँस्), तुल० पशाई और खोवर की अन्य बोलियों में -अस्, तीराही स्पज् (स्वसा)। गुरेस की शिना में प्राय आज़ु (आस्य-) हज़् (हँसना) दिज़् (दिवस-), तुल० गिलगिट में आँइ, हय् जो देज़् के समीप है।

तुल० प्रशुन इज़ेंइ (अक्षि), द्ज़ू भी जो कती वंएज़ (विंशति-) के विरुद्ध है।

३ मध्यकालीन भारतीय भाषा की तालव्य ध्वनियों का सोष्मीकरण शिना दज़ें, कश्० दज्- (दह्यते); शिना चउेंजें (छिद्यते), मज़ो (मध्य-), साथ ही बिज़ें (*भिय्य्-), दी (दुहिता) का विकृत रूप (दिज़ें); कश्० ज़ाल्- (ज्वालय-), व्ययोंपज् (उत्पद्यते, प्रा० उप्पज्जै), शिना में मूर्धन्य ज़् र् वाले एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है : ज़िगु (दीर्घ- से *द्रीघ-), ज़ा (भ्राता) [ज़च (द्राक्षा) में ज़् सुरक्षित है]।

न० २ के प्रयोग का चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा में, उत्तर-पश्चिम की ओर, भी मिलता है : मनिक्याल के अभिलेख में मज़े (मासे) मिलता है, निय के पाठों में दस और दज़ (दास-) : अथवा ज़् सिक्कों में ज़ुइलस्स राजा के हस्ताक्षरों में मिलता है;

तो यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रमाण की बोली में स्वर-मध्यम स् के लिये ज़् नहीं होना चाहिए (रैप्सन, खरोष्ठी इन्स०, III, पृ० ३०३, ३१२); किन्तु ह० बुनु० के प्रशस्ति में, ज़् वास्तविक अर्द्ध-स्पर्शी है, दे० अन्यत्र।

विदेशी नामों में ज़् के अन्य रूप : ज्, य्, स्य्, स्त—कोनोउ, खरोष्ठी इन्स०, पृ० १०८ के अनुसार : यूस् भी उतना ही विदेशी है और भारत में उसका वास्तव में प्रयोग नहीं मिलता, यद्यपि उसका प्रवेश बौद्ध रहस्य की क्लैसीकल वर्णमाला में प्रवेश हुआ होगा, दे० एस० लेवी, Feestbundel kkl. Bataviaasch Gen., १९२९, II, पृ० १००।

६. अनुनासिक

संस्कृत ने भारत-ईरानी से न् और म् लिये हैं। इस बात को जानते हुए कि न् को समुदायों में क्या स्थान मिलना चाहिए, हिन्दू वैयाकरणों ने व्यंजनों के प्रत्येक वर्ग में अनुनासिक रखे हैं और ङ, ञ् और ण् का भेद उपस्थित किया है। किन्तु अकेली मूर्द्धन्य ध्वनि ही एक स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणी है और जो स्वरों के बीच में आ सकती है : अर्थात् प्रागैतिहासिक ऋ का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वर के बाद अथवा स्वयं उससे पहले र् या ष् हो सकते हैं। तो उसमें वह एक नई ध्वनि-श्रेणी है, किन्तु उसका सीमित अस्तित्व है, वह आदि में नहीं मिलती, और मध्यकालीन भारतीय भाषा में ण् का अत्यन्त विस्तार हो जाने पर भी वह उसमें कई पाठों में केवल आदि में आता है, और आधुनिक भाषाओं में शब्द के प्रारंभ में ण् नहीं आता।

आधुनिक समय में ञ् और ङ केवल गौण रूप में और बाह्य शाखा की भाषाओं में मिलते हैं सिंधी मिञ, प्रा० मिञ्ज-, सं० मज्जन-, शिना ञमेइञ् (-इनि ?); कश० बेञे (भगिनी), फारसी के मियाँ के लिये मिञा, ने० काङियो, काईंयो, शिना कोङयि (कक्कुट-), अश्कुन अङआ (अङ्गार), बंगाली बाङाल् (बंगाल)।

तो म्, न् और ण् एक ऐसे देश में अकेली स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणियाँ हैं जहाँ दन्त्य ध्वनियों के साथ उनकी गड़बड़ नहीं हुई।

७. अन्तस्थ

प्राचीन ईरानी में भारोपीय अन्तस्थ ल् और र् दोनों ही का प्रतिनिधित्व र् द्वारा होता है। फारसी अभिलेखों में ल् केवल तीन विदेशी नामों में आया है; उन विदेशी नामों में, जो वहाँ के लिये सामान्य हो गये, र् ही मिलता है : जैसे बेबीलोन का नाम है बाबैरुस्। मध्यकालीन फ़ारसी का ल् प्राचीन संयुक्त र्द् के फलस्वरूप है। तो भी

फ़ारसी में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका ल् निश्चित रूप से भारोपीय है : लब्, लिसॅतृभन्, आलूदन् (तुल० लैं० लूटम), कल् (अ० कौर्व-, लै० कलवुस, स० अतिकुल्व-)। ओसोऐत मे प्राचीन ल् बराबर मिलता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सामान्य भारत-ईरानी मे तो ल् और र् थे।

यह संस्कृत मे भी बराबर, और अधिक स्पष्ट रूप मे, प्रदर्शित किया जा सकता है: रांम्, लै० रेम्; भरति, लैं० फर्ट; श्रयः, लै० ट्रेस, दूसरी ओर लुभ-, लैं० लुबेट, अथर्व० अल्प-, साहित्यिक अल्पृनस; पलित-, तुल० ग्री० पेलितृनौस्, ग्ला-, तुल० कौर्चीन (koutchéen) क्लाय (klāya) (अपने को अच्छा न पाना), प्लीहा, तुल० ग्री० स्प्लॅन् आदि।

किन्तु ऋग्वेद मे, जो अपने विषय की दृष्टि से उत्तर-पश्चिम भारत तक सीमित है, र् लगभग उतना ही प्रमुख है जितना भारत-ईरानी मे; ग्रासमन के कोष मे आदि ल् वाले शब्द केवल दो कालमो मे हैं, जब कि आदि र् वाले शब्द ५८ मे हैं; और ये शब्द, उन लगभग सभी शब्दो की भाँति जिनमे किसी-न-किसी स्थिति मे ल् आता है, कुछ अशो मे हाल (Hāla) के सग्रह मे मिलते हैं, थोडी सी सख्या मे वे र् के साथ स्वय ऋग्वेद मे प्राय. मिल जाते हैं। यह देखना आवश्यक है कि किस सामान्य रीति द्वारा प्रागैतिहासिक *ल् या *ल् मूर्द्धन्य ध्वनियो की उत्पत्ति के लिये न् और त् पर आधारित होकर र् और ऋ की भाँति हो जाते हैं।

क्लैसीकल संस्कृत मे र् की अत्यधिक महत्ता है, किन्तु ऋग्वेद के अति प्राचीन अशो की अपेक्षा कम निवारक रूप मे। सर्वप्रथम वह भारोपीय से आये ल् वाले एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों मे से एक में प्रकट होता है : ऋग्वेद के कुछ प्रारभिक अशो मे प्लवते, प्लव मिलते भी हैं जो सामान्यत प्रु-(ग्री० प्लॅओ) धातु से हैं, लेभिरॅ, आलब्ध-, लेभानं- जो रभ् (तुल०, ग्री० एलॉहलेफ) के विपरीत है; ३ बहु० सामान्य अतीत विषयक अलिप्सत, pf. रिरिपु:(ग्री० अलेइफो); चलाचलं-, अविचाचलि जो चर्-, अथर्व० चल्- (ग्री० पॅलोमइ) के आवृति वाले रूप हैं, पुलु- (ग्री० पोलु) और सयुक्त रूप मे मिश्ल- जो पुरु- और मिश्र के लिये हैं जो क्लैसीकल भाषा मे एकमात्र उदाहरण हैं। ऋ० के वम्र-, वम्रक- के विरुद्ध, वा० स० मे वल्मीक- (बहुत प्रचलित, ई प्रत्यय सहित), ऋ० के रघु-, रप्- के लिये, अथर्व० मे लघु-, लालप्- है, ऋ० के रिह्-, ह्वर- के लिये ब्राह्मण ग्रन्थो मे लिह्-, ह्वल्- है, अथर्व० गिर्- के बाद बा० का गिल्- आता है आदि। क्लैसीकल सस्कृत मे अर्थ के अनुसार इन एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से कुछ का पुनर्विभाजन हो गया है।

ल् वाले अनेक शब्दों की अटलता और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारोपीय ने वास्त-विक भाषा में उनके बचे हुए रूपों को बनाये रखा है। ऋग्वेद में उसकी अत्यधिक दुर्बलता शैली की अपेक्षा बोली की कसौटी कम है; उसमे उनकी विशेषता या उनका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, स्वयं क्लैसीकल संस्कृत मे उनकी सापेक्षिक दुर्बलता ब्राह्मण परंपरा की शक्ति का प्रतीक है। इससे उस क्रम की गणना करना संभव हो जाता है जिसे व्याकरण की परंपरा शतपथ ब्राह्मण, III, २.१, ३३ की एक कथा के अंतर्गत रखती है : शब्दोच्चारण करने से वंचित पराजित असुर चिल्ला उठे थे हेलंवो हेलंव्(ओ), जिसके दूसरे रूप हैं हैलो हैल(ओ), पतजलि ने हेलयो हेलय् (ओ) रूप दिया है जो हे'रय. का बर्बर रूप होना चाहिए। इससे क्लैसीकल नाटको की मागधी प्राकृत के प्रयोग पर भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है जो निम्न श्रेणी और हास्यास्पद व्यक्तियो के लिये प्रयुक्त होती थी।

यह प्राकृत नितान्त कल्पित नही रही, और कम-से-कम एक भूमि-भाग और एक युग मे एक ऐसी बोली के रूप मे रही है जिसमे न केवल ल् का अस्तित्व रहा, वरन् जिसमें पश्चिमी और ईरानी बोलियों के विपरीत र् भी मिलता है। लेख इसके प्रमाण हैं : रामगढ के सुतनुका-लेख, सोहगौर (गोरखपुर) के फलक मे केवल ल् है, विशेषत अशोक के उन अभिलेखो मे जो गगा की घाटी और उड़ीसा की तरफ मिले हैं नियमित रूप से ल् है। इस भूमि-भाग के पश्चिमी सीमात पर, वैरट (वैराट?) के अद्भुत अभिलेख मे आदि और स्वर-मध्यग ल् मिलता है (लज, चिल-, गालवे, विहालत) और वह अलग-अलग किये गये सयुक्तो के उदाहरण मे मिलता है (अलहामि, स० अर्हामि, पलिययानि), किन्तु सयुक्त रूप मे र् किसी अन्य रूप मे परिणत नही होता . सर्वे, प्रियदसि, अभिप्रेत, प्रसादे [उपतिसपसिने (-प्रश्न-) एक ऐसा उदाहरण है जो लाघुलोवाद और अलियवसानि की भाँति है; यही अभिलेख है जिसमे विचित्र पूर्वकालिक कृदन्त अभिवादेतूना मिलता है; वैरट (वैराट?) के दूसरे अभिलेख मे, जो गश्ती घोषणा-पत्र का उदाहरण है, आलभेतवे है, किन्तु देवनपिये भी है]। दक्षिणी सीमा पर साची मे चिल- (चिर-) और सुलयिके (सूर्य- से उत्पन्न) रूप हैं; रूपनाथ मे ये दोनो अक्षर मिलते हैं, किन्तु बिना किसी प्रत्यक्ष सिद्धान्त के।

यदि यह बात स्वय मागधी प्राकृत नाम से स्पष्ट और प्रमाणित है, कि इस विचित्र ल् वाली बोलियो का केन्द्र बनारस और पटना का भूमिभाग ही होना चाहिए, तो ध्वनि-श्रेणी के वास्तविक विस्तार और उसकी तिथि की गणना करना कठिन है। ऋग्वेद में क्रोशति और विशेषण क्रोशनं- (साहित्यिक कौक्ति) के विपरीत क्लोशं- का एक उदाहरण मिलता है, और लोमन्- के दो उदाहरण बाद की एक ऋचा मे, जिसका

सामान्य रूप है रोमन्-[तुल० आयर्लैंडिश रुऐम्ने(ruaimne), रुअम्नी (ruamnae)]। ये रूप, तथा अन्य जो प्राचीन पाठो मे मिलते हैं, उदा० बा० स० बभ्रुशं-, ऋ० बभ्रु [तुल० ने० भुरो (*भूरक-) जो स० भल्लूक- से बने भालु के निकट है]; अथर्व० लिख्-, ऋ० रिख्- (तुल० रिश्-, ग्री० एरेइको) एक कठिन समस्या प्रस्तुत करते हैं। क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि अन्य बातों की भाँति इस बात के सबध मे, 'पूर्वी' मध्यकालीन भारतीय भाषा का परिवर्तन, जो उसकी विशेषता है, अत्यन्त प्राचीन है और सर्वप्रथम प्रमाणो के समय का है? अथवा यह स्वीकार करना आवश्यक है कि भारोपीय मे एक अस्थिरता का चिह्न मिलता है जिसकी ओर अनेक बार सकेत किया जा चुका है और जो निस्सदेह अथर्व० लुम्पति, पु० एक० लुपिति, लै० लुम्पो, स० लुञ्चति, लै० रुन्को और परिवर्तन-क्रम की दृष्टि से गृह रति गिलति, अर्थात् ग् व् एर्- और ग् व् एल्- (दे० अन्य के अतिरिक्त मेइए, Ann Acad. Sc. Fennicae, XXVIII, पृ० १५७) की गणना कराता है? वास्तव मे प्रत्येक आधुनिक भाषा र् और ल् का योग उपस्थित नही करती; बंगाली प्राचीन र् और ल् का भली भाँति भेद करती है, यही बात बिहारी मे है, जो प्राचीन मगध के भूमिभाग मे और साथ ही पूर्व और पश्चिम मे दूर तक बोली जाने वाली भाषा है, और र् ल् का स्वर-मध्यग रूप है (टर्नर, 'फेस्टश्रिफ्ट आकोबी', पृ० ३६); शेष के रूप हाल के हैं पयलस=प्(अ)-रस्, १०३५ के एक इलाहाबाद के निकट के अभिलेख मे है (साहनी, आरकियोलोजीकल सर्वे, १९२३-२४, पृ० १२३); सिंधी मे भी ऐसा ही भेद मिलता है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या अभिलेखो मे प्राप्त विचित्र ल् का उच्चारण विचित्र है, श्री ग्रियर्सन का यह अनुमान है कि कम-से-कम कुछ उदाहरणो मे वह दन्त्य र् का प्रतिनिधित्व करता है। यह सच है कि इसका मतलब यह हुआ कि सामान्य र् स्पष्टत: मूर्द्धन्य होना चाहिए, जो एक ऐसी परिभाषा है जिसकी तिथि पाणिनि तक जाती है और जिससे सभवत यह भी प्रमाणित हो जाता है कि परवर्ती न् पर जितना मूर्द्धन्य-प्रभाव है उतना ही विवेचना का है। अनेक ध्वनि-श्रेणियो को अपने अतर्गत लेने वाली एक लेख-प्रणाली की कल्पना अशोक द्वारा एक ही से अभिलेखो मे प्रयुक्त स् के प्रयोग द्वारा सभव प्रतीत होने लगती है; यह समस्या प्राकृत के ण् के सबध में भी उठती है। प्रत्येक रूप मे यह ल् गौण है, जब कि अन्तस्थ (वट्ट-, स० वर्त्- प्रकार) के संपर्क से वे दन्त्य ध्वनियाँ जिनका मूर्द्धन्यीकरण हो गया हो वास्तव मे अशोक के 'पूर्वी' अभिलेखो की विशेषता है।

जिस प्रवृत्ति पर हम विचार कर रहे हैं, जो इतनी प्रमुख है कि कुछ लिखित पाठो मे पाई जाती है, उसने कुछ अन्य चिह्न भी छोड़े हैं। पाली मे चत्तालीस मिलता है, जो

प्राकृत तक में है, और जो संख्यावाची नामों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की सूची में एक समस्या और जोड़ देता है; प्राचीन विषमीकरण द्वारा पा० लुद्द- (रौद्र-), प्रा० हलद्दा, दलिद्द-, दद्दुल- (हरिद्रा, दरिद्र-, दर्दुर-) की व्याख्या की जा सकती है; अंतिम में, रुहल- (रुधिर-) की भाँति प्रायः मिलने वाले एक प्रत्यय का प्रभाव है; पा० अन्तलिक्ख- में भी संभवतः दो मूर्द्धन्य तत्त्वों (अन्तरिक्ष-) के विषमीकरण का चिह्न विद्यमान है; क्या यही बात ही पा० एलण्ड-, तलुण- (एरण्ड-, तरुण-), जैन कलुण- (करुण-) में नहीं है? दूसरी ओर जैन चलण-, चलति के साथ चरण- के विकृत प्रभाव का परिणाम है; अंत में इंगाल-, संस्कृत अंगार-, भारोपीय शब्द, साहित्यिक अन्गॉलिस, फ्रा० मिगाल आदि की अपेक्षा अधिक सीधे रूप में मिलते हैं। इन नये रूपों में से कुछ मराठी जैसी प्राचीनता-प्रिय भाषाओं के प्रयोगों द्वारा प्रमाणित होते हैं।

तो समग्र रूप से आधुनिक भाषाएँ एक ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करती हैं जो क्लैसीकल संस्कृत के लगभग निकट है।

दर्द में स्थानीय दृष्टि से र् वाले समुदाय से निकले कुछ ल् मिलते हैं θखबिन् की पशाई लोम्, मजेगल की अश्कुन ग्लाम् (ग्राम-); पशाई लाम्, अश्कुन क्लाम् (कर्म-), पूर्वी पशाई θले "३" · यह उन परिवर्तनों में से एक है जो इस क्षेत्र के समुदायों में अभी हाल ही में उत्पन्न हुए हैं।

शब्द में व्यंजनों का विकास

१. अन्त्य व्यंजन

लिखने में, और संस्कृत के वैयाकरणों के अनुसार, प्रत्येक वाक्यांश के अंत में शब्द का वास्तविक अन्त होता है; उसे छोड़ कर, परवर्ती शब्द का आदि जब पूर्ववर्ती के अन्त पर निर्भर रहता है तो स्पर्श ध्वनियाँ जो चाहे अघोष हों या घोष, अनुनासिक ध्वनियाँ जो चाहे उच्चरित हों या न हों, सिन्-ध्वनियाँ जिनका प्रतिनिधित्व अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि द्वारा, अथवा र् द्वारा हो, प्रत्यक्षतः पूर्णतः लुप्त हो जाती हैं।

किंतु वाक्यांश में शब्द के अन्त के व्यंजन का प्रयोग उसी रूप में नहीं होता जिस रूप में मध्यवर्ती व्यंजन का।

मध्यवर्ती व्यंजन या तो अघोष होता है या घोष, और उसमें केवल एक दूसरे व्यंजन से पहले आने पर ही परिवर्तन होता है; स्वनांत और स्वर से पूर्व अघोष बना

रहता है : यत्न- यतते की भाँति। इसके विपरीत शब्द के अन्त मे परवर्ती शब्द का आदि तत्त्व है जिससे व्यजन का रूप निर्धारित होता है फलत. अभरत् तत्र, किन्तु अभरद् अस्मै, अभरम् न.; अस्तु, शब्दो के अन्त के लिये क्रमशः परिवर्तनशील रूप हैं। वाक्यांश के अंत मे अघोष का प्रयोग चल पडा है, किन्तु इस सबध मे वैयाकरण एकमत नहीं हैं और पाणिनि को वह पसन्द नही है।

एक ऐसी भाषा मे जिसमे महाप्राण ध्वनियाँ एक प्रणाली का मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण अश हैं, यह एक खास बात है कि शब्द के अन्त की महाप्राण ध्वनि वाक्याश मे वाक्याश के अंत की भाँति अपना महाप्राणत्व खो देती है ऋ० X ८६ १७ कपृद् विश्वस्मात्, १०१-१२ कपृन् नरः जो अन्य से निकले कपृर्थ- के विरुद्ध है, तो "बारथोलोमी का नियम" केवल शब्द के मध्य के लिये काम आता है. अधाक् २ ३ सामान्य अतीत विषयक, जो दग्ध- के विरुद्ध द(ग्)ह्- से बना है, X १४ १६ त्रिष्टुब् गायत्री, उससे ऋ० युत्कार-, मै० स० नभ्राज्- की रचना शब्द के अन्त मे स्पर्श ध्वनि के बाद की फुसफुसाहट वाली ध्वनि के इस अश की तुलना समुदाय के दूसरे व्यजन से की जा सकती है, वास्तव मे महाप्राणत्व सामान्यत कठोर होता है, और यह देखा जाता है कि स्वर-मध्यग महाप्राण स्पर्श ध्वनियो मे, स्पर्श-भाव फुसफुसाहट वाली ध्वनि के बिना उच्चारण और ध्यान दिये हुए आ गया है।

व्यजनो के समुदाय का जो शब्द के प्रारभ और मध्य मे सामान्य होते हैं, अन्त मे आना असभव है, वहाँ वे प्रथम स्पर्श मे परिणत हो जाते है, अनक् कर्त्ता० तुल० विकरणयुक्त अनक्ष्-, धोक् अथवा धोग्, जो परवर्ती तत्त्व के बाद आते हैं, और जो *अयोक्त से निकले हैं, तुल० युक्त- जो अ० यओगंत्‌ के विरुद्ध है, चौरंत् के विरुद्ध *अकर्म् और *अकर्त् के लिये २-३ एक० अंक, परांड *परान्‌बर्स के लिये, जो अ० परूअसे के विरुद्ध है, जीवत् (न्) *जीवन्त्स् के लिये, जो अ० ज्वअसे के विरुद्ध है। यह देखा जाता है कि यह विशेषता भारतीय भाषा मे है और ईरानी से उसका सबध है, यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि फारसी अभिलेखो मे शब्दो को अलग-अलग करने वाला चिह्न मिलता है, जब कि भारतीय लिखावट अटूट क्रम से लगातार चलती रहती है।

ये सब बाते अन्त्य व्यजन की विशेष दुर्बलता की द्योतक हैं, वास्तव में प्राचीन वैयाकरणो ने अन्त्य स्पर्शों को 'मन्द' और 'दुर्बल' कह कर निन्दा की है, और फिर अन्य परवर्ती स्पर्शों के सपर्क मे आदि स्पर्शों की भाँति ही अतरंग स्फोटक कह कर।

उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से इस विकास ने रूप धारण किया जब कि प्राचीन स्पर्श ध्वनियो (और इससे भी अधिक फुसफुसाहट वाली ध्वनि जो

प्राचीन शिन्-ध्वनियों और अनुनासिकों की मुखरता का प्रतिनिधित्व करती थी) का स्वयं अंतरंग स्फोट ही बिलकुल् लुप्त हो जाता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वर-मध्यग के रूप मे अन्त्य नही है, नवीन अन्त्य स्वरो ने अपने को आधुनिक काल तक बनाये रखा है; इससे शब्दो, और वाक्याशो मे भी, परिवर्तन हुआ है, क्योकि शब्दो का अलगाव फिर सामान्य हो जाता है।

अन्त्य व्यंजन आधुनिक काल तक स्थायी बने हुए हैं; किन्तु अरक्षित शब्दो मे अघोषत्व के चिह्न मिलते हैं : म० जाब् और जाप् (फ़ा० जवाब), छत्तीस० सुपेत् सराप् (फा० सुफेद, सैराब्)।

२. मध्यवर्ती व्यंजन

भारतीय-आर्य भाषा के व्यजनो के इतिहास में शब्द के मध्य में दो प्रकार का परिवर्तन-क्रम प्रमुख है : स्वर-मध्यगो की दुर्बलता, और दूसरी ओर समुदायगत अनुरूपता, यहाँ तक कि उनका पूर्ण आत्मसात किया जाना। दोनो परिवर्तन शब्दाशो के विभाजन को बहुत इधर तक अक्षुण्ण बनाये रखते हैं।

स्वर-मध्यग

स्पर्श ध्वनियो मे, घोष महाप्राण ध्वनियाँ सब से कम उच्चरित हैं, क्योकि पूर्व-इतिहास काल मे ही *झ् का जो स्पर्श-भाव था वह भारतीय भूमि-भाग के अधिकाश मे लुप्त हो गया था, केवल काफ़िर अपवाद स्वरूप थी : स० हन्-, कती ज़ॅआर-, अ० जॅन्, हृद्-, कती ज़िर, अ० ज़रंद्- यह बात उस समय तक जारी रहती है जब कि घोष महाप्राण ध्वनियाँ अपने को स्वाभाविक दुर्बल स्थिति मे पाती है, अर्थात् स्वरो के बीच मे। इसी कारण से वेद के समय से प्रत्यय -महि आदि हैं। जिस समय समस्त स्वर-मध्यग अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं, महाप्राण ध्वनियो मे भी वैसा ही घटित होता है : द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व मे पतजलि और खारवेल प्रमाण हैं। मथुरा का पेरीपिल ने दक्षिनबदेस् (-पठ-) दिया है, हु० तुञु० के हस्त० मे गघ, यघ (गाथा, याथा) हैं; इन नवीन घोष ध्वनियो ने घोष महाप्राण ध्वनियो के प्रकार का अनुगमन किया है और क्लैसीकल प्राकृत मे वे ह् हो जाती हैं।

इस विकास का सबध मूर्द्धन्य ध्वनियो को छोड कर सभी महाप्राण ध्वनियों से है और हर जगह उसके प्रमाण मिलते हैं, केवल फिलिस्तीन की जिप्सी भाषा को छोड़ कर, जिसमें -थ्- और-घ्-(ठह् के फिर से अघोष हो जाने के कारण) से निकला स् र् पर

आधारित -द्- से भिन्न है या लुप्त हो जाता है : द्वि० बहु० -स्(-अध), गेसू (गोधूम-), गूस् (गूथ-), किन्तु पिअर (पिबति) आदि।

अन्य तथ्य समूची स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनि की दुर्बलता की ओर संकेत करते हैं। पुरोहित या उसकी स्त्री से सबंधित यजुर्वेद के एक मंत्र मे समीपवर्ती स्वरो मे ओष्ठ्य-भाव उत्पन्न करते समय व् का लोप हो जाता है तौंतो अथवा ताँते रायः (तंव के लिए तौं); मध्यकालीन भारतीय भाषा मे यह एक सामान्य बात है . अव के लिये ओ : अशोक० भोति होति (गिरनार भवति); अवि के लिये ऐ, ए : अशोक० गिरनार थेर-, पा० थेर- (स्थविर-) और इसी प्रकार निरंतर रूप में -अय- -अयि- के लिये ए (-ए- रूप मे प्रेरणार्थक धातु)। यह क्या अय/ए और अव/ओ की समानता नही है जिससे अवैदिक संस्कृति संधि स्पष्ट होती है—ए अ-, -ओ अ->ए', ओ' ?

ऋग्वेद की लेखन-प्रणाली मे स्वर-मध्यग ड् के लिये ळ् (और ढ् के लिये ळह्) देखे ही जा चुके हैं, जो र् के साथ द् से निकले क्लैसीकल के कुछ ल् द्वारा, और पाली मे निरंतर ळ् द्वारा प्रमाणित होते हैं। इसके विपरीत या तो अंतरंग स्फोट वाले (विड्भि), बल-युक्त (दण्ड-) या पुनरावृत्त (विविड्ढि) रूप मे ड् बना रहता है। एक विशेष लेखन-प्रणाली द्वारा अनेक आधुनिक भाषाओ मे ड् (ड़्) का दुर्बल रूप अब भी देखा जाता है ।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अलग-अलग रखी गयी मूर्द्धन्य ध्वनियाँ, महाप्राण न हुई स्पर्श ध्वनियाँ मिलती हैं। सर्वप्रथम अघोष ध्वनियाँ घोष हुईं जिससे सर्वप्रथम ग्रीक भूगोल-लेखकों में पलिबोथ्र (पाटलिपुत्र-), और पेरीपिल मे दक्खिनबदेस् (पा० दक्खिणापथ-); किर्‌अदइ (किरात-), तुल० मिन्नगर (नगर-) का साधारण घोष। पाली मे यह स्थिति केवल एक बहुत थोडे अंश मे उदाहु (उताहो) मे और कुछ ऐसे शब्दो में जो कम स्पष्ट हैं पायी जाती है; पिवति (पिबति), नियं- (निज-) और सुव- (शुक-) मे वह अपवाद रूप में आगे बढ़ी हुई दिखायी देती है, किन्तु सामान्य रूप मे वह रूढ़ि-प्रिय है। अशोक० भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं. कालसी मे है हिद- (हित-); दिल्ली मे है लिबि (लिपि-), जौगड के (हिद) लोग से लोक- के अन्य सभी उदाहरणों का प्रतिवाद हो जाता है; क्या यह भ्रम है ? शह० हेदिस-, धौलि हेडिस-, कालसी हेडिस- में पाली एदिस- की भाँति घोष ध्वनियो का अक्षर-लोप मिलता है, *ए(दां)दिस, जैसे गिरनार में एतारिस (शौर० एदारिस-) एक विषमीकरण; विषमीकरण के कारण चतु(तु)थ- (चतुर्थ), चावु(द)दस, तुल० पाली चुद्दस (चतुर्दश) में -तु- का लगभग पूर्ण लोप हो गया मिलता है। शहबाजगढ़ी मे, जो अन्य दृष्टियों से रूढ़िवादी है, दीर्घ स्वर के बाद च् के स्थान पर य् मिलता है कांबोय, रय-, समय-, पाली मे प्राय -इय- और

-इक- प्रत्ययों का परिवर्तन उसी प्रकार के विकास का अनुमान कराता है; कठ्य ध्वनियों का प्राथमिक तालव्यीकरण कालसी मे पाया जाता है : वाढिक्या (वाटि-, वृति-), पितिक्य-, और लोकिक्य- किन्तु कलिग्य- कायदे से -य- वाला रूप होना चाहिए; यही बात रामगढ़ के संबंध में है, देवदाशिक्यि।

बाद को उसी प्रकार के प्रयोग कंठ्य, तालव्य और दन्त्य ध्वनियो के लिये सामान्यतः मिलते हैं, और जैन तथा आधुनिक वर्ण-विन्यास से उनका अनुमान लगाया जा सकता है : सं० शतम्, प्रा० स(य्)अम्, म० सें, हि० सैं-कड़ो, और सौ; सं० राजा, प्रा० रा(य)अ-, आधुनिक राइ और राओ, विषमीकरण के उदाहरण, जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है (पा० तेरस आदि) और यूरोपीय जिप्सी-भाषा और शिना के ल् प्रयोग, एशियाई जिप्सी-भाषा और खोवार के र् प्रयोग को छोड़ कर, इतना ही है जिसका संबंध दन्त्य ध्वनियो से है। इसी प्रकार -प्- और- ब्- से व् की उत्पत्ति होती है, और, अनुनासिक व् -म्- का प्रतिनिधित्व करता है (दे०, आगे), ऐसे सब उदाहरण सोष्मीकरण की थोड़ी-बहुत स्थायी गुंजायश रखते हैं।

स्पर्श ध्वनियो की भाँति, स्वरो के बीच अनुनासिक ध्वनियो मे भी परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से म् से जहाँ तक संबंध है, उसका आधुनिक भाषाओ मे सो मीकरण हो जाता है (हि० गाओ, पु० म० गाम्वु, सं० ग्राम-), मध्यकालीन भारतीय भाषा मे भी उसके कुछ उदाहरण मिलते है, किन्तु वे अननासिको के कारण, और फिर विषमीकरण के कारण हैं. नम्- का प्राकृत मे नम्वै, जैन अणवदग्ग- जो पा० अनमतग्ग- के लिये है।

दन्त्य अनुनासिक ध्वनि मूर्द्धन्य मे परिणत हो जाती है। वैदिक स्थाणु- आदि को देखा ही जा चुका है। पाणिनि को हर हालत मे दण्डमाणव- ज्ञात था, जो मानव- से है, ऋ० भन्-, पन्य- के लिये पतंजलि ने भण- और शतपथ ब्राह्मण ने पर्णाय्य दिया है। पाली मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं आण- (ज्ञान) जो जानाति के विरुद्ध है, फेण-, सुण- और सून-, सं० शनैः के लिये सणिम्, दन्तपोण- जो पवन- के समीप है, जण्णुक- जो जानु- के समीप है, आदि। प्राकृत मे यह नियम है कि सब स्वर-मध्यग ण् मूर्द्धन्य हो जाते हैं। कुछ पाठों मे, वैयाकरणो द्वारा प्रमाणित, प्रत्येक स्थिति के लिये इसी लेख-प्रणाली का प्रसार मिलता है। यह सामान्यीकरण, जो उच्चारण की दृष्टि से नही बताया जा सकता, अनुलेखन-पद्धति के साधारण तथ्य के कारण होना चाहिए; निस्संदेह ण् के दो उच्चारण हैं, उदाहरणार्थ जैसे सुमिण- (स्वप्न-, तुल० स्वपति के लिये पा० सुपति) मे म् अनुनासिक व् है, और इसके अतिरिक्त एक निश्चित म् है। यह कहना सत्य है कि कोपबल के अशोक के अभिलेख मे प्राकृत नियम का ही पालन हुआ है, और जो साथ ही

विषमीकरण द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है (टर्नर, 'दि गविमथ इन्सक्रि० ऑव अशोक', पृ० ११-१२); किन्तु यह पूछा जा सकता है कि क्या इस विचित्र उदाहरण में लेख-प्रणाली का विपर्यय तो नही हो गया।

हर हालत मे यही बात रह जाती है कि न् और ण् का विरोध शक्तिशाली और दुर्बल का विरोध है, और जो प् अथवा ब् और व्, त् अथवा द् और ẟ अथवा य्, म् और वँ के विरोध के अनुरूप है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि श्री टर्नर ने गुजराती ण् का अनुनासिक सोष्म के रूप मे उल्लेख किया है।

अथवा आदि न् या पुनरावृत्त रूपो, स्वर-मध्यग ण् का विरोध ह० दुग्ग० में, कुछ प्राकृत अभिलेखों मे और कागज पर लिखे जैन हस्तलिखित ग्रन्थो मे सामान्यत मिलता है और यही बात आधुनिक भाषाओ के बहुत बडे समुदाय मे मिलती है मराठी, गुज-राती, सिन्धी, पजाबी, राजस्थानी, कुमायूंनी, लोक-प्रचलित हिन्दी, दर्द (जिसमे ण् ṛ है जो थोडा-बहुत अनुनासिक है)।

कुल मिलाकर, स्वर-मध्यग दुर्बल व्यजनो का एक वर्ग ही प्रदान करते हैं, जो थोडे-बहुत स्थायी हैं, जिनका परस्पर तीव्र विरोध रहता है, जिनके उदाहरण आदि व्यजनो, और जैसा कि देखने को मिलता है, प्राचीन समुदायो द्वारा मिलते हैं।

३. व्यंजन-समुदाय

भारत मे व्यजन-समुदायो की सामान्य प्रवृत्ति तत्त्वो को आत्मसात् कर लेने की ओर है, यह न केवल उनमे जिनका सबध मुखरता से है (पूर्ण० एक १ वेंद, २ वेत्थ, अधि० एक० पर्दि बहु० पत्सु; सामान्य अतीत २ एक० निश्चयार्थ शक आज्ञार्थ० शग्धि, आदि), किन्तु साथ ही उनमे भी जिनका सबध उच्चारण से भी है। पहली प्रवृत्ति ईरानी मे मिलती है और सामान्य आवश्यकताओ से उत्पन्न होती है; दूसरी भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है।

इस प्रकार ष् आगे आने वाले त् का मूर्द्धन्यीकरण करता है · जुष्ट- (अ० जुस्त-) जिसमे ष् प्राचीन स् से निकला है; अष्ट (अ० अस्त-) जिसमे ष् एक प्राचीन तालव्य से निकला है, तुल० असीति-; इसी प्रकार लुप्त *ज़् का चिह्न रेंह्लि, लिह् से लेढि, जो अस्-से निकले एधि के विरुद्ध है, के मूर्द्धन्य मे दिखाई पडता है। तालव्य स्पर्श ध्वनि पूर्ववर्ती स् पर कश्चित, अ० कस्चित्, न् पर, न केवल उस समय जब कि वह पहले आता है (पञ्च, अ० पन्च), वरन् यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है, जब वह बाद मे आता है · यज्ञ- (अ० यस्न-, फा० जश्न्, स्पर्श के दो विभिन्न प्रयोगो सहित, किन्तु अनुनासिक को बराबर बनाये रखते हुए) प्रभाव छोड़ती है।

सिन्धी में दन्त्य ध्वनि की गड़बड़ एक ही केन्द्र-बिन्दु से उच्चरित परवर्ती अन्तस्थ के साथ हो जाती है : अंङ्गाल् लोंमृन ।

दो स्पर्श ध्वनियो का उदाहरण विशेषत खास बात है। भारत मे ये दो स्पर्श ध्वनियाँ प्रारंभ से ही रही हैं; किन्तु प्रथम व्यंजन के स्फोट में स्पष्टता का अभाव है, साथ ही अल्प श्रव्य होने के कारण उत्पन्न सुबोधता की विहीनता और निश्चितता के अभाव की ओर प्रवृत्ति मिलती है, साथ ही स्फोटक का उच्चारण अतरंग स्फोट पर अतिक्रमण कर जाता है। इस रीति के अनुसार, भारतीय का ईरानी से स्पष्ट विरोध है। ईरानी मे तो सोष्मीकरण स्पर्श ध्वनियो मे से प्रथम के उच्चारण को आश्रय प्रदान करता है। समुदायो मे उनके दुहरे उच्चारण बने हुए हैं, उदाहरणार्थ अ० बख़्त, फा० बख़्त्, स० भक्त मे जो प्राकृत भत्त-, हिं० भात् के विरुद्ध है, अ० मे हप्त, फा० मे हफ़्त्, स० मे सप्त प्रा० मे सत्त, हिं० मे सात्।

समीकरण मध्यकालीन भारतीय भाषा की विशेषता है, किन्तु अति प्राचीन काल से, पृथक्-पृथक् शब्द (अयोगात्मक?) इस बात के प्रमाण हैं कि शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र और आकृति-विचार-शास्त्र से प्रभावित, लिखित परपरा की अपेक्षा उनका अधिक प्रचार हो गया था उत्- से उच्चा, तुल० अ० उस्त्वे, वृक्कौ, तुल० अ० वॅर॑ठक-, *मद्ज्-, तुल० मद्गु के लिये मज्जति। इससे यह जान कर आश्चर्य न होगा कि एक ग्रीक परंपरा, जो ३०० ईसवी पूर्व के लगभग की है, मध्यकालीन भारतीय भाषा के लिखित प्रमाणों से पूर्व की, सम्राट् चन्द्रगुप्त का नाम इस रूप मे प्रदान करती है, सन्द्रकोत्तोस्।

तो दोनो स्पर्श ध्वनियो के सबध मे यह तथ्य सर्वव्यापी और प्राचीन है; जब समुदाय मे केवल वास्तविक स्पर्श ध्वनि आती है, तो अन्य तत्त्व के शिन्-ध्वनि या स्वनत होने के कारण, चीजे बडे दुरूह रूप मे सामने आती हैं।

१ शिन्-ध्वनि--ईरानी में, स् अपने को आदि मे और स्वर-मध्यग में ही विवृत नही करता, वरन् स्वनत हो जाता है (अ० अह्मि, पु० फा० अमिय् . सं० अस्मि; अ० हज़ङ्रम्, फा० हज़ार् स० सहस्रम्), किन्तु वह स्पर्श ध्वनि पु० फा० अस्तिय्, फा० अस्त् (अस्ति), अ० पस्कात् पस्वे (पश्चात्), और साथ ही घोष अ० ज़्दी एधि, मज़्ग॑म्, फा० मग़्ज़् (मज्जा), अस्नात् (-अञ्न- से, तुल० मज्ज्मो); और शकार-ध्वनियों · वहिस्त-, फा० बिहिस्त (वसिष्ठ-), अस्त, फा० हश्त (अष्टा); मीँज़्द-फ़ा० मुज़्द् (मीढ्ह) से पूर्व रहता है।

सस्कृत मे स् कठोर है, यहाँ तक कि यदि आकृति-विचार-शास्त्र की दृष्टि से सहायता प्राप्त हो तो वह असाधारण रूप मे स्पर्श हो सकता है : अथर्व० अवात्सी: जो वस्-से है; माद्भिः, उर्षद्भिः जो मास्-, उषस्- से हैं। मध्यकालीन भारतीय भाषा में

आदि और स्वर-मध्यग स् बने रहते हैं, और इसी प्रकार सामान्यतः आधुनिक भारतीय भाषाओं मे। किन्तु स्पर्श ध्वनियो के साथ मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका प्रयोग समान नहीं है।

पाली और क्लैसीकल प्राकृत में, शिन्-ध्वनि का ठीक-ठीक उच्चारण लुप्त हो जाता है जैसा कि दो व्यंजनो के समुदाय मे दुर्बल व्यंजन, अथवा स्पर्श के साथ का स्वनत; वह केवल फुसफुसाहट वाली ध्वनि रह जाती है, जो, जैसा कि महाप्राण ध्वनियों से पूर्ण भाषा मे स्वाभाविक है, स्पर्श ध्वनि के बाद आती है, ठीक वैसे ही यदि मूल शिन्-ध्वनि उच्चरित स्पर्श ध्वनि से पहले आती . फलत. सुक्ख-(शुष्क-) जो पक्ख-(पक्ष-) की भाँति हैं, हत्थ- (हस्त-), अट्ठ (अष्ट-), बप्फ- (बाष्प-) जो थरु- या छरु- (त्सरु-), अच्छरा (अप्सरस्-) और प्रागैतिहासिक दृष्टि से भी, प्रत्यय -छ- अर्थात् जो -*स्के- से है, की भाँति हैं।

अशोक० मे हर जगह प(च्)छा (पश्चात्) मिलता है, और उदाहरणार्थ प(क्)खि (पक्षिन्-) जो प्रमुख हैं; किन्तु क्ष् का प्रयोग सर्वत्र एक-सा नही है। गिरनार और शहबाजगढ़ी मे पाली की भाँति सम्खि(त्)त- (-क्षिप्-) है, किन्तु छम्-(क्षम्-, पाली खम्-; पाली मे विशेष्य छमा भी है जो विकृत रूप मे सामान्य है) और छण्- (क्षण्-; पाली खण्-), गिरनार मे छु(द्)दक-(क्षुद्र-) है, किन्तु शहबाजगढी मे खुद्र- और कालसी मे खु(द्)द- है, अत मे कालसी मे छन्- है, किन्तु खम्- भी।

स्त् वर्ग (और स्थ् जिनमे योग उपस्थित होना स्वाभाविक है) मे, शहबाजगढ़ी और गिरनार मे अस्ति, नास्ति, हस्ति, समस्तव- (और गिरनार विस्तत-, शह० विस्त्रित-) की दृष्टि से साम्य है, जो कालसी के अ(त्)थि, न(त्)थि, ह(त्)थि, सम्ठुत-, विठत- के विरुद्ध है; उससे शह० का ग्रह(त्)थ- है जो, गिरनार घरस्त- (तुल० स० गृहस्थ-) के विपरीत कालसी गह(त्)थ- के साथ जाता है, पूर्वी प्रभाव के अतर्गत प्रतीत होता है, किन्तु गिरनार थैर-(स्थविर-) अथवा इ(त्)थी (स्त्री) जो कालसी के समान है, और फिर शहबाजगढी के इस्त्री और स्पिक के बारे मे क्या कहा जाय? दूसरी ओर, घरस्त-, जिसमे पहले महाप्राण द्वारा दूसरे महाप्राण का विषमीकरण कठिनाई से स्वीकार किया जा सकता है, इस बात का सन्देह उत्पन्न करता है कि स्त् अनुलेखन फुसफुसाहट वाली ध्वनि प्रकट करने के लिये यथेष्ट है, फलत. उच्चारण की अनुलेखन-पद्धति देर से हुई। इस सन्देह की पुष्टि मूर्द्धन्य समुदायो की तुलना से होती है, जिनमे गिरनार में सेस्ट-(श्रेष्ठ-), तिस्टम्तो तिस्टेय (तिष्ठ्-), अधिस्टान-(अधिष्ठान-) और स्टित-(स्थित-) मे महाप्राणत्व-विहीन हैं, देखिए उस्टान-(तुल० स०

उत्था-) जो शह० के (ट्)ठ कालसी से (ट्)ठ, शह० ति(ट्)ये, शह० चिर(ट्)-थितिक-, बौलि चिल(ट्)ठितीक- के विरुद्ध पूर्ववर्ती रूपों (तुल० प्रा० ठाइ और बादि ठ्- के समस्त आधुनिक रूप) के प्रभावान्तर्गत है। इस रूप में या अन्य रूप मे यह स्वीकार करना आवश्यक है कि पश्चिमी बोलियाँ अधिक रूढ़ि-प्रिय थीं।

यदि अशोक ने प्राचीन ठीक उत्तर-पश्चिम में शिन्-ध्वनियों (य् से पहले यह स्वयं संबंध० एक० -अस्स, किन्तु भविष्य० इश्शति) का भेद बनाये रखा तो यह कोई संयोग नहीं है, और न यह कोई सयोग है यदि स्वय गिरनार में ष् का इधर लोप हो जाने से अनुसस्टि (मिकेलसन, जे० ए० ओ० एस०, XXXI, २३७) के मूर्द्धन्य की समस्या हल हो जाती है और ओसुढ- का भी ष् लुप्त हो जाता है। उत्तर-पश्चिम सीमा की बोलियाँ आज भी बनी हुई हैं, और शिन्-ध्वनि का और शकार-ध्वनि का भेद बना हुआ है, और समुदाय में शिन्-ध्वनि के थोडे-बहुत स्पष्ट चिह्न सुरक्षित हैं : स० शुष्क (पा० प्रा० सुक्ख-, हिं० सूखा, सिंहली सिकु) के प्रतिनिधि हैं कश० होश्[उ], शिना शूकु, जिप्सी-भाषा सुंको, किंतु अश्कुन वासं समवत स० वक्ष है। दन्त्य या मूर्द्धन्य से पहले मिलता है शिना हत्, कश० अथ, किन्तु जिप्सी-भाषा वस्त्, खोवार होस्त्, पशाई हास्त्, ह्रास् (हस्त-) और कश० हस्[इ]-(हस्तिन्-), कश० औठ्, किन्तु खोवार ओस्ट्, पशाई अस्ंत्, शिना अष् (अष्ट), शिना पिटु, कश० पेठ्, कती पृटि, किन्तु जिप्सी-भाषा पिस्ंत, अश्कुन प्रिष्टि, कलाश पिस्टो (पृष्ठ-), शिन्-ध्वनि शिना बष्, अश्कुन बस् (बाष्प-) मे स्पष्टत ओष्ठ्य पर छायी हुई है, कश० बस्-(बृहस्पति-), कश० पोसं, कती पिसं (पुष्प-) यह प्रयोग ह० दुनू० मे तो मिलता ही है पुष, तुल० पोषपुरिक-पेशावर का रहने वाला—जो अर (Ara) के अभिलेख मे है। कठ्य से पहले भी ऐसा ही मिलता है कश० भास्करी से श्री सि।

२. स्वनत—स्पर्श ध्वनि और स्वनत के संपर्क से जो समस्या उत्पन्न होती है उसका समाधान दो प्रकार से हो सकता है। या तो स्वनंत के घोष कपनों के एक अंश से स्वर-तत्त्व अपने को मुक्त कर लेता है जो थोड़ा-बहुत अज्ञात होता है और एक नया स्वर प्रदान करने की शक्ति रखता है; या, जैसा कि दो स्पर्श ध्वनियो के सबध मे देखा जाता है, उनमें समीकरण उत्पन्न हो जाता है, व्यजन का उच्चारण या तो सुरक्षित रहता है या उसे अनुकूल बना लिया जाता है, उदाहरणार्थ, द्‌व् > द्द्, ब्ब्; त्म् > त्त्, प्प्; र्त् > त्त्, ट्ट्।

पहली रीति सस्कृत की नवीनता नहीं है। भारोपीय मे ही, व्यजन के बाद आने वाला स्वनत व्यजन-पक्ष के अंतर्गत स्वनंत से संबंधित स्वर-तत्त्व द्वारा प्रतिनिधित्व

प्राप्त करता है : स० पुरं : ग्री० परोस्; ज्(इ)यां : ग्री० बिओस्; संबंध० भ्रुव्-अं: ग्री० ओफ्रुओस्। भारत-ईरानी मे य् और व् वाले विविध रूप मिलते हैं, वैदिक मे तो विशेष रूप से बहुत हैं, और यदि अनुलेखन-पद्धति की अपेक्षा छद की दृष्टि से गणना की जाय तो।

पु० फा० मर्तिय-, अ० मर्श्य- त्रिअक्षरात्मक, स० मर्त्(इ)य- है, किन्तु पु० फा० हर्शिय- (जिसमे र्श् त्य् के साथ सम्पर्क प्रमाणित करता है), अ० हैθ्य-, सं० सत्यं- है; प्रस्तुत उदाहरण की भाँति अनेक उदाहरणो मे पुनर्विभाजन समुदाय से पूर्व आने वाले शब्दाश के गुरुत्व पर निर्भर रहता है, उदाहरणार्थ, यह प्रवृत्ति भ्(इ)य प्रत्यय के दो रूपो के सबध मे दृष्टिगोचर होती है। शेष स्वय वैदिक मे, जिसमे स्वतन्त्रता सबसे अधिक ग्रहण की गयी है, वह सीमित है -स्य (१ उदाहरण को छोड कर) मे संबध० एक० के प्रत्यय मे -त्वा मे अन्त होने वाले क्रियामूलक विशेष्य मे भी, सबसे अधिक अश्व- (अ० अस्प-), चत्वार (अ० चθवारो-), त्यज नपु० (अ० इθ्येजो द्व्यक्षरात्मक) स्वप्न-(अ० ख्^व^अफ्न-) की भाँति अलग-अलग शब्दो के समुदायो मे पृथक्करण कभी नही होता। और मध्यकालीन भारतीय भाषा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि प्रत्ययो में स्वरो का अस्तित्व सभव है : अशोक० धौलि क(त्)तविय- जो शिना क(त्)त(व्)ब- के विरुद्ध पडता है, तुल० पाली कत्तब्ब- [गिरनार मे तो वही प्राचीन समुदाय मिलता है क(त्)तव्य-], कर्मवाच्य, जिसका पाली प्रकार है पुच्छ्-इयति, तुल० स० पृच्छ्यते, रूप स्पष्टत सुरक्षित रखने की इस स्वतन्त्रता का एक प्रयोग है, जो उसी प्रकार है जिस प्रकार वैदिक स्तुव्-अन्ति; स्फुट शब्दो मे सामान्य नियम समीकरण का है अशोक० और पा० सच्च- (सत्य-), अशोक० कालसी च(त्)तालि (किन्तु मुखरता के समीकरण सहित गिरनार चत्पारो, अन्त स्थ *फ् का तुरत स्पर्श हो जाने से, किन्तु उच्चारण का सारूप्य नही होता), पा० चत्तारि, यही बात पा० चजति (त्यज्-) के आदि के संबध मे है, जिया, हिय्यो की गणना ज्या, ह्यं के अनुरूप वैदिक शब्दो की भाँति की जाती है, ऐसा ही अन्य भाषाओ से निकले आधुनिक शब्दो मे मिलता है (उदाहरणार्थ, नेपाली त्रिउरि, हिजो), जो निस्सदेह क्रमबद्धता के समान ही स्पष्टता के कारण संभव हो सका है।

स्वनत के अन्य उदाहरणो मे, वैदिक और मध्यकालीन भारतीय छन्द यह प्रकट करते हैं कि आगम इतना अधिक होता था कि लिखते समय उसका प्रयोग होता ही नही। ईरानी मे पु० फा० दुरुव [स० ध्रुव-, अ० द्(उ)व-] जैसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। किन्तु र् से सबंधित असंख्य उदाहरण वेद मे मिलते हैं इन्द्ˑर, पित्ˑरौं, साथ ही प्ˑराक; शिन्-ध्वनि से पूर्व दर्ˑशत; अनुनासिक सहित यज्ˑनं-। इससे यह स्पष्ट

हो जाता है कि ग्री० एरुथ्रोस् का प्रतिरूप अथर्व० रुधिर॑- हो सकता है, तथा आदि स्वर का मात्रा-काल पूँरुष, तुल० पा० पुरिस-पोस- मे परिवर्तनीय हो सकता है : प्राचीन रूप पूर्से इटैलिक *पर्सो-, लै० पर्रि-सिद के अनुरूप है; -उरु-, -उरि- वाले रूप उसी प्रणाली पर आधारित हैं और पित्रो के आश्रित पितृ रों: जैसे शब्दांशो का प्राचीन 'गुरुत्व' बनाये रहते हैं। स्वरों के वितरण मे इस स्वतन्त्रता ने जन्तु॑- और अ॑न्मन- जो ज॑निमन्- के निकट है, कृण्मसि भी जो कृण्व॑न्ति के निकट है, विकरण के निर्माण की सफलता-संबधी एक छोड कर एक के बाद रहने वाली लय की प्रवृत्ति को विपर्यस्त रूप मे उत्पन्न होने मे सहायता पहुँचाई है।

क्लैसीकल संस्कृत मे र् वाले उदाहरण बहुत कम हैं, यदि कम-से-कम कोषों द्वारा प्रदत्त चन्दिर-जैसे उदाहरणो की गणना न की जाय; अथर्व० का रुधिर॑-से ब्रा० दहर- (वै० दभ्र॑), महाकाव्य मनोरथ- (*मनो-र्थ-), अजिर- (अ॑ज्र-) और मिलते हैं। किन्तु प्रवृत्ति सदैव रही है, और बारह से लिये गये शब्दो मे वह अब भी दृष्टिगोचर होती है।

त्म॑न्- के विरुद्ध, पाली मे तुमो, तुमस्स हैं जो सिंहली तुमह् (Ep Zeyl. I, पृ० ७३) और शिना तोमुं द्वारा विवर्द्धित हो जाते हैं, जब कि जिप्सी-भाषा पेस आत्मन्- की प्रचलित ध्वनि के साथ साम्य रखता है · प्रा० अप्प-, हिं० आप् आदि। सं० प्राप्नोति का प्रतिनिधि गिरनार मे प्रापुनाति, पाली मे पापुणाति, ह० दुन्नु० समावक प्रकार (आदरार्थ०) मे पमुनि (*पामुने) है; इन रूपो की पुष्टि ने० आदि के पाव्-, गु० पाम्-, सिंहली पॄअंम्- द्वारा होती है, पाली पप्पोति का कोई रूप शेष नही है।

संस्कृत राँजा का संबध० राँज्ञ है, किन्तु पाली मे राजिनो, अशोक० में र्(अ)-जिने, लाजिने है, प्राकृत मे पा० और अशोक० गिर० शह० रञ्ञो, प्रा० रण्णो के निकट राइणो है, वास्तव मे संज्ञा-रूप, विकरण-युक्त रूप हो जाने के कारण, उसमे बिल्कुल नही रह जाता; केवल नेपाली आदि के रानि मे स्त्री० राज्ञी का रूप शेष है।

स्वनत समुदायो का समीकरण एकदम नही हो जाता; तुल० ग्री० सन्द्रॅकोत्तोस् जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, जिसमे द्वितीय समुदाय पर, और अशोक० की पश्चिमी लेखन-प्रणाली पर प्रथम समुदाय बाद का है। किन्तु वह बनने बहुत पहले ही लगा था, कम-से-कम र् वाले समुदायो से उसका अनुमान लगाया जा सकता है जिनमे अत्यन्त प्राचीन वैयाकरणो ने स्पर्श का सापेक्षिक महत्त्व देखा है · पुत्र्र- छद में स्वीकृत, स्थायी उच्चारण है, पाणिनि ने उसे वैकल्पिक माना है, किन्तु हीन प्रयोग में वह असंभव है; प्रथम शब्दाश केवल बौद्ध संस्कृत मे नियमित रूप से ह्रस्व मिलता है, तत्पश्चात् एक ऐसे युग में जब कि समुदाय वास्तव में कठिनाई से मिलता है।

सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में स्पर्श ध्वनि प्रधान रहती है : सर्प-

से पा० सप्प-, उग्र-से उग्ग-, आम्(व्)र- से अम्ब-, शुक्ल-और शुक्र- से सुक्क-, राष्ट्र- से रट्ठ-, शक्य- से सक्क-, उच्यते के लिये वुच्चति, अश्वन्- से अश्श-, मग्न- से मग्ग- आदि। किन्तु इस स्पर्श ध्वनि का उच्चारण स्वनत के साथ अनुकूलता प्राप्त कर सकता है; इस प्रकार पा० सच्च- (सत्य-), मज्झ- (मध्य-) मे दन्त्य ध्वनियां तालव्य हो जाती है।

ये अनुकूलताएँ समान रूप से नही मिलती।

दन्त्य+व् वाले समुदाय से दन्त्य या ओष्ठ्य मिलता है, जो उदासीन नही अनियमित रूप मे होता है। गिरनार के अशोक-अभिलेखो मे क्रिया-मूलक विशेष्य के रूप -त्पा (-त्वा), चत्पारो (चत्वार.), द्वादस (द्वादश) मे मिलते हैं, और कालसी मे च(त्)तालि (चत्वारि) मिलता है और दुवाडस सुरक्षित मिलता है। पाली मे चत्तारो है और कर्म० तम् (त्वम्) है, किन्तु बारस भी है, और दूसरी ओर क्रियामूलक विशेष्य के रूप मे द्(उ)वे और -त्वा रूप सुरक्षित मिलते है, उसमे द्वार- भी उस समय मिलता है जब कि टोलेमी ने नगर का नाम बरके (द्वारका) दिया है, किन्तु उसमे दीप-(द्वीप-) मिलता है जो अशोक० (जबूदीप), टोलेमी (इअबदिओउ) और प्राकृत के साथ साम्य रखता है। इस अतिम शब्द मे ओष्ठ्य के अस्तित्व ने निस्सदेह उसके प्रति अनुकूलता प्रकट की है, किन्तु अन्य प्रयोग कम-से-कम अस्थायी रूप से दृष्टिगोचर नही होते। उदाहरणार्थ सं० ऊर्ध्व- के लिये पाली मे उद्ध- है जो क्लैसीकल प्राकृत की ओर भी झुका हुआ प्रतीत होता है, तुल० असामी ऊध-, जैन प्राकृत मे उब्भ- (तुल०, पा० उब्भ-ट्ठक-) है जिसकी पुष्टि म० उभा, सिं० उभो, प० उभ्, बगाली उबि द्वारा होती है; साथ ही उसमे उड्ढ- भी है जिसकी पुष्टि सिंहली उडु से, और सभवत सिंहल से बहुत दूर, पशई उडे, कव० व्ऑड् से होती है। प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास है . इतिहास जिस पर प्रकाश नही पड़ा, प्रमुख बात यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रारभ मे ही विविधता मिलने लगती है।

त्+म् के लिये, पाली मे आश्चर्यजनक रूप मे अत्त- है; और साथ ही अशोक० मे पूर्व और उत्तर मे है; किन्तु गिरनार मे आत्प- है, जो उस विकास का प्रथम चिह्न है जो प्रा० अप्प- रूप धारण कर लेता है जो महाराष्ट्री मे अत्यधिक प्रचलित है और जो नाटक मे पहले रूप के साथ परिवर्तनीय है; अप्पा विशेषत. कर्ता० है; किन्तु बगाली मे आपन् है जो विकृत रूप पर आधारित है और आप्- रूप लगभग सर्व-प्रचलित है (सिंहली अत् को छोड़ कर; उत्तर-पश्चिम मे तन्- वाले रूपो का मूल ईरानी है, मिला तोमुर्उँ)। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्यय -त्व-, -त्वन- से -प्प-, प्पन- (हिन्दी -पा, -पम् आदि) रूप बराबर पहले ही से केवल गिरनार (महत्पा) में

मिलते हैं, और पाली की भाँति प्राकृत भी केवल -स-, -तन- स्वीकार करती है, वहाँ सामान्यतः उधार लिये जाने का संदेह किया जा सकता है।

दन्त्य + र् के समुदाय के लिये, पुनर्विभाजन उलटा भौगोलिक दृष्टि से है। अशोक के अभिलेखों मे 'तीन' के लिये शहबाजगढ़ी मे त्रयो है, गिरनार में भी 'तेरह,' Mans. मे त्रेडश है, गिरनार मे त्रैदस, किन्तु इसके अतिरिक्त तिम्नि, तेदस रूप मिलते हैं जिनके साथ पाली तयो, तीणि, तेरस का साम्य है · साथ ही मिलते हैं शह० और गिर० पराक्रम्- [गिर० मे परा(क्)कम्- भी], जो कालसी आदि के पल(क्)कम- से भिन्न है; शह० अग्र-, किन्तु गिर० अ(ग्)ग-। अथवा पश्चिमी बोलियों मे र् वाले समुदाय थोड़े-बहुत सुरक्षित हैं . कती ग्र्ʹओम्, अश्कुन ग्लाम् जिससे मैयाँ लाम् (ग्रामा) निकला है, कती ब्र्ʹअं, पित्र्, पशाई लाई (भ्राता), कती पुट्र, पशाई पुθले, शिना पूत्र (पुत्र), अश्कुन द्राप्, खोवार द्रोश, शिना अत्र (द्राक्षा); खोवार ग्रोसुम् (ग्री० ग्रॅष्म) है जो हि० दाम् से भिन्न है। जिप्सी-भाषा में केवल दन्त्य और ओष्ठ्य वाले (समुदाय) सयुक्त रूप हैं : फ्रल (भाई), त्रिन् (रत, जो *रत्र् का बचिम रूप है और रात्री से है), लिन्द्र- (हि० नीन्द, स० निद्रा), व्रख्, किन्तु गव्। सिंधी मे मूर्द्धन्य हुए केवल दन्त्य सयुक्त हैं . ट्रे (तीन), पुट्र^{उ}, ड्राख्^{अ}, निण्ड्र्^{अ}, किन्तु चक्कु (चक्र-), अगि (अग्र-), भाई आदि।

अन्य र्,जो पूर्ववर्ती व्यजन को द्वित्वयुक्त व्यजन की भाँति बना देने मे सहायक होता है, अपने को पूर्ववर्ती व्यजन के साथ मिला लेने की सभावना प्रकट करता है . दीर्घ- >*द्रीर्घ-· कती द्र्ग्र्, सिं० ड्रिघो (न कि *ड्रिहो), कलाश द्रीग, शिना ज्रिगु, ताम्र-: कश० त्राम्, सि० त्रामो, पु० गुज० त त्रांबू, तुल० कती मे ही त्रूभ (तत्र-)।

यदि दूसरी ओर व्यंजन से पूर्व र् की समस्या पर विचार किया जाय, तो यह ज्ञात हो जायगा कि एक ही क्षेत्र मे, र् आदि व्यंजन के साथ भी सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है; किन्तु ऐसा बहुत कम होता है : कलाश ग्रोन्, ग्रोम्; तुल० शिना ग्रोम्, पशाई θलाम्; इसी प्रकार अशोक० में क्रम्म-, प्रु(व्)व-, ग्रभ- मिलते हैं, किन्तु कीर्ति- के लिये किट्टि, वर्ग- के लिये वग्र- प्रकारों के अस्तित्व से निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने में रुकावट पड़ती है।

इन दुर्लभ, किन्तु भली भाँति स्थानीय बातों को अलग रख देने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा और नव्य-भारतीय भाषाओं में अब भी र् दन्त्य की संभावना रह जाती है : वास्तव में परिणाम होता है, कभी दन्त्य, कभी मूर्द्धन्य।

अशोक के अभिलेखों में ऐसा प्रतीत होता है कि गिरनार वाले अभिलेख की

प्रवृत्ति दन्त्य की ओर है [अ(त्)थ-, अनुव(त्)त्-, क(त्)त(व्)व-, व(ड्)ध्-, की(त्)ति] और पूर्वी अभिलेखों की प्रकृति मूर्द्धन्य की ओर है [कि(ट्)टी, वड्ढ-दिय(ड्)ढ-], किन्तु धौलि में अ(त्)थ-, क(ट्)टविय- और क(त्)तविय- मिलते हैं; कालसी, अनुवट्- और अनुवत्-, उत्तर-पश्चिम मे अथ्र-, वध्र- चिह्न मिलते हैं, किन्तु किट्रि भी मिलता है और अन्त में शह० अनुवत्-।

अस्तु, न तो एकता से, न बोली द्वारा और न शब्द द्वारा निश्चित निष्कर्ष निकलता है। इसी प्रकार पाली मे चक्कवत्ती है, जैन प्राकृत मे चक्कवट्टी। पाली मे अत्थ- बहुत आता है, किन्तु अट्ठ भी प्रचलित है, विशेषत सामासिक रूपो मे, दोनो समीपवर्ती रूप एक सवाद मे मिलते हैं, दूसरा प्रश्न में, पहला स्वामी को दिये गये उत्तर मे; इसके विपरीत अड्ढ- की अपेक्षा अद्ध- कम मिलता है, सभवत संस्कृत से निकले रूपो अद्धा और अध्वन्- के कारण उसका प्रयोग कम होता गया हो। पाली मे क्रियामूलक रूपो मे सदैव कित्ति-, वत्त्-, कत्तब्ब-, और वद्ध् मिलते हैं, किन्तु साथ ही वद्ध- और वुड्ढ-, वड्ढि-, वुड्ढि- और वुद्धि- जो बहुत कम प्रयुक्त हुआ है; दूसरी ओर वड्ढकि- (वर्द्धक-) है, अन्त मे वद्ध-, स० वर्ध्र-, यह सभवत. आदि र् के कारण निरोधात्मक विषमीकरण के फलस्वरूप उसका दन्त्य रूप होना चाहिए। तो दोनो प्रयोग प्राचीन हैं आधुनिक विभाजन दुरूह है और शब्दावली पर निर्भर है, केवल सिंधी को छोड कर, जिसमें, श्री टर्नर के मतानुसार, केवल र् + द् से मूर्द्धन्य होता है, र् + त्, थ्, ध् मे दन्त्य। उनसे मिले शब्द के लिये प्रत्येक भाषा मे समानता नही मिलती। गर्दभ- के लिये मराठी मे गाढव्-तथा गध्डा है, और सिंहली मे गृंडुंबु तथा गदुबु है।

इसी प्रकार अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि के भी अनेक प्रयोग हैं। यदि अत्यधिक देखे गये तथ्यो पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभाजन भौगोलिक आधार लिये हुए है। ह० दुनु० की बोली मे विशेषत: अधिक अनुनासिकता ने (तुल० पमुणि, पा० पापुणे, स० प्राप्नुयात्, नमो, पा० नावम्; वदमदो, स० व्रत-बन्त:; व् के अनुनासिक रूप से ऐसा हुआ है; तुल० विपर्यस्त अनुलेखन-पद्धति पुषविव, स० पुष्पम् इव), एक तो अनुनासिक के बाद आने वाले कठोर को मुखरत्व प्रदान करने मे प्रोत्साहन दिया : पग-(पङ्क-), पज (पञ्च), सबन (सम्पन्न-) प्रशन्नदि (-शसन्ति), दे० इसके बाद, इसकी पुष्टि एक पुरुषवाचक नाम द्वारा होती है . ग्री० लम्बगइ टौलेमी (लम्पाक-)।

दूसरी ओर उसने घोष स्पर्श ध्वनि को (कठ्य ध्वनियों कोछो ड़ कर) आत मसात् कर लेने के लिये प्रोत्साहन दिया है : तुनदि (तुन्द्-), उदुमर (उदुम्बर-), बनृहन-(बन्धन-), गमृहिर (गम्भीर-), पनिद- (पण्डित-)।

ये दोनो विशेषताएँ आज सिंधी, लहंदा और पंजाबी मे अविरल रूप मे, और दर्द तथा जिप्सी-भाषा मे स्फुट रूप में मिलती हैं .

१. अनुनासिक + अघोष :

सिं० पञ्जाह (पञ्चाशत्) जो हिं० पचास् से भिन्न है, कश० पन्चाह् किन्तु पन्जह,

सिं० कण्डा, सिं० कण्डो, कश० कोण्ड्^उ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा कनूरो, नूरी क़न्द्, ने० कौंड़ो : यह विकास शिना कोणुं (कण्ट-) तक मे चलता है,

सिं० पन्धु, प० पन्ध्, नूरी पन्द्, शिना पोर्नें, पशाई खोवार पन् (पन्थन्-) ;

पं० ने० हिउन्द्, कश० वन्द, यूरोपीय जिप्सी-भाषा इवेन्द्, पशाई येमन्द्; शिना योनुं, खोवार योमुन् (हेमन्त-) ,

३ बहु० के प्रत्यय सिं० -अनि, पं० -अण्, नूरी -अन्द्, यूरोपीय जिप्सी-भाषा -एन् (-आन्ति) ;

सिं० प० कम्बु, ने० काम्-, कश० कम- (कम्प्-) ;

सिं० सङ्गुर, प० सङ्गल्, ने० साँगलो तथा सान्लो, शिना शङ्गाल्ई, किन्तु कश० हॉकल्; गु० म० साँकळ (शृंखला) ;

सिं० वञ्झु, प० वञ्झ् (वश-), सिं० हुञ्जु, प० अञ्झू (अश्रु); सिं० कञ्ज्-(ह्)ओ (कास्य-) , सिं० हुञ्जु, कश० उन्ज्^उ, स्त्री० अन्जिव् (हस-) ।

२. अनुनासिक + घोष .

सिं० कानो, प० काण्ना, कश० कान्, शिना कोन् (काण्ड-) ;

सिं० प० कश० चुम्- (चुम्ब-) : सिंहली को छोड कर स्पर्श ध्वनि इस शब्द में हर जगह अपना लोप कर लेती है,

प० बन्न्ह्, कश० बोन्^उ, शिना बओन्, नूरी -बनि; (बन्ध्-) ; कूलू बान् जिसमे 'बाँध' का अर्थ फ़ारसी मे बन्द् हो जाता है और जिससे यह प्रकट होता है कि यह प्रवृत्ति सदैव रहती है।

तो भी यह सोचना ग़लत होगा कि यह प्रवृत्ति पश्चिमी भूमि-भाग में ही मिलती है। मालवा (वह भूमिभाग जिसमें गोनार्दीय के स्थान पर गोनार्दीय रूप मिलता है) के निवासी, वैयाकरण पतञ्जलि (ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी) के नाम को, अति प्राचीन, और स्पष्टत. महत्त्वपूर्ण, नाम पतञ्चल से अलग करना कठिन है (प्रिज़ीलुस्की, बी० एस० एल०, XXXIII, पृ० ९१) ; स्वय पतञ्जलि ने, उसे स्थानीय कारण के अतर्गत न मान कर, मञ्चक (मंच) के स्थान पर अशुद्ध उच्चारण मञ्जक- की ओर सकेत

किया है। उससे भी पहले अशोक० पन- (पाँच), पूर्वी अभिलेखो के "१५" और "२५", पञ्च- पर आश्रित हो सकता है, जैसे अन- अञ्ज (अन्य-) का प्रतिनिधित्व करता है, जब तक -दश, -विंशति और -शत् का तालव्य विषमीकरण द्वारा न हो, *पन्द- जिससे दूसरी ओर खारवेल का पदरस स्पष्ट हो जाता है [तुल० म० पन्नास् (५०), हिं० पचास्; हिं० पैंतीस् आदि]। आज मैथिली मे ये चान् (चन्द्र-), आन्ह् (अन्ध-), सेन्हिया (सिंधी) मिलते हैं; गुजराती में सांकळ (शृंखला), उमर् (उदुम्बर-, म्ब्>म् कुछ-कुछ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है), बगाली मे चान्, रान्- (रन्ध्-), बगाल का नाम बैङाल् की तरह पुकारा जाता है। मैथिली मे आँजु अब भी है जो असुवा (अश्रु-) के समीप है। अन्त मे, भीमती भाषाओ उडिया, मराठी और सिंहली को छोड कर हर जगह क्रियाओ के ३य बहु० के प्रत्यय मे से सस्कृत -अन्ति के स्पर्श का चिह्न लुप्त हो गया है, अथवा यदि प्रा० तथा पु० हिं० -अहिँ सादृश्यमूलक पुनरावृत्तियो के किसी वर्ग से निकल सकता है, तो बगाली -एन् कम-से-कम प्राचीन -न्द् का चिह्न सुरक्षित रखे हुए प्रतीत होता है, अन्त्य स्थिति के कारण (किन्तु -इते, -न्त्- वाले क्रियार्थक-सज्ञा-क्रिया-मूलक विशेष्य मे मध्य बना रहा है)।

शिन्-ध्वनियो मे एक स्पर्शता होती है जो सच्ची स्पर्श ध्वनियो से कमज़ोर होती है, किन्तु अन्य ध्वनि-श्रेणियो के साथ स्पर्श ध्वनि के रूप मे आ सकती है। उसी से ऊष्म + म् अथवा व् और उन्ही परिस्थितियो मे स्थित दन्त्य ध्वनियो के बीच के समानान्तर प्रयोग मिलते हैं अशोक० शह० स्पमि (स्वामिन्-), स्वसुन (स्वसॄणाम्), स्पग्र (स्वर्ग-), ह० दुनु० विश्प-(विश्व-) और आजकल खोवार इस्पुसार् (स्वसर्-), कती उस्प्, शिना अश्पो, कश्० हास्(अश्व-) जिसकी शकार ध्वनि यह प्रकट करती है कि यह फ़ारसी अस्प् से नही है, दूसरी ओर अशोक० शह० अधि० एक० -स्पि (स्मिन्), खोवार इस्प (अस्मत्-), ग्रीष्प् (ग्रीष्म-) है। स्वभावत यह प्रयोग अपवाद-स्वरूप है स्व् की प्रवृत्ति साधारणत स्स् की ओर रहती है, और जहाँ तक उसका स्म् से संबंध है तो, वह चाहे स्पर्श से पहले स् का ही प्रयोग हो, म्ह् (अशोक० गिर० और प्रा० अधि० एक० -म्हि, पा० गिम्ह-; सिं० गीम्^अ, म० गीम् आदि) स्न् से निकले न्ह् (स० स्नुषा, पा० सुण्हा जो सुण्णा से है और जिससे म० सून् निकला है) का समानधर्मा है; स्य्, स्र् की भाँति समीकरण हो तो अधि० अशोक० (पश्चिम को छोड कर) -(स्)सि, पा० विस्सरति (विस्मर्-) होता है जिससे म० विसर्- आदि बनते हैं, प्रा० रस्सि-, हिं० रस्सी (रश्मि-) आदि। किन्तु अशोक० में अधि० के विभाजन से हमे धोखे में नहीं रहना चाहिए; ये अभिलेख सुदूरपूर्व की ओर के हैं जिनमे सर्वनाम संबंध० बहु० अ(फ्)फाक (अस्माकम्), कर्म० अ(प्)फे, तु(प्)फे में अधि० की ओर

झुका हुआ -सि मिलता है, कालसी मे त(ष्)का (तस्मात्) मिलता है। उससे सिंहली अंप् स्पष्ट हो जाता है, और दूसरी ओर प्रशुन और शिना (विकृत रूप) असें, कश० अस् इ, प० असी, सिं० असिं, कसी में गृ^ए रिसें 'अपराह्न', जो इस "हम" के समीप है, देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। तीनो प्रयोग प्राचीन हैं।

एक प्राचीन वैयाकरण ने अनुनासिक के अघोषत्व की ओर ध्यान दिया है; उसके अनुसार, अघोष सोष्म के बाद स्पर्श से पूर्व की भाँति अनुनासिक से पूर्व एक 'अभिनिधान' आ जाता है फलत ग्रीष्^प्-मे, अश्^त्नाति। इससे स्पष्ट हो जाता है म० विठो-बा जो विष्णु- से निकले वेण्हु- के निकट है और सभवत , श्री एच० स्मिथ के अनुसार, पा० दक्खिनी कट्ठक- जो कृष्ण- से है, और हर हालत मे आधुनिक बगाली उच्चारण क्रिस्टो। किन्तु इससे अनुनासिक + शिन्-ध्वनि समुदाय से सबधित कुछ तथ्य ज्ञात होते हैं, पहले के विपर्यस्त रूप, और जिनमे स् का स्पर्श-भाव उस रूप मे एक सूक्ष्म व्यजन भी उत्पन्न कर देता है उसी से स० सधि महान्-त्-सन् है। श्री स्मिथ के अनुसार यही कारण है कि गम्- का भविष्य० महावस्तु मे गसामि है, किन्तु पाली मे, सामान्य अतीत अगञ्छि (*अ-गाम्-स्-ईत्) की भाँति, गञ्छामि (—म्^त्स्— > —न्^त्स्— > —ञ्छ्-); इसी प्रकार *हन्-त्-सिति से ३ एक० भविष्य० हञ्छिति है। और उसी भूमिभाग मे जिसमे स्व्, स्म्, > स्प् है, ह० दुनु० मे प्रशञ्जदि है, अर्थात् प्रशञ्छन्दि जो क्षेत्रीय विशेषता अन्त्य घोषत्व सहित -शश्-, -शम्^त्श्- (तुल० ससार- से सत्सर), -शन्त्श्-, -शञ्छ्- मध्यवर्तियो द्वारा निर्मित प्रशसन्ति से निकला है। इस प्रकार प० अञ्झू, सिं० हञ्जु, मैथिली अञ्झु जो अश्रु से है, प्रा० अशु, प० वञ्झ्, सिं० वञ्झु जो वंश- से है आदि।

शिन्-ध्वनियो मे यह व्यंजन भी रहता है · इससे स्पष्ट हो जाता है अथर्व० (अवास्^त्सी.) अवात्सी और प्राकृत मे मातुच्छा जो सयुक्त मातु-स्ससा से निकले माउस्सिआ के निकट सान्निध्य-प्राप्त *मातुस्^त्- स्ससा (सबध० की प्रथम संज्ञा) से निकला है (एच० स्मिथ)।

इन कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समुदायगत व्यजनों से विविध निष्कर्ष निकलते हैं, और इन निष्कर्षों से, न तो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से और न भौगोलिक दृष्टि से, कोई निश्चित परिणाम ही दृष्टिगोचर होता है।

मुख्यत. सामान्य निष्कर्ष है पुनरावृत्ति वाला रूप।

लहदा और पजाबी मे अब भी पुनरावृत्त स्पर्श ध्वनियाँ मिलती हैं (प० मक्खण् (म्रक्षण-), कम्म् (कर्म-); किन्तु असीं "हम" (अस्मे), लहदा असीं, सिंधी की अरबी

लिखावट में अब भी दुहरा व्यंजन मिलता है और कविता मे अज्ज् (अद्य) की दीर्घ गणना सुरक्षित है; कच्छ की सिंधी और भड़ौंच की गुजराती में, पूर्वी राजस्थानी में, बोलचाल की हिन्दुस्तानी और सामान्यत: गगा की घाटी की सभी ग्रामीण बोलियों में, पुनरावृत्त रूप मिलते हैं; किंतु वे सरल रूप मे भी मिल सकते हैं, और साहित्यिक भाषाओ मे ये ही सरल रूप प्रचलित हैं . हि० भूखा, खेतो मे, होता, किन्तु स्थानीय बोलियों मे भुक्खा (बुभुक्षित-), खेत्तों (क्षेत्र-), होत्ता (पा० भवन्तो)। मराठी मे यह सरल रूप सामान्यत: मिलता है। अन्त मे सिंहली मे जिस प्रकार सभी स्वर ह्रस्व हैं उसी प्रकार सभी व्यजन सरल हैं (गौण शब्द-रूपो को छोड कर)।

निष्कर्ष यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से पुनरावृत्त रूपो का सरलीकरण हो जाता है, और यह भी एक अनुकूल परिस्थिति मे, अर्थात् दीर्घ स्वर के बाद। यही चीज है जो अशोक के भविष्य० के प्रत्ययो मे शिन्-ध्वनि की विवृति प्रमाणित करती प्रतीत होती है। साथ ही तुल० पा० कहापण- (कार्षापण-); आदि स्वर का ह्रस्वीकरण एक दीर्घ शब्द में और इसके आसपास अपनी स्थिति सरलतापूर्वक स्पष्ट कर देता है।

जैन प्राकृत मे समुदायगत रूप त्र् दीर्घ स्वर के पश्चात् त् की भाँति ही परिवर्तित हो जाता है : गाय- (गात्र-), गोय- (गोत्र-), खेय- (क्षेत्र-), जाया (यात्रा), राई (रात्री)। यह अन्तिम रूप क्लैसीकल मराठी मे मिलता है (क्या राइणी स० रजनी, हि० रैन् के प्रभावान्तर्गत ?)। आज भी बगाली मे गा(य्), दा के प्रमाण मिलते हैं, सिंहली में र्आ "रात", मू "मूत्र", हू "धागा" (मूत्र, सूत्र-) हैं।

क्लैसीकल प्राकृत मे दीह- जो *दीघ से, जो स्वय बाद को *दीग्घ- (दीर्घ-) से, निकला है, जैसे सीस *सीस्स- (शीर्ष-) से और पास *पास्स-(पार्श्व-) से। स० वेष्ट्- से पाली मे वेठ्- है ही जिससे सौर० वेढ्, जिससे अन्तत: म० वेढ्-, बगाली बेड़्-, ने०बेह्र्- आदि निकले हैं, इसी प्रकार ने० कोर् जो कुष्ठ- से है, खराउ जो काष्ठपादुका से है।

इन लगभग अपवादो मे, पुनरावृत्त रूप, जो स्वय सरल हो गये हैं, विशेष व्यजन हैं। यह देखा जा चुका है कि इसके विपरीत अन्त्य और स्वर-मध्यग नष्ट हो जाते हैं अथवा कम-से-कम दुर्बल पड़ जाते हैं; इससे मध्यकालीन भारतीय शब्द की विशेषता निर्धारित होती है, जिसमे केवल आदि या पुनरावृत्त रूप में विशेष व्यंजन रहते हैं, जो किसी अन्त्य स्थिति मे नही रहते, और जिनमे विवृति प्राय: रहती है। बहुत बाद को स्वरीय अन्त्य के लोप, पुनरावृत्त रूपो के सरलीकरण और विवृति के न्यूनीकरण ने भारतीय-आर्य भाषा को एक सामान्य रूप-रेखा प्रदान की है, किन्तु जिसमे व्यंजनो का समुदायगत रूप कठिन हो जाता है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की व्यंजन-प्रणाली की प्रमुख विशेषता है आदि, आश्रित और पुनरावृत्त स्पर्श-ध्वनियो मे निरन्तर विरोध और स्वरो के बीच मे सोष्म ध्वनियों का थोड़ा-बहुत बना रहना। अघोष दन्त्य ध्वनियों के लिये हैं :

तिल-, अन्त-, पुत्त- (पुत्र-), भुत्त- (भुक्त-); सौर० मेहुण- (मैथुन-) आदि उचित रूप में कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियो के लिये।

एक विचित्र बात सिन्धी दन्त्य ध्वनियों से संबंधित है (जिसमें विशेष ध्वनियो के साथ सामान्यतः काकलीय आघात रहता है) : उसमे मूर्द्धन्य दन्त्य का विशेष रूप है : ड्ही (दधि), सड्[उ] (शब्द-) जो ड्रूम् की भाँति है, हड्[उ] (प्रा० हड्डि-); द् केवल अनुनासिक के बाद आता है तन्द्[उ] (तन्तु-)। जैसा कि देखा जा चुका है, ण् दुर्बल रूप है न् का, ल् जहाँ कही है (सिंहली, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, उड़िया) ल् का दुर्बल रूप है; कई भाषाओ मे विविध रूपो ड् और ड्ड् का भेद पाया जाता है (नेंटर, फेस्टश्रिफ्ट जाकोबी, पृ० ३४)।

यह प्रणाली स्वनंत ध्वनियो के लिये भी लागू होती है (उदा० म् का दर्द, सिंहली और गुजराती मे व् एक दुर्बल रूप है), और यह दो अर्थों मे : वास्तव मे ब् का दुर्बल पक्ष व्, ब् का विशेष पक्ष ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करता है; पाली से आये मध्यवर्ती पुनरावृत्त रूपो में यही बात पायी जाती है : कट्टब्ब-(कर्त्तव्य-), जो वग्ग-(वर्ग-) से भिन्न है; सिंधी मे अभी वह वाघ्[उ], (व्याघ्र-) श्रेणी मे है, किन्तु चब्रण्[उ] (चर्वं-), कतब्[उ] (कर्त्तव्य-) भी है; लगभग पूरे हिन्दी समुदाय, पूर्वी समुदाय, दर्द के थोड़े से भाग (खोवार, शिना, कलाश, तीराही), और यूरोपीय जिप्सी-भाषा में एक साथ आदि ब् है; व् तो उनमें केवल स्वरों के बीच आता है (सिंहली, मराठी, पंजाबी, कश्मीरी, काफिर और एशियाई जिप्सी-भाषा मे अकारण सर्वत्र व् सुरक्षित है)।

यही बात ज् के दुर्बल रूप य् के संबध में है, सिन्धी, कश्मीरी और सिंहली आदि ही उनका भेद उपस्थित करती हैं, जब कि सामान्यतः य्- "सबल" की ज् से गड़बड़ हो जाती है : सिं० जो, कश० यु-, सिंहली य-(स० य-), किन्तु सिं० अज्[उ], कश० अज्, सिंहली अद (प्रा० अज्ज, सं० अद्य) की भाँति सिं० जिभ्[अ], कश० जेव्, सिंहली दिव (जिह्वा)।

शिन्-ध्वनि के लिये पीछे देखिए।

४. पुनरावृत्त रूप

यह देखा जा चुका है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे और तत्पश्चात् आधुनिक भारतीय भाषाओ मे प्राचीन समुदायगत रूपो से निकले अथवा तदनुरूप पुनरावृत्त रूप भरे पड़े हैं. उदाह० पाली मे समास के द्वितीय शब्द के आदि व्यंजन का पुनरावृत्त रूप हो जाता है : पटि-क्कूल-, स० प्रति-कूल-, पटि-क्कमति, सं० प्रति-क्रामति; हिन्दी मे जैसे मट्टी और माटी, मक्खन् और माखन हैं, वैसे ही मीरी और मिर्री "खेल का प्रथम स्थान" जो मीर(अरबी अमीर)से हैं, अद्दल "पाठ" (अरबी अदल "न्याय") हैं। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रत्ययांश का आदि पुनरावृत्त रूप धारण कर लेता है जो उसके बिना साधारण स्वर-मध्यग मे परिवर्तित हो जाने की गुंजायश रखता है : प्रा० त्ति(इति), व्व(इव), च्चेअ(चैव),तुल० म० -चि किन्तु सिं० -ज् "वही"; इसी प्रकार द्व्यक्षरात्मक स० ह्(इ)यं जैसे सहायक शब्द के स्वनत के बारे मे है जिसका लोप हो जाना स्वय शब्द को सकट मे डाल देता है . पा० हिय्यो, देसी हिज्जो यूरोपियन जिप्सी-भाषा इज् (यह शब्द सब जगह नही बना रहा) आदि।

अत में एक ऐसा ही, किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण, उदाहरण उस दुहरे रूप का है जो कम-से-कम विद्वत्तापूर्ण शब्दो मे स्पष्ट है (प्रा० सवेग्ग आदि), जो उससे उत्पन्न होने वाले व्यजनों के ह्रास और श्लेष पद वाली परिस्थिति की दृष्टि से आवश्यक उपाय है : वेअ- या वेग- और वेद-, लोह- प्रतिनिधित्व करता है लोभ- और लोह्- का, यह बात वैयाकरणो की अपेक्षा लेखन-प्रणाली और साथ ही बोलने मे अधिक देखी जाती है। वैयाकरण तो केवल उनके परिवर्तनो की व्याख्या करते समय उनका उल्लेख करते हैं।

किन्तु इसके अतिरिक्त, और वह भी लिखित प्रमाणो द्वारा न माप सकने योग्य अनुपात मे, प्रत्येक युग में अभिव्यजक या केवल लोकप्रिय पुनरावृत्त रूप रहे हैं; अनुलेखन-पद्धति-परपरा की सामान्य कठोरता के रहने पर भी, अति प्राचीन संस्कृत में उसके उदाहरण मिलते हैं, और इससे इधर के उदाहरणो के महत्त्व की रक्षा होती है।

पुच्छावरोध (interpellation) के रूप अम्म पर आधारित अम्ब, जिसकी व्युत्पत्ति भारोपीय है, को अलग कर देने से (दे० मेइए, बी०एस०एल०, XXXIV, पृ० १), उसका अति प्राचीन प्रयोग निश्चयात्मक रचनाओ के प्रत्ययो को सशक्त बनाना है :

ऋ० इत्था, इत्थम्, जो उदाहरणार्थ, कथा, कथम् से भिन्न है। पाली मे इत्थं मिलता है; किन्तु अन्य प्रत्यय ने स्थानीय अर्थ ग्रहण कर लिया है (-स्थ- से निकले -त्थ- वाले नामो का प्रभाव ?), फलत इत्थ और सामान्य विकरण के साथ निश्चयात्मक रूप के

समन्वय द्वारा एत्थ, अञ्ञत्थ (अञ्ञथा), कत्थ आदि। यह वर्ग जीवित रहा है : सिंहली ऐत, म० एथ्, एथे, पं० इत्थे "यहाँ", हिं० इत् उत् आदि। इसी आदर्श के अनुकरण पर पाली में एत्तो (इतः), एत्तो, एत्तावता मिलते हैं।

ऋ० के प्रथम अष्टक के अन्त मे जो टोना-संबंधी ऋचा है उसमे पुंल्लिंग इयत्तकः, स्त्री० इयत्तिका, जो नपुं० इयत् से निकले है, -अक-, -इका प्रत्यय सहित हैं, तुल० पा० यावतक- (-त- केवल द्वित- आदि मे पाया जाता है)। पा० एत्तक-, तत्तक-, यत्तक-, कित्तक- वर्ग का यह प्रथम प्रतिनिधि है जो प्राकृत मे सामान्यतः प्रचलित है [एत्तिअ-, जेत्तिअ-, केत्तिअ-] और आज तक प्रचलित है : ने० एति, इत्तो, हिं० इतना, इत्ता आदि; यूरोपीय जिप्सी-भाषा केति, नूरी कित्र आदि।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की दृष्टि से प्रत्यय नही, वरन् प्रथम व्यंजन है जो द्वित्व रूप ग्रहण करता है। उससे प्राकृत मे एव्व बना, जिससे निस्सन्देह गु० एवो निकला अथवा म० एव्हाँ और एक्क- (हिं० आदि 'एक')।

उसका स्पष्ट मूल्य वह प्रमाण है जो शब्दो के एक ही समुदाय मे मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा निरंतर प्रयुक्त एक अन्य बात मे है अर्थात् फुसफुसाहट वाली ध्वनि का उपसर्गीकरण (इसके विपरीत ह् निपात परसर्ग के रूप मे आता है)। पीछे दिये गये उदाहरणो मे, गुज० हेव् जो एवो के समीप है, सिं० हिकु आदि भी जोड़ लेने चाहिए।

इसी प्रकार हिं० जब् जो 'जो' से भिन्न है, तब् जो तो से भिन्न है जैसे रूप एक प्रकार से *जव्व, *तव्व (यावत्, तावत्) का प्रतिनिधित्व करते हैं। परसर्ग प० उप्पर्, हिं० ऊपर्, यूरो० जिप्सी-भाषा ओप्रे, जो हिं० पर्, म० वर् के निकट हैं, *उप्परि से संबंध प्रकट करते है। यही बात क्रि० वि० अपभ्रंश भव० सम्मिउ (शनै.), म० मुद्दाम् (अरबी मुदाम्) मे दिखाई देती है। विशेषणो मे पाली मे उज्जु तो है ही, जो उजु- (ऋजु-) के निकट है। रोमन की भाँति, बंगाली मे 'सब' के लिये शब्दो मे पुनरावृत्त रूप मिलते हैं—प्रेषित शब्द मे और विद्वत्तापूर्ण शब्द मे सब्बै (सर्वे), सक्कलै (तत्सम सकल)। यदि लिखित की अपेक्षा वास्तविक उच्चारणो की गणना की जाय तो सूची निस्संदेह बहुत बड़ी हो जायगी : म० आँता का उच्चारण अब अत्ताँ होता है, आदि।

पुनरावृत्त रूप सरलतापूर्वक पहचाने जा सकने योग्य सर्वनामो और क्रिया-विशेषणों या विशेषणो से बाहर प्रचलित मिलता है। कुछ स्फुट बातो की झलक देखी जा सकती है। एक शब्द जैसे पा० कत्थति, स० महा० कत्थते स्पष्टतः कथा, कथयति (कथाँ के संबंध से, कथम् आजकल प्रचलित नहीं है) का जनक है। पशुओ के कुछ नाम देखना आवश्यक है (तुल० लैं० उवक्क जो स० वर्शा से भिन्न है), वैदिक कुक्कुट- (v. sl.

कोकोतुउ), शब्द बुक्क- तुल० अ० बूज। अथर्व० कुर्कुर- कुक्कुर- से पहले का है, किन्तु हिं० कुत्ता, म० कुत्रा मे जो पुनरावृत्ति है वह सोगृदिएन कुत्-, सुंग्नि कुद्, बलगार कुँतंर (आवाज देते समय कूचँ) में नहीं है; यही बात 'उल्लू' शब्द के लिये है जिसका अर्थ 'मूर्ख मनुष्य' भी होता है, स० उलूक, हिं० आदि उल्लू; निस्सन्देह 'भालू' शब्द के संबंध मे भी भल्लूक- अर्थात् *भेरु- तुल० पु० हिं० अ० बेरो जो सं० बभ्रु से भिन्न है, *भूरो-, हिं० भूरा; साथ ही 'मोर' का नाम, अशोक० म(ज्)जूल-, शह० म(ज्)जुर- और ने० मुजुर जो स० मयूर- से भिन्न है, अशोक० गिर० प्रा० मोर- हिं० मोर्।

शरीर के कुछ हिस्सो के नामो का उल्लेख विशेषत. किया जाता है : पाली में तो जण्णुक- है ही; म० कुल्ला और साथ ही कुला मे -ल्ल्- की सभावना है, तुल० देशी कूल, लैं० कूलुस्; प० चुत्, म० गु० हिं० चूत्, कश० चोथ् आदि (स्त्री०), जिनकी व्युत्पत्ति जो भी हो (द्रविड़ तुल० ता० शूत्तु), उनमे पुनरावृत्त रूप है (देशी कोल्लो कुल्लो जो सभवत. द्रविड़ है, तुल० कन्न० कोरल् कोल्ल, और उलटे साधारण परिवर्तन प्रकार है)। इसी प्रकार म० शेप्, शेफ्, देशी छिप्प- जो स० शेप- से भिन्न है, नल् निस्सदेह एक विद्रूत्तापूर्ण शब्द है जिसका प्रयोग बहुत-से शब्दो के लिये होता है (तुल० प० नहुँ, यूरो० जिप्सी-भाषा नह)। एक शब्द विद्रूतापूर्ण होने पर भी, उसकी व्युत्पत्ति का अनुमान नही किया जा सकता, म० थान् जो प० थाण् (स्तन-, स्तन्यम् का अर्थ 'दूध' है)। अत में प्राकृत णक्क-, जिससे 'नाक' के आधुनिक शब्द प्राप्त होते हैं, स्पष्ट नही है।

अभिव्यंजकता ही हर एक बात की व्याख्या के लिये यथेष्ट नही है एक्क-स्वय-पूर्ण है; किन्तु क्यो "१९" प० मे उन्नीह है जो सिं० उणीह्, म० एकुणीस् से भिन्न है, क्यो "८०" हिं०, प० मे 'अस्सी' है, किन्तु सिं० असी (अशीति-) है, और क्यो "९०" हिं० पं० मे नब्बे, म० नव्वद्, ब० नब्बी (नवति-) है? क्या जब तक उनमे प्राकृत सट्ठि '६०", सत्तरि "७०" का सादृश्य न देखा जाय? किस कारण से प्राकृत में यकायक लक्कुड- और लोड-, कील- और *किल्ल- आ गए? म० विल्पिणें (विलपन-) से भिन्न हिं० बिल्लाना क्रिया तो सोची जाती है; किन्तु प्रा० चल्लै, म० चाल्णें क्यों? *चल्यति तो असभव है, इसी प्रकार देशी मे कोणो "कोना" और कोण्णो "मकान का कोना" (मराठी कोण् और कोन्), तल और तल्लम "बिस्तर", तड्ड और तड्ड "फैलना", ओग्गालो और ओआलो "छोटी नदी" साथ-साथ चलते हैं।

निस्सन्देह यहाँ एक अधिक सामान्य प्रवृत्ति प्रस्तुत करने के लिये स्थान नही है : पंजाबी मे, एक चलन् प्रकार के शब्द का उच्चारण सामान्यत. लगभग चल्लन् होता है (श्री ग्रियर्सन के अनुसार)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंत में यदि बोलचाल की भाषाओं

में प्राचीन दुहरे रूप बनाये रखने की प्रवृत्ति है, तो वह सभवतः इसलिए क्योंकि उन्हें मध्यवर्ती प्रथम व्यजन को दुहरा रूप प्रदान करना प्रिय है : हिं० में बोला जाता है लोग्गों मे, बास्सन्, बंगाली में साह्हि (अरबी० शादि)। इस समस्या का अध्ययन नहीं हुआ।

अत मे पुनरावृत्त रूपो के पर-प्रत्ययो की ओर संकेत करना भी आवश्यक है : पाली प्रदान करती है दुट्ठुल्ल-, अट्ठिल्ल- जिनमे महद्-ल- से निकला महल्लक- जुड़ जाता है, तुल० अशोक० दिल्ली महा-लक-; -ल्ल- वाले पर-प्रत्ययो के बड़े अच्छे दिन रहे हैं और उन्होंने विशेषतः प्राचीन भूतकालिक कृदन्तों को विस्तार प्रदान किया है। -क्क- वाले रूपो का व्युत्पत्ति में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है : हिं० उड़ाक्, लड़ाका, सिं० पिआकु, आसामी थमक्- (स्तंभ्-, थनक्-) (वर्णयति) आदि।

निष्कर्ष

भारतीय-आर्य ध्वनि-प्रणाली पर समग्र दृष्टि से, साथ ही काल और विस्तार की दृष्टि से, विचार करने पर, उसके तत्त्वो के स्थायित्व की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नही रहता। साहित्यिक भाषाओ की अनुलेखन-पद्धति यदि इतनी अपरिवर्तनशील हो, तो लिखित और बोले जाने वाले रूपों मे इतना असाध्य पृथक्त्व देखने को न मिले जिसके सुन्दर उदाहरण फ्रेंच और अँगरेजी भाषाओ मे पाये जाते हैं। यदि फारसी शब्द उमेद से बने उर्दू शब्द उम्(म्)ईद का उच्चारण कोई सुने, तो तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि एक ऐसे मुसलमान से काम पड रहा है जिसे एक अच्छी इस्लामी शिक्षा का गर्व है, किन्तु वही व्यक्ति एक भारतीय व्युत्पत्ति के शब्द के ए का उच्चारण कभी ई नहीं करेगा।

यदि इतिहास के सुदीर्घ काल मे ध्वनि-प्रणाली स्थायी रही है, तो वास्तव मे उसका कारण यह है कि इतिहास के आदि काल मे ही परिवर्तनशील सिद्धान्तों को ग्रहण या समन्वित कर लिया गया था। मूर्द्धन्यो की सृष्टि, स्वर ऋ, महाप्राण ध्वनियो का वि-स्पर्शीकरण ऐसी ही बाते हैं; केवल एक वास्तविक नवीनता ने अर्थात् तीन शिन्-ध्वनियो के हाल के सरलीकरण ने, हर जगह अपने को अपने शब्द तक सीमित नही रखा; और जहाँ उसने सीमित रखा है, वहाँ उस समय उसने शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि के युग्म मे सुधार उपस्थित किया है (मराठी, बगाली), यही है जो भारत-ईरानी सूत्र था, और एक ऐसा सूत्र जो विपक्षीय समुदाय की अपेक्षा अधिक सामान्य और अधिक स्थायी है। इन महान् घटनाओ के समीप केवल आंशिक और स्थानीय नवीनताएँ हैं, जैसे काफिर में उ का तालव्य-भाव, कश्मीरी का स्वर-संबंधी साम्य, सिंहली में,

कश्मीरी मे और (अशत) मराठी मे तालव्य-ध्वनियो का दन्त्य-भाव, आश्वसित ध्वनियों अथवा सोष्म ध्वनियो का प्रकट होना।

किन्तु यदि प्रणाली के तत्त्व बने ही रहते हैं, तो उनके रूप में परिवर्तन हो जाता है। बहुत दिनो से ए और ओ सयुक्त-स्वरो के रूप मे नही रह गये और आधुनिक ऐ, औ विवृति के कारण हैं और उनका कोई विशेष आकृति-मूलक महत्त्व नही। अब तो व्यजनो के समुदायगत रूप भी नही मिलते, अन्यथा जो इधर के थे और जिन्हे अलग-अलग किया जा सकता था। शब्द में उनका स्थान विशेषत तत्त्वो का विभाजन ग्रहण कर लेता है। वे स्वर जो प्रबल स्थिति मे नही होते वे अपने प्रधान मात्रा-काल के लोप हो जाने की, और अपनी ध्वनि परिवर्तित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं, चाहे वह सवृत होने के कारण हो (ए>इ), चाहे उदासीनता के कारण हो (इ>अ, शून्य), चाहे अत में समीपवर्ती स्वरो के सावर्ण्य द्वारा (सिहली, कश्मीरी)। व्यजनो का वितरण उनके सापेक्षिक बल, जो मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उनके तुल्य रूपो द्वारा निर्धारित होता था, की अपेक्षा शब्द-व्युत्पत्ति पर कम निर्भर रहता है।

ध्वनि-प्रणाली के इस नवीन सन्तुलन के आकृति-मूलक परिणामो की महत्ता आसानी से देखी जा सकती है। सस्कृत प्रणाली अन्यथा नियमित थी, कम-से-कम स्पष्ट थी ध्वनि की दृष्टि से, मात्रा-काल की दृष्टि से, यौगिक रूप धारण करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से निश्चित स्वर, समीपवर्ती व्यजनो से स्वतत्र स्वर, व्यजन अधिक परिवर्तनशील, किन्तु जिनकी परिवर्तनशीलता तुरन्त समीपवर्ती ध्वनि-श्रेणियो से सम्बद्ध रहती है (दूर जाकर मूर्द्धन्य हो जाने वाले न् को छोड कर), उपयोगिता रहने पर भी जिनके समुदायगत रूपो का सरलतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है (छ्, झ् को छोड कर, जो ठीक प्राकृत-स्वभाव के थे, और जो सस्कृत यौगिक रूपो से बाहर के है)। इस प्रकार की ध्वनि-प्रणाली उस रूप-विचार के भली भाँति अनुकूल रहती है जिससे शब्द प्रभावित रहते है मूल और प्रत्यय-सबधी तत्त्वो के स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रम, धातु और पर-प्रत्यय के बीच, पर-प्रत्यय और प्रत्यय के बीच व्यजनो का सपर्क। जब से इन परिवर्तन-क्रमो का अभाव होने लगता है, इन रूपमात्रो के बीच की सीमा अव्यवस्थित हो जाती है, इस प्रणाली मे परिवर्तन होने लगता है।

द्वितीय खण्ड

रूप-विचार

शब्द : परिवर्तन-क्रम

भारोपीय की भाँति, वैदिक संस्कृत के शब्दो में विविध और दुरूह चिन्ह होते हैं जो एक ओर धातु द्वारा अभिव्यक्त केन्द्रीय विचार से संबंध प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वाक्यांश में उनके कर्म का द्योतन करते हैं; इसके विपरीत शब्दो के क्रम का कोई व्याकरण-संबंधी महत्त्व नहीं होता। प्रस्तुत चिन्ह तत्त्वो, और विशेषतः स्वर-संबधी परिवर्तन-क्रमो, के विविध पक्ष प्रकट करते हैं : सुरों का कार्य-संपादन, जो प्रायः उसमें सम्बद्ध रहता है; थोड़े-बहुत महत्त्वपूर्ण प्रत्ययो की उपस्थिति या अभाव (पर-प्रत्यय; अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय); अंत में प्रत्यय।

कुछ परिवर्तन-क्रमों का महत्त्व केवल ध्वनि-संबंधी है; उदाहरणार्थ, ये वे हैं जिनका संबंध शिन्-ध्वनियो से है (अस्, त्स् : इष्, क्ष् आदि); अनुनासिको का मूर्द्धन्य-भाव (यान- . प्रयाण-); स्पर्श ध्वनियो का समुदायगत रूप (दंदाति, दत्ते, देहि; विश , विड्भि॑, विक्षु), अंत में बाद में आने वाली ध्वनि-श्रेणी के अनुसार भारोपीय ओष्ठ्य-कंठ्य ध्वनियों का द्वित्व पक्ष [हंन्ति जिघ्नते, घर्न-, भंजति : भंग-); यह अन्तिम परिवर्तन-क्रम तो भारत-ईरानी मे अब भी सामान्य है, अ० तुल० 'को': संबंध० चॅहा संस्कृत मे नही मिलता : कं. कंस्य; किम् चित्, अ० चॅहट् से भिन्न नवीन है, अ० चित्। आकृति-मूलक (या रूप-विचार के) महत्त्व के परिवर्तन-क्रम स्वरों में प्रकट होते हैं।

सर्वाधिक प्राचीन ज्ञात शब्द-व्युत्पत्ति-विशारद, यास्क, शिष्यते से निकले, शेव- (X.१७) की व्याख्या करते समय, एक ओर तो ष् के स्थान पर सामान्य पर-प्रत्यय -व- माना है, दूसरी ओर मूल स्वर का गुण : तो शे- और शि- एक ही धातु के दो पक्ष हुए। इसके अतिरिक्त (II, १-२) उन्हें दा- से प्र-त्-तम् (दिया) में, अस्- से स्-तः मे, गम्- से ज-ग्म्-उः मे स्वर-लोप की नियमितता, और गम्- से ग-तम्, साथ ही, राजन्- से राजा में स्वनंतों का लोप स्वीकार किया है : उन्होने प्रथ्- में पृथु- का, अव्- में ऊर्ति- का बल देखा है। क्योंकि उन्होंने इन सिद्धान्तो से गलत निष्कर्ष निकाले हैं, क्योंकि उन्होंने अन्य क्रम खपने वाली बातो का उल्लेख किया है, इसलिए उन्होंने परिवर्तन-क्रमों, जो भारोपीय की भाँति संस्कृत में धातुओ को प्रभावित करते हैं, के एक पक्ष की गणना की है; परवर्ती वैयाकरण इस सिद्धान्त को ठीक करते हैं और वृद्धि स्वीकार करते हैं।

वास्तव मे धातुओं और कुछ रूपमात्रो मे स्थायी व्यजनो और परिवर्तनशील स्वरो का, अथवा किसी परिवर्तनशील स्वर का, जो भारोपीय मे एँ, ओ, एं, ओं अर्थात् शून्य का रूप धारण कर लेते है, ककाल-मात्र है। भारत-ईरानी मे *ए और *ओ की *अ के साथ गड़बड़ के कारण, ध्वनि-प्रणाली केवल मात्राकालिक विकार स्वीकार करती है : अ, आ, शून्य (भर्-, भार्-, भृ-)।

एक और दुरूहता अनुनासिको मे मिलती है; अन्य स्वनतो के स्वर-सबंधी रूप थे ऋ, इ, उ, जब कि भारत-ईरानी मे *म्न और *न् अ हो गये थे : तो यह स्वर व्यंजनों और स्वनतो की धातुओ में गुण का द्योतक था, किन्तु अनुनासिक की धातुओं में शून्य श्रेणी का; जहाँ तक अनुनासिक की धातुओ के गुण से सबध है, उसमे एक साथ ही स्वर और अनुनासिक व्यजन पाये जाते हैं, न कि केवल स्वर (ग-, ग्म्- ' गम्-)। जहाँ तक अन्य स्वनतों से सबध है, उनमे गुण उसी रूप मे नही मिलता . प्राचीन सयुक्त स्वरो के सरलीकरण के कारण ए और ओ उसी रूप मे आते हैं जिस रूप मे अर् और इसी प्रकार ऐ, औ आर् के सदृश हैं।

भारोपीय अं का *ए/ओ के साथ योग आ, इ, शून्य (जो स्वर से पूर्व *अं का प्रयोग है) के भारत-ईरानी परिवर्तन-क्रम की उत्पत्ति के कारण है, उदाहरणार्थ प्ता-, पति-, पत्-, महाँ-म्, महि, मह्-एं। यह परिवर्तन-क्रम ईरान की अपेक्षा भारत मे अधिक अच्छे रूप मे सुरक्षित है। ईरान में प्रस्तुत इ आदि शब्दांश के अतिरिक्त [पित, किन्तु दुग्(अं)दा] व्यजनो के बीच लुप्त हो गयी है, और जहाँ दीर्घ श्रेणी क्रियाओ मे सामान्य हो गई है अ० स्तात-, स० स्थित-, जो स्था-।

जब भारोपीय *अं वाली द्वयक्षरात्मक धातुओं मे मध्यवर्ती ध्वनि-श्रेणी स्वनत थी, तो उसमे विरोधी बाते उत्पन्न हो गईं जिसके स्वनतो के अनुसार विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं :

मवि- . मूर्त-; कयि- : कीर्त-; किन्तु परि- . पूर्ण-, दीर्घ-, तुल० द्राघीय जनि- जात- (ज्ञात-), श्रमि- श्रान्त-।

ये असम्बद्धताएँ, जो अशत सस्कृत के ही ध्वनि-सबधी विकासो के कारण हैं, वैदिक रूप-विचार को विशेषतः दुरूह बना देती हैं, और फलतः नाश के कारणो से बचने की उसकी शक्ति क्षीण कर देती हैं।

शब्द के सभी अशो के लिये परिवर्तन-क्रम लागू हो सकते हैं, और उनमे सन्तुलन रहता है : उदाहरणार्थ, किसी एक अश की शून्य श्रेणी का दूसरे की अधिक या थोड़ी सबल श्रेणी से विरोध होता है :

स्तौ́-मि, बहु० स्तु-म॑ ; कर्म० सा॑न्-उ, अपा० स्न्-ओ॑: ; द॑न्(त्स्), संबंध० दत्-अ॑: ।

यह बात छिपी रहती है, उदाहरणार्थ कर्म० एक० की -अम् प्रत्यय वाली संज्ञाओं मे, क्योंकि अम् *m̥ के स्थान पर आता है . उसी से दन्त्-अम् जो दत्-अ॑: से भिन्न है : अथवा किसी क्रिया मे जिसमे विशेष धातु "दुर्बल" रूप मे सुरक्षित मिलती है : अ॑द्-मि, किन्तु अद्-अ॑न्ति ।

ये गौण दुरूहताएँ प्राचीन प्रणाली की गड़बडी बढाने में सहायक होती हैं, और जैसा कि देखा जाता है धीरे-धीरे भाषा ने इन सभी परिवर्तन-क्रमो का बहिष्कार कर दिया; वह रूपो के एक ऐसे वर्ग की पूर्ति करने की ओर झुकी जो प्रागैतिहासिक काल में प्रचुर मात्रा मे थे, अर्थात् रूप जिन्हे विकरण-युक्त कहते हैं : ये वे हैं जो मूल (धातु और उसके पर-प्रत्ययो से निर्मित हैं) के बाद स्वर स्वीकार करते हैं, भारत-यूरोपीय *ओ, भारत-ईरानी और सस्कृत -अ-, और जिनमे स्वरत्व स्थायी रहता है और स्वराघात निश्चित ।

अविकरण-युक्त अथवा विकरण-युक्त, भारतीय-आर्य भाषा की कुजी, में विभाजन सज्ञा और क्रिया के लिये बराबर महत्त्वपूर्ण है ।

संज्ञा

संस्कृत संज्ञा

विकरण

वैदिक संस्कृत जिन सज्ञाओ से सुसज्जित है वे अधिकाशत भारतीय-ईरानी है, और उनकी रचना उन्ही सिद्धान्तो और अधिकाश मे उन्ही अशो से हुई है जिनमे ईरानी और भारोपीय सज्ञाओ की रचना हुई है।

सज्ञा सामान्य हो सकती है या सयुक्त। उनकी रचना प्राय भारतीय-ईरानी काल और उससे भी पहले से चली आ रही है।

वास्तव मे, वैदिक सस्कृत मे भारोपीय शब्दो की रचना के सभी रूप सुरक्षित और विकसित हुए है, केवल वे जो द्वितीय अश पर स्थित सज्ञा सबधित क्रियामूलक रूप है, जिनके लिये प्रारम्भ मे कम प्रमाण मिलते हैं, वेदो के बाद लुप्त हो जाते है वे दातिवार-, त्रसदस्यु-, और (भारतीय-ईरानी का) क्षयद्वीर- प्रकार के है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकार तीन की सख्या के है।

द्वन्द्व का सबध विशेषणो से है . नीललोहित-, अथर्व० दाक्षिणसव्य-; किन्तु विशेषत विशेष्यो से, यहाँ भारतीय-आर्य भाषा एक ऐसा सान्निध्य प्रस्तुत करती है जिसके दो पद द्विवचन मे हैं : द्यावा-पृथिवी-, सबध० मित्रयोर्-वरुणयो, तुल० अ० सप्र० अहुरएइब्य मिθरएइब्य; सामान्यत सस्कृत पहले पद को विकरण मे परिवर्तित करती है : इन्द्रवायू, और, अर्थ को आगे बढाने की दृष्टि से, सम्यक् रूप मे बहुवचन · अहो-रात्राणि, अथवा समष्टिगत नपुसक० : इष्टा-पूर्तम्, अथर्व० कृताकृतम्।

तत्पुरुष सन्निवेशन अथवा अनुकूल बनाने की अपेक्षा आश्रय के विविध रूप प्रकट करता है : वृषा-कपि-, पूर्व-हूति-; विश्-पति-, गो-हन्-, अ० गओजॅअन्-। द्वितीय अश समास के विशेष रूपो को प्राय. प्रभावित करते हैं . हविर्-अद्-, वसु-धिति-, लोक-कृत्-, तुल० अ० नसु-करंत्-; इस स्थान पर पूर्वकालिक कृदन्त नही मिलते, न कृदन्त, किन्तु -त- वाला क्रियामूलक प्रायः मिलता है · गोजात-, अहर्जात-, तुल० अ० हθओ-जात-। प्रथम अंश कभी-कभी अपने प्रत्यय को बनाये रखता है : अभयकर-, तुल० अ० वीरम्-बॅन्-, दिविक्षित्-; पहला प्रकार, जो एक ऐसे उदाहरण में जिसमे अनेक ह्रस्व शब्दाश बाद में आते हैं निश्चित लय की संभावना प्रकट करता है, सस्कृत में बहुत विकसित हुआ।

बहुव्रीहि, अपने आधिक्य और लचीलेपन के कारण, संस्कृत रचना की एक अद्भुत मौलिकता है : राज-पुत्र, अश्व-पृष्ठ-, अथर्व० यम-श्रेष्ठ-, पति-व्याम; तुल० अ० हुज्रझर-गओसें-। संस्कृत ने एक विशेष प्रकार को जन्म दिया जिसका पहला पद -त- वाला क्रियामूलक है जिसका बाद मे आने वाली संज्ञा के साथ क्रिया-जैसा संबंध रहता है प्रयत-दक्षिण-, क्लैसीकल साहित्य उसका संबंधवाची परसर्गों के रूप में प्रचुर प्रयोग करता है।

ऐच्छिक रूप में बहुव्रीहि में समासान्तविहीन पर-प्रत्यय आते है प्रत्यर्ध-इ-, सुहस्त्-य-, महाहस्तिन्-, सगव्-अ-, त्रिकद्रु-क-, तुल० अ० दव्रा-मएसी, हु-रैθय, उर्व-आप-, अन्तिम तीन प्रकारो का विकास अधिकाधिक और होता जाता है; विशेषत: अन्तिम दो के विकरण की सामान्य प्रवृत्ति और भी अधिक होती जाती है। वास्तव मे,-अ- द्वारा पर-प्रत्यय का प्रयोग बहुव्रीहि वर्ग की सीमा को बहुत अधिक पार कर जाता है और निरन्तर रूप मे विस्तृत होता जाता है, चाहे वह अन्त्य के छँट जाने के कारण हो : षडह्-, चाहे प्राय व्याप्ति के कारण हो . सुपथ-, पूर्वाह्णे। इससे सब प्रकार के दुरूह बल प्रकट होते हैं, किन्तु रचना एक दम सरल और सामान्य रहती है।

वेदो मे समासो की आवृत्ति और व्याप्ति लगभग वैसी ही है जैसी होमर की रचनाओ मे, क्लैसीकल भाषा मे उनकी बड़े प्रचण्ड रूप मे वृद्धि हो जाती है किन्तु उसमें यह प्रयोग शैली की दृष्टि से रोचक है, न कि भाषा के वास्तविक इतिहास की दृष्टि मे, निस्सन्देह इसकी व्याख्या शिथिल तार्किक संबधो के और रूपको के स्थिर समुदायो के प्रति रुचि द्वारा हो जाती है, और जहाँ तक उसका रूप से संबंध है, वह संस्कृत की दुरूह रूप-रचना की आवृत्ति को नियन्त्रित करती है . किन्तु यह अंतिम कारण उसी हद तक ठीक है जहाँ तक ग्रन्थकार, जिन्हे अपने व्याकरण की वैज्ञानिकता प्रकट करने मे आनन्द आता है, एक पाठक-मण्डल प्राप्त करना चाहते थे, जिसके लिये मध्यकालीन भारतीय भाषा तो वैसे ही एक पुरानी और सापेक्षिक दृष्टि से दुरूह हो गयी थी। जो कुछ भी हो, अशोक की मध्यकालीन भारतीय भाषा, उदाहरणार्थ, और आधुनिक भाषाएँ यह प्रकट करती हैं कि रचना का प्रयोग एक प्रकार से नियन्त्रित रहा है।

विकरण की रचना की दृष्टि से, समासो के द्वितीय पद, सिद्धान्तत जिनके अकेले संज्ञा-रूप हो सकते हैं, साधारण रूप मे आते हैं।

इनमे से कुछ नाम-धातुओ ने अपने प्राचीन परिवर्तन-क्रमो को बनाये रखा है : बहु० कर्ता० आप:, संबंध० अपाम् (अ० आपो, अप्अम्, एक० कर्म० पादम्, संबंध० पद: (अ० पादम्, पदो) ; एक० कर्ता० भ्रू:, संबंध० भ्रुव: (ग्री० ओ'फ़्रुस्, ओ'फ़्रुओस्) ;

एक० कर्ता० श्वा:, संबंध० ज्मः और सादृश्य द्वारा क्मः (विपर्यस्त रूप मे अ० कर्ता० ज़र्थ, क्षमो के व्यंजन सहित) : गौः, गाम्, संबंध० बहु० गवाम् (अ० गाउसे, गअम्, गवअम्); श्वा, श्वानम्, संबंध० शुनः (अ० स्पा, स्पानम्, सुनो); दां, सप्र० -यैं (तुल० अ० बहु०, दूमंड्हो) आदि : परिवर्तन-क्रम वाक्, वाचम्, करण० एक० वाचा जो अ० वासुसें, वचे से भिन्न है, मे लुप्त हो जाता है; भ्राट् (कर्तृवाची संज्ञा) करण० भ्राजा (कार्यवाची संज्ञा) मे, भारत-ईरानी के समय से उसका विश्- (अ० वीस्-, पुरानी फारसी विθ-), क्षप्- (अ०, पु० फा०ख्सप्-) मे, भारोपीय के समय से मास्- (अ०, पु० फा० माह्-) मे उसका अभाव पाया जाता है। इन संज्ञाओ के प्रमाण कम और अपूर्ण हैं, विशेषतः कर्ता० के बहुत ही कम हैं, कर्म० नक्तम् (क्रिया विशेषण), द्वि० नक्ता से भिन्न नक् केवल एक बार आता है, किन्तु एक० संबंध० आस: (अ० अंड्हो) के लिये, कर्ता० आस्यम् (लै० ओस्) है, एक० करण० स्ना, सप्र० स्नें, कर्ता० कर्म० बहु० स्न जो लै० लूक्स से भिन्न है, संबंध० एक० वनम् (पंति-), बहु० वनाम् जो कर्ता० एक० वनम् से है; संबंध ० एक० हृदः आदि जो हृदयम् और हार्दि से भिन्न है; कर्ता० कर्म० बहु० उदा जो एक० उदकम् से भिन्न है; दृशि दृशे क्रियार्थक संज्ञा। एक काफी अच्छी संख्या तो केवल समास के द्वितीय पद के रूप मे है सर्वधा-, पूर्वजा-, वृत्तहन्-, दक्षिणावृत्- और आवृते, परिषद् क्रियार्थक संज्ञा और आम् आसदे, गरतारुक क्रियार्थक संज्ञा और आरुहम् क्रियार्थक संज्ञा आदि। अंत मे समुदाय का विस्तार क्रियामूलक धातु इ, उ और ऋ के बाद -त्- व्याप्ति के नियमित प्रयोग द्वारा सीमित है, जैसे जित्- वृत्-भृत्-, -स्तुत् (अ०-बरत्, -स्तुत्-), इसी प्रकार अक्रियामूलक विकरणों के बाद . क् असृक् (लै० अस्सर) के ह्रस्व ऋ को आश्रय प्रदान करता है, यकृत्, अ० याकरं; शकृत् (ऊधर, स्वर् के विपरीत) मे कंठ्य ध्वनियो के समक्ष -त्- अस्थिर रहता है।

वास्तव में शब्दावली का एक बहुत बड़ा अंश संज्ञाओ से निर्मित है जिनमे धातु पर-प्रत्यय से आती है, पर-प्रत्यय, दुरूह होने अथवा पर-प्रत्यय से आये शब्दो के साथ सम्बद्ध होने, और जिनमे अर्थ बना रहने के अतिरिक्त, एक विशेषता लिये रहते हैं जो थोड़ी-बहुत प्रमुख रहती है : जब कि एक ओर उदाहरण द्वारा कृदन्तो और तुलनात्मक रूपो की परिभाषा प्रदान की जाती है, तो दूसरी ओर साधारण विस्तार या व्याप्ति के तुल्य प्रयोगो की।

व्युत्पन्न शब्दो का मूल रूप प्रायः परिवर्तन के साथ परस्पर सम्बद्ध रहता है। विशेषतः गौण व्युत्पत्ति आदि में वृद्धि के साथ आ सकती है : सौमनसम् "सुमनस्-होने की स्थिति", तुल० अ० हओमनड्हम्; साप्तम्, साप्तम् "सप्त-समूह"; पार्थव-

पार्थ्(इ)य-, तुल० पु० फ़ा० मार्गव-। उसमे यह भारोपीय और भारत-ईरानी प्रणाली है, जिस पर अवेस्ता मे गौण ह्रस्व रूपो का आवरण पडा रहता है, जो इसके विपरीत संस्कृत मे बहुत अधिक विकसित हुई है—जिससे विद्वत्तापूर्ण गद्य की सस्कृत का आधुनिक भाषाओं से सबंध स्थापित होता है।

रूप और प्रयोग की दृष्टि मे पर-प्रत्ययो की सूची बहुत-कुछ ईरानी की सूची से साम्य रखती है।

कर्तृवाच्य कृदन्त; वर्तमान . सन्त्-, अ० सन्त्- /सत्-; भंरन्त्-, अ० कर्म० बरन्तम्; दंधत्-, ग्री० तिथेइंस्; पूर्ण : विद्वांस् (सस्कृत मे ठीक-ठीक अनुनासिक)/ विदुंष्-, गाथा० कर्ता० वीद्वर्आं, करण० वीदुसैं।

तुलनात्मक · वंस्-यस्-, अ० वन्हं-यह-, स्वाद्-ईयास्- (विशेष कारक मे भारत में ठीक-ठीक अनुनासिक)/ स्वाद्-ईयस्-, तुल० ग्री० एंडाइओन्।

संबधवाचक विशेषण; एक तो बहुत कम मिलने वाले : मघंवन्-, अ० मγवन-; ऋतावन्-, अ० असॅवन्; दूसरे जो प्राय मिलते है : पुत्रंवन्त्-, अ० पुθरवन्त्-, मधुंमन्त्-, अ० मδउमन्त्, त्वांवन्त्-, अ०θवावन्त्-, इससे सस्कृत मे एक नया कृदन्त उत्पन्न हुआ कृतवन्त्- (अ० बिवरेजदवन्त्- ही अकेला इस प्रकार का ईरानी उदाहरण है), -इन्- : मनीषिंन्, तुल० अ० परंनिन्।

सज्ञाओ, कर्तृवाची सज्ञाओ, विशेषणो, कार्यवाची सज्ञाओ, जो क्रियार्थक मज्ञाओ अथवा भाववाचक के निर्माण की प्रवृत्ति रखती हैं, के प्रकार के अनुसार रूप

श्रवंस्- अ० स्रवह्- ; सुश्रंवस-, अ० हओस्रवह्- ,

शांति; पीति-, क्रियार्थक सज्ञा-रूप मे पीतंये, तुल० अ० कंरते, दाइतिम्।

जन्तुं-, अ० जन्तु-; गातुं-, अ० गातु "स्थान", इस पर-प्रत्यय ने -तवे के सप्रदान क्रियार्थक सज्ञा, और -तुम् के रूप मे कर्म० प्रदान किया है।

अर्यमंन्- अ० ऐर्येमॉन्-, धामन्-, अ० दाम, क्रिया स० विद्मंने, अ० स्ताओमैने, क्रिया० स० दावंने, गु० वीद्वनोइ, अ० वीद्वनो,

संबधवाची सज्ञाएँ स्वंसर-, अ० खवङहर्, पितंर, अ० पितर्- कर्तृवाची सज्ञाएँ धांतर्-, अ० दातर्-।

यह प्रचलित पर-प्रत्ययो के सबध मे है क्योकि स्वय रूपो द्वारा व्याख्या-योग्य कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका सस्कृत की दृष्टि से विग्रह नही किया जा सकता तंक्षन्, (अ० तंसन्-, ग्री० तेॅक्तोन्, अंश्मन्-, अ० अस्मन्-, ग्री० अंक्मोन्, उषंस्-, अ० उसह्-, ग्री० ऐॅओस् आदि), इसी प्रकार कुछ पर-प्रत्यय केवल ग्रहण किये गये शब्दो मे, बिना किसी विकास के, आते हैं · जैसा कि वे प्रधानत -इ- और -उ-(अन्य -ति- और -तु-) के रूप

मे हैं। केवल जिगीषु॑-, पृतनायु॑-, पृतन्यु-॑ जैसे व्युत्पन्न क्रियामूलक विकरण के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं·

पति-, अ० पैति-, ग्री० पोसिस्-; क्रिया० सज्ञा -नमे, तुल० अ० नमोइ, पथि-, अ० पθइ (परिवर्तनीय), सख्ये सप्र०, अ० हर्से जो सखा से परिवर्तनीय है, अ० हख; पुरु, अ० पओउरु-, ग्री० पोलु॑स्, बाहु-, अ० बाजु-, ग्री० पृएँकुस्; सूनु॑-, अ० हुनु-, गोथिक सुनुस्, दुरूह रूप · ऊर्मि-, अ० वरमि-; श्रोणि-, तुल० अ० सएनि-; क्षिपणु॑-, तुल० अ० पसनु-।

प्राचीन दुरूह प्रत्यय और भी हैं . पर्णिन्-, अ० परनिन्-, सर्वतात्- (जिससे है सर्वताति-), अ० हौर्वतात्-; बहुत-से तो उन शब्दो या शब्दो के समुदायगत रूपों तक सीमित हैं जो भारतीय-ईरानी भाषा से आये हैं और जो वास्तव में प्रचलित नहीं हैं प्रातर्-इत्वन्-, तुल० अ० अर्अhवन्, आयुष्- जो आयु- के समीप है, अ० आयू, अधिकरण० आयुनि, तुल० ग्री० अइएंस् और अइएँन्; मन्यु॑-, अ० मैन्यु-; मृत्यु॑-, अ० मर॑θयु-।

बहुत अधिक प्रचलित, और वह भी शुरू से, प्रत्यय विकरणयुक्त स्वर है। कुछ उदाहरणो मे तो व्युत्पत्ति का मूल्य अब भी स्पष्ट है वर-, अ० वार-, -वर- जो वृणीते से भिन्न है, अ० वरने, उसका अर्थ कभी तो स्वराघात द्वारा, प्राय किसी भारोपीय नियम द्वारा, निश्चित होना है वर- "पसन्द", वर- "विवाहार्थी", शोक- "फूट पडना", शोक- "चमक, प्रकाश"। किंतु यह बल दंश- मे स्पष्ट नही है; दशम- (अ० दसम-, तुल० लै० डेसेम, डेसीमुस) मे और विशेषत अश्व- (अ० अस्प-), वृक (अ० वह्रक-), देव- (अ० दएव-); भग (अ० बγअ-), हस्त- (अ० जस्त-); कुछ सर्वनाम एव-, एत-, अ० अएसे- अएत-, कुछ विशेषण दीर्घ-, अ० दर अ-, अन्य- अ० अन्य- आदि जैसे ग्रहण किये गये शब्दो के मात्रा- काल मे व्युत्पत्ति के चिह्न नही मिलते।

वास्तव मे -अ- यदि प्रत्यय से अधिक नही तो उसी मात्रा मे व्यापकत्व के कारण काम आता है ऋग्वेद से, उदाहरणार्थ, पाद-, मास-, भ्राज- प्राप्त होते हैं जो अपने सदृश अविकरणयुक्त के साथ-साथ मिलते हैं। अन्यत्र, जैसा कि देखा जा चुका है, -अ- समासो मे स्वय जुड जाता है, विशेषत षष्ठी तत्पुरुष समासों मे (पञ्चर्श-, उरूणस- और द्विगु समासों मे (समुद्र-)।

यह रूप अविकरणयुक्त रूपो को अधिकाधिक आघात पहुँचाते हुए प्रचलित होता है, उसमे उसके लिये मूल की अपरिवर्तनशीलता और स्वराघात की स्थिरता रहती है (जहाँ तक क्रिया-विशेषणमूलक महत्त्व से सबध है उसे छोड कर : दक्षिण "दाएँ" जो दक्षिण- से है); उससे पहले का -आ अथवा -ई द्वारा स्त्रीलिंग बनाने में

सरलतापूर्वक सहायता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उससे प्रायः मिल जाने वाले उन उदाहरणों की ओर संकेत करने मे लाभ होता है जिनमे विकरणयुक्त -अ- अनुनासिक संयुक्त स्वरो की शून्य श्रेणी से निकलता है वि-पर्व-, देव-कर्म॑-, अधिराज॑- इससे विकरणयुक्त इन विकरणो के परिवर्तन की भूमि तैयार होती है, तुल० तै० स० अलोर्मक-। शेष विकरणयुक्त स्वर शुरू से ही भारतीय-ईरानी से आये कुछ पर-प्रत्ययो को प्रभावित करता है और स्वय अन्य (पर-प्रत्ययो) तक प्रसारित हो जाता है।

निम्नलिखित प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विकरणयुक्त पर-प्रत्यय हैं .

मध्य अविकरणयुक्त कृदन्त -आन- मे · दंदान- (अ० दθआन-) (बिना मध्य अर्थ के, बॉवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १८), जिनके आधार पर सस्कृत मे विकरणयुक्त क्रिया-रूप ग्रहण करते हैं -मान-, अ० -म्न- इच्छमान-, अ० इसम्न-।

क्रियावाचक विशेषण मे यह स्थिति -र्त- (श्रुत॑-, अ० स्रुत-, भृत॑-, अ० बरंत-) और -नं- (पूर्ण॑-, अ० परंन-) मे मिलती है, क्रियावाचक विशेषणो के लिये -य- [दंश् (इ) य-, अ० दरंग्य-, मर्त् (इ) य-, अ० मर्स्य-] और -त्व- [वक्त् (उ) व-, अ० वख्अंθव-], -त- (यजत॑-, अ० यज़त-) मे सम्भावना रहती है ये अंतिम दो रूप भारत मे लुप्त हो गये है, जब कि दूसरे -अनीय-, -अय्य-, -एय्य- वाले रूपो से सम्बद्ध हो जाते हैं और वे ही अकेले शेष रहते हैं।

तमबन्त -इष्ठ- मे मिलते हैं, जो तुलनात्मक पर-प्रत्यय -यस्- से, स्थानसूचक पर-प्रत्यय -थ- (सप्त॑थ-"सात", अ० हप्तθअ-) सहित, निकले है वॅसिष्ठ-, अ० वहिश्त-, तमबन्त, बहुपदी समुदाय मे स्थिति प्रकट करने वाले पर-प्रत्यय सहित (अन्तम-, अ० अन्तम-) -तम- मे। इसी प्रकार कुछ विशेषण-विशिष्ट तुलनात्मक हैं जिनमे युग्म समुदाय मे विरोध प्रकट होता है उंपर-, अ० उपर-; तवस्तर-, तुल० अ० अर्स् अओजॅस्तर- जो वैदिक ओंजियस्- से भिन्न हैं। ये अन्तिम दो रूप सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे बहुत अधिक प्रचलित हैं।

साधन अथवा वस्तुवाचक सज्ञाएँ श्रोत्रम्, अ० स्रओθरंम, मत्र, अ० म्अθरो, वर्तमानकालीन विकरण पर आधारित कृन्तत्र- की रचना से प्राचीन काल मे पर-प्रत्यय की शक्ति का परिचय मिलता है, किन्तु क्लैसीकल भाषा मे वह केवल विपरीत रूप मे ही अधिक है।

कार्य और भाववाचक सज्ञाएँ -न- मे · यज्ञ॑, अ० यस्नस् से, स्थानम्, पु० फ़ा० स्तानम्, समरणम्, पु० फा० हमरनम्। नपुसक० वर्ग से, जो अधिकाधिक उर्वर है, संस्कृत मे क्रियार्थक सज्ञा का तुल्यार्थक और एक अश तक आधुनिक भाषाओ मे स्वय

क्रियार्थक संज्ञा मिलती है : करणम्, हि० करना। -त्व- में भाववाचक वसुत्वं-, अ० वङ्हुθ्व-; और -त्व-न- में वसुत्वनं-, तुल० अ० नाइरिθ्वन-।

अन्य पर-प्रत्यय विशेषत. व्युत्पत्ति बताने के काम आते हैं · गौण व्युत्पति मे -इ- (सारथि-, तंपुषि-) बहुत कम मिलती है, -य- बहुत अधिक मिलता है और वह विभिन्न रूपों में आता है (सत्यं-, हिरण्यय-, स्वराज्य-, बन्धनसूचक कृदन्त पीछे देखिए)। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण -क- है, इसलिए नही कि वह प्राचीन शब्दो मे मिलता है (शुष्क, अ० हुश्क-; अस्माकम्, अ० अहमाकम्), न कि इसलिए वह सरलतापूर्वक साधारण विशेषणो का कार्य सम्पन्न करता है (अन्तक- जो विशेष्य से निकला है, एकक- जो एक से निकला है), किन्तु इसलिए कि शीघ्र ही बिना समासान्त के व्याप्ति उत्पन्न करने का कार्य सम्पन्न किया · सनकं- सन- की भाँति, वीरकं- वीरं- की भाँति, दूरकें दूरे की भाँति, मुहुकें मुंहु की भाँति, और इसी प्रकार यकें यें की भाँति और फलत वा० स० असकौ अमौ की भाँति (रनू, 'स्ट्यूडिआ इंडो-ईरानिका', पृ० १६४) जिसमे साधारण व्याप्ति का महत्त्व, जिसकी रूप-रचना निर्धारित नही की जा सकती, भली भाँति प्रदर्शित है।

इस व्याप्ति का, -अक-, -इक-, -उक- (जो -न्-, -र्-, -इन्- वाले अन्य विकरणो मे मिल जाते है) रूपो के अन्तर्गत, महत्त्व केवल मध्यकालीन भारतीय मे विकसित होता है, और आधुनिक विकरणो के दो बडे वर्गों मे से एक उससे निकलता है।

यह भी देखने की बात है कि उसमे, इन रूपो के समीप, निस्संदेह दीर्घ स्वर से अधिक सम्बद्ध रूप होने चाहिए, जिनके ईरानी मे सुन्दर प्रमाण मिलते हैं *पवाक- ऋ० मे पावकं- का आवश्यक छद-मात्रा-गणन है (यह ठीक है कि ग्रासमन के अनुसार यह स्त्री० पवा पर आधारित होना चाहिए और फलत अ० मर्स्याक- प्रकार से भिन्न होना चाहिए, किन्तु वही यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि लय के परिवर्तन की व्याख्या प्रचलित पक्ष के रूप के प्रति प्रतिकूलता से होनी चाहिए), जीव-जन्तुओं के नाम देखने योग्य हैं . मण्डूंक-, उंलूक-, पृंदाकु, वा० स० वल्मीक- जो ऋ० के वम्रकं-, वम्रीं- के समीप है (प्रचलित ल् देखने योग्य है)। शेष अन्य संस्कृत पर-प्रत्ययो मे विकल्प रूप मे दीर्घ उपान्त्य स्वर होता है -ऊल-, -आलु-, -आर-, -ईन- आदि।

विकरणयुक्त स्वर और पर-प्रत्ययो का यह अन्तिम समुदाय समासो मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है; इसके अतिरिक्त आकृतिमूलक सरलीकरण का कार्य उसमे वही है जो साधारण मे है (गोर्घ्न- जो गोहंन्- से भिन्न है, प्रंपदम् जो अ० फ्रपद् से भिन्न है), उनसे समूहगत विशेषण की विशेषता का भी पता चलता है : शतं-शारद-, उरु-णसं-, वि-मन्युक-।

पर-प्रत्ययो का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग वह है जिससे स्त्री० बनाने में सहायता प्राप्त होती है। वे भारोपीय (-आ, -ई) से निकले हैं और कम-से-कम स्वर वाले विकरणों मे, पुल्लिंग के साथ युग्म निर्मित करते हैं, कठ्य ध्वनियो की व्याप्ति मे, यह देखने योग्य बात है कि -अक- का प्रचलित स्त्री० रूप -इका है; वर्तिका से भिन्न, वर्तका बोली के प्रयोग के रूप मे पाया जाता है, तुल०, पा० वट्टका (एस० लेवी, जे० ए-एस०, १९१२, II पृ० ५१२)।

परिवर्तन-क्रम

जैसा कि देखा जा चुका है, विकरणयुक्त सज्ञाओ मे, एक अपरिवर्तनीय विकरण रहता है, इसके विपरीत, अविकरणयुक्त, जिनकी प्राचीन काल मे सख्या बहुत थी, दुरूह परिवर्तन प्रदर्शित करते हैं, वे चाहे विकरण के चयन मे हो, चाहे स्वर-श्रेणी मे, अत मे, चाहे स्वरित मे हो।

१

पुरुषवाचक सर्वनामो और कुछ निश्चयवाचक सर्वनामो मे भारोपीय के काल से नियमित रूप मे चेतन वस्तुओ के लिये एक विशेष विकरण रहा है

अहम् मा॑म्, मम

स॑, सा॑ तद्, त॑स्य, तें आदि

विशेष्यो का, विशेषत नपु० का, एक प्राचीन समुदाय भी उसी प्रकार अनुनासिक विकृत-रूप का विकरण प्रस्तुत करता है जो कर्त्ता० कर्म० एक० के विकरण का विरोध करता है या अपने को उससे सम्बद्ध कर लेता है।

(१) -र् का मुख्य काल

अ॑हर अहन॑, सबध० बहु० अह्ना॑म् (अ० अस्नम्)

अ॑सृक् अस्न॑ (हित्ती एसे॑हुर्), एसॅनसॅ

इसी प्रकार ऊ॑धर, य॑कृत् (तुल० लै० इएकुर इएकिन्-), श॑कृत्।

पानी का नाम, जिसका इस वर्ग से सबध है, अपने मुख्य काल का विकरण कर लेता है

उदक॑म् उद्न (तुल० हित्ती वतर, वेतेनसॅ, ओम्ब्री उतुर्, अपादान उने)।

(२) -इ युक्त मुख्य काल

अक्षि, द्वि० अक्षी॑ (अ० अर्सि), तुल० कर्त्ता० अन॑क् (-स्- की व्याप्ति भारतीय-ईरानी है, तुल० लै० ओक्-उलुस, स० अ॑नीकम् प्र॑तीकम् तथा नीच॑- वाले विशेषणों की माला) सबध० एक० अक्ष्णः॑।

इसी प्रकार अस्थि (तुल० अ० अस्त्-यन्त्-, लै० ओस-), सक्थि, दधि, हार्दि (तुल० ग्र० कुर्ईर्)।

(३) शिम्-ध्वनियो वाले विकरण के -न्- द्वारा व्याप्ति :

शिर.(अ० सरो)शीर्ष्ण., बहु० शीर्षा, जिससे गौण विकरण शीर्ष-(द्वि० सीर्षे ऋ०, कर्ता० एक० शीर्षम् अथर्व०) निकला ही है।

इसी प्रकार तै० स० यू·(लै० इउस्), ऋ० यूष्ण·; दो (तुल० दओसें-), अथर्व० द्वि० दोर्षणी।

विकरण वाले कर्ता० (तुल० उदकम्, हृदयम्, वनम् जो संबध० बहु० वनाम् से भिन्न है, आदि) : आस्यम् (लै० ओस) ऋ० आस्नः जो आस· (अ० अङ्हो और अन्‌हानो) की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है; उधर अधिक प्रचलित आसा से भिन्न करण० आस्ना विचित्र प्रयोग है।

(४) -उ (दारु द्रुण. जो द्रो की ओर सकेत करता है) वाले विकरण के न् द्वारा व्याप्ति यह भारोपीय है और -उ तथा -इ वाले इन नामो की रूप-रचना पर अपनी सबलता स्थापित किये हुए है, तुल० ग्री० दोरु दोर्/अतोस; किन्तु अ० दाउरु · द्रओर्स्।

चेतन सज्ञाओ मे परिवर्तन-क्रम पुल्लिग -न्- मिलता है स्त्री० -र्- विशेषत कुछ विशेषणो मे (पीवान् पीवरी, ग्री० पिओन् पिएइर) और दूसरी ओर सेदेस् : सेदिस् के लैटिन सज्ञा-रूप का विचित्र सदृश रूप है जो पन्था-, पथि- (अ० पन्तो, गाथा० एक० पθओ, पु० फा० कर्म० स्त्री० पθइम्; (तुल० मेइए, 'इडियन स्टडीज . लैनमैन', पृ० ३)।

शेष इन समुदायो मे अति प्राचीन रूप है (मूल और शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से उनकी सख्या और भी बढ़ायी जा सकती है), जो अशत नवीन रीति मे पालित-पोषित है।

२

स्वर-सबंधी परिवर्तन-क्रम पूर्व-प्रत्यय-अश (मूल अथवा पर-प्रत्यय-सबधी) पर आधारित रहते हैं, कुछ विकरणो की दृष्टि से प्रत्यय में वही एक परिवर्तन-क्रम मिलता है जो प्रथम को शक्ति प्रदान करता है इस प्रकार के -उ- वाले दो विकरण हैं, गुरों-, दिव्-अ.।

भारोपीय परिवर्तन-क्रम एँ ओं को मात्राकालिक परिवर्तन-क्रम से बदल देने के कारण भारतीय-ईरानी के सज्ञा-रूप मे सबल और दुर्बल कारको की विशेषता आ जाती है : विशेष काल एक० और द्वि० के मुख्य काल (कर्ता० कर्म०) हो जाते हैं; बहु०

में चेतन कर्त्ता० सबल हो जाते हैं; नपुं० में कर्त्ता०-कर्म० संभवतः सबल या दुर्बल हो सकते हैं : नामानि (अ० नामन्) और नामा जिनमे भारतीय दृष्टिकोण से एक दीर्घ स्वर भी रहता है।

स्वनत वाले विकरणो में, संस्कृत मे फिर भी दो प्रकार के परिवर्तन-क्रम हैं :

सबध० एक० वाला, मूल और प्रत्यय के सहायक परिवर्तन-क्रम वसो- (गाथा० वङ्हाउस्), किन्तु पश्व्-अ, (अ० पस्वो),

अधिकरण० एक० वाले मे र् और न् से पूर्व ह्रस्व स्वर मिलता है नेतर-इ, अहन्; -इ- और -उ- वाले विकरणो मे, दीर्घ स्वर और शून्य प्रत्यय वसौ (अ० वङ्हाउ), गिरौ (अ० गर)।

जहाँ कही भारोपीय -ओ- : -ए- : शून्य का परिवर्तन करती है, भारतीय-ईरानी में आ अ शून्य के अनेक रूप मिलते हैं। इससे स्वनत वाले चेतन विकरणो मे तीन परिवर्तन-क्रमो की स्थापना होती है :

वृत्रहा (*-घ्नान्), अ० वॆरॆθरजेओ (*-घ्नास्)
वृत्रहणम् वॆरॆθरजेनम्
वृत्रघ्नः वॆरॆθरγनो

इसी प्रकार :

पिता (अ० पित), कर्म० पितरम् (अ० पितरम्), सम्प्र० पित्रे (अ० फॆδरोइ, पिθरे); उक्षा, उक्षणम् (अ० उख्षॆनम्) और उक्षाणम्, उक्ष्णः (अ० उख्ष्नो), किन्तु वृषा, वृष्णः, वृषणम् से भिन्न, अवेस्ता मे है अर्षा, अर्षनो और दीर्घ अर्षानम् मे कर्म०।

कभी-कभी तृतीय श्रेणी केवल सबोधन मे प्रकट होती है सखा (अ० हख्), सखायम् (अ० हखाइम्), सबोधन० सख(इ)या (अ० हखे), पुमान् संबोधन० पुमः, क्लैसी० पुमन्, सबध० पुंसः, कर्म० पुंमासम्; चिकित्वान्, चिकित्व, चिकितुष ।

अनुनासिक के सबध मे, शून्य श्रेणी के स्थान पर स्वर या व्यजन हो जायगा क्योकि प्रत्यय का प्रारभ व्यजन या स्वर से होता है, उसी से इनमे तीन परिवर्तन-क्रम मिलते हैं :

श्वा (अ० स्पा), कर्म० श्वानम् (अ० स्पानम्), सबध० शुन्-अः (अ० सूनो), करण० बहु० श्व-भि ।

अंत मे पर-प्रत्यय के परिवर्तन-क्रम सहित :

पंथाः (अ० पन्ताओ), पथः (अ० पθओ), पथिभिः (तुल० पु० फा० कर्म० स्त्री० एक० पθइम्)।

सामान्यतः एक दुहरे परिवर्तन-क्रम की प्रवृत्ति पायी जाती है : यह पाया जा सकता है :

दीर्घ श्रेणी : शून्य, उदाहरणार्थ -था : -थ्-ए, -पा- : -प्-ए (गाथा० क्रियार्थक संज्ञा पोइ); तॉर (अ० स्तारो). स्तृभि. (तुल० अ० स्तॅरॅब्यो); द्वॉर: द्वुर: (यहाँ ईरानी मे अ० द्वरॅम् मिलता है जो प्राचीन है, तुल० लै० फ़ोरेस); नॅपातम् (अ० नपातॅम्): नॅद्भ्य, हॉर्दि: हृर्द (तुल० अ० ज़ॅरॅदा)।

दीर्घ श्रेणी : अ श्रेणी। यह संयुक्त-स्वर वाले विकरण मे मिलती है, जैसे गौं, गाम् (अ० गाउस्, गम्), गॅवाम्, गोभि. (अ० गवम्, गओबिस्). और उन संज्ञाओं मे जिनमे शून्य श्रेणी असंभव होनी चाहिए, अँप: व मं० अपं., संबंध० अपाम् (अ० आपो, अपो, अपम्), अंगिरा: संबंध० बहु० अंगिरसाम्, द्वि० नॉसा (तुल० पु० फा० कर्म० एक० नाहम्: नर्मों।

अ श्रेणी : शून्य। उन कृदन्तो मे जिनमे द्वित्व नही किया गया : भॅवन्तम्: भॅवत (किन्तु एक कर्त्ता० नपु० बहु० ऋ० मॉन्ति रूप है) और इसी प्रकार बृहॅन्तम् बृहत (अ० बॅरॅजन्तॅम्, ब्रॅरॅजनो), त्रॅय: त्रिभ्यॅ: (अ०θरायो,θरिब्यो), कर्म० नॅरम्, सप्र० नॅरे: नृभि: (अ० नरॅम्, नरोइ, नॅरॅब्यसै-चं)।

क्रियामूलक वर्तमान के प्रभावान्तर्गत, विकरण युज्- मे अनुनासिकता आ जाती है, इसके फलस्वरूप उसमे अ: अन् से तुलनीय लय-युक्त परिवर्तन-क्रम उत्पन्न हो जाता है। अस्तु ऋ० करण० युजा, संबंध० युजं, कर्त्ता० बहु० युंज: मे विपरीत उच्च रूप मिलते है : कर्त्ता० द्वि० युञ्जा, जो युंजा, कर्म० एक० १ युञ्जम् जो १५ युंजम् के निकट है, वा०म० कर्त्ता० युङ् (*युङक्ष् के स्थान पर)। विधि अभी प्रकाश मे नही आई, लैटिन कोनिउ(न्)क्स, अवेस्ता मे कर्त्ता० अहुमॅरॅख्स् से निकला संबंध अहूमॅरॅनचों है, तुल० मॅरॅन्चैते।

सामान्य रीति से परिवर्तन-क्रम वैदिक और अवेस्ता के एक ही आकृतिमूलक वर्गों में आते है; उनके कुछ स्फुट भग्नावशेष है जो, अपने को पूर्ण या सदृश बनाते दिखायी देते हैं : उदाहरणार्थ बहु० सप्र० नॅद्भ्य: जो नॅपात् से है, से भिन्न, अवेस्ता में संबंध० एक० नप्तो, अधि० बहु० नफ्सुं मिलते हैं, वैदिक मे कर्त्ता० एक० वें. है, अवेस्ता मे यओस्। किन्तु यह सादृश्य पूर्ण नही है : नपु० के मुख्य काल एक० के रूपमात्र -इ का प्रभावित होना एक भारतीय नवीनता है; परिवर्तन-क्रम प्राय: लुप्त हो जाते हैं : जैसा कर्म० एक० और कर्त्ता० बहु० के संबंध मे है, कर्म० बहु० मे अॅप: मिलता है, दो विकरण उषस्-, उषास्- मिलते भी हैं, नही भी मिलते; वॉक् सभी रूप-रचनाओ मे अपना दीर्घ अंश बराबर बनाये रखता है, जब कि गाथाओ मे एक० कर्त्ता० वाख्स्,

संबंध० वर्षों ; सानु- स्नु- के निकट दुर्बल कारक मे भी पाया जाता है; ज्मा के निकट क्षमा करण० है; संबध० नंर अ० नरंसॅ से भिन्न है; स्वंर- से निकले सबध० सूंर: अवेस्ता हूरो की भाँति है, जिसक रूप-रचना के सामान्य प्रकार के अनुकरण पर पुर्नानर्माण हुआ है अकेले अवेस्ता मे सबध० ख्वांनूग् का परिवर्तन-क्रम र् न् मे सुरक्षित है। फलत: वैदिक दुरूहताओ मे प्राचीन उपलब्धि के अतिरिक्त और बाते भी हैं।

३

वैदिक संज्ञाओं के एक बहुत बडे भाग मे, सुर सभी रूप-रचनाओ मे निरतर एक ही स्थान पर बना रहता है (गौं., गाम्, गंवाम्); इसके अतिरिक्त वह मूल से प्रत्यय की ओर जाता है : आप:, अपाम्; पांदम्, पदं, पुल्लिग महाँ, नपु० मंहि, सबध० महं; पशुं:, पश्वंः।

भारोपीय मे स्वराघात के सन्तुलन का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है, जिसके बिना तथ्यो के विस्तार मे सदैव अविच्छिन्नता बनी रह सकती है। श्री कुरीलोविच कुछ बातो में अवेस्ती से सादृश्य उपस्थित कर सके हैं जिनमे स्वराघात स्वर-सबधी ध्वनि पर अपना प्रभाव छोड जाता है :

सबध वंसो, अ० वङउहांसॅ, किन्तु मृत्यौं, अ० मंरॅθयओसॅ,

सप्र० वंसवे अ० वङहवे; किन्तु महें, अ० मज़ोइ।

किन्तु उसी मे जहाँ प्रमाणीकरण सभव है, भारतीय और ईरानी मे पूर्ण साम्य नही मिलता। शेष पंशु- और पशुं-, मंति- और मंति- जैसे एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से एक यह प्रदर्शित करने के लिये यथेष्ट है कि वैदिक भाषा के कुछ प्रागैतिहासिक परिवर्तन-क्रम लुप्त हो गये हैं।

तो प्रत्येक दृष्टिकोण से, वैदिक भाषा मे प्राचीन बाते मिलती है और उसमे वास्तविक प्राचीन प्रयोग सुरक्षित मिलते हैं; किन्तु प्राचीन प्रणाली पूर्णत प्रतिबिंबित भी नही होती और उसमे नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, परवर्ती इतिहास ही यह प्रदर्शित कर सकने योग्य होगा कि ये नयी बाते उसकी शक्ति की प्रतीक है या उसके विनाश का पूर्वाभास।

नाम-प्रत्यय

संस्कृत और ईरानी प्रत्ययो के रूप और विभाजन लगभग समान रूप से अलग-अलग होने की स्थिति मे हैं।

एकवचन

कर्त्ता० कर्म० अचेतन : विकरणयुक्त संज्ञाओं मे, प्रत्यय -म् : क्षत्रम् (अ० ख्सेθरम्)। अविकरणयुक्त मे शून्य प्रत्यय मधु (मठउ), स्वर् (ह्वर), मनः (मनो), महत् (मज़त्)। पूर्ण साम्य।

कर्त्ता० चेतन जहाँ कही परिवर्तन-क्रम कर्त्ता० का कर्म० से अन्तर स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट है, शून्य प्रत्यय, जो भारोपीय नियम के अनुसार है : पिता (पित), श्वा (स्पा), सखा (हख), और सादृश्य द्वारा हस्तौ (सदृश ईरानी रूप नही है)। इसके अतिरिक्त, हर जगह, प्रत्यय -स् वृक. (वेह्रको), गिरिः (गैरिसें), क्रतुः (ख्रतुसें), पथाः (पन्त्ओं); इसी प्रकार एकाक्षरात्मक रूपो मे गौः (गाउसें), क्षाः (ज़ो), राः, गीः, भूः, धीः, वेः। शून्य रूप के अन्तर्गत *-या *-वा पर-प्रत्ययो वाले व्युत्पन्न रूपो में सदैव श्वश्रूः (लै० सोक्रूस, किन्तु अ० तनुसें जो कर्म० तनूम् से भिन्न है) पाया जाता है, किन्तु नप्तीः और देवीः दो प्रकार भी, इसी प्रकार अवेस्ता की गाथाओ मे बेरेज़ैती (स० बृहती) और दाθरिसें (तुल० स० जनित्री) मिलते हैं, पु० फ़ा० मे हरौवतिसें है जो अ० वास्त्रवैती से भिन्न है।

अन्त्य व्यजनो के समुदायो के आदि अश की अपेक्षा अन्य अशो का लोप होता है जिसके फलस्वरूप शुरू से ही सस्कृत मे प्राचीन ईरानी की अपेक्षा -स् बहुत कम रहे हैं: फलत व्यजन और ऊष्म ध्वनियो के सभी विकरणो के बाद कर्त्ता० बिना अपने विशेष प्रत्यय के दृष्टिगोचर होता है . वाक् (अ० वाख्सें, लै० उओक्स), स्पट् [अ० स्पसें, लै० -स्पेक्स], विट् (अ० वीसें), (ऋत)युक् [लै० (कोन्)इउक्स], पात् (लै० पेस्), अपाङ (अ० अप्अ्सें) जो *अपाङ्क्ष् के लिये है, कृदन्त सन् (संभ स्वर से पूर्व; वेद में -स् एक आदि त्- वाले शब्द से पूर्व दृष्टिगोचर होता है; —अ० ह्अ्स्; पूर्वकृदन्त विद्वान् (अ० विद्वँ, ग्री० एईदोस्) की भाँति, सबंधवाचक विशेषण त्वावान् (अ०θवावस, तुल० ग्री० -व्एइस) की भाँति, तुलनात्मको वस्यान् (तुल० अ० स्पनूयँ) की भाँति, कुछ ऐसे रूप हैं जो विशुद्ध भारतीय हैं।

कर्म० चेतन स्वर-सबधी विकरणो के लिये -म् : अश्वम् (अ० अस्पम्), क्रतुम् (अ० ख्रतुम), क्षाम् (अ० ज़ाम्), गाम् (अ० गअ्म्); अन्य मे ईरानी (तुल० ग्री० पोद) की भाँति -अम् . पादम् (अ० पाठअम्), श्वानम् (अ० स्पानम्)।

सबोधन० : भारोपीय काल से प्रत्यय (पूर्ववर्ती स्वर आवश्यकता से अधिक दीर्घ हो सकता है) का, और जब स्वराघात हो तो, आदि स्वराघात का अभाव होना (तुल० ग्री० अदेल्फे : अदेल्फोस्, पतेर् . पतेर्), असुर (अ० अहुरा), पितर (तुल० अ० दातर), मन्यो (अ० मैन्यो), विश्वमनः (तुल०, अ० हुमनो)। पूर्ण कृदन्तों में, -वन्त्-

वाले विशेषणो में, तुलनात्मको मे, -स् प्रकट होता है . चिकित्व , ओजीय । -आ वाले स्त्री० में, ईरानी के साथ पूरा साम्य बराबर मिलता है, अश्वे, सुभगे, तुल० अ० दएनएँ। सादृश्य द्वारा देवि, यमि, अथर्व०, वधु (तुल० अ० वढुउहि) बने हैं।

करण० : वैदिक भाषा मे भारतीय-ईरानी की समग्र स्थिति ज्यो-की-त्यों पायी जाती है । प्रत्यय -आ।

व्यंजन-संबधी विकरण · वाचा (अ० वचे), पदा, (अ० पाθअ), मनसा (अ० मनङह्), ज्मा क्षमा (ज़मा), वृत्रघ्ना (वॅरॅθरγन) ।

विकरणयुक्त यज्ञा, तुल० अ० जस्ना, किंतु इसका पुल्लिंग रूप बहुत कम मिलता है; -आ वाले विकरण · स्वधा, जिह्वा (तुल० गाथा० दएना) , भारत-ईरानी मे प्रयुक्त होते वाले रूप जिह्वया [तुल० अ० दएनय]; -इ और -उ से युक्त विकरण · सख्या [अ० हखे], क्रत्वा [अ० ख्रθवा], भारतीय ईरानी मे चित्ती (अ० चिश्ति), किन्तु सूरेतू के अनुरूप भारतीय भाषा मे नियमित सज्ञा-रूप नही हैं।

स्वर-संबंधी विकरणो मे सस्कृत मे कुछ नवीन रचनाएँ पायी जाती है, और वे सब वेद द्वारा प्रमाणित हैं और जो क्लैसीकल युग मे अन्य रचनाओ का स्थान ग्रहण करने वाली थीं, स्वर के दीर्घीकरण द्वारा उत्पन्न प्रत्यय विभिन्न श्लेष-पदों का कारण था (द्वि० के संबध मे, नपु० बहु० के सबध मे अव्यवस्था के लिये, देखिए कर्ता० एक० के सबंध मे) , इसके अतिरिक्त अन्त्य रूपो की सापेक्षिक दुर्बलता के कारण अथवा किसी अन्य कारण से, सस्कृत मे स्वर-सबधी विकरणो के प्रत्ययो का समूह मिलता है।

-न्- की सहायता से ही सस्कृत मे ये नवीन करण० बने थे, विकरणयुक्त मे -एन ऋग्वेद से उपलब्ध बहुत-से -आ पर छाया हुआ है, ब्राह्मण ग्रन्थो मे यही अकेला प्रत्यय रह जाता है। -इ- और -उ- से युक्त सज्ञाओ में -यॉ, -वा वाले प्रत्यय स्त्री० तक सीमित हैं और साथ ही -अया के समकक्ष हैं। पु० और नपु० मे दो प्रत्यय मिलते हैं; जो अनुनासिक है वह प्राय· मिलता है।

सप्रदान भारतीय-ईरानी की विशेषता *–ऐ है, फलत· व्यजनजात सज्ञाओ मे बृहते (अ० बॅरॅज़ैते), पित्रे (अ० पिθरे), वसवे (अ० वङहवे) मिलते हैं। विकरणो मे सस्कृत मे केवल सर्वनामो (अस्मै, अ० अहमाइ) मे अ० अहुराइ से स्वर-संधि-युक्त संयुक्त-स्वर है, सामान्य रूप तो असुराय है, जो निश्चित रूप से भारतीय नवीनता नहीं है, तुल० गाथा० 'अहुराइ आ' और साथ ही एक शब्द 'याताया' मे, किन्तु इस सबध मे सस्कृत के लिये ही यह सामान्य बात कही जा सकती है।

स्त्री० मे, सं० देव्यै और अ० वङहुयाइ, और साथ ही सं० सूर्यायै और अ० दएनयाइ के बीच का साम्य, मध्यवर्ती अ के मात्रा-काल की अपेक्षा, केवल अनुलेखन-सबंधी हो

सकता है अथवा परवर्ती व्यवस्था का परिणाम है। हर हालत मे करण० को छोड़ कर गौण कालों के सभी -आय- अश के प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत का ईरानी से साम्य है।

सबध० . व्यजनजात विकरणो मे, वैदिक और ईरानी दोनो भाषाओ मे, एक ओर *-अस् : अपं. (अ० अपो), वाचं. (वचौं), क्रत्वा (ख्रθवो) है, दूसरी ओर गुण के पूर्व-प्रत्यय वाले रूप के बाद *-स् : गिरें. (गरोइसें), द्यों. (द्यओसें), (पंतिर्) दंन् (तुल० अ० दआन्ग् पैतिसें) है; मूल मे -अर् से युक्त सज्ञाओ मे शून्य श्रेणी मिलती है : पितुं. (तुल० अ० नंरंसें, किन्तु स० नंर. पुनरंचना है)। यही प्रत्यय दीर्घ स्वर वाली सज्ञाओ मे है : बृहत्यां, तुल० अ० बंरंजंत्यूअं, जिह्वाया, तुल० अ० दएनयुअं।

इन साम्यो का पूर्ण विम्नार नही मिलता है, जैसे पश्वं. का पसुआउर्म्।

विकरणयुक्त रूपों मे : अंसुरस्य (अ० अहुरह्या)।

अपादान : विकरणयुक्त रूपो को छोड कर सबध० के सबध मे दृष्टिगोचर होता है : सोंमात् (अ० हओमात्, तुल० मिθराb-अ), इस दृष्टि से अवेस्ती, जिसमे अन्त्य दन्त्य का अन्य विकरणो मे विम्तार पाया जाता है, की अपेक्षा सस्कृत अधिक प्राचीनता-प्रिय है।

अधिकरण : व्यजन वाले विकरणो मे, प्रत्यय -इ : मंनसि (मनहि), नंरि (नैरि), विंशि (वीसि, वीस्य), नप्त्रि (नप्त्रि), विकरणयुक्त अ के साथ मिलकर इस -इ से -ए प्राप्त होता है : दूरें (दुरे, दूरएच), हंस्ते (ज़स्तय्-अ)।

प्राचीन काल मे यह . परसर्गात्मक निपात अव्यय के रूप मे थे, और प्रत्यय-रहित अधिकरण भारतीय-ईरानी मे एक बहुत बडी सख्या मे था ही। उसका -न्- से युक्त विकरणो मे मिलने वाले अन्य विकरणो के साथ सह-अस्तित्व था : अंहन् (तुल० अ० अय् अन्-), अंज्मन् (तुल० बरंस् मन्), - और -ऊ से युक्त मे : नदीं, तनुं (एक उदाहरण; अवेस्ता मे केवल तन्वि है -- अ० तन्वि' ३ उदा०), परुत् (तुल० ग्री० पेर्नुसइ) जैसे क्रिया-विशेषणो मे और एक ओर स्वर श्रेणी मे -इ और -उ से युक्त विकरणो मे ही।

-उ- से युक्त विकरणो मे अ० पंरंतो, गाθअव्-अ की भाँति -ओ की सभावना रहती है . सभवत एक अकेले रूप, जो कठोर उच्चारण में सुरक्षित है, को छोड़ कर, सस्कृत मे केवल -औ, भारतीय-ईरानी *-आउ है : वंसौ जो गाथा० वङ्हाउ की भाँति है, जिसके समीप अ० वङउहि, जिसके स्वय विपर्यस्त रूप से सस्कृत मे दंस्यवि है जो अ० दैन्हो, दैङहव से भिन्न है।

-इ- से युक्त विकरणो मे, *-आइ, जिसकी सभावना की जाती है, नहीं मिलता; यहाँ केवल ध्वनि-सबंधी (या उच्चारण-संबंधी ?) एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों मे से एक मे -आ मिलता है; अग्नां, सुतां, तुल० अ० गंर, ऐबी-वंरंस्ता। यह

अनुमान किया जा सकता है कि यह एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से एक मे *आउ के स्थान पर भी रहा है और उसी से अग्नौं, गिरौं, इष्टौं के -औ (स्वर से पूर्व -आव्) उत्पत्ति हुई है; तुल० ऐसा ही ईरानी मे अ० गरौं।

दीर्घ स्वर-युक्त स्त्री० मे भारतीय भाषा मे -आम् प्रत्यय है · सरस्वत्(इ)याम् (पु० फ़ा० हरहुवतिया), श्वश्रु(व्)आम्, उस्राम्, ग्रीवायाम्(अ० ग्रीवय)। केवल स्वर भारतीय-ईरानी है, सस्कृत -भ्यां से भिन्न -भ्याम् के द्विवचन की भाँति अनुनासिक ध्वनि जुड जाती है; वह ईरानी मे असाधारण रूप मे मिलता है . अ० हुवंरंत्अम् जो हुवंरंतो के समीप है (तुल० स० भृत्याम्)।

द्विवचन

कर्त्ता० कर्म०। ईरानी से पूर्ण साम्य।

अचेतन सज्ञाओ मे -ई प्रत्यय अक्षी (असि), शते (संते), इसी प्रकार -आ (प्राचीन समूहवाचक) से युक्त स्त्री० के लिये यमे, तुल० अ० उर्वैरे, उभे (गाथा० उवें)। अन्य ह्रस्व स्वर-युक्त चेतन सज्ञाओ मे वह दीर्घ हो जाता है पुत्रा (पुθर), बाहू(तुल० मैन्यू), किन्तु साथ ही बाहवा भी, अ० बाजव, पती(तुल० अ० गैरि), इसी भाँति -ई से युक्त विकरणो के लिये देवी की भाँति है (तुल० अ० अजी)। व्यजन और -ऊ से युक्त चेतन सज्ञाओ मे प्रत्यय -आ और -औ हैं जिनका उस अश के पश्चात् विभाजन हो जाता है जो वाक्याश मे आते हैं, आ की प्रमुखता नासा (नुअंन्ह), नरा (नर), श्वाना(स्पान), पादा और पादौ (पδअ और पδओ), पितरा और पितरौ (पितर), बृहन्ता (बरंजन्त)। विकरणयुक्त सज्ञाओ मे भी बराबर -औ है जो -आ के समीप है हस्तौ और हस्ता (जस्तो)।

करण० सप्र० अपा० · सामान्य ईरानी प्रत्यय है पु० फा० -बिया, अ० ब्यां, जिसके स्थान पर सस्कृत मे -भ्याम्, पितृभ्याम् (तुल० अ० नरंब्य) है। अवेस्ता मे दो बार एक ही शब्द (ब्रवत्ब्य्अम्) मे अनुनासिक ध्वनि प्रमाणित होती है; उसका मूल निस्सदेह भारोपीय है : ईरानी से पृथक् होने की दृष्टि से, सस्कृत में तो भारतीय-ईरानी प्रत्यय के प्रयोग का विकास ही हुआ है।

इस प्रत्यय से पूर्व, विकरणयुक्त संज्ञाओ मे एक दीर्घ स्वर होता है, ईरानी मे साधारणत. एक सयुक्त-स्वर : हस्ताभ्याम्, अ० जस्तएइब्य, पु० फा० दस्तैबिया, ईरानी में नपु० के लिये केवल दोइθराब्य है, यहाँ ऐसा स्वतत्र प्रणाली द्वारा हुआ है।

सबध० अधिकरण : सस्कृत का -ओ प्रत्यय अवि० भारतीय-ईरानी *-औ,

अ० -ओ और संबंध० *-अस्, अ० -अंस्, -अं के प्रत्ययों को मिला लेता प्रतीत होता है (बॉवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० २५)।

बहुवचन

अचेतन कर्त्ता० कर्म० : वैदिक भाषा और ईरानी मे भिन्नता है। अवेस्ती में प्रत्यय -इ (गाथा० साख्व्आनी, तुल० सख्वार्आ) के केवल कुछ ही उदाहरण हैं जो संस्कृत मे सामान्य हैं . चत्वारि, मनांसि (गाथा० मनूर्अं); विपर्यस्त रूप मे शून्य प्रत्यय ने, जो अवेस्ती मे प्रचलित है, भारत मे केवल कुछ दुर्लभ चिन्ह छोड़े हैं। उनमे केवल स्वर-संबंधी विकरणों मे साम्य है, वह इस अर्थ मे कि ईरानी की भाँति वैदिक भाषा मे दीर्घ स्वर-युक्त प्रत्यय के कुछ उदाहरण सुरक्षित है क्षत्रा (ख्शॅθर), त्री (θरी), पुरू (पोउरू) इसी प्रकार अनुनासिक-युक्त विकरणों के संबंध मे है नामा (नअ्म)।

किन्तु इन अनुनासिक-युक्त विकरणों मे नवीनता के प्रवर्तन का सिद्धान्त पाया जाता है जो भारतीय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पृथक् होते समय उसमे था नामा, नाम और नामानि जो ईरानी की भाँति है (एक ओर नअ्म, दूसरी ओर नाम्अन् और सभवत नाम्आनि)। इसने क्षत्रा प्रकार की ओर क्षत्राणि प्रकार को आकर्षित किया है जो पहले की अपेक्षा ऋ० मे लगभग बहुत है भी और जो प्रभाव की दृष्टि से प्राय. मनोवाछित शैली के साथ सम्बद्ध किया जाता है, अथर्व० मे नवीन रूप के विजय-चिह्न मिलते हैं, इस प्रकार का विस्तार त्रीणि, पुरूणि तक होता है।

इसके अतिरिक्त प्रारभ से ही संस्कृत मे सान्ति घृतवान्ति प्रकार के मध्य-अनुनासिक का प्रसार -स्- युक्त विकरणों तक हो गया था मनांसि (तुल० गाथा० मनअं), हवींषि; यह तो बाद को परिणाम दृष्टिगोचर होता है कि अनुनासिक व्यंजन अथवा मध्यवर्ती व्यजन से मुख्य काल नपु०, बहुवचन का कार्य सपन्न होता है; इसके बिपरीत पूर्व-प्रत्यय वाले शब्दांश की दीर्घ श्रेणी, परपरानुगत विशेषता, का प्रयोग बन्द हो जाता है · उससे अथर्व० बृहन्ति, ब्रा० -वृन्ति, -अञ्चि, -युञ्जि।

चेतन कर्त्ता० इस दृष्टि से वैदिक भाषा बहुत प्राचीनता-प्रिय है . *ए श्रेणी के व्यजन-सबंधी विकरणो के पश्चात् -अ. आप: (आपो), गिरय: (गरयो), धीवन्त, तुल० अ० द्रंग्वन्तो; -आ: विकरणयुक्त और -आ युक्त स्त्री० में . अश्वा. (अस्प), सेना: (हएन, तुल० उर्वरअ), और इसी प्रकार बृहतीः (बॅरॅजैतीस्), -अ युक्त पुल्लिगो में इसके अतिरिक्त प्राचीन व्याप्तियुक्त प्रत्यय मिलता है . अश्वास. (अस्पअंन्हो), जो वैदिक में कुछ स्त्री० विशेषणों तक व्याप्त हो गया है (दुर्मि-त्रांस:)।

चेतन कर्म० अविकरण-युक्त -अः=अ० -ओ, सिद्धांतत. दुर्बल विकरणों के पश्चात्. अपः (आपो), मघोनः (तुल० दृग्अंग्वतो), शुनः (किन्तु स्पानो)। स्वर-संबंधी विकरणों का सभवत. वही रूप है जो भारतीय-ईरानी मे, किन्तु कुछ थोड़ा-सा अन्तर है : मर्त(इ)यान (गाथा० मर्ष्यआंग्; अ० मश्यस्-च, स० आंश् च) सना (तुल० उर्वरअं) और साथ ही वस्वी. (वड्हीस्); किन्तु गिरीन्, क्रतून् जो गैरींस् ख्रतूस्।

करण० स० -भि = अ० बिस्। विकरणयुक्त मे -एभि और -ऐ का साम्य : मर्त(इ)यै, मर्त(इ)येभि, अ० मर्ष्याइस्, पु० फा० मरतिऐबिस् (फारसी मे केवल यही अकेला प्रत्यय है, अवेस्ता मे लगभग बिल्कुल नही है)।

अपादान . -भ्य.=अ० -ब्यो।

सबध० इसमे भी वैदिक भाषा भारतीय-ईरानी की स्थिति सुरक्षित रखती है। व्यजन-सबधी विकरण -आम्=अ० अम्, प्राय द्व्यक्षरात्मक अपाम् (अप्अम्), बृहताम् (बरंज़त्अम्)। स्वर-संबधी विकरण . -नाम्=पु०फा० -नाम्, अ० -नअम् मर्त्यानाम् (मर्ष्यान्अम्, तुल० पु० फा० बगानाम्), उर्वराणाम्, (तुल० अओθरन्अम्), गिरीणाम् (गैरिन्अम्), पुरूणाम् (पोउरुन्अम्, पु० फा० परूनाम्), और अकेली भारतीय भाषा मे गोनाम् जो गवाम् (गव्अम्) के निकट है और विशेषत -र् युक्त विकरण नृणाम् जो नराम् (नर्अम्) के निकट है, पितृणाम् (तुल० दुगृअंद्रअम्), विकरण युक्त मे, -आम् वाले कुछ उदाहरण वेद और अवेस्ता मे सुरक्षित हैं (देवान् वर्असंअम् आदि)।

अधिकरण · दोनो भाषाओ मे बराबर स० -सु(-षु)=अ० पु० फा० -सु-षुं-हु (जिसके साथ प्राय -अ परसर्ग जुड़ा रहता है जो अन्य रूपो मे दृष्टिगोचर होता ही है)।

नाम-संबन्धी रूप-रचना

तो सस्कृत का प्राचीनतम सज्ञा-रूप सम्यक् दृष्टि से पुरातन है और भारतीय-ईरानी के निकट है; उसमे वह बिना उस रूप-रचना के ही मिलता है जिसे ठीक-ठीक क्रियाविशेषणजात काल कहते हैं जो ईरानी, कैल्टिक और इटैलिक को छोड़ कर सब जगह लुप्त हो गया है तै०स० मिथुनींकृ-, वशींकृ- ग्रामींभू-, तुल० अ० खुसैθइबुये, लै० लूक्रीफेसीअर। किन्तु साथ ही उसमे कुछ ऐसी नवीनताएँ है जो साधारण पुनर्निर्धारण नही है, और जो स्पष्टत. सस्कृत को ईरानी से पृथक् करती हैं . -आय युक्त सप्र० एक० पु० नपु० का -औ युक्त अधिकरण का, -औ युक्त द्वि० का सामान्यीकरण,

द्वि० के तिर्यक् प्रत्ययों, अन्त्य -म् और विशेषतः -म्- का करण० एक० और कर्त्ता० कर्म० बहु० के विविध रूपों में कार्य।

वेद मे प्राचीन रूपो के आने से यह निस्संदेह प्रकट नही होता कि सामयिक भाषा की वास्तविक स्थिति क्या थी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के पाठ में पाये गये पुरातनत्व के सम्बन्ध में सामान्य अनुमान का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उसमे एक ही कार्य के लिये विभिन्न रूप हो। अथवा मध्यकालीन भारतीय भाषा मे चली आ रही एक रीति के अनुसार, बहुत-से प्राचीन रूपो का नवीन रूपों के सान्निध्य में प्रयोग करने का उद्देश्य साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करता रहा है, उसी से है विश्वा जातानि, विश्वा वसूनि, विश्वा द्वेषांसि, और विपर्यस्त रूप मे विश्वानि दुर्गा, इसी प्रकार त्रीं पूर्णा . पदानि जो त्रीणि पदा से भिन्न है, पुरू वसूनि और पुरूणि वसु। पुरातन रूप, श्लेष-पद, दूसरे के कारण चमक उठता है. यही कारण है कि ऊवर् दिव्यानि १. ६४५, व्रता .दीर्घश्रुत् ८. २५.१७ जैसे रूप मिलते हैं। छंदो मे यह प्रणाली मिलती है, कर्त्ता० बहु० की तुलना की जा सकती है :

बृहद् वदेम विदथे सुवीरा, २ १ १६

तथा सुवीरासो विदथम् आ वदेम, २.१२.१५

अथवा, करण० बहु०

यातम् अश्वेभिर् अश्विना, ८ ५ ७

तथा आदित्यैर् यातम् अश्विना, ८ ३५ १३

अथवा, और भी

अंङ्गिरोभिर् आ गहि यज्ञेभिर् येभि, ऋ०, १०. १४५

तथा अंङ्गिरोभिर् यज्ञियैर् आ गहीह, अथर्व०, १८.१ ५९

वास्तव में, प्राचीन रूपो की संख्या अधिक नही मिलती, अधिक प्रबल कारण की वजह से, अथर्ववेद, मूलतः पुरातन, किन्तु सामाजिक प्रयोग की दृष्टि से भिन्न, मे वह नवीनता प्रदर्शित होती है जो क्लैसिक स्थिति की ओर झुकी हुई भाषा मे दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, रूपो की तालिका के आधार पर ऋग्वेद की भाषा-संबंधी स्थिति पर कुछ सोचना गलत होगा, उनकी तुलनात्मक गणना और उनके साहित्यिक प्रयोग की समीक्षा से यह प्रकट होता है कि बहुत बड़े अंश तक वे पहले के अवशिष्ट रूप हैं।

शेष के स्वयं ऋग्वेद मे, यथेष्ट रूप मे प्रचुर, विस्तार-प्राप्त रचनाओ के प्रमाण मिलते हैं; जैसे गवाम् के निकट संबंध० बहु० गोनाम्, चक्षुष. के निकट अपादान० एक० चक्षोः; अथवा और भी महिना भूना प्रकार का करण० एक०। अजीब बात यह है कि क्लैसिकल संस्कृत में, जो अव्यवस्थाओं की संख्या कम करने प्रवृत्ति प्रकट करती है, कई बार

परंपरागत रूपो के प्रति मोह पाया जाता है, उदाहरणार्थ, उसमे केवल गवाम् सुरक्षित है, वह भी गोनाम् की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से। तो मध्यकालीन भारतीय भाषा (पाली गोन, गुन्न) परित्यक्त रूप की शक्ति प्रमाणित करती है, यह बात कि करण० बहु० विकरणयुक्त मे, केवल -ऐ सुरक्षित रहना है, तो उस समय समस्त सदृश रूप -एभि' की विजय निर्धारित करते पतीत होते हैं (जिसकी पुष्टि मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा होती है), जिससे सभवत यह प्रदर्शित होता है कि जो नवीनता थी और जो वास्तव मे भारतीय थी, पुरानी फारसी के प्रयोग की दृष्टि से समानान्तर थी, न कि एक-सी।

वास्तव मे क्लैसीकल सस्कृत की विशेषता, कम-से-कम जिसमे व्याकरण सुरक्षित है—क्योकि शब्दावली तो नयी-नयी और प्रचुर मात्रा मे होती जाती है—असमृद्धता है। सास्कृतिक भाषा, सस्कृत ने स्वेच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक ग्रामीण भाषाओं का अनुसरण किया है; अथवा उन्होने, भारत मे अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति, समृद्ध प्रागैतिहासिक रूप-रचना का आदर्शीकरण और सरलीकरण किया। यही कारण है कि सस्कृत ने, जैसा देखा जा चुका है, -एन, -औ, -आनि के लाभार्थ -आ युक्त सदिग्ध प्रत्ययो का परित्याग कर दिया है, -इ और -उ युक्त विकरणो मे, उसने अर्य', क्त्व प्रकारो का परित्याग किया, -अन् युक्त विकरणो का प्रत्यय-विहीन अधिकरण लुप्त हो जाता है, जानबूझ कर रखी गयी पुरातनता को छोड कर, और विकरण स्वय अन्य विकृत रूपो की स्वरान्विति ग्रहण करता है (मूर्धनि राज्ञि नाम्नि), -वन्त् वाले विशेषणो के -व युक्त सबोधन का स्थान अथर्ववेद का -वन् ग्रहण कर लेता है। -उ और -इ मे युक्त नपु० मे -न्- का विकरण केवल सभी आदि स्वर वाले प्रत्ययो मे पूर्व रहता है और -अन्ति, -आसि की अनुनासिकता -उञ्जि आदि तक व्याप्त हो जाती है, कृदन्तो का मात्रा-काल पुल्लिग मे घुलमिल जाता है : सन्ति सन्त. की तरह। किन्तु ये ही अकेले स्फुट रूप नही है जो अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेते है, ये ही बडे-बडे समुदाय नही है जो अपनी रचना करते या परस्पर निकट आ जाते हैं। स्वर-सयुक्त मूल विकरण व्युत्पत्ति वाले शब्दो मे घुलमिल जाते हैं, जैसे ऋग्वेद से पुल्लिग गोपा के निकट गोर्प- (कर्म० बहु० गोपान्) है, और स्त्री० प्रजा जो पु० स्त्री० दिविजा के निकट है, नवीन रूप तो केवल क्लैसीकल सस्कृत में मिलता है, वृकी और देवी के तिङ केवल एक तिङ मे मिल जाते हैं जिसमे वे -आ वाले स्त्री० के सज्ञा-रूप के साथ सादृश्य को प्रमुख बना देते है।

दूसरी ओर वे सज्ञाएँ जिनका मूल दीर्घ स्वरान्त वाला होता है उनके साथ सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रकट करते है जिनमे स्वर ह्रस्व है। आकृति-मूलक परिस्थितियों से इस कार्य में सहायता मिलती है वास्तव मे दीर्घान्त रूपो की रचना मे सक्षिप्तीकरण

हो जाता है, जैसा कि एक ओर सेनजित्- और पृथिविष्ठा- में मिलता है, और दूसरी ओर गोर्प- में। निस्सन्देह अन्त्यों की दुर्बलता ने, जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में देखी जाती है, उसे बराबर सहायता पहुँचाई है। अत में -इ- युक्त संज्ञाओं का -इन्- वाले सज्ञाओं में मिल जाने की प्रवृत्ति मिलती है, जिससे प्रथम में कर्म० बहु० -ईन्, द्वितीय में संबध० बहु० -ईनाम्।

परिवर्तन-क्रम कम होते जाते हैं; जिससे हैं राजान: जैसे कर्म०, -अत वाले वर्तमान-कालिक कृदन्त के कर्त्ता० बहु०; उसी से, वैयाकरणों द्वारा संपादित नियमों के रहते हुए भी, -अन्ती और -अती वाले कृदन्तों के स्त्री० के बीच वास्तविक अनिश्चितता है।

सामान्य परिणाम सुव्यवस्था और अत्यधिक स्पष्टता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

विकरणयुक्त और अविकरणयुक्त का पारस्परिक विरोध पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो जाता है करण० एक० -एन -आ, सबध० बहु० -आनाम् : -आम्; करण० बहु० -ऐ -भि। 'देवी' प्रकार का सामान्यीकरण और -इ-, -उ- और -ई, -ऊ युक्त रूप-रचना के स्वय मिश्रण एक विचित्र स्त्री० विकरण की रचना की प्रवृत्ति से निकलते है, जिसमे जिह्वा के साथ, जो दूसरी ओर चन्द्रमा (-स्- युक्त प्राचीन विकरण) और स्वय दुहिता (-र्- युक्त विकरण) को आत्मसात् करने की सभावना है, सबद्ध होने की सभावना है। इस स्त्री० समुदाय के विपरीत पु० नपुसक० समुदाय अपना सकोच कर लेता है . ऋ० -आन्ति (सान्ति, घृतवान्ति) -अन्ति हो जाते हैं जिससे पु० -अन्त: (पदपाठ सन्ति, अथर्व० बृहन्ति हैं ही, किन्तु महान्ति . महान्त बने रहते हैं); साथ ही आगे उसका अधिकाधिक स्पष्ट विरोध स्त्री० समुदाय से मिलता है जो विकरणयुक्त रचना के प्रयोग के प्रसार के अनुपात मे है।

अथवा इस रचना को मूल रूपों से वास्तव में लाभ पहुँचता है। इस प्रसार के पृथक्त्व की एक बात रूप-रचना की कुछ अनिश्चितताओं मे मिलती है : उदाहरणार्थ, पादम् पादौ, पाद् और पाद से भली भाँति सम्बद्ध रहता है, तथा पदा पद्- या पद- से, दूसरी ओर, व्युत्पत्ति वाले विकरणो के अस्तित्व मे, जैसे -वृ'श- -वृ'ध- अपने अविकरण युक्त को दुहरा रूप प्रदान करते हैं; अत मे उन समुदायो मे जो भारोपीय हैं ही, जैसे दम- और दम्-।

निस्सदेह प्रथम प्रयोग, जो विकरणयुक्त व्युत्पत्ति की वैदिक भाषा का निर्माण करता है, मुख्य कालो के एकाक्षरों को अलग करने मे है; वारि जो वा: का स्थान ग्रहण कर लेता है, पुमान् जिससे पुस्- कर्त्ता० का काम निकलता है, एक ही समस्या के अ-

साधारण समाधान हैं। इसके विपरीत भारतीय-ईरानी मे नपु० हृ॑दयम्, अ० ज़र॑ठअएम्, वैदिक भाषा का, उद॒क॑म् (जिसका विकरण अन्य कालो तक प्रसारित हो जाना चाहिए), आस्य॑म् और स्त्री० पृ॑तना (और फलत पृ॑तनासु जो पृत्सु॑ से भिन्न है) है ही; नासिका, कर्त्ता० द्वि० नासि, यदि पु० पाद को संभवत पाद्- "पैर" (पशु का, चार द्वारा विभाजन भारत मे अब भी प्रचलित है) से निकला मान लिया जाय, तो मास- तुल्य है माम्- के जिसका अर्थ वास्तव मे 'महीना' साथ ही 'चन्द्रमा' हो सकता है (कर्म० बहु० मे यह भेद बना रहा प्रतीत होता है), और हर हालत मे द॑न्त- द॑न् का दुहरा रूप है, करण० बहु० दद्भि॑, अन्त मे, न॑र- (रचना मे सर्वप्रथम प्रमाणित) वीर॑- सहित अधि० न॑रि आदि के मुख्य काल प्रदान करता है।

बाद को यह व्याप्ति सभी तिङों तक मे पायी जाने लगती है ऋ० उदकात्, आसा के निकट आस्ये॑न, विचित्र अधि आस्ये॑, अथर्व० मांसाय मांसानाम्, तत्पश्चात् नवीन शब्द सामने आते हैं ब्रा० द्वारम्, उपनि० नक्तम्। साथ ही विकरणीकरण एकाक्षरो तक ही किसी प्रकार भी सीमित नही है।

अनेकाक्षरात्मको मे, अनुनासिको का परिवर्तन-क्रम दर्मन्-, के निकट दर्म-,की उत्पत्ति के कारण है, अ॑ह्ना(नि) से निकलता है अ॑हनाम् के निकट संबध० बहु० अ॑हानाम्, शीर्षा॑(णि), अपा० एक० शीर्षत॑ से द्वि० शीर्से॑ और बाद को अथर्व० शीर्ष॑म्, तै० सं० मे भी कर्त्ता० यू॑ पाया जाता है, किन्तु करण० के लिये उसमे यूर्षेण है ही (वा० सं० यूष्णा)। -अस्- और -अ- युक्त विकरणो का सह-अस्तित्व, जैसे ज॑नस्- और ज॑न- मे, अ॑न्-आगस्- के निकट अ॑न्-आग- आदि को प्रोत्साहित करता है। किन्तु व्याप्तियाँ बिना किसी विशेष कारण के अधिक होती जाती हैं देवर- बहुत शीघ्र ही अपने को -तर- वाली संबध-सूचक संज्ञाओ से पृथक् कर लेता है, ऋ० विष्ट॑प- नपु०, जिसमे विष्ट॑प्- स्त्री० मुख्य काल उपलब्ध होता है, विकृत रूपो तक प्रसारित हो जाता है (साम० विष्ट॑पे - ऋ० विष्ट॑पि), तत्पश्चात् उत्पन्न होते है अथर्व० क॑कुद, महाकाव्य का आमिष-, सुहृद-, तुलनात्मक श्रेयम- आदि।

इसी प्रकार -आ स्त्री० की विशेषता प्रकट करने का कार्य करता है ऋ० क्षपाभि., अथर्व० अप्सरा, कास संबोध० "खाँसी" जो अपा० कास के निकट है, ऋ० उषाम् और वा० सं० उषा, यजु० दिशा, पाणिनि निशा। इसके विपरीत -आ- पु० युक्त विकरणों का प्रचलन बन्द हो जाता है पथेष्ठा- रथेष्ठा- के सदृश है, किन्तु ऋ० के विपथि- के बाद अथर्व० का विपथ- आता है तथा बाद को पथ- प्रकट होता है। महान्तम् के निकट कर्म० महाम् भी पाया जाता है, किन्तु कर्त्ता० एक० मे केवल महान् और मह॑ (स्त्री० मही) है, विकरणयुक्त स्वर समासो मे स्थान प्राप्त कर लेता है रत्नधेभि., रथेष्ठेन

कर्म० गोपम् जो गोपाम् के निकट है . एक लिङ्ग की रचना इसी प्रकार होती है, जो प्रजा आदि का विरोधी है।

तो सस्कृत की नवीनताएँ एक ऐसी प्रणाली के मध्यवर्ती समुदायीकरण तक आती हैं जिसका आर्ष रूप और दुर्बलता और भी अधिक प्रमुख हो जाती है क्योकि बोलचाल की भाषा का विकास तीव्रता के साथ हो गया था। वास्तव मे इन आशिक सुधारो के कारण एक ऐसा अधिक सामान्य परिवर्तन उपस्थित होता है जिसका वास्तविक रूप मध्यकालीन भारतीय भाषा मे दृष्टिगोचर होता है।

सर्वनाम

सर्वनाम दो प्रकार के हैं पुरुषवाचक, जिनकी एक विशेष रूप-रचना होती है; और वे सर्वनाम जिन्हे विशेषण कहा जाता सकता है, जिनके प्रकार हो सकते है, और जिनकी रूप-रचना मे कुछ बाते नाम-सबधी सज्ञा-रूप से मिलती-जुलती हैं। इन दोनो वर्गों मे सस्कृत मे महत्त्वपूर्ण नवीनताएँ स्पष्ट होती हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्यकारक कर्त्ता० अहम् (अ० अजम्, पु० फा० अदम्) , त्(उ)वम् (गाथा० त्वअम्, पु० फा० तुवम्, गाथा० तू, वाक्याश के आदि मे प्रमाणित, सस्कृत मे नही मिलता)। —कर्म० माम् (अ० मअम्, पु० फा० माम्), प्रत्ययाश मा (अ० मा), त्(उ) वाम् (अ०θवअम्, पु० फा०θउवाम् एकाक्षरात्मक), प्रत्ययाश त्वा (अ०θवा)।

करण त्(उ)वा, जिसका असाधारण रूप मे ऋ० मे प्रमाण मिलता है (अ० θवा), भारतीय रचना त्(उ)वया के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है, उत्तम पुरुष मे मया कभी नही मिलता।

संप्रदान शुरू से ही, मह्यम्, तुभ्यम् भारतवर्ष के लिये उचित अनुनासिक सहित। पहले के रूपो में, ऋ० तुभ्य कुछ स्थिति मे पढ़ा जाता है, मह्य छद के कारण प्रायः दिखाई पड़ जाता है। प्रथम तो मूल के भारतीयकरण के कारण है, तुल० गाथा० तैब्या; इसके विपरीत दूसरा अ० मैब्या की अपेक्षा अधिक पुराना है, तुल० लै० मिही जो टिबी से भिन्न है।

अपादान : परपरा से प्राप्त रूपो के निकट मंत्, त्वंत् (अ० मत्, θवत्) से जो सक्षिप्त और समान है, उत्पन्न होते है, ऋ० ममन् (सबध० मम के आधार पर) और अथर्व० मत्तं, जो महाकाव्य मे लुप्त हो जाता है।

संबध० तव (अ० तव) भारतीय-ईरानी है, मम् वास्तव मे भारतीय है (अ० मन, पु० फा० मना) और सभवत सस्कृत मे होने योग्य सावर्ण्य द्वारा उत्पन्न होता है।

प्रत्ययाश रूप मे, ते (गाथा० मोइ तोइ, पु० फा० मैय् तैय्) सबध० और सप्रदान के लिये समान है, यह ग्रीक प्रयोग है, मे कर्म० के कुछ प्रयोग वेद मे और फिर मध्यकालीन भारतीय भाषा म मिलते हैं, जो उस प्रवृत्ति का अनुसरण करते है जो इधर की अवेस्ता मे और बाद की सिथुआनिअन मे दिखायी देती है।

अधिकरण ईरानी मे एक भी विशेष रूप नही है। ऋ० मयि, किन्तु त्(उ)वे अथर्व० के त्वयि के पक्ष मे लुप्त हो जाता है।

द्विवचन

स्वय सस्कृत मे तिङ है। कर्त्ता० के लिये भारोपीय मे एक ओर तो था *वे ऋ० ग्री० ह्वावन् वा प्रत्ययाश, अ० कर्म० ग्री० ह्वावस् वा, और अनुनासिक सहित ऋ० कर्त्ता० ग्री० ह्वावस् वाम्, कर्म० सप्र० सबध० प्रत्ययाश वाम्, दूसरी ओर था *यू, तुल० साहि० जु-दु, जिसके दर्शन युवम् म होते है, कर्म० युवाम्, सबध ऋ० युवाकु (रनू, 'म्यूडिआ इडो-ईरानिका', पृ० १६५ के अनुसार *युव्-औ का निकला हुआ), तुल० अ० यवाक्अम्। रम० गा० आंआवा से ब्राह्मणो का यह प्रकार स्पष्ट हो जाता है, कर्त्ता० कर्म० आवाम्। आव्- और युव्- के आधार पर ये तिङ बडी कठिनाई से बनते है आवाभ्याम्, युवभ्याम् और युवाभ्याम् जो उसे हटा देता है, युवों के स्थान पर शीघ्र हो तै० स० युवयो (तुल० ऋ० एनो), अथर्व० एनयो, आवयो अपा० युवत् तै० स० आवत् हो जाते है।

प्रत्ययाश नौ ने भारतीय भाषा के अनुकूल दुहरा प्रत्यय ग्रहण किया है (ना सबध०, ग्री० न्ओं कर्त्ता० कर्म०), वा, सभवत एक बार सबध० की भाँति प्रमाणित, ने सस्कृत अनुनासिक का सामान्यीकरण कर दिया है वाम्।

बहुवचन

सबध० भारतीय-ईरानी है अस्माकम् युष्माकम्, अ० अह्माक्अम् यूस्माक्अम्, और इसी प्रकार प्रत्ययाश न व, अ० नो वो; भारतीय-ईरानी मे ही बराबर है अपादान अस्मत्, युष्मत्, अ० अह्मत् यूस्मत्, तथा, लगभग अनुनासिक मे, संप्रदान (अस्मभ्यम्,

अ० अहमैब्या)। किन्तु कर्ता० में यूयम् (तुल० गाथा ० यूसँ का विस्तृत रूप यूजँआम्) वयम् (अ० वएँम्, पु० फ़ा० वयम्) के सावर्ण्य का फल है। अन्य रूपों मे सामान्य प्रत्यय मिलते हैं : अस्मान्, तुल० गाथा० आहमा, अ० अहम; युष्मान्; स्त्री० ग्र ० हा राक्स युष्मा ; करण और अधिकरण (अस्माभि , अस्मासु) मे रचनाएँ नितान्त नवीन हैं (तुल० अ० ख्सेंमा करण०)। इसके अतिरिक्त मन्त्र विकृत रूपो अस्मे युष्मे को अलग करते हैं, जो 'मे ते' के आधार पर स्फुट रचनाएँ हैं, ब्राह्मणो मे निश्चित रूप से नही रहते।

सर्वनामजात-विशेषण

संस्कृत मे कुछ ऐसे सर्वनाम हैं जिनका लिंग परिवर्तनशील होता है, किन्तु रूप-रचना की दृष्टि से विशेष्यो और विशेषणो से केवल आशिक साम्य रखते हैं। वे अधिकतर भारोपीय से आये हैं अथवा भारोपीय अशो से निर्मित हैं।

(१) सबधवाचक य-, अ० य-। ईरानी मे वह सुरक्षित नही रहा, और पुरानी फारसी मे तो उसका स्थान निश्चयवाचक ह्य, त्य- (स० स्य, त्य) ग्रहण कर लेते हैं; भारतीय-आर्य ही भारोपीय भाषाओ मे एक ऐसी भाषा है जिसमें वह अब तक सुरक्षित है और उसे अपने दुरूह वाक्याश का आधार बना रखा है (साथ ही उससे निकले विशेषणो और क्रिया-विशेषणो को)।

(२) प्रश्नवाचक क- कि- (और क्रिया-विशेषणो मे कु-), सस्कृत मे कठ्य (भारोपीय का कठ्योष्ठ्य) का ध्वनि-सबधी परिवर्तन-क्रम नही मिलता : कं, कत् (अ० कॅम्, कत्) के निकट उसमे अ० चॅह्या, होमरिक ग्रीक तेओ के अनुरूप, अथवा चिश्, चिम्, ग्री० तिस् के अनुरूप नही, वरन् कस्य, कि (ग्री० हाप क्स् माकि , नकि: वाले समुदायों को छोड कर), किम्, ऋ० कीम् हैं, चित् (अ० चित्) केवल निपात के रूप मे आता है।

अनिश्चयवाचक ईरानी की भाँति द्वित्वयुक्त प्रश्नवाचक के रूप मे, अथवा प्रश्नवाचक (अकेले या सबधवाचक के बाद) के रूप मे आता है जिसके बाद में च और विशेषत चित्, बाद को 'आपे', रहता है।

विभिन्न आवृत्तिमूलक अथवा निश्चयवाचक जिनकी, भारोपीय से प्राप्त, विशेषता कई विकरणो का योग है, जिनमे एक चेतन कर्ता० एक० की दृष्टि से प्रधान होता है।

आवृत्तिमूलक स (:), सा त- भारोपीय है, ग्री० ह, ओस्, दीर्घ ए : तों। उसका प्रयोग प्राय: होता है। उसमें ज़ोर देने का आशय हो सकता है, और साथ ही अपने को इतना दुर्बल बना सकता है कि वेद मे स निपात की तरह आता है, और गद्य में उसे साधारण उपपद के रूप में माना जा सकता है, यद्यपि वह स्वयं भारतीय-आर्य मे उपपद के रूप मे था। एक व्युत्पत्ति वाला रूप है स्य- : त्य- जो ऋ० में मुख्य काल के लिये लगभग

सुरक्षित है और जो जीवित नही रहा (उसके कुछ अवशिष्ट चिह्न पाली में दृष्टिगोचर होते हैं); पुरानी फ़ारसी मे अनुरूप सर्वनाम सबधवाचक का काम देता है, और एक दीर्घ रूप, जो साथ ही भारतीय-ईरानी है ही, एर्ष, एतं-, अ० अएसॅ, आएत-, अत्यन्त सामान्य है।

निकट वस्तु के लिये निश्चयवाचक भारतीय-ईरानी से लिये गये इ-और अ- इन दो विकरणो से बना है एक० पु० नपु० अयम्, कर्म० इमम्, सप्र० अस्मै, करण० अना, जिससे नवीन रूप अनेन आदि, तुल० अ० अएम्, इमॅम्, अहमाइ, करण० एक० गाथा० अना, बहु० गाथा आइसॅ, अ० अनाइसॅ आदि। भारतीय-ईरानी निपात -अम् देखने को मिलेगा जो पुरुषवाचक सर्वनामो और साथ ही अव्यय स्वयम् (अ० ख्वए) मे मिलता ही है। कर्त्ता० कर्म० नपु० इदम् स्फुट रूप मे मिलता है, अ० ईत् सर्वत्र सस्कृत इत् की भाँति निपात है, किन्तु इदम् सभवत भारोपीय है, तुल० लै० आइडेम जो एमेम् कर्म० के निकट है। सस्कृत मे भी एक विकरण एन- है जिसका अ- जैसा कार्य इस बात का अनुमान करने की स्वतत्रता देता है कि वह एक निपात, सभवत भारतीय-ईरानी, के बाद अ- हो जाता है, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पहलवी एन्, फारसी ईन् ने, जिसका प्रयोग कर्तृकारक मे होता है, यह महत्त्व गौण रूप से धारण किया है।

दूरस्थ वस्तु के लिये निश्चयवाचक मे केवल मुख्य काल ही भारतीय-ईरानी है या कम-से-कम भारतीय-ईरानी अशो से निर्मित है असौ, तुल० अ० हाउ, पुरानी फारसी हौव्, किन्तु अव- जिससे ईरानी तिङ को पूर्ण करती है केवल विचित्र गाथा० अधिकरण द्वि० अवोः मे दृष्टिगोचर होता है, और यदि अम्- और अमि- (सचे मि कर्त्ता० एक० और बहु०, कोचीन् ओम्), के दूरवर्ती सदृश रूपो की खोज की जाय, तो उनका रूप, उनका सम्बन्ध अन्धकारपूर्ण मिलेगा, कर्मकाण्ड सबधी मत्रो मे एक समीपवर्ती विकरण मिलता है (अथर्व० आमो'हम् जो सा त्वम् के विरोध मे है), किन्तु उसका आशय भिन्न है।

प्राचीनतम सस्कृत मे ही कुछ पुराने भग्नावशेष मिलते है, जिनका आगे आने वाले इतिहास के लिये कोई महत्त्व नही है।

भारोपीय की भाँति सस्कृत के इन सर्वनामो की रूप-रचना की विशेषता कुछ खास प्रत्ययो के (एक० नपु० तत्, अ० तत्, लै० इस्-टुड, ग्री० तो, कर्त्ता० बहु० पु० ते, अ० तोइ ते, लै० इस्-टि, ग्री० तोइ) और विकृत रूपो के मध्यवर्ती रूपमात्र के कारण है : एक० पुल्लिंग-नपु० मे -स्म-(सप्र० अस्मै, अ० अहमाइ, ओम्ब्री एस्मेइ, जो भारतीय-ईरानी में, अन्य विकृत रूप तक प्रसारित हो जाता है : अधि० अस्मिन्, अ० अहमि;

अपा० अस्मात्, अ० अहमात् जो निपात आत्, गाथा आत् के निकट है), स्त्री० -स्य्- (एक० अस्यै, अ० ऐङहाइ, तुल० पु० प्रशुन स्टेसिआइ आदि), संबंध० बहु० मे -स्- : पु० ऐषाम्, अ० अएर्शअम्, पु० प्रशुन स्टाइसन्, स्त्री० आसाम्, गाथा आङहअम्, तुल० लै० एआरुम।

भारोपीय मे व्यक्त एक परपरा के अनुसार, कुछ विशेषण सर्वनामजात प्रत्ययो के साथ थोड़े-बहुत पूर्ण रूप से कम प्रमुख हो जाते हैं, अन्य- उसे पूर्णत अ० अन्य- की भाँति बना देता है, इसी प्रकार विश्व- और अ० वीस्प- के सबध मे है, सिवाय इसके कि नपु० एक० का मुख्य कारक विश्वम्, अ० वीस्पअम् है, और यह कि ऋ० (और साथ ही गाथाओ) मे कुछ नामवाची प्रत्यय उत्पन्न होते हैं; पर्यायवाची सर्व- (तुल० अ० हौर्व-) सस्कृत मे केवल सर्वनामजात रूप-रचना ग्रहण करता है; इसके विपरीत, जब कि अ० ख्व- मे यह रूप-रचना होती है, तो सस्कृत स्व- मे उसका केवल भग्नावशेष है। फलत कुछ असमानताएँ मिलती हैं, किन्तु सस्कृत मे सर्वनामजात रूप-रचना के प्रचलित होने की प्रवृत्ति मिलती है कतमत्, अथर्व० कतरत् जो अ० कतारअम्, ग्री० पोतेरोन् से भिन्न है; कर्त्ता० बहु० पु० उत्तरे, उत्तमे, परे, पूर्वे आदि; क्लैसीकल भाषा मे उसका और भी विस्तार मिलता है, कुछ बन्धनो के साथ, और उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा मे वह काफी अच्छी मात्रा मे मिलती है (अशोक० उभयेस आदि) और साथ ही अधिकरण और अपादान एकवचन के प्रत्ययो का सज्ञाओ की रूप-रचना मे विस्तार मिलता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञा

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा

संस्कृत मे दृष्टिगोचर होने वाले सामान्यीकरण की गति वास्तविक भाषा मे ध्वनि-सबधी परिस्थितियो के कारण और भी तीव्र हो जाती है।

व्यजन-सबधी समुदायो के योग या योग-च्युत हो जाने के कारण उनकी परिवर्तन-क्रम वाली अपनी स्पष्टता का विनाश हो जाता है। अशोक० राजा, लाजा के क्षेत्रो के अनुसार सबध० मे राञ् (ञ्)ओ अथवा लाजिने हैं, जिनमे एक ऐसे स्वर को स्थान प्राप्त होता है जो अत् (त्) अन्- (आत्मन्-) वाला नही है, -र्- युक्त विकरणो मे पितर् का करण गिरनार मे पित् (त्)आ है जिसमे र् नही है (जिससे परिवर्तन-क्रम-विहीन पा० पितरा के पुनर्निर्माण की क्रिया है), जब कि अन्य रूपान्तरो मे ऋ से निकले हुए, किन्तु भिन्न, स्वरो सहित पितुना पितिना उपलब्ध होता है।

सयुक्त-स्वरो के न्यूनत्व के कारण द्वि० का लोप शीघ्रता से होता है, क्योंकि औ वाली विशेषता की गडबड सबध० -ओ के साथ और, जो अधिक गभीर बात हुई, कर्ता० एक० -ओ के साथ हो जाती है। करण बहु० -एहि के अस्तित्व या पुनर्जन्म का भी कुछ कारण होना चाहिए, क्योकि -ऐ. -ए (उसके कुछ सदिग्ध उदाहरण बनाये गये हैं) तक सीमित रहता है, जो न केवल अधिकरण एक० था, वरन् जिसने बहुवचन के रूप मे कर्म० का भी काम दिया। अन्त मे -इ- और -उ-, -औ जिसमे -ओ हो जाता है, से युक्त सज्ञाओ के अधि० एक० की गडबड सबध० एक० -ओ से हो जाती है, उसी से शीघ्र ही करण (-उनो, इसी प्रकार -ए के लिये -इनो), और, केवल क्रिया-विशेषण-सबधी (पा० रत्तो, आदो) मे सुरक्षित, अधिकरण के आधार पर बनाये गये रूप का विकास और इस रूप का बहिर्गत होना पाया जाता है, सज्ञाओ के अधिकरण मे सर्वनाम-जात प्रत्यय का आश्रय लिया गया है।

अन्त मे, और विशेषत शब्दान्त्यो के परिवर्तन से, अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं : दीर्घ स्वरो का ह्रस्वीकरण, और पहले अनुनासिको का . जिससे कर्म० एक० -अ पु० नपु० और स्त्री० (-अम्, -आम्) और एक० का तदनुरूप बहुवचन (-आन्) के साथ सादृश्य दृष्टिगोचर होता है; उससे ही -वान् युक्त कर्ता० पु० और -अन् (कृदन्तों में)

युक्त नपुं० में साम्य दिखाई देता है, और अन्त्य त् का लोप वास्तव में ओष्ठस्वर् को ओष्ठवर्ण का रूप धारण करने के लिये बाध्य करता है। अन्त्य -त् के इसी लोप से अपा० एक० -आत् की गड़बड़ मुख्य कारकों नपुं० बहु० अथवा स्त्री० एक० के साथ और -आ युक्त पुराने करण के साथ उपस्थित होती है। तादि (तादृक्) -क् का लोप इस शब्द को -इ युक्त, फिर अनुनासिक, विकरणो में स्थान प्रदान करता है: पा० तादिन्-; इसी प्रकार मरुत्, परिषत् स्वर-संबंधी विकरणों में चले जाते हैं: पा० मरु, परिसा। अन्त्य व्यंजन-अंशों में सबसे अधिक दुर्बल अंश, स् जो संस्कृत में अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है ही, -इ-, -उ- युक्त चेतन संज्ञाओं के कर्ता० एक० को अपनी विशेषता से युक्त करता पाया जाता है: उसी से चेतन और नपु० के बीच का भेद पूर्णतः लुप्त हो जाता है, पहले कर्ता का (अग्गि, अक्खि; जिससे कर्म० अक्खिम् उत्पन्न होता है), तत्पश्चात् अंशतः अन्य कारकों का (अग्गी, अक्खी जो अग्गयो, अक्खीनि के निकट है); इसमें से जिसका संबंध -अ· से उत्पन्न -ओ से है (मनो आदि में), उसके पुल्लिग रूप के कारण लिङ्ग के कुछ व्यतिक्रम बराबर मिलते हैं।

तो यह स्पष्ट है कि क्लैसीकल सस्कृत में रूपो के विकास से मध्यकालीन भारतीय भाषा मे मिलने वाली अव्यवस्था का केवल निकटस्थ, या कहना चाहिए, दूरस्थ, आभास प्राप्त होता है।

-अ- युक्त विकरण

इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समुदाय हैं, एक तो क्योकि उन्होने व्यंजनजात विकरणों की एक बहुत बडी सख्या को आत्मसात् कर लिया है, दूसरे क्योकि वे ह्रस्व और दीर्घ -इ- और -उ- युक्त विकरणो पर निर्भर रहते हैं।

एकवचन

कर्ता० और कर्म० :

पुंलिंग में, घोष संस्कृत -ओ से पूर्व का रूप, अघोष से पूर्व के रूप के साथ मिल गया है, जो स्वभावतः संवृत -अ में निहित रहता है, जो निस्सन्देह उस समय दीर्घ हो जाता है जब -ः का सुना जाना बन्द हो जाता है। उसी से पा० में प्रत्येक स्थिति मे धम्मो है, और गौण रूप में पूर्वी बोलियों में, अशोक० दिल्ली धंमे।—कर्म० है धम्मं।

कर्ता० कर्म० नपुं० : पा० रूप। अशोक ने दिल्ली में कर्ता० मंगले, कर्म० मंगलं रखा है; यह सादृश्यमूलक नवीनता नपुं०, जो बहु० में मिलती है, के लुप्त होने का चिह्न नहीं है। उसकी यही स्थिति सर्वनामों में है।

करण :

पाली के प्राचीन पाठों में वैदिक -आ के चिह्न अवशिष्ट मिलते हैं, जो अपादान० में मई रूप में दृष्टिगोचर होते हैं; यह तो -एन रूप है, जो बहुत सामान्य है, जिससे टीकाओं में उन पर प्रकाश पड़ता है, अशोक के समय मे केवल धमेन, वचनेन प्रकार ज्ञात थे।

संप्रदान और संबंध०

मध्यकालीन भारतीय भाषा से सप्रदान० लुप्त हो जाता है (दे० पीछे)। वह केवल विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के स्पष्ट रूप मे बना रहता है, और यह भी उद्देश्य बताने के लिये (सम्णाय प्रकार) और विशेषत दस्सनाय जैसी क्रियामूलक सज्ञाओ मे।

अशोक० का गिरनार की पाली से साम्य है, पूर्व मे -आये युक्त रूप मिलते हैं, जो स्त्री० के सबध० सप्र० एक० से मिलते-जुलते हैं, और जो वास्तव मे स्त्री० भाववाचको के साथ मेल खाने के फलस्वरूप निकलने चाहिए: सस्कृत मे -नम् और -ना, -त्वम्, -तम् और -ता के रूप मे उसके समानान्तर रूप विद्यमान् हैं; फलत पाली के -तवे वाली प्राचीन क्रियार्थक सज्ञाओ मे -तये, -ताये, -तुये वाले रूप और जुड़ जाते हैं, साथ ही -तु-, -ति- और -ता विकरणो को भी मिला लेते हैं, फलत. उसमे सप्र० स्त्री० के आधार पर एक रूप की उत्पत्ति होती है जो उद्देश्य बताने के लिये अपने को सज्ञा-रूप से पृथक् कर लेता है : अशोक० जीविताये, हिदतिकाये, उससे अ(ट्)ठाये[अ(ट्)ठ(स्)स मिलता है, किन्तु संबध० के रूप मे], मो(क्)खाये जो उन सबध० भिन्न है जिनका वास्तविक मूल्य सप्रदान जन(स्)स आदि के रूप मे है।

अपादान

इस कारक का केवल विकरणयुक्तो मे विशेष रूप था। अथवा, अन्त्य व्यजन के लोप के फलस्वरूप, वह करण के साथ मेल खा जाता है . पा० सोका=स० शोकात् और *शोका। दोनो कारक अपनी कुछ मिलती-जुलती बातो के कारण सस्कृत मे थे ही . इसीलिए शिला पर खुदी हुई छठी आज्ञा मे गिर० 'नास्ति हि कमातर सर्वलोक-हितत्पा', कालसी 'न(त्)थि हि कमतला स(व्)वलोकहितेन' मे साम्य मिलता है।

किन्तु करण-अपादान की उत्पत्ति लैटिन के अपादान-करण का विपर्यस्त रूप, अपादान की अर्थ-विचार-सबधी सभावनाएँ रखती है। यही कारण है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे एक प्राचीन क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय मिलता है जो सस्कृत मे (किसी से व्युत्पत्ति नही) निर्देश प्रकट करता है स० उत्तराहि (पाणिनि के भाष्यकारो के अनुसार बसति के साथ निर्मित), जिससे पा० कामाहि, प्रा० छेत्ताहि। विशेषत वह -त: के प्रयोग को विस्तार प्रदान करता है जिससे मूल प्रकट होता है, जिससे है मुखतो, और फलत: अमितो आदि; प्राचीन प्रत्यय के साथ मिल कर, यह पर-प्रत्यय एक

धापातो प्रकार प्रदान करता है जो पाली में बहुत कम मिलता है, किन्तु जो प्राकृत में प्रचुर मात्रा में है। अन्त में, अधिकरण की भाँति, और निस्सन्देह उसके पश्चात्, उससे पाली मे एक सर्वनामजात प्रकार का प्रत्यय उत्पन्न होता है : Sn. धरम्हा जो धरा के निकट है।

अधिकरण

प्राचीन रूप ही चलता रहता है पा० धम्मे, अशोक० गिर० विजिते। किन्तु सर्वनामो मे गृहीत प्रत्यय भी मिलता है : पा० धम्मस्मिम् जो तस्मिं की भाँति है, पा० और अशोक० गिर० धम्मम्हि, कालसी विजित(स्)सि, शहबाज० विजयस्पि। यह प्रत्यय नवीन प्रत्यय के साथ-साथ चलता है : सम्भवत: वह -इ और -उ युक्त विकरणों का अंश है। बौद्ध संस्कृत (दे० महावस्तु, I, पृ० १७) मे सम्मिलित प्रत्यय *-एस्मिन् के प्रमाण मिलते हैं।

बहुवचन

कर्ता.

चेतन संज्ञाओ मे, सम्भावित रूप मिलता है : पा० अशोक० देवा। अचेतन में रूपानि प्रकार के निकट प्राय: रूपा मिल ही जाता है (जो पूर्वी अशोक० में एक दूसरे प्रकार के विशेष्य से सम्बद्ध विधेयात्मक कृदन्तो द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है, दे० शिला II, वाक्यांश B और C, किन्तु D नही))। पाली मे काव्य-रूप धम्मासे वैदिक -आसः की याद दिलाता है, हर हालत मे अन्त्य स्वर का कोई कारण नहीं दिया जा सकता।

पुंल्लिंग कर्म० :

प्राचीन रूप, देवान्, जो *देवा तक सीमित रहता है, स्त्री० एक० में प्रतीत होता है (बौद्ध संस्कृत मे उसके उदाहरण मिलते हैं), तत्पश्चात् *देव तक, एक० का बहु० दृष्टिगोचर नही होता, फलत: अपरिवर्तनशील। क्या -आन् + निपात की भाँति, कर्ता० -आस्-ए की भाँति विचार किया गया, -आनि के पृथक् होने के संबंध मे यही बात है? यह -आनि अशोक०, पाली और जैन प्राकृत मे मिलने लगता है (ल्यूडर्स, 'Sitzb.,' बर्लिन, १९१३, पृ० ९९४)।

पाली और गिर० में सामान्य प्रत्यय -ए है, जो सर्वनामो से निकला कठिनाई से माना जा सकता है, क्योंकि ये, ते का मूल्य कर्ता० के लिये वही है जो कर्म० के लिये, और साथ ही उसमे कर्म० का प्रयोग गौण है : स्त्री० ता, नपुं० तानि, मूलत: कर्ता० और कर्म० होने के कारण, ते, जो संस्कृत में केवल कर्ता० है, की तरह काम आते हैं, विशेषत: तेहि के विरोध, ताहि के भिन्न तेसु, तासु मे ता की भाँति काम आने वाले ते

की रूप-रचना को सहायता पहुँचाई है। सर्वनामो के संबंध मे जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह यह है कि ते के प्रयोग से अन्य सज्ञाओ के आशिक सादृश्य का खण्डन नही हुआ : कञ्जाहि, जातीहि, अग्गीहि, ये कर्म० बहु० कञ्ञा, जाती (कर्त्ता० जातियो) अग्गी (कर्त्ता० अग्गयो) के अनुरूप है, पुरिसेहि फलत. कर्म० पुरिसे (कर्त्ता० पुरिसा) की याद दिलाता है।

करण० .

प्रत्यय -ऐ से अनिवार्यत *-ए प्राप्त होने के कारण, सस्कृत -एभि निरन्तर बना रहता है; अथवा -ए, -हि युक्त अपा० -आ की भाँति व्याप्तियुक्त हो जाता है, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है, इसीलिए पा० अशोक० देवेहि है, लौकिक अर्थ-सहित 'बहूहि वस्(स्)असतेहि'।

सप्रदान और अपादान

स० -एभ्य. से रूप-रचना मे विचित्र दुहरे व्यजन सहित *-एब्भो होना चाहिए, *-एहियो नियम की सभावित कठोरता के कारण था। किन्तु यह देखा जा चुका है कि सामान्यत सबध० के सामने सप्रदान विलीन हो जाता है और एक०, अपादान और करण मे गड़बड़ हो जाती है। यही कारण है कि सप्रदान का प्रचलित रूप सबध० वाला है, साथ ही यही कारण है कि अशोक० मे आजीविकेहि मिलता है, गिर० तेहि व(त्)-तव्य, जो शहबाज़० तेष वत(व्)वो के विपरीत है।

अपादान के लिये उदाहरण बहुत कम मिलते हैं अशोक० गिर० आव पटिवेसियेहि, पा० वीतरागेहि पक्कामु।

सबध० और अधिकरण

ये समीपी रूप मिलते हैं · देवाना, देवेसु।

-इ-(-इन्-)और -उ- युक्त विकरण

एकवचन

कर्त्ता० और कर्म०

चेतन मे तो कोई बात ही नही है · अग्गि, अग्गि भिक्खु, भिक्खु। मूलम् के सादृश्य से अचेतन का भेद करने का काम निकलता है . अक्खि (अक्षि), अस्सु (अश्रु)।

गौण कारक

अग्नेः, मृदो के प्रत्ययो के कारण कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जो अग्निना, अक्षीणि प्रकार का विस्तार करते समय छोड़ दी गयी हैं। विस्तार सरल होने पर, क्योंकि

इसी कारण से -इन्- युक्त प्रत्यय सस्कृत मे -अन्- (जिससे परिवर्तन-क्रम -इ- . -इन्-) पर आधारित था, वह -इ- युक्त सज्ञा-रूप के साथ जुड जाता है, और वास्तव मे महाकाव्य-कालीन सस्कृत इस प्रकार के मिश्रण के प्रमाण प्रस्तुत करती है, इस प्रकार सबध० एक० अग्गिनो, भिक्खुनो की उत्पत्ति के लिये, दूसरी ओर कर्म० एक० हत्थि, कर्त्ता० कर्म० बहु० हत्थी (स० हस्तिनम्, हस्तिन) की उत्पत्ति के लिये पीठिका प्रस्तुत हो गयी थी।

दूसरी ओर गिर० प्रियदस्(स्)इनो (-दर्शिन्-) से भिन्न अशोक० कालसी पियदस्(स्)इस्(स्)आ-, शहबाज० प्रिअ-द्रश्(श्)इस्(स्)अ की भाँति संबध० इस बात का प्रमाण है कि विकरणयुक्त की ओर गति प्राचीन है उसी से अग्गिस्स, बौद्ध और उत्कीर्ण लेख० स० भिक्षुस्य।

अधिकरण अग्नौ, मृदौ मुख्य या साक्षात् रूप मे जारी रहने योग्य नही रहा। जिस प्रकार पा० धम्मस्मि, तस्मि, इमस्मि के आधार पर बना है और अनिवार्य रूप मे भी, उसी प्रकार पा० अग्गिम्मि, अग्गिहि अपना निर्माण करते है अमुम्मि के आधार पर, -स्मा युक्त अपादान भी मिलता है, किन्तु वह प्राचीन करण की प्रतिद्वन्द्विता मे कमजोर पडता है कस्मा हेतुना, क्रिया-विशेषणजात रूप की गणना किये बिना, पा० चक्खुतो [चक्षु(ष्)-], अशोक० सवमनगिरीते दीर्घ ई सहित विकरणयुक्तों के -आतो का समानधर्मा है।

अधिकरण पूर्वी अशोक० पुनावसुने, बहुने जनस्(म्)इ ने विकरणयुक्तो का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है। सर्वनामजात प्रत्यय का प्रयोग करते हुए पाली कुछ प्राचीन रूप भी सुरक्षित रखती है, किन्तु कर्त्ता० कर्म० पभङ्गुन, अधिकरण पभङ्गुने, जो पभङ्गु- से है, विकरणीकरण के प्रमाण है ('सद्दनीति', पृ० २३५, n. २)

बहुवचन

विकरणयुक्त रूप अति प्राचीन समय से चले आ रहे हैं सबध० (ईनाम्, अ० इनअम्) भारतीय-ईरानी से, चेतन कर्म० मे (आन् की तरह, अ० -ईसं के विपरीत -ईन्) और नपु० मुख्य कारक (-ईनि, अ० ई) सस्कृत मूल से। नवीन कर्त्ता०, पा० अग्गी, भिक्खू उसी प्रवृत्ति से निकलना है, नपु० अक्खी क्या वैदिक का ही दीर्घ रूप है, अथवा मूला(नि) की तरह अक्खीनि के निकट की रचना है? यह निश्चित करना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि अशोक० पुलसानि की भाँति चेतन कर्म० ह(त्)-थीनि मिलता है।

जहाँ तक चेतन कर्म० अग्गी से संबंध है, पु० नपु० और स्त्री० लिङ्गों का साधारण विरोध उसमे 'आती' का सादृश्य देखने की दृष्टि से एक बाधा है . क्योंकि यदि जाती कञ्जा (कन्याः) की भाँति कर्त्ता० और कर्म० के लिये उपयुक्त है, तो पु० विकरणयुक्त के दो स्पष्ट रूप हैं, देवा और देवे। तो क्या अग्गी मे भारतीय-ईरानी का दीर्घ रूप देखना आवश्यक है, तुल० अ० ईर्? यह, आकर्षक, कल्पना आवश्यक नही है; प्रत्येक रीति से -आन् की भाँति -ईन् मध्यकालीन भारतीय भाषा मे बना रहने की क्षमता नही रखता था, और बहुवचन के दोनो मुख्य कारको के निकट आने की प्रवृत्ति सस्कृत मे निश्चित रूप से है जिसके अतर्गत -अय युक्त कर्म० प्राय मिल जाते हैं।

विकृत रूपो मे पाली मे कुछ प्राचीन रूप सुरक्षित मिलते है . पा० ञातिभि, भिक्खुसु; किन्तु सामान्यत वह विकरण के स्वर को (कुछ वैदिक उदाहरण तो है ही) इस रीति से दीर्घ बनाता है कि उससे -एहि, -एसु की लय उत्पन्न होती है उन्ही से हैं ञातीहि, भिक्खूहि, पूर्वी अशोक० नातीसु, बहूहि, बहूसु।

स्त्री० स्वर-संबंधी विकरण

जिस प्रकार पुल्लिग सज्ञाएँ विकरणयुक्त सज्ञा-रूप के प्रभावान्तर्गत आ जाती हैं, उसी प्रकार स्त्री० का सगठन इस रीति से मिलता है कि प्रथम से उसका विरोध हो जाता है, किन्तु इस समय -आ युक्त विकरण प्रमुख नही हो जाते, उनका परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पडता है। इस बात का साम्य उस व्युत्पत्ति से स्थापित होता है जिसका सस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओ तक विरोध मिलता है पु०-नपु० -अक-, स्त्री० -इका। जहाँ तक -उ- युक्त विकरणो से सबध है, उनकी रचना -इ- युक्त विकरण की तरह मिलती है।

एकवचन मे कर्म० ह्रस्व और दीर्घ स्वर वाले विकरणो मे समान रहता है पा० कञ्ञ, जाति, नदि. पाली की लेखन-प्रणाली कर्त्ता० मे ही जाति का नदी से भेद उपस्थित करती है, किन्तु स्वय गिरनार मे, अशोक० ने अपचिति, रति के निकट वधी, निक्ष(त्)ती, -प्रतिप्(त्)ती, अनुसस्टी, लिपी रूप दिये हैं, इसके अतिरिक्त जो ह्रस्व रूप मिलते है वे ध्वनि-सबंधी या लेखन-प्रणाली-सबधी हैं, न कि आकृति-मूलक क्योकि वह कठिनाई पहले से ही दृष्टिगोचर हो जाती है जिसका प्रमाण पु० अग्गि- प्रकार में मिलता है और क्योकि उन अन्य -आ युक्त स्त्री० के साथ, जिनमे कोई समीपी ह्रस्व नहीं होता, समानता आ जाती है, इसलिए दीर्घ प्रकार वाला रूप ही सामान्य हो जाता है।

तो कर्म० बहु० में है रत्तियो, जातियो और फलतः पा० धेनुयो (जिसका -य्- उसकी व्युत्पत्ति भली भाँति बताता है)। कञ्ञा प्रकार के प्रभावान्तर्गत कर्ता० से मिलता-जुलता कर्म० भी मिलता है, पा० रत्ती, अशोक० धौलि० मे सभवत: इ(तृ)थी, शह० अटवि जो अटवियो के निकट है। एच० स्मिथ ('सद्दनीति', पृ० ४४८, नोट 'सी') के अनुसार, पाली के कुछ पद्यो मे -ईयो (पढ़िए —⌣⌣aut—) प्रकार के प्रमाण मिलते है।

किन्तु स्वय कञ्ञा, एकवचन की भाँति प्रतीत होने वाला बहुवचन, भेद प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है; जिससे उपलब्ध होता है कञ्ञायो प्रकार (जो एक बार गिरनार की अशोक० रचना मे, चेतन सज्ञा महिडायो के रूप मे प्रमाणित होता है)।

विकृत रूपो की रूप-रचना समृद्ध नही है। प्रारभ से ही ध्वनि-सबधी कारणो का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है :

पाली मे सबध० अपादान जातिया करण जातिया से सम्बद्ध हो जाता है। इस आदर्श के आधार पर एक विचित्र प्रकार अशोक० पूजायाँ (पाली मे अन्त्य स्वर सर्वत्र ह्रस्व) बनाया गया है जिसमे करण *कञ्ञया को, पृथक् करने का लाभ है उसकी लय द्वारा सज्ञा-रूप के सभी शेषाश का खण्डन कर देना, तो यह केवल व्याकरण-सबंधी विकृत रूप अधिक है। जहाँ तक स्थानवाचियो से सबध है, अशोक ने त(क्)खसिलाते, उजेनिते मूल के अपादान का तूलनाय [और व(ड्)ढिया] से भली भाँति अन्तर किया है; अधिकरण मे कञ्ञाय, जातिया अधिकरण के और करण के अस्थायी प्रयोग पर निर्भर रह कर प्राचीन रूप को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रकट करते है (अशोक ने तोसलिय, समापाय सुरक्षित रखे हैं)। शेष के लिये यह ज्ञात होना आवश्यक है कि यदि पाली का अधिकरण केवल भारतीय-ईरानी के अधिकरण का प्रसारीकरण नही है, तो सस्कृत में व्यजन का अनुनासिक कहाँ नही था; पा० पभावतिया गताय और पु० फा० भूमिया वेज़र्काया की तुलना कीजिए।

उनमे ऐसे रूप नही है जो बच रहे हो। उनके साथ-साथ, अशोक के अ-पश्चिमी अभिलेखो मे प्रमाणित, सप्रदान के प्राचीन रूप से निकले -ए सयुक्त विकृत रूपो की एक शृंखला मिलती है : कन्यायै, देवियै, भृत्यै (यह ह्रस्व -इ- सयुक्त विकरण से)। ब्राह्मण-ग्रथों और प्राचीन उपनिषदो के गद्य मे इन रूपो का सबध० महत्त्व-सहित प्रयोग हुआ है : क्लैसीकल संस्कृत मे यह प्रयोग नही मिलता, किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उसका प्रयोग है अथवा -एभि: संयुक्त करण० बहु० पु० की भाँति उसकी पुन स्थापना की गई मिलती है। उसी से अशोक० दुतियाये देवीये है जो विहिसाये की भाँति है (यह देखा जा चुका है कि संप्रदान के एक विशेष अर्थ मे यह रूप पुल्लिग तक विस्तृत हो जाता

है); किन्तु अशोक ने फिर भी करण० अपादान व(इ्)ढिया का भेद सबध० सप्र० व(इ्)ढिये से किया है जिसके साथ अधिकरण - चातुमासिये, पलिसाये जुड जाते हैं, तुलना के लिये पीछे देखिए।

व्यंजन-युक्त विकरण

यह देखा जा चुका है कि किन ध्वनि-सबधी परिस्थितियो मे उन्व मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से व्यजन-सबधी सज्ञा-रूप लगभग पूर्णत लुप्त हो गया। आकृति-मूलक परिस्थितियो ने भी वैसा ही प्रभाव प्रदर्शित किया है, वह भी इस सुविधा के साथ कि सामान्य प्रवृत्ति व्याकरण-सबधी समकक्षता की ओर हो गई थी। इसका एक स्पष्ट उदाहरण -स् युक्त विकरणो का है। पुल्लिग मे, पाली मे केवल चन्दिमा है जो उसके स्त्री० सज्ञा के उत्पन्न हो जाने के कारण है और जो बाद को स्त्री० मे ही सम्मिलित हो जायगा। नपु० मे अशोक ने कुछ कर्त्ता० दिये हैं यसो, तुलनात्मक भुये, दवीये; सभवत सबध० दिघावुसे; पाली मे भी कोई अधिक विशेषता शायद ही हो, किन्तु करण० एक० मे विकरणयुक्त रूपो पर प्रभाव डालने की काफी शक्ति थी : बलसा, दमसा जो दमेन (कर्त्ता० बल, दमो) के समीप है। सामान्य नियम की दृष्टि से -स्-सयुक्त विकरण, सकोच या व्याप्ति द्वारा, विकरणयुक्त सज्ञा-रूप की ओर झुक गये हैं : दुम्मनो, अव्यापन्न-चेतसो, बहु० नपु० सोतानि (स्रोतासि), तुलनात्मक सेय्यो, स्त्री० सेय्या, नपु० सेय्य और सेय्यसो (किन्तु साधारण तुलनात्मक वैकल्पिक -तर-पर-प्रत्यय सहित निर्मित होना है)।

-र्-, -न्-, -न्त्- युक्त विकरण

अकेले प्राचीन व्यजनजात विकरणो मे, ये विकरण परिवर्तन-क्रम वाले सज्ञा-रूप को अंशत. बनाये रखते हैं, किन्तु अशोक० और पाली मे स्वर-सबधी विकरणो का सावर्ण्य अभी काफी दूर है।

एक० मे, करण० पा० सत्थारा, पितरा उस युग के है जब कि समुदायगत व्यजनो में, सस्कृत में, सारूप्य आ गया था अथवा वे पृथक् हो गये थे, अशोक० गिर० पित्(त्)आ, भात्(त्)आ जो भात्रा के निकट है, द्वारा प्रमाणित, सारूप्य एक ऐसे रूप को जन्म देता है जो तिङ मे अच्छी तरह खप नही सका, स्वर-सबधी समावेश द्वारा पा० सत्थारा, पितरा अधिकरण सत्थरि, भातरि, अशोक० पितरि से भली भांति मेल खा जाते हैं; अन्त मे, मुख्य कारको के बाद स्वर का दीर्घीकरण, जो कर्म० सत्थार और करण० अपा० सत्थारा को उसी रूप मे स्थित करता है जिसमे कम्मार और कमारा हैं, और जो बहु० तक प्रसारित एक नवीन तिङ की रचना करता है।

किन्तु नवीन प्रणाली पूर्ण नहीं है, वह न तो कर्त्ता० कर्म० बहु० सत्थारो को जिसने एक० रूप धारण कर लिया था, और न सबध० एक० सत्थु, पितु को एक दूसरे के समीप ला सकी।

तो भी इसमे रचना द्वारा पोषित बहु० करण० और अविकरण० हैं, जो प्रचलित हो जाने वाले सादृश्यो के अश बन जाते हैं। उनमे ऋ अपने मूल रूप मे प्रत्ययों से पूर्व -इ- अथवा -उ- द्वारा सीमित हो जाती है, प्रत्युत पूर्व की ओर -इ- वैसी प्रतीत होने लगती है, -उ- पश्चिम मे और पाली मे। उसी से -उ- और -इ- सयुक्त विकरणो के साथ सावर्ण्य स्थापित होता है *सत्थुभि आदि रूप तो लुप्त हो जाते हैं, किन्तु पा० सत्थूहि, सत्थून, सत्थूसु, पितून (जो अस्पष्ट पितुन्न के निकट है), पूर्वी अशोक० भातिनं नातीन, शह० स्पसुन ने करण० एक० पा० पितुना, पूर्वी अशोक० पितिना, शह० पितुना को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, और सबंध० सत्थु, पितु, अशोक० मातु की व्याप्ति सीधे सस्कृत मे पा० सत्थुनो, पितुनो में, फिर सत्थुस्स, पितुस्स, मातुया मे आई है। अशोक के पूर्वी रूप महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनसे यह प्रमाणित हो सकता है कि नवीनताएँ सबध० एक० के अश के रूप मे नही है। शेष, पाली मे कुछ अपादान पितितो, माततो हैं और भातुक- के निकट भातिका- जैसे व्युत्पत्ति वाले रूप है।

किन्तु सबधियों के नामो के समुदाय मे एक विशेष प्रतिरोध-शक्ति है, जिस प्रकार कि वैदिक भाषा मे पत्यु और जन्यु उत्पन्न हो गये थे, पाली में सखि- के लिये कर्म० एक० सखार, कर्त्ता० बहु० सखारो (शेष सामान्य रूप है सहायक-) है, इसी प्रकार महावस्तु मे भार्याम् के लिये भार्यारम् है, और जैन प्राकृत भवन्तारो (भयन्तारो) को जन्म देती है (Aupap १४२)। स्त्री० मे कर्त्ता० स० दुहिना, जो ऋग्वेद मे एक बार द्वयक्षरात्मक के रूप मे आता है, धयति के प्रभावान्तर्गत धीता, जिसका सज्ञा-रूप पा० कञ्ञा की तरह होता है, रूप धारण कर लेता है, सस्कृत महाकाव्य उसका प्रमाण कर्म० एक० दुहिताम् द्वारा देता है, पाली मे है कर्म० एक० धीतर, बहु० धीतरो के निकट सबध० धीताय, जो धीतु और धीतुया के निकट है, धीतान जो धीतून के निकट है। इसी प्रकार सबध० एक० माताय अशो० पा० मातु और पा० मातुया (धेनुया की भाँति) है। जहाँ तक स्वसृ- से निकले ससा से सबध है, उसका स्थान पा० स० भगिनी ने ले लिया है।

इस प्रकार -र्- युक्त सज्ञाओ के विविध रूप विकरणयुक्त और सामान्य स्त्री० को सबद्ध करने के साधन है। कुछ सस्कृत शब्द भी इस प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं : श० ब्रा० नापित- (*स्नापितृ- से), भट्ट- (भर्तृ-)।

-न्- युक्त विकरणो की रूप-रचना समान रहती है, कम-से-कम एक० के आत्मा, पा० अत्ता की तरह - किन्तु जहाँ कहीं भी विकृत रूपो की शून्य श्रेणी सस्कृत व्यजनो

के निकट पहुँचती है, परिवर्तन-क्रम वैसा ही नही रहता। पाली, गिरनार के अशोक० और बेसनगर मे सबध० रञ्ञो, करण० रञ्ञा है; किन्तु पाली मे राजिनो, राजिना, अशोक० लाजिने, लाजिना का भी प्रयोग हुआ है; बहु० में, करण० राजूभि राजूहि, अधिकरण राजूसु है। दूसरे शब्दों मे -न्- युक्त विकरण -र्- युक्त विकरण के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। पूर्वी अशोक० करण० लाजीहि की तुलना पितुसु के साथ, पाली राजूहि से भिन्न पितूहि के साथ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साथ ही उन सज्ञाओं में जिनमे सस्कृत में -अ- है, यह स्वर उपयुक्त परिस्थिति मे नवीन तिङ के अनुकूल हो जाता है · पा० ब्रह्मुनो, पूर्वी अशोक० अत्(त्)उना और इसी प्रकार पा० कम्मुना।

अत में -अन्- की शून्य श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वय अ साक्षात् अनुकूलत्व और विकरणयुक्त सज्ञा-रूप के पृथक्त्व के कारण रहा है सबध० राजस्स, कर्म० ब्रह्म; नपु० कम्म, करण० कम्मेन, बहु० सबध० असान, अधि० कम्मेसु; अशोक० मे कर्त्ता० कमे, कर्म० कमं, संबंध० कमस्स, कमने के निकट, है।

संस्कृत मे भी, कर्त्ता० नयी रचनाओ (तुल० उपर्युक्त दुहिता) के पृथक्त्व का कारण बना है अथर्व० मे मज्जा पु० श० ब्रा० के मज्जा स्त्री० के और अप्रत्यक्ष रूप से पा० मिञ्जा के बाद आता है, महाकाव्य मे सीमा स्त्री० है, जो अथर्व० सीमन्- से है, कोशो में प्लीहा स्त्री०, प्लीहन्- पु० से, दिया हुआ है, और यदि वर्त्म नपु० का प्रतिनिधित्व पा० वट्टा स्त्री० (जिस पर आप० गृ० वर्तमन्- स्त्री० आधारित होना चाहिए) द्वारा होता है, तो यह निस्सन्देह ही अन्तर्वर्ती पु० *वर्तमा ('स्ट्युडिआ इन्डो-ईरानिका', पृ० १७) के कारण है।

विकरणीकरण की ओर प्रवृत्ति के कम-से-कम विरोध का एक कारण विशेषण होना चाहिए, एक रूप अशोक० मैसूर बहु० महात्पा दृष्टिगोचर होता है, करण० एक० महात्पेन, जो खुद्(द्)अकेन के विपरीत है।

-न्त्- सयुक्त विकरणो मे अशोक० मे तो वर्तमानकालिक कृदन्त हैं ही · नपु० बहु० गिर० तिस्टन्तो, करण० एक० हेतुवता, मगवता। कर्त्ता० एक० पु० कठिनाई से मिलता है पूर्वी अशोक० भगवं; किन्तु कालसी० शह० पजाब, जो गुणवा (कियं अशोक० स्तम II का कियत्- के साथ कोई संबध नही है यह 'कि इय' के समान है, धौलि मे पृथक् हो गया प्रथम आज्ञा का महा अपाये समास होना चाहिए, जैसा कि जौगड का समानधर्मी रूप उसे प्रकट करता है); १४ वी आज्ञा मे धौलि और जौगड मे एक विकरणयुक्त पु० एक० महते रूप है जिसे ही अन्य रूप महल्(ल्)अके के पक्ष मे बचा जाते हैं; सारनाथ में अव(–)ते (सं० यावान्) है, और इस रूप से पृथक् होता है व्युत्पत्ति वाले बहुतावंतके। इसी प्रकार कृदन्तो में गिर० करोतो है (जिसका रूप करातो लेखन-

प्रणाली की दृष्टि से अपूर्ण होना चाहिए), अन्यत्र व्याप्ति प्राचीन रूप की याद दिलाती है : पूर्ण रूप में कलत, करंतं, किन्तु सबंध० एक० अश(न्)त(स्)म - सं० अशन्त। अशोक मे वर्तमान-कालिक कृदन्त मध्य मे अधिक पसन्द किये गये है, फिर नियमित रूप से विकरणयुक्त रूपो मे पाली, जिसमे समानो है, पस्स, कुब्ब, भव (सबंध० करोतो, भोतो) का बहुत प्रयोग करती है, किन्तु साथ ही बहुत पहले कर्त्ता० एक० पु० पस्सन्तो, सबंध० पस्सन्तस्स जानो, पस्सो काव्य त्मक ग्री० हॉपाक्स् से हैं। -वन्त्-युक्त विकरण में कर्त्ता -वा है : गुणवा, सतिमा, भगवा; किन्तु भव गोतमो और साथ ही अरह पुराने मत्रो (?सूत्रो) मे, अरहा जो स्वतंत्र शब्दो मे माना गया है, 'सद्दनीति', पृ० १७३। नये रूप -न्-(जिसके सस्कृत मे चिह्न मिलते है) युक्त विकरण के साथ मेल खाते प्रतीत होते हैं और एक रूप सतिम, जो कर्म० एक० के रूप मे प्रयुक्त हुए पाये जाते हैं, की अनिश्चितता की ओर झुके प्रतीत होते हैं, ओजव नपु० ओजवत् का स्थान ग्रहण कर लेता है, किन्तु स्वय अपने मे सतिमा प्रयुक्त होना चाहिए था और हुआ है कर्त्ता० बहु० के रूप मे अथवा स्त्री० के रूप मे (कर्त्ता० बहु० पु० मतीमा, नपु० एक० स्त्री० कित्तिमा)। किन्तु -वन्त्- युक्त विकरणो मे, जिस प्रकार वर्तमानकालिक कृदन्तो मे, सामान्य रूप सीलवन्तो प्रकार, की व्याप्ति रही है ।

प्राकृत

क्लैसीकल प्राकृत के रूप प्रधानत अत्यधिक ध्वनि-सबधी क्षय के कारण उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा वालो से भिन्न है। व्याकरण की प्रणाली समान है, केवल नये रूपो की प्रमुखता हो जाती है, और सरलीकरण की आवृत्ति होती है। विभिन्न प्राकृतो मे बहुत अधिक अन्तर दृष्टिगोचर नही होता, साथ ही ये स्वतंत्र बोलियाँ भी नही है; उनका एक ही व्याकरण-सबधी आदर्श है और, बहुत कम अपवादो के रूप मे, विविधताएँ रूपो के केवल ध्वनि या आकृति-मूलक पुरातनत्व की श्रेणी ग्रहण करती हैं, इन रूपो के ग्रहण करने मे यह आवश्यक नही कि नियमो को पालन किया ही जाय इस प्रकार एक ही ग्रन्थकार की रचना मे कर्त्ता० एक० जुवा और जुवाणो (स० युवा), सासं और सासन्तो (स० शासन) मिलते हैं, इतने पर भी -अन्तो कृदन्त की स्पष्टत प्रमुखता मिलती है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि प्राय जो रूप इधर के प्रतीत होते है वे कृत्रिम ढंग से बनाये गये सस्कृत के हैं; श्वा जैसा एक स्फुट शब्द इस बात की गणना करने के लिये यथेष्ट है : पाली मे, कर्त्ता० एक० सा, बहु० सानो के निकट है सुवाण-, सुण-, जिसमे मूर्द्धन्य ण् है और जो प्रामाणिकता का चिह्न है, और साथ ही सुनख- है जो निस्सन्देह

एक श्लेष-शब्द ' सु-नख- से बना है, प्राकृत माणो, जो पाली मे भी प्रचलित रहता है, एक पुर्निर्मित रूप मे प्रतीत होता है, यह कोई सयोग नही है कि 'कुत्ते' की आधुनिक सज्ञाएँ सब भिन्न हो। इसी प्रकार पन्थो, और बहुत कुछ पहो (-पहो, -वहो विशेषत रचना मे मिलते है) सदेहात्मक हैं, जब कि वह शब्द, जिसका स्थान वट्टा स्त्री० ग्रहण कर लेता है, केवल कुछ विलक्षण बोलियो मे मिलता है; उससे भी अधिक अद्धा (अध्वन्-) है, जिसका कोई आधुनिक रूप नही है।

एक० पु०-नपु० मे -आ युक्त अपादान दुर्लभ नही है, -आहि युक्त तो महाराष्ट्री मे प्राय मिल जाता है, -अम्हा युक्त सर्वनामवाची रूप का अभाव है, सामान्य क्रिया-रूप विशेषण से उत्पन्न हैं, किन्तु जैन प्राकृत को छोड कर, निरन्तर -आ सहित सौर० पुत्तादो, महा० पुत्ताओ।

आदर्श अधिकरण है अर्द्ध मा० लोगसि, महा० लोअम्मि, कभी-कभी लोगमि, मागधी कुलाहि, — — मि जो स्मि (—) से निकलता है, -म्मि जो -म्हि से निकलता है, और दोनो पाली मे मिलते हैं, मागधी -आहि, चाहे स० प्रकार दक्षिणाहि का दीर्घीकरण हो (दे० पीछे), चाहे -अस्मिन् से निकले *-अश्शि मे शिन्-ध्वनि की विकृति के कारण हो, तुल० पूर्वी अशोक० -अ(म्)सि, सबध० मागधी कामाह की भाँति -अश्श से निकल सकता है।

ध्वनि-सबधी क्षय से यह स्पष्ट हो जाता है कि सबध० बहु० का अन्त्य अनुनासिक उदासीन हो सकता है पुत्ताण, विपर्यस्त रूप मे प्राय अन्त्य अनुनासिक सहित लिखा जाता है महाराष्ट्री करण० एक० पुत्तेण, अधि० बहु० पुत्तेसु, करण० बहु० पुत्तेहि।

इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है फलाणि के निकट बहु० नपु० फलाइ का मुख्य कारक।

पुत्ते के निकट, जो सामान्य है, कर्म० बहु० पु० मे प्राय पुत्ता पाया जाता है जो सस्कृत से नही निकला, न पाली से, किन्तु जो अग्गी, रिऊ (तुल० स० रिपून्), वहू, दे० माला, प्रकारो के उदाहरण, के कारण होना चाहिए।

-आ(द्)ओ मे अपादान एक० से भिन्न, पाली की भाँति प्राकृत मे बहु० मे करण के प्रयोग की रीति प्रचलित है। किन्तु एक विशेष रूप बनाने के लिये कुछ प्रायौगिक रूप उत्पन्न कर लिये गये हैं, अकेला एक जो प्रकाश मे आता है, और वह भी जैन धर्म-नियम मे, वह एक विचित्र रूप मे है, वह करण मे क्रिया-विशेषणजात प्रत्यय -तो के जोडने से बनता है · पुत्तेहितो; वैयाकरणो ने तो (कुछ पाठो के आधार पर ?) पुत्ताहितो, पुत्तेसुतो और सकर रूप मे पुत्तासुतो पर भी, जो एक ही सिद्धान्त के आधार पर बने हैं, दृष्टिपात किया है : वे एक० के रूप भी स्वीकार करते हैं। वे प्रायौगिक रूप प्राचीन

काल मे जिनकी रूपरेखा मिलती ही है (ऋ० पत्सुत), भाषा के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वहीन रहे हैं।

स्त्री० मे, अपादान के समान प्रत्ययो का ही प्रयोग होता है : सौ० मालादो, वहूदो, महाराष्ट्री मालाओ, वहूओ, और बहु० मे मालाहितो आदि।

स्त्री० एक० के अन्य विकृत रूपो मे, प्रत्यय -आअ बना रहता है; पाठो मे वह बहुत कम मिलता है, और वररुचि ने उसकी अनुमति नही दी, प्रचलित रूप -आए है, यहाँ प्राकृत पूर्णत पाली का खण्डन करती है (किन्तु -आये गाथाय,'सद्दनीति', पृ० ६७५) और अशोक द्वारा प्रयुक्त पूर्वी बोलियो से साम्य रखती है फलत मालाए और इसी प्रकार देवीए, वहूए दीर्घ स्वर सहित हैं।

इसी प्रकार कर्त्ता० कर्म० बहु० मे मालाओ, जो पाली मालायो का समानधर्मी है, देवीओ, वहूओ रूप मे स्वर का दीर्घीकरण स्वीकार करता है।

जो अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि स्त्री० की प्रतिक्रिया पु० पर होती है और जैन धर्म-नियम के पद्यो मे कर्त्ता० बहु० मे देवा प्रकार के निकट माणवाओ जैसे कुछ रूप है, वे कितने ही दुर्लभ हो, वे एक वास्तविक तथ्य प्रतिबिंबित करते हैं; यह मन्द प्रत्यय गआइ (गजान्) प्रकार के कर्म० रूप का सतुलन करता है जो कि फिर अशोक-युग से लेकर प्राकृत तक चला आता है।—क्लैसीकल साहित्य मे भी इसीओ (ऋषय), गिरिओ के कुछ उदाहरण मिलते हैं।

दो प्रमुख रूप-रचनाओ ने अन्य रूप-रचनाओ को आत्मसात् किया है अथवा उनके लिये आदर्श का काम दिया है। पु० मनो और नपु० मन, प्रथम महाराष्ट्री और जैन, द्वितीय विशेषत शौरसेनी और मागधी मे, प्रकारो की रचना ज्ञात है ही, इसी प्रकार कम्मो और कम्म है, -अन्- युक्त पु० मे, -आ युक्त कर्त्ता० मे स्त्री० वाले कुछ अशो के कारण हुआ है. चन्दिमा, जो पाली मे पु० है, अद्धा (और वट्टा), उम्हा जुड़ जाते हैं।

-न्- युक्त विकरण -इ- युक्त सज्ञाओ मे बराबर मिलते रहते हैं : रआआ (राजा) का बहु० करण० मे रआईहि, सबध० रआईण है, जिसका परिणाम यह होता है कि सभी समानान्तर प्रत्ययो मे एक-सी ही लय रहती है।

अपभ्रंश

प्राकृत रूपो में अपभ्रंश, पाठो के अनुसार परिवर्तनीय अनुपात मे, कुछ ऐसे रूप जोड़ लेती है जो ध्वनि की दृष्टि से उनके और साथ ही नवीन प्रत्ययो के, काफी परिवर्तित दुहरे रूप हैं।

अपभ्रंश रूपों में ह्रस्वीकरण हो जाता है और अन्त्य स्वरो की ध्वनि मन्द पड जाती है : कर्त्ता० बहु० प्रा० पुत्ता पुत्त हो जाता है; कर्त्ता० एक० पुत्तो भी पुत्तु हो जाता है; दूसरी ओर कर्म० एक० पुत्त का अनुनासिक स्वर सवृत हो जाता है : जिससे पुत्तु हुआ; और समान कर्त्ता० कर्म० के इस पुत्तु का अन्त्य यहाँ तक मन्द पडने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कि बाद के कुछ पाठो मे कर्त्ता० बहु० पुत्ता से निकले पुत्त से उसकी गडबड हो जाती है।

इस प्रणाली की अन्य विशेषताएँ हैं प्रत्ययो मे -ह्- की प्रचुरता, और बहु० के विकृत कारको मे अनुनासिक स्वरो की प्रचुरता।

विशेष-विशेष प्रत्यय निम्नलिखित हैं :

विकरणयुक्त, पु०-नपुं०

एकवचन

कर्त्ता० कर्म० पुत्तु (जो पुत्त हो सकता है), फलु, के सबंध मे बताया जा चुका है।

करण० मे पुत्तेण (—), पुत्तें, पुत्ति के सपूर्ण प्रत्यय का ह्रस्वीकरण हो सकता है, जो प्राकृत के नियमो के विरुद्ध है, इसके अतिरिक्त अनुनासिक अपनी स्पर्शता खो बैठता है, जिस प्रकार प्राकृत मे बहु० नपु० आइ मे है।

अधिकरण के दो रूप होते हैं : पुत्ति, प्रा० पुत्ते का दूसरा रूप, और पुत्तहिं, जो मागधी पुत्ताहिं और साथ ही पा० प्रा० तहिं आदि सर्वनामजात क्रिया-विशेषणो की याद दिलाता है।

रूपों की इस दूसरी माला मे अपादान पुत्तहें जुड जाता है, तुल० पा० भयाहि, प्रा० मूलाहि। अपादान का एक और रूप पुत्तहों है जो निस्सन्देह उपलब्ध रूपो के अनुकूल हुआ प्रा० पुत्ताओ है (अथवा क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि ह्रस्व रूप का स्थानातरण हुआ है, पा० पुत्तओ ?)।

संबध० के अनेक रूप हैं पुत्तह का मूल सर्वनामजात है (प्रा० मह, जिससे तुह); सभवत पुत्तहो भी क्योकि मह के निकट, अपभ्रंश मे महु है, जो मह + मज्झु (मह्यम्) है, और तौ (*तओ, तव से ?)। यह देखने की बात है कि पुत्तहो साथ ही अपादान भी है; इससे तथा इस बात से कि दो कारकों मे स्त्री० एक० और बहु० मे एक-सी ही अभिव्यजना है, संभवत 'नीसरियँ सरियँ मन्दिरासु' का अपादान० प्रयोग स्पष्ट हो जाता है, भव० ३४२, ७ तथा पृ० ३४*।

जहाँ तक पुत्तसु, पुत्तासु से संबध है, उनका अन्त्य स्वर पुत्तह, पुत्तहु के सादृश्य पर

है; संभवत: यह भी केवल कर्त्ता० बहु० पुत्त के दीर्घ से निकले अ की अपेक्षा अधिक सवृत अन्त्य अ का संकेत-चिह्न है।

बहुवचन

कर्त्ता० कर्म० पुत्त, फलैं का संबध प्राकृत के पुत्ता, फलाइं से है। वह एकवचन और बहुवचन दोनो मे होता है—एक विचित्र मुख्य कारक है।

करण० पुत्तेंहिं, पुत्ताहिं; अधिकरण पुत्तहिं।

करण० का परंपरागत प्रत्यय सामान्यत. *पुत्तिहिं, *पुत्तिसु तक सीमित रहता है और उसकी गडबड -इ-युक्त सज्ञाओ से हो जाती है जैसे अग्गिहिं, उसी से विकरणयुक्त स्वर उत्पन्न होता है, जो बाद को समस्त तिङ को प्रभावित करता है। किन्तु अधिकरण मे इस प्रकार उपलब्ध *पुत्तसु अपरिवर्तनशील होता है, सबंध० एक० होने के कारण, और फलत वह एक महत्वपूर्ण कारक है, अधिकरण और करण को सबद्ध होते भी देखा गया है, भले ही एकवचन और बहुवचन के लिये एक ही रूप प्राप्त हो। यह उन छोटी-सी बातो में से एक बात है जो इस भाषा के कृत्रिम रूप का आभास देती है, वास्तविक बोलचाल मे इन अनेक अनिश्चितताओं का भेद बनाये रखना निस्सन्देह कठिन ही था, किन्तु इस बात का अनुमान करने का अधिकार तो होना ही चाहिए कि जिस युग मे अपभ्रश मे लिखा जाता था, सयुक्त "मध्य मे, बाद मे" के अर्थ में शब्दो के समुदाय या समासो द्वारा कारक की अभिव्यजना, विशेषत अधिकरण की, पहले ही से प्रचलित थी।

यह कहा जा सकता है कि करण और अधिकरण एकवचन के निकट रहे हैं, चाहे वह युग रहा हो जब कि पुत्तें और पुत्ते रहे हो, चाहे बाद का जब कि अधिकरण पुत्ताहिं पुत्ते हो जाता है।

सबध० पुत्ताहँ।

यह देख लेने पर कि पुत्तेण पुत्तें हो जाता है (और फलाणि, फलाइ हो जाता है, प्राकृत के समय से), तो यहाँ फिर चाहे *पुत्ताम् की, चाहे *पुत्ताअँ की आशा की जा सकती है। इन कष्टप्रद रूपो का स्थान दुहरा संबध० ग्रहण कर लेता है · पुत्तह+अँ जो -आण से निकलता है। परिणामस्वरूप दृष्टिगोचर होता है एक द्वयक्षरात्मक प्रत्यय, जैसा कि, एकवचन और बहुवचन मे, विकृत कारको के सभी प्रत्यय होते हैं।

किन्तु साथ ही अनुनासिक स्वरों के केवल अस्तित्व के कारण बहु० का एक० से

विरोध स्थापित हो जाना है · पुत्तह पुत्तहँ। इससे सभवत: अपादान का नवीन रूप पुत्तहुँ का स्पष्टीकरण हो जाता है जिसका एक० पुत्तहो से विरोध है।

प्राकृत मे पहले से ही पुत्तान का अनुनासिक करण० पुत्तेंहि और अधिकरण पुत्तेसु तक पहुँच चुका था।

स्त्री०

एकवचन मे कर्त्ता० और कर्म० (बिना अनुनासिकता के) माल, पु० की भाँति एक विचित्र रूप है। विकृत कारको मे मालएँ की आशा की जाती है, और वास्तव मे यह करण का रूप है, किन्तु अधिकरण अपादान की विशेषता ह् द्वारा मालहे, -हि सकेत-चिह्न निर्धारित होता है, अधिकरण मालें, जो मिल भी जाता है (भव०, पृ० ३५*), इस बात का द्योतक है कि वास्तव मे पुल्लिग आदर्श-स्वरूप रहा है।

बहुवचन मे कर्त्ता० कर्म० माल, करण० अधि० मालहिँ, सबध० मे मालहँ के निकट मालहु मिलता है, भलीभाँति प्रमाणित न होने पर इस रूप का एक अपादान-सबधी पक्ष होता है; उससे, स्वय मालहे के एक वचन मे उत्पत्ति के आधार पर, प्राकृत मालाओ प्रकार के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है।

अन्य विकरण

-इ और -उ युक्त सज्ञा-रूप, न तो भली भाँति स्थापित तिङ प्रदान करते हैं, न महत्त्वपूर्ण समस्याएँ। सबध० एक० अग्गिस्स प्रकार का लोप ध्यान देने योग्य है, पुत्तह के विपरीत अग्गिहेँ, अग्गिहि और गुरुहेँ मिलते हैं, देखिए (भव०, पृ० ३६*) गुरुहु, बहु० मे अग्गिहु अथवा अग्गिहू, अथवा स्त्री० मे देविहु जो सौनिहँ (शकुनीनाम्) के निकट है, किन्तु सनत्कुमारचरित मे मुण्हिँ, सहिहिँ।

सर्वनाम

आदर्शीकरण की प्रवृत्ति ने, जिसके फलस्वरूप नामजात सज्ञा-रूप की स्वर-सधि उत्पन्न हुई, मर्वनामो मे कुछ परस्पर विरोधी बाते उत्पन्न हो गयी थी। उनमे पृथक् करने वाली बातें अनेक और बार-बार दृष्टिगोचर होने वाली हैं, कोई एक सामान्य विधान नही मिलता। उसी से होती है रूपो के मूल की वृद्धि और विकास, कभी-कभी अस्पष्ट, किन्तु जिसकी प्रामाणिकता के सबध मे शायद ही कभी सदेह हुआ हो, वे विविध प्रायौगिक रूपो का एक युग प्रमाणित करते हैं और प्राय. आधुनिक बोलियो मे प्राप्त रूपो के अधिक स्थायी विभाजन की ओर संकेत करते हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एक वचन

मुख्य कारक—कर्त्ता० द्वयक्षरी वैदिक त् (उ)र्वम् और कर्म० एकाक्षरात्मक त्वाम् का विरोध, पा० प्रा० त से भिन्न पा० प्रा० तुव (पा० त्व के निकट) तक पहुँचता है, किन्तु प्राकृत तुम दो कारको की प्रवृत्ति प्रकट करता है। उत्तम पुरुष मे भी पा० अशो० गिर०, अह, कर्म० पा० म; एक व्युत्पत्तिवाला बौद्ध प्रा० रूप अहक, प्रा० मागधी अहके, जैन, अहय है, जिसमे आदि स्वर के लोप के कारण द्वयक्षरात्मक पक्ष निहित रहता है पूर्वी अशोक० हक, प्रा० मागधी ० हगे, हग्गे, जिससे अप० हउँ जो तुहुँ की उत्पत्ति का कारण बना और जो उसी की तरह केवल कर्त्ता० है, (अ)ह कुछ क्रियामूलक रूपो मे अपने को सयुक्त कर बना रहता है, दे० और आगे।

गौण कारक के सभी रूपो का यहाँ सग्रह करना निरर्थक होगा, कुछ उदाहरण ही वास्तविकता को प्रकट करने के लिये यथेष्ट होगे।

उत्तम पुरुष के सबध० के लिये, प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा मे 'मम' बना रहता है। किन्तु सबध० और सप्र० वाक्य-विचार-सबधी तुल्यता से यह ज्ञात होता है कि मह्य अपनी अनुनासिकता, जो अस्थायी भी है, इस प्रकार 'मम' को प्रदान करता है।

दूसरी ओर अशोक० शह० मअ है, जो पाली मे सदृश रूप के अभाव के कारण, प्रा० मह को, जो भारोपीय मे मिलता है, प्राचीनत्व प्रदान करता है · *मेघे, तुल० *तेभे, V sl तेबे और सभवत प्राकृत सह-, V sl. सेबे और अर्थ के लिये सं० स्वयम् से साम्य रखता है। प्राकृत मह ने स० मह्यम्, जिससे महं, से अनुनासिकता ग्रहण की है, यह समानता मध्यम पुरुष तुह, तुह मे भी मिलती है।

अपादान मे, मत् ने, जो अत्यन्त सक्षिप्त और असुविधाजनक है, प्राकृत मे सामान्य पर-प्रत्यय ग्रहण किया है, जिससे मत्तो बना, जो वैयाकरणो को ज्ञात कुछ रूपो के लिये आदर्श का काम देता है और सबध० को प्रभावित करता है : ममत्तो, मज्झत्तो।

करण भी सबध० को आधार रूप मे ग्रहण करता है . पूर्वी अशोक० ममया, जो कभी ममिया था, जिसके लिये पृथक्-पृथक् आज्ञाओ मे ममियाये की गणना नहीं की गयी। इन आज्ञाओ मे बाद को महावस्तु मे ज्ञात करण० मये का चिह्न मिलता है। इसके विपरीत भब कर्त्ता० हमा हमियाये के आधार पर शेष उन सबका काम निकालते हैं जिनकी ठीक-ठीक परिभाषा निर्धारित नही हो सकी। क्या महावस्तु मये रूप के साथ करण० मया और प्राचीन प्रत्यांश मे के सबध का भी क्या वही महत्त्व हो सकता है? अथवा वह नाम-प्रत्यय से सबधित है ? जो कुछ भी हो, यह रूप क्लैसीकल प्राकृत तक में

बना रहता है : मए, मै, और इसी प्रकार मध्यम पुरुष तए, तै (जो पा० करण० अपा० तया का स्थान ग्रहण कर लेता है)।

मं के निकट मुख्य कर्म कारक ममं में सबध० स्वय विकरण की सहायता करता है; क्या यह भारोपीय में भी है ? अन्यथा प्रत्ययांश मे, ते में दो मूल्यों का अस्तित्व विपर्यस्त रूप के लिये सहायक सिद्ध हो सकता है।

ये सभी रचनाएँ इसलिए और भी अधिक रोचक हैं क्योकि ये बहुत या कम शीघ्रता के साथ लुप्त होने वाली थीं (उदाहरणार्थ, अशोक के करण० केवल उन्हीं मे मिलते हैं), और इससे उस प्राचीन संप्रदान को लाभ पहुँचा जिसे सर्वनाम उस समय तक सुरक्षित रखता है जब कि वह संज्ञाओं मे से लुप्त हो जाता है : पा० मयृहं [जिससे प्रा० मज्झ (–), अप० मज्झु] से तुयृह [प्रा० तुज्झ, तुज्झु के निकट, अप० में तुध्र है, मव० (तुवृभु) जिनकी विकृति अस्पष्ट है] की उत्पत्ति को सहायता मिलती है, जो भिन्न रूप तुब्भ (–) (सं० तुभ्यम्) को, जिसका केवल क्लैसीकल प्राकृत मे प्रमाण मिलता है और जो फलत संदेहात्मक है, बचा जाता है।

मध्यम पुरुष एक० के तु- विकरण का प्रभाव अन्य रूपो तक प्रसारित होता है। सबंध० तुहृ तो देखा ही जा चुका है; निय सबध० तुस्य (कर्त्ता० तुओ) प्रदान करता है। करण० मे, तए, ऊपर उद्धृत तै, से प्राकृत तुए, तुइ बनते हैं जो इधर तुम से सम्बद्ध हो जाने पर, तुमे, तुमए प्रदान करते हैं। स्वय तुमे, तुमए फिर अपादान मे दीर्घ रूप तुमाहो, तुमाहि, जिससे तुमाए, धारण कर लेते हैं। ये सब रूप एक ही पाठ मे पास-पास मिल जाते हैं : गौब अवहो तए, तै, तुमाए, तुमाइ; हाल तुए, तुइ, तुमए, तुमाइ; जैन तए, तुमे, तुमए। प्रामाणिक रूपों का अनुपात बताना कठिन है; अपभ्रंश में संज्ञाओ के करण० की अनुनासिकता के कारण अत्यधिक प्राचीन रूप दीर्घ हो जाता है, तइँ (पइँ संस्कृत के आधार पर बना उसका एकमूलीय-भिन्नार्थी शब्द प्रतीत होता है हर हालत मे उसमें संस्कृत का चिह्न नही मिलता; सर्वनामो के प्- ने आत्मन्- वर्ग, प्रा० अप्पा की याद दिलाई)।

बहुवचन

उत्तम पुरुष के कर्त्ता० में, वयम् का आदि, जो मध्यम पुरुष के प्रत्ययाशों सं० व., पा० वो की याद दिला सकते हैं, अपने को एक० के अनुकूल बना लेता है, जिससे है पा० मयं, पूर्वी अशोक० मये उसी से बाद को ह० दुनु०, महावस्तु मो नो के लिये, सं० न। यह पूर्ण नहीं है : अशोक में मये का कर्म० है अ(प्)फे, अ(प्)फेनि (पीछे भी देखिए) जो सीधे वैदिक अस्मे विकृत रूप की याद दिलाता है जिसे केवल यास्क ने मुख्य

कारक के रूप में स्वीकार किया है; अप्फे *अप्फ पर आधारित है जो सीधे संस्कृत अस्मान् से निकला है; *अप्फ, पा० सबंध० अम्ह, सं० अस्मान् की भाँति नही, स्वतन्त्र रूप में, बना है और *नूस्मे के प्रतिनिधि से बना है, लेस्बियन (ग्री०) अंम्मे, हाल के कर्म० सबंध० अम्ह में सुरक्षित, पीछे भी देखिए। इस कर्म कारक का केवल एक अंश है; प्रा० अह्मे कर्त्ता० कर्म० है और अशोक० मये का प्रभाव उसमे आ गया प्रतीत होता है; पा० तुम्हे, पूर्वी अशोक० तु(प्)फे दो कारको के लिये आवश्यक है। यह तुम्हे विकरण एक० युष्मे, जिसने यूयम्, जो सस्कृत की अपनी रचना और मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रतिकूल है, का स्थान ग्रहण कर लिया है, के आधार पर पुनर्निर्मित हुआ है; और *तूय को एक० sur. प्राकृत उम्ह- के अत्यन्त निकट होना चाहिए, पीछे देखिए।

अन्त मे, मुख्य और विकृत कालो के प्रत्येक सर्वनाम मे केवल एक विकरण रहता है। दूसरे प्रकार के कारको की टीका-टिप्पणी की कोई आवश्यकता नही है।

सर्वनामजात विशेषण

सस्कृत मे सर्वनामजात विकरणो की सख्या कम हो ही गयी थी और जिन्हें उसने सुरक्षित रखा, उन्हें समुदायगत किया। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे विकरणो और तिङो का सरलीकरण जारी रहा।

विकरण अमु-, जिससे निकले वैदिक अमुत., अमुंग थे ही, उस समुदाय की वास्तविक विशेषता है जिसमे असौ कर्त्ता० एक० पु० है। यही कारण है कि पाली मे अमू जो पहले स्त्री० बहु० था पु० मे अमी का स्थान ग्रहण कर लेता है, एक० मे कर्त्ता० पु० अमु पु० स्त्री० असु के समीप आ जाता है। असु मे विशेष स्वर उतना ही ग्रहण किया गया है जितना ध्वनि की दृष्टि से अपने जैसे रूपो मे से छोड देने के बाद आवश्यक था क्योकि असौ > *असो स्वभावत सो, एसो (स, एष) के साथ जाता है। वही स्वर नपु० में दृष्टिगोचर होता है : अदु *अदो, स० अद, के लिये। प्राकृत मे एकीकरण जारी रहता है : पु० स्त्री० एक० अमू, नपु० अमु, जिससे -उ युक्त सज्ञाओं के सज्ञा-रूप के आधार पर सबध० अमुणो, साथ ही अमुस्स (अमुष्य) हैं। वास्तव में इस सर्वनाम के रूप प्राकृत मे विरल हैं, और अशोक० मे तो एक भी नही है; तो भी यह देखा जायगा कि सभवत: उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रहते है, कम-से-कम कश्मीरी में।

निकट वस्तु-सूचक सर्वनामो में, अ- विकरणों का कोई प्रतिनिधित्व नही होता, और यह कुछ प्रत्ययांशो मे, प्रा० सबंध० एक० अस्स, स्स, बहु० सं। कर्ता, पु०, एक० अयं का रूप अशोक० गिरनार मे, पाली और अर्द्ध-मागधी मे स्त्री० का काम देता है; इसके विपरीत अशोक के पूर्वी अभिलेखों मे वह (पुरानी फ़ारसी की भाँति) इय है और वह

भी पुल्लिग मे। जहाँ तक कर्त्ता० कर्म० नपु० इद से सबध है, उसकी प्रतिद्वन्द्विता इमं (तुल० अ० इमत्) से है जिसके सामान्य विशेषण के रूप मे आने पर उसके साथ साम्य उपस्थित हो जाता है, और कर्म० पु० स्त्री० (इम इमम्, इमाम्) के साथ भी, यही पर विकरणयुक्त प्रकार के सामान्यीकरण से अलगाव हो जाता है सबध० एक० पु० नपु० इमस्स, स्त्री० इमाय, पूर्वी अशोक० इमाये, पु० बहु० इमेस, करण० इमेहि आदि, जिससे अन्तत प्राकृत मे कर्त्ता० एक० पु० इमो, स्त्री० इमा, इमिआ।

प्रश्नवाचक मे, मुख्य काल नपु० म० किम् का स्पष्ट विरोध क- के साथ है; उसका एक प्रमाण है कश्चिन् > *कच्छि पर आधारित पूर्वी अशोक० किछि, तुल० अशोक० कालसी पु० केछ (कश्च)। विकरण का प्रभाव विकृत कालो तक पर दृष्टिगोचर होता है पा० सबध० किम्स जो कस्स के निकट है, अधि० किम्मि जो क्रिया-विशेषण कस्मा के रूप मे अपादान से भिन्न है, अशो० किमस्(स्)उ जो पा० के नस्सु के तुल्य है, प्रा० किणा वि (केनापि) इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है, न कि भारतीय-ईरानी का आश्रय लेने से, तुल० गाथा० चिंना। स्पष्टत भाषा की प्रवृत्ति वास्तविक लिंग के सज्ञा-रूप से पृथक् एक विशेष्यमूलक सर्वनाम की ओर है, इसीलिए बाद को हिं० क्या, गु० क्यूं जो कि- की व्याप्ति द्वारा बना है, जो हिन्दी कौन्, कोण्, जो क्- की व्याप्ति द्वारा है, से भिन्न है, अप० कवण (दे० आगे)।

वास्तव मे प्राकृत मे विशेषत कीस का प्रयोग 'क्यो' ? और साथ ही 'जो' के अर्थ मे होता है, जो पा० किस्स हेतु, प्रा० मागधी कीश कालणादो जैसी अभिव्यजनाओ से निकलता है।

अपनी विशेषता लिये हुए स्वर गति-सूचक सर्वनामो मे प्रकट होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है . अशोक० ऐति(स्)स जो एत(स्)स के निकट है, एतिन जो एतेन के निकट है, और फलत एतिय अ(ट्)ठाय, इमिना जो इमेन के निकट है। उससे मैसूर मे है इमिना कालेन और पा० पु० मे इमिना, जिसे अमुना द्वारा बल प्राप्त होता है, तुल० महावस्तु एकिना पु० और स्त्री०। जिस अथरस पु० (फलत पढिए इमिस्स) के साथ न केवल शहबाज० इमिस मिलता है, वरन् ध्रमनुशस्तिये स्त्री० भी (फलत यहाँ पढिए इमिस्सा), पाली मे भी स्त्री० मे -इस्स्- का प्रयोग हुआ है सबंध० (ए)तिस्सा, इमिस्सा और साथ ही एकिस्सा, अञ्ञिस्सा, अधि० तिस्स, इमिस्स आदि (*यि- की असुविधा के कारण केवल यस्स शेष रहा है)। प्राकृत की-, जी-, ती- से स्त्री० विकृत रूप के नवीन विकरणो का अलगाव देखा आ सकता है।

शेष मे विकरण क-, इम- की भाँति, सबधवाचक य- की भाँति, प्रा० ज- और निश्चय-वाचक अथवा आवृत्तिमूलक त-, एत-, प्रा० एअ-, त्य- (जो बहुत कम मिलता है), अत मे

त- (संबंध त- के बाद आने वाले एन- से निकला प्रत्ययांश : एत- जिनकी संज्ञाओं के आधार पर रूप-रचना निर्धारित होती है, किन्तु मुख्य कारकों के रूपों की एकता बनाये रखने के साथ-साथ ते, इमे, अमू आदि)। इम- का कारक तो देखा ही जा चुका है। इसी प्रकार है कर्त्ता० कर्म० नपु० य, एतं (यद्, एतद्), अशोक० संप्र० पु० एताय, स्त्री० एताये, पा० अधि० स्त्री० ताय जो तस्सं (तस्याम्) के निकट है, अशोक० पा० येसं, किन्तु पूर्वी अशोक० एतानां जो बहु० एतेष के निकट है; पाली में समझौता उपस्थित किया गया है जिसमे कम सफलता मिली है : एतेसान, येसानं। स्त्री० मे प्राकृत रूप होगा ताए, तीए जो मालए, देवीए के आधार पर एक सामान्य विकृत रूप है। जैन प्राकृत मे संबंध० बहु० पु० तेसिं, स्त्री० तासिं का एक च्युत रूप है जो अभी तक स्पष्ट नही हो सका।

यह देखा जाता है कि रूपो की स्वय वृद्धि सामान्यीकरण के प्रायौगिक रूप से हुई है; और उत्पत्ति की स्वतन्त्रता होने पर भी, जो सर्वनामो मे स्वाभाविक है, उनकी सख्या बडी नही है, केवल अपभ्रंश मे ही कुछ नवीन रूप मिलते हैं, शेष अस्पष्ट हैं : आअ-, एहु, कर्त्ता० बहु० ओइ (अदु-, अमु- मे, अथवा भारतीय-ईरानी अव- मे प्रदर्शित, अथवा पजेंद-फारसी ओइ से लिया गया ?)

नव्य-भारतीय भाषाओं में संज्ञा

वर्ग

वह प्राचीन संज्ञा-रूप जिसका रूपो से संबंध है अपने को घटाता हुआ और नियमित करता हुआ चलता है, किन्तु इन रूपो का प्रयोग लगभग नहीं रहता है, और प्राचीनतम संस्कृत के समय से मध्यकालीन भारतीय भाषा तक संज्ञा-रूप की मूलत: एक ही प्रणाली रहती है, जो भारतीय-ईरानी के उत्तराधिकार के रूप मे है। जब ध्वनि-संबंधी विकास के कारण शास्त्रीय प्रणाली के नष्ट हो जाने से सब कुछ अपरिवर्तनशील हो जाता है, तभी आधुनिक भाषाओ की विशेषता नवीन प्रणाली का जन्म हुआ।

लिंग

संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे संज्ञाओ के और उन सर्वनामो के जो पुरुषवाचक नहीं हैं (पुरुषवाचक सर्वनाम स्त्री० का एक स्फुट उदाहरण वा०सं० युष्मा. है; नव्य-भारतीय भाषाओ मे सिंहली मे केवल ती स्त्री०, पु० ता है) तीन लिंगों का भेद मिलता है। आधुनिक भाषाओ मे से अधिकतर भाषाओ मे केवल दो लिंग हैं; नपु० केवल मराठी और गुजराती, और दूसरी ओर हिमालय की भद्रवहि (bhadra-wahi) मे मिलता है (एस० वर्मा, 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I)। लंका मे चेतन और अचेतन के भेद पर आधारित एक नवीन संगठन मिलता है। अन्त में पूर्वी समुदाय है: बंगाली-असामी-उड़िया मे प्राचीनतम पाठों के समय से ही कोई लिंग-भेद नहीं है।

भारोपीय के चेतन और अचेतन के प्राचीन भेद का संस्कृत मे कोई महत्त्व नहीं है; इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से, मुख्य कारको को छोड कर, सर्वत्र पुल्लिंगो और स्त्री० के नपु० का विरोध मिलता है, ऐसा विशेषत. स्वर-संबंधी विकरणो से युक्त संज्ञाओ मे दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् स्वय उनमे जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में जीवित रह जाते हैं। कुछ प्राचीन पर-प्रत्ययो, उदाहरणार्थ, -अ-, -त्र- के विशेष्य के चेतन अथवा अचेतन अर्थ का अनुसरण करते हुए दो लिंग संभावित थे। वास्तव में संस्कृत में विकरणयुक्तों की एक बहुत बड़ी संख्या के लिये पुल्लिंग और नपुंसक० के बीच

अनिश्चितता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है; अस्तु, नीडः और नीडम् : आकाशः, आकाशम्; पुस्तकः, पुस्तकम्; मस्तकः, मस्तकम्; सामान्य प्रवृत्ति नपुं० की ओर पायी जाती है, वै० गृहः, क्लैसीकल गृहम्; दिव्यावदान में मार्ग-, द्रव-, कोष- नपु० हैं (यह ठीक है कि उसमें मास- पु० है) ; तमिल और तेलेगू के उधार लिये गये शब्दों (यह कहना आवश्यक है कि उनकी तिथि अनिश्चित है) में नपुं० की प्रचुरता देखते हुए, यह कहना पड़ता है कि क्लैसीकल पाठ जितना अचेतनो के लिंग के रूप में उसे प्रकट नहीं करते उससे अधिक उस पर विचार होना चाहिए · अस्तु, तमिल मे हैं सयमरम् (स्वयंवरः), सुदेसम् (स्वदेशः), सुरुवम् (स्रव· और स्रुवा), सन्दनम् (स्यन्दनः) और साथ ही मरुवम्, मच्चम् (मत्स्यः); तथा प्राकृत से लिये गये हैं पुयम् (भुज.), दे० कयम् (गजः) (उदाहरण अनवरतविनायकम् पिल्ले कृत 'संस्कृतिक ऐलीमेंट . . ., द्रैवीडिक स्टडीज', III, मद्रास, १९१९ से लिये गये हैं)।

जिनका मुख्य कारकों से संबंध है, उनके बहु० के रूपो मे शीघ्र ही एक अनिश्चितता ज्ञात हो जायगी। एक ओर तो -आ युक्त नपु० प्राचीन प्रत्यय, जो पु० के सदृश है, पाली मे बना रहता है, जिसमे कभी-कभी पु० का विरोध मिल जाता है (सर्वनाम : ये केचि रूपा, सब्बे रूपा)। किन्तु दूसरी ओर मध्यकालीन भारतीय भाषा मे नपु० मिलता है।

अशोक के पूर्वी अभिलेखो मे, पु० और नपु० के लिये कर्त्ता० एक० -ए युक्त है : किन्तु उसमें एक नपु० है; क्योंकि कयाने का कर्त्ता० बहु० कयानानि (स० कल्याणम्) है। यह ठीक है कि कर्म० पु० के लिये अशोक ने प्रायः -आनि, -ईनि से युक्त प्रत्ययों का प्रयोग किया है, जैसा कि श्री ल्यूडर्स का कहना है ('Sitzb.' बर्लिन, १९१३, पृ० ९९३; एफ़० डब्ल्यू० टॉमस, जे० आर० ए० एस०, १९२५, पृ० १०४; तुल० अपफेलि, पृ० १४६)। यह अनिश्चितता बहुत दिनो तक बनी रही, अथवा उचित बात तो यह है कि प्रत्यय -आनि अथवा उससे निकले हुए रूप बहुत दिनों तक बने रहे ताकि कुछ भाषाओं मे वे स्त्री० बहु० के रूप मे काम आकर रह जाते।

मुख्य कारक के एक० से जहाँ तक संबंध है, वह, जैसा कि देखा जा चुका है, मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि-प्रणाली द्वारा संतुलित हो जाता है।

अब प्राचीन नपु० रूपों मे कुछ संख्यावाची संज्ञाएँ रह जाती हैं। पाली मे तो दुवे का सामान्यीकरण हो ही गया था, जो अनेक स्थलो पर दृष्टिगोचर होता है; प्राकृत मे दोण्णि, तिण्णि (प्रथम दूसरे के आधार पर बनता है, और जो अप्रत्यक्षतः "चार" से निकलता है, दे० बार्थोलोमी, 'Sitzb'., हाइडेलबर्ग, १९१६, पृ० ६), चत्तारि, अप० चारि, जिससे लगभग सर्वत्र चार् बनता है, तीन् सिंधी, लहँदा और दर्द को छोड़ कर, दोन् केवल मराठी में।

'क्या, कुछ' अर्थ वाले सर्वनामो की आधुनिक उत्पत्ति के सबध मे आगे देखिए।

तो नपु० व्याकरण के उचित लिंग के रूप मे लगभग सर्वत्र लुप्त हो गया है; इसके विपरीत चेतन और अचेतन सज्ञाओ मे अन्तर करने की प्रवृत्ति के चिह्न मिलते हैं।

पहले वाक्य-विचार मे सज्ञा के चेतन, पुरुषवाचक अथवा अचेतन के अनुरूप कश्मीरी मे परसर्ग का चुनाव, गुजराती मे स्त्री० के सबध मे बहु० नपु० का, स्पेनिश a से तुलनीय, चेतन सज्ञाओ के कारको मे मुख्य कर्मकारक का स्थान ग्रहण करने के लिये परसर्ग का सामान्य प्रयोग।

स्वय रूप-विचार मे, पहले सिंहली की ओर सकेत करना उचित है, जिसमें एक नवीन सज्ञा-रूप की प्रणाली का निर्माण मिलता है : एक ओर तो पुल्लिंग और स्त्री लिंग है, जिनका निर्माण मुख्य कारक और गौण कारक, जिसमे परसर्ग भी जुडे रहते हैं, के दो वचनों मे होता है, दूसरी ओर अचेतन हैं, जिनमे करण और अधिकरण भी हैं, इन विकृत कारको की रचना केवल एक० मे होती है। यहाँ कुछ निश्चित न कर सकने योग्य अनार्य आधार का प्रभाव देखा जा सकता है।

नेपाल मे भी उसी प्रकार व्याकरण-सबधी लिंग लुप्त हो गया है, उसमे केवल ऐसे कुछ स्त्री० रूप रह गये हैं जिन्हे स्त्री रूप मे कहा जा सकता है, उदा० नारि, यह एक ऐसी बात है जो व्युत्पत्ति और शब्दावली से नि सृत होती है, न कि व्याकरण से। साथ ही इसमे एक ऐसी भाषा के चिह्न भी मिलते हैं जो इधर हाल ही मे भुला दी गयी है। यह भी निस्सन्देह एक आधार, तिब्बती और मुण्डा, का प्रभाव है, जो पूर्वी समुदाय मे लिंगो के पूर्ण लोप के मूल मे है, केवल कुछ विद्वत्तापूर्ण रचनाओ मे ही उसके अधिक चिह्न पाये जाते है, और पुराने बँगला पाठो के कुछ उद्धरण, जो उसके सबध मे दिये जाते हैं, इतने कम हैं कि उनका कोई महत्त्व नही रह जाता।

सर्वनामो मे स्त्री० के न्यूनत्व के सबध मे, और आगे देखिए।

इस प्रकार प्रणाली तो निश्चित थी, अब केवल इस बात की ओर सकेत करना शेष रह जाता है कि अलग-अलग शब्दों का लिंग बिना परिवर्तित हुए सदैव प्रेषित नही होता। पाली के समय से ही यह दृष्टिगोचर होता है कि कुच्छि, सालि और धातु मूलत. पु० थे, किन्तु जिनमे स्त्री० प्रत्यय ग्रहण करने की प्रवृत्ति रहती थी, और वास्तव मे दीर्घ और ह्रस्व -इ- और -उ- युक्त विकरण एक दूसरे के निकट हैं। उससे हैं :

अग्नि पु० · म० गु० हि० आग्, सि० आगि, जिप्सी-भाषा यग्, प० लहदा० अग्ग्, स्त्री० है,

कुक्षि: पु० . कश० कोँछ, प० कुक्ख्, कुच्छ्, सिं० कुखि, गु० कुख्, म० कूस् स्त्री० है;

वायु. पु० : हि० बाओ, सि० वाउ, पं० हि० वा स्त्री० हैं; म० वाव्, गु० वा पु० वात- से निकल सकते हैं,

इक्षु: पु० : हि० ऊख्, ईख्, गु० ऊस् स्त्री० हैं, किन्तु म० ऊस्, प० इक्ख् पु०;

बाहु. पु० : हि० प० लहंदा बाँह्, सि० बुँह् स्त्री लिंग हैं, व्युत्पत्ति वाले स्त्री० म० बाही, गु० बाँही,

अक्षि नपु० . गु० हि० आँख्, प० अक्ख्, सि० अक्खि स्त्री० हैं,

व्याप्ति सहित

दधि नपु० ' गु० म० दहिँ नपु०; हि० दही पु०, किन्तु प० दहिँ, लहंदा दही, सि० ड्रही स्त्री०।

वस्तु नपु० : सि० वथु और साथ ही तत्सम हि० गु० वस्तु, स्त्री० हैं।

इसी प्रकार वर्त्म नपु० जो प्राकृत मे वट्टा हो जाता है सर्वत्र स्त्री० द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है, तुल० दे० पीछे।

और भी विविधताएँ मिलती हैं, विशेषत विद्वत्तापूर्ण शब्दों मे, इस सबध मे कोई सामान्य नियम नही है उदा० हि० प० गु० देह् स्त्री० (मराठी मे पु०) की स्त्री० मे व्याप्ति मिलती है सि० देह ँ। हिन्दी मे सौंह् (शपथ-) स्त्री० है, (बात्, स० वार्ता, का प्रभाव ?), किन्तु तारा, देओता पुल्लिग हो सकते है, व्यक्ति मे यह नियमित रूप से है।

यहाँ स्त्री० व्युत्पत्ति वाले रूपो के सबध मे विचार करना व्यर्थ होगा क्योकि सस्कृत -इनी और विशेषत -इका, जो सामान्यत -अको स्त्री० वाले का काम देते हैं, से निकले पर-प्रत्ययो के कार्य की ओर सकेत कर देना यथेष्ट है।

व्युत्पत्ति-युक्त सज्ञाओ मे लिग के एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग की ओर संकेत करना आवश्यक है। हिन्दी मे, स० भाण्डम् से भिन्न, कभी-कभी हण्डा पु० और हण्डी स्त्री० मिलते हैं, पहले का अर्थ है बड़ा बर्तन, दूसरे का छोटा बर्तन, स० रश्मि: पु० से भिन्न, हि० मे रस्सा, रस्सी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह वैपरीत्य वैसा ही है जैसा, घोड़ा, घोड़ी का; किन्तु व्युत्पत्ति-युक्त पु० अधिक बड़ी चीज का आशय प्रकट करता है, स्त्री० छोटी या कोमल वस्तु का। अन्यत्र भी, यह अन्तर मिलता है . गु० टेक्रो पु०, टेक्री स्त्री०; गडुं नपुं०, गडी स्त्री०, सि० कातु पु० "बड़ा चाकू", काति स्त्री० "छोटा चाकू", माटो पु०, माटी स्त्री०। निश्चित विस्तार की ओर ध्यान नही जाता और विशेषत: इस तथ्य का, किन्तु इतिहास सामान्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से रोचक हो सकता है।

वचन

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति, संस्कृत की रूप-रचना में तीन वचन होते हैं – एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति, द्विवचन बिल्कुल लुप्त हो गया है, यह अलगाव मध्यकालीन भारतीय भाषा से पाया जाता है। वैदिक संस्कृत मे, द्विवचन सामान्य बात है, साथ ही भारोपीय से अधिक, जिससे युग्म की भाँति विचार होता है युग्म प्राकृतिक या निरतर मिलने वाला (अक्षी, ग्री० ओ''स्से; और साथ ही भ्रुवौ, तुल० ग्री० ओफ्र्उएम्, दुहरी चीजें द्वारौ जो द्वार के निकट है, ग्री० थु'रइ), अथवा तर्क द्वारा ज्ञात अथवा परपरागत जोड़े (हरी, 'इन्द्र के दो घोडे'); जोड़े की भावना ही वचन की भावना मे है, जिसका प्रमाण एक ओर प्राचीन मत्रो का अस्तित्व है जिनमे किसी व्यक्ति को बताने वाले द्वि० मे सदैव साथ रहने वाला व्यक्ति निहित रहता है (मित्रा, मित्र और वरुण; अहनी, दिन और रात, क्लैसी० स० पितरौ माता-पिता, भ्रातरौ, -भाई और बहन), साथ ही द्वौ की उपयुक्तता प्रमाण-स्वरूप है जब कि वह अन्य, प्रकट या अप्रकट, की सहायता से वचन घोषित करता है (उभौ 'वे दोनों' में 'साथ- साथ' की भावना निहित है)।

ऋग्वेद के कुछ कम प्राचीन अशो मे कुछ अनिश्चितता मिलती है (मेइए, बी० एस० एल०, XXI, पृ०५९), यदि उदाहरण ठीक हैं, तो यह इसके ह्रास के शुरू होने का प्रतीक होना चाहिए, और इस सबध मे प्राचीनतम क्लैसीकल सस्कृत मे वास्तविक विकास पूर्णत छिपा रहा, क्योंकि उसमे दो चीजो का उल्लेख, चाहे द्वौ उपयुक्त हो या न हो, जब कभी होता है तो द्वि० का प्रयोग होता है. ऋ० (१०वां अष्टक) घर्मा, महा० अङ्गुल्यौ। वास्तव में, बौद्ध सस्कृत में कभी-कभी, विशेषत. सर्वनामो मे, द्वि० के लिये बहु० मिलता है, उसमें यह चिह्न स्पष्ट है; और सब बात तो यह है कि अधिकांश उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा मे द्वि० के केवल कठिनाई से मिलने वाले चिह्न मिलते हैं (श्री एच० स्मिथ के अनुसार : जातक V ३७५ ब; व्यक्तिवाचक सज्ञाओ के कुछ द्वन्द्व, दे० सद्दनीति, पृ० ६३४, n. १९, गार्बे, 'फेस्टश्रिफ्ट जाकोबी', पृ० १२८ के आधार पर भास में एक प्राकृत उदाहरण)। 'दो', 'सब दो' की संज्ञाओ के लिये, पा० दुवे, उभो में प्राचीन रूप सुरक्षित है, किन्तु उनसे लै० ड्यूओ की भाँति द्वि० का प्रतिनिधित्व नहीं होता; दो, जो संभवतः अनुकरण-मूलक प्राचीन रूप है (प्राकृत बे के अनुकरण पर *दुवो से दो ?; प्रा० दोण्णि का स्पष्टतः एक बहुवचन रूप है; अन्य व्याख्या बार्थोलोमी Sitzb. Heidelberg, १९१६, पृ० १७n.) और जो पाली मे मिलता ही है, के समीप, 'चार' और 'तीन' के रूपों के अनुकरण पर बने विकृत रूप द्विन्नं बहु० हैं।

आधुनिक भाषाओं में केवल एक० और बहु० हैं। तो भी मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि-प्रणाली के कारण प्रायः बहु० के मुख्य कारक और एक० के मुख्य कारक में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता · ऐसा मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) में होता है। जिप्सी-भाषा की भाँति कुछ भाषाओं में इस अभाव की पूर्ति मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) के बहु० में व्याप्ति-युक्त संज्ञाओं के प्रत्यय के प्रयोग द्वारा की गयी है। इसके अतिरिक्त एक शब्द मे दूसरा शब्द जुड़ जाता है, उसकी रचना चाहे उपयुक्त रूप मे हो, चाहे 'सब, लोग, समुदाय', आदि की भाँति समूह की भावना निर्धारित और प्रदान करने वाले रूप मे। ऐसा विशेषतः चेतन संज्ञाओं मे होता है, जब कि संभवतः एक ऐसी 'प्राचीन' धारणा का अनुगमन पाया जाता है जिसके अंतर्गत अचेतन को सामूहिक रूप मे, न कि अलग-अलग व्यक्ति के रूप में, देखा जाता है : काल्डवेल[1] पृ० २३२, ने कहा है कि द्रविड़ भाषाओं मे बहु० के पर-प्रत्यय केवल बुद्धि-सम्पन्न जीवों के लिये प्रयुक्त होते हैं; बोडिंग, 'मैटीरियल्स . ' II, पृ० ४० के आधार पर संथाली में वचन के चिह्नों का एक निर्णयात्मक महत्त्व है। इसके विपरीत तिब्बती में बहु० का रूपमात्र नहीं है, किन्तु उसमें 'बहुत' और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग होता है।

एक आकृति-मूलक कारण भी पाया जाता है · जब तक नपु० बना रहता है, उसका एक स्पष्ट बहु० वाला रूप मिलता है, जब कि उसमे एक० का अभाव रहता है · उदा० मराठी मे ऐसा अब भी मिलता है पु० एक० और बहु० चोर्, किन्तु नपु० सूत्, सूते (सूत्राणि)। किन्तु यह केवल पूरक है, क्योंकि यह होता तो बहुत पहले से चला आ रहा था पतंजलि कुम्भकार -कुल- "कुम्हार" न कि 'कुम्हारो का संघ', महा० बन्धु-जन- "माता-पिता", पा० मातु-गाम "स्त्रियाँ"।

हिन्दी मे कहा जाता है 'हम् लोग्' ('हम्' का बहु० "moi" का अर्थ देता है), 'साहिब् लोग्', लोग् (सं० लोक-) बहु० है। अवधी मे कहार लोगन् मं, हमे पने। बंगाली में अधिक विविधता का आश्रय ग्रहण किया गया पुरानी बं० लोअ, जन, सएल (सकल-), मध्यकालीन बं० सब् और कुछ संस्कृत शब्द गण, कुल गुला हो जाता है; आदि, आदिक दि हो जाते हैं, १५वीं शताब्दी मे दिग्, सान्निध्य-प्राप्त कुछ आदि शब्द · सकल, अत जो पहले आश्चर्यबोधक थे; अततः -कर अथवा -केर- से युक्त पर-प्रत्यय से बना व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण और प्रथमतः सब् के साथ जुड़ने वाला : आम्‌रा सब्, बामुनेरा सब्, बाद को 'सब्' शब्द का प्रयोग बन्द हो गया और पर-प्रत्यय से बहु० प्रकट करने के लिये काम निकाला जाने लगा, १४ वीं शताब्दी से ऐसा सर्वनामो में हो रहा है और एक शताब्दी बाद संज्ञाओं मे : छेलेरा, कामारेरा; अब तो यह अत्यधिक सामान्य रूप है। कुछ बोलियों में -इसा युक्त विशेषण मिल जाते हैं। पूर्वी बंगाली में मीम, मान्

छत्तीसगढ़ी मना, उड़िया मान (१५ वी शताब्दी में माण) के सदृश हैं : ये स० मानव के कुछ रूप हैं। असामी मे बोर (बहुतर- ?) होता है। पूर्वी बोलियो के और भी रूप उद्धृत किये जा सकते है जिनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

उत्तर-पश्चिम मे कती किले (विकृत किलो, फलत यह बहु० है), वैगेलि केले, प्रशुन किलि, पशाई कुलि, गवर्बती गिल ये ईरानी से उधार लिये गये हैं . अफगानी कुलै "गाँव"। गवर्बती मे नम् 'नाम' भी है, तुल० लै० नोमेन।

इसके विपरीत सिंहली मे अचेतन सज्ञाओ के लिये एक प्रत्यय होता है नुवर-वल् का सज्ञा-रूप एक० की भाँति होता है, इस शब्द 'वल्' की व्युत्पत्ति स्पष्ट नही है। साथ ही उसमे, सबधियों या उपाधियो के कुछ नामो के साथ सम्बद्ध, -वरु (स० -वर- आदरसूचक) और -ला (अय्य-ला, अय्य-वरु) हैं, समासो के द्वितीय अश से वह प्रभावित होता है, एक सामूहिक अर्थ मे, दूसरे आदरसूचक अर्थ मे।

बहु० की दृष्टि मे भारत मे आदरसूचक बहु० का महत्त्व ध्यान देने योग्य है। सच बात तो यह है कि क्रिया-रूप मे वह विशेषत देखा जाता है हि० 'राजा (आप) कहते है,' लेकिन इस प्रकार भी कहा जा सकता है 'राजा के बेटे यहाँ है' जिससे तात्पर्य है 'राजा का बेटा'। इस एक० और बहु० के मिश्रण का प्रभाव सज्ञा-रूप पर पडता है, विशेषत सर्वनाम-जात सज्ञा-रूप पर।

कारक

जिन लिंग-सबधी कुछ अव्यवस्थाओ को देखा जा चुका है उनसे और साथ ही द्वि० के लोप से लिंग और वचन-सबधी व्याकरण के वर्गो के प्रयोग मे कोई गभीर परिवर्तन नही हुआ। जो परिवर्तन रूप-रचना मे उत्पन्न हुए उनका बहुत बड़ा महत्त्व रहा; क्योकि जिन रूपो का उल्लेख हो चुका है उनके परिवर्तन और उनकी पुष्टता के साथ-साथ, उन रूपो के स्वय प्रयोग मे कुछ परिवर्तन हुए हैं जिनके फलस्वरूप अत मे एक ऐसा सज्ञा-रूप प्राप्त होता है जो उत्तरोत्तर पुराने सज्ञा-रूप से निकलता है, किन्तु जो अत्यन्त भिन्न रूप धारण कर लेता है।

भारतीय-ईरानी और भारोपीय से प्राप्त आठ कारको का भेद सस्कृत मे बना रहता है। रूपो का पुनर्विभाजन एक-सा नही था जैसे बहु० और विशेषत द्वि० की सज्ञाओ मे, और सर्वनामो मे, कई कारको मे समान रूप विद्यमान थे; किन्तु यह अव्यवस्था, जो ध्वनि-सबधी परिवर्तनो के फलस्वरूप मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उत्पन्न अव्यवस्था से अधिक नही थी, स्वय इस प्रणाली के लिये घातक थी। वास्तव में प्रणाली का प्रधान स्वरूप कुछ समान रचनाओं के सबद्ध रूपो के पूर्ण समुदाय द्वारा सुरक्षित रहता है;

और भाषा केवल रूप से संबंधित क्षत-विक्षत अंगों की फिर से रचना करने की स्थिति मे बनी रहती है : जैसे संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में अपादान का उत्तरोत्तर विचित्र होने वाला रूप प्राप्त करने के लिये क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय -त. के प्रयोग का प्रसार मिलता है, इसी प्रकार अवेस्ती मे, उस युग में जब कि विकरणयुक्त पु०-नपु० का अन्त्य -त् बना हुआ था, -आ युक्त विकरण और अविकरण-युक्त का विस्तार संबंध० से अपादान का दृढ़तापूर्वक भेद प्रकट करने के लिये होता है।

संस्कृत प्रणाली की मुख्य दुरूहता वाक्य-रचना-संबंधी तुल्यता की बहुतायत के कारण है। अस्तु, पुरुष जिसे कुछ दिया जाता है, संप्रदान, संबंध० और अधिकरण द्वारा प्रकट किया जा सकता है, जिससे कुछ कहा जाता है, वह कर्म, संप्रदान, अधिकरण, संबंध० द्वारा, उद्देश्य कर्म०, संप्रदान, अधिकरण द्वारा, स्थान करण या अधिकरण द्वारा, और इसी प्रकार परिस्थिति के लिये . काल, उन्ही कारको द्वारा और कर्म० द्वारा भी; करण और अपादान से इसी प्रकार कारण, पृथक्त्व, तुलना का बोध होता है; क्रियामूलक विशेष्यो के निकट, सादृश्य प्रकट करने वाले शब्दो के निकट, 'पूर्ण करना' अर्थ का द्योतन करने वाली क्रियाओ आदि के निकट संबंध और करण समान हो जाते हैं। कम परिष्कृत भाषा के पाठो मे, यह अव्यवस्था और बढ़ जाती है, जो प्रणाली के ह्रास होने का चिह्न और कारण दोनो है। इसी प्रकार क्रिया के संबंध मे है, जब कि कुछ महत्त्वपूर्ण रूप जो मूलत अलग-अलग थे समान प्रयोगो का काम देते हैं, उदाहरणार्थ अतीत की अभिव्यक्ति के लिये, वह एकदम लुप्त हो जाती है।

कारक की प्राचीन प्रणाली प्रत्यक्षत तो संस्कृत मे बनी रहती है। किन्तु उसमें सामान्यीकरण के चिह्न मिलते हैं, जैसे कर्म० मे क्रिया के पूरको के रूप मे सामान्यी-करण करने की प्रवृत्ति मिलती है, कर्मवाच्य के पूरको, क्रिया-विशेषणजात वाक्यों और विशेष प्रयोगो मे करण स्थित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

एक बात जो कम महत्त्वपूर्ण नही है वह है संप्रदान का लोप। लक्ष्य और संबंध अथवा गुणारोपण वास्तव मे समीपवर्ती भाव है और प्रागैतिहासिक काल से प्रत्यांश सर्वनामो मे समान रीति से व्यक्त हुए हैं, स० मे, ते पु०फा० मैय्, तैय् की भाँति। ऋ० के समय से संबंध० अन्य कारको के समान हो सकता है, विशेषत. संप्रदान के। ब्राह्मण ग्रन्थो में दोनो कारकों का प्रयोग संज्ञाओ के पूरको के अथवा क्रिया 'देना' के साथ-साथ पाया जाता है (ऐत० ब्रा० 'तस्य ह शत दत्त्वा'); बाद को यह अन्तिम प्रयोग स्थायी रूप मे पाया जाता है। विपर्यस्त रूप में, इन्ही पाठो मे,-आ और -ई युक्त स्त्री० का संप्रदान एक०, संबंध का स्थान ग्रहण कर लेता है (यही बात अवेस्ता मे दृष्टिगोचर होती है) . यह

एक ऐसा प्रयोग है जो संस्कृत से लुप्त हो जाता और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे निरन्तर बना रहता है, किन्तु जिसमे रूप अन्य संबंध० के समानान्तर रहता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के आदि मे ही सप्रदान का लगभग ह्रास हो चुका था। सप्रदान बहु० के लिये अशोक के अभिलेखो मे एक प्रत्यय -एहि मिलता है, जो 'देना' क्रियाओ के साथ संबद्ध हो जाता है, वह मुख्यत. श्लेष-पद-युक्त था (दे०, एस० मजूमदार, 'आसुतोष मेमोरियल', पृ० ३१), जब कि उसमे करण अथवा अपादान का भाव भी निहित रहता था, वास्तव मे, पाली मे केवल एक० विकरणयुक्त रूपो में सप्रदान के उदाहरण मिलते है, और वह भी लक्ष्य (सग्गाय गच्छति) और विशेषत भावना के अर्थ-सहित, जिसमे एक महत्त्व भी रहता है जो क्रियार्थक-सज्ञा सप्रदान अशो० पा० -तवे के प्राय. निकट होता है : अपुनब्भवाय, दस्सनाय (-नाए युक्त प्राकृत क्रियार्थक-सज्ञा संभवत इस सप्रदान को -तवे युक्त प्राचीन क्रियार्थक-सज्ञा सहित जारी रखता है)।

एक और कारक ने बहुत बडे अश मे सप्रदान का कार्य स्वीकार किया है, और वह है अधिकरण। वास्तव मे इस कारक का नामकरण ठीक नही हुआ और वह विविध और प्राय. अस्पष्ट संबंध प्रकट करता है, जिन्हे 'भाग लेना' शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यदि इस शब्द को हम वह मूल्य प्रदान करें जो उसे समाजशास्त्री प्रदान करते है। पाणिनि ने 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग किया है। अधिकरण का विरोध संस्कृत मे वैसा नही है जैसा लैटिन मे, उदाहरणार्थ सज्ञा-रूप की मुख्यत साक्षात् विशेषता द्वारा। अधिकरण द्वारा अभिव्यक्त इस संबंध की अनिश्चितता के कारण वह पूर्ण प्रयोग के लिये विशेषत योग्य हो जाता है, जो बात संस्कृत मे संबंध तथा लगभग अन्य कारकों के संबंध मे अज्ञात है। स्थिति या गुणारोपण, दिशा (क्योकि संस्कृत मे अधिकरण द्वारा प्रश्न-वाचक quo और साथ ही प्रश्न ubi प्रकट होता है) और लक्ष्य समीपवर्ती भाव है साथ ही क्लैसीकल संस्कृत अधिकरण द्वारा लक्ष्य और गुणारोपण प्रकट करने योग्य है, बौद्ध संस्कृत मे अधिकरण मे 'कहना' क्रिया के पूरक स्वयमेव मिल जाते हैं। पाली मे अधिकरण, करण, अपादान और यहाँ तक कि कर्म० का भी स्थान ग्रहण कर सकता है . वी० हेनरी ने उसे पाली सज्ञा-रूप को बनाने वाला कारक कहा है।

स्वय कारक से बनने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा की रूप-रचना प्रणाली में तो तुल्यताएँ बहुत बडी मात्रा मे पायी जाती हैं। जिन सूक्ष्म भेदो को रूप नही निश्चित कर पाता उन्हे निश्चित करने के लिये, भाषा अनेक परसर्गों का प्रयोग करती है।

सबसे पहले वाले प्राचीन पूर्व-क्रिया से निकले हैं; वे लघु क्रिया-विशेषण हैं, जैसे अनु, अभि, आ जो प्राचीन भारतीय भाषा मे, भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति, स्वतंत्र शब्द थे। पूर्व-क्रिया क्रियाओ से तुरंत पहले और संज्ञाओं के पहले या बाद

में, आने लगी : ऋ० पर्ष्वा अँनु, अँनु धून्। क्रम शीघ्र ही स्थापित नहीं हो जाता : महाभारत में भ्रातृभिः सह और सह भ्रातृभिः मिलता है, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक ही उपसर्गात्मक अव्यय के लिये दो ही परसर्ग मिलते हैं; और यह उपसर्गात्मक अव्यय वाली प्रवृत्ति क्लैसीकल संस्कृत में सामान्य हो जाती है, और वह इस रूप में कि समुदाय का क्रम निर्धारण के सामान्य क्रम के साथ सबद्ध हो जाता है, वह चाहे अनिश्चित संज्ञाओं के समुदाय में और रचना मे हो चाहे पूरक-समुदाय में और क्रिया के समुदाय मे हो।

तो भी यह नही कहा जा सकता कि सस्कृत या स्वय मध्यकालीन भारतीय भाषा मे वाक्यगत एक शब्द का दूसरे शब्द पर कारक, वचन आदि से संबंधित निरतर प्रभाव की दृष्टि से परसर्गों की प्रणाली थी। सज्ञा का कारक केवल अपना सबध क्रिया के साथ और निपातो के साथ, बिना समुदाय की भाँति हुए समुदाय के साथ सान्निध्य प्राप्त करते हुए, अत्यधिक भिन्न कारको के साथ-साथ चलते हुए, स्थापित करता है : ऋग्वेद मे अंनु प्राय कर्म० के साथ सम्बद्ध रहता है, किन्तु वह संबध० अपादान, करण के साथ भी आ सकता है, क्लैसीकल सस्कृत के वैयाकरण तो इन रचनाओं मे से प्रथम तीन की अनुमति प्रदान करते हैं; साथ ही पाली मे, जिसमे अन्य दृष्टियो से वह बहुत कम है, अनु अधिकरण के साथ स्वमेव आ जाता है; स० विना* "पृथक्", जिसमें 'बिना' रहित जो कर्म० के साथ केवल शतपथ ब्राह्मण मे आता है, पाणिनि के ग्रथ मे अपादान के साथ आता है, जो उन्ही के सबध मे कहा जा सकता है, किन्तु साथ रहने की निहित भावना के कारण वह करण के साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार पाली मे . माता-पितुहि विना, बिना मासेन हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक स्पष्टतः विचित्र अर्थ का नवीन उपसर्गात्मक अव्यय एक विचित्र कारक के साथ निरंतर सम्बद्ध हुए बिना रह जाता है।

सच तो यह है कि पूरी प्रणाली कमजोर है, और परवर्ती इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि प्राचीन पूर्व-क्रिया का केवल कुछ हद तक ही क्रियाओं के साथ संबंध बना रहता है, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र प्रकट करता है कि ओ- अथवा उ-(अप, अव-, उद्-), अथवा प्- (प्र-, ˜ति-), प्-/ब्-(वि-), स- द्वारा शुरू हुई अनेक आधुनिक क्रियाओ के आदि मे कुछ पूर्व-क्रियाएँ आती हैं : बाकी के यदि समीपवर्ती अर्थ वाले कुछ शब्दों का समुदायी-करण पूर्व-क्रियाओ से निकला हो या न निकला हो, उस संबंध को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है, तो पूर्व-क्रिया की रचना फिर उसी रूप में सामने नहीं आती। संज्ञाओं में, शेषांश और भी कम रह जाता है; लिखित भाषाओं में प्राचीन पूर्व-क्रियाओं के प्रयोगो मे सामान्यीकरण का अभाव एक ऐसी परंपरा प्रकट करता है जो अब भाषा के वास्तविक प्रयोग में पोषित हुई नहीं मिलती।

वास्तव मे वाक्यांश मे संज्ञाओ के रूप मे आने वाले कारको के प्रयोग का आवश्यक निर्धारण विशेष्यो के स्वय अनिश्चित रूपो के साथ समुदायीकरण द्वारा यथेष्ट तीव्रता के साथ प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के समय मे अन्त (अ० अन्तरअं, लै० इन्टर) के निकट अन्तरा मिलता है जो अन्तर-(अ० अन्तरो) का करण रूप है और जो फलत. प्राचीन काल मे 'भीतर' होना चाहिए; किन्तु अन्तरा कर्म० के साथ अन्तर् के रूप मे आता है (जिसका एक अधिकरण रूप भी होता है) और फलत विशेष्य के साथ सबध नही रखता; किन्तु ऋ० III,८,२ के समिद्धस्य श्रयमाण पुरस्ताद् मे, पुरस्ताद पुरः की भाँति अपादान या कर्म० के साथ नही चलता (ब्राह्मण-ग्रथो मे उपरिष्टाद् उपरि की भाँति कर्म० के साथ चलता है); यह एक ऐसी संज्ञा है जो संज्ञा ही के साथ सबध रखती है। मध्ये समुद्रे के निकट, तुल० पा० मज्झे समुद्दे, उदाहरणार्थ, मध्ये अर्णस; मिलता है। बाद को श० ब्रा० आत्मन उपरि, उपरि की ईरानी और वैदिक रचना कर्म० और करण० मे है; नवीन रचना सामान्य अधिकरण मे है। यह रीति सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे भरपूर प्रचलित होती है उदा०, इस प्रकार निर्मित होते है अन्तिके, समीपे, पृष्ठे, अर्थे, अर्थाय (पा० अत्थाय, अत्थ), हेतो (पा० हेतु), निमित्तम्, निमित्तेन, वशाद्, वशेन आदि। इन्ही नामजात समुदायो के इस प्रसार से उपसर्गात्मक अव्यय-सबधी प्रणाली का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

रचना मे कुछ कृदन्त और जुड जाते है, जैसे -सहित- जो सह का स्थान ग्रहण कर लेता है, आश्रित-, जो कभी-कभी 'मध्ये' की भाँति ही विशेष्य हो जाने की, और रचना मे अथवा कर्म० सहित निर्मित होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है। इसी प्रकार हम गवाक्षगता तिष्ठति, गुरुगताम् विद्याम् मे गतम्, गते की ओर चलते हैं।

अर्थ लुप्त हो गये विशेषणो मे सबसे अधिक रोचक 'कृत' है। महावस्तु मे उद्यानकृता आसना मिलता है, पाली मे विज्जागत- पाया जाता है, किन्तु कायगत भी, और साथ ही अट्ठीन नगर कत अभिव्यजना भी है जिसमे जो करण मिलता है उसमे भावपूर्ण प्रणाली का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार की रचना मे कृत- का प्रयोग प्रतिबिंबित होता है जिससे सामान्य निर्भरता प्रकट होती है, और जिसका पृथक्त्व स० महा० मम कृते, मत्कृते, पा० मकते, ममस्स कते मे पाया जाता है; स० अर्थकृते, अमीषाम् प्राणाना कृते। स्वय क्रिया के बन्धन-सूचक विशेषण से प्राकृत मे *केर (क्) अ मिलता है. मागधी शकु० तव केलके मम यीविदे, मृच्छ० चालुदत्ताह केलके, शौर० अज्जस्स केरओ जो दारअ केरिआए के निकट है साहित्य में ग्राम्य-भाव का द्योतक है।

क्रिया 'होना' के वर्तमानकालिक कृदन्त से एक सदृश प्रयोग वाला विशेषण प्राप्त

होता है। नासिक के अभिलेखों के अम्हस (न्) तक, पितुस (न्) तक में अब भी विकरणों से काम पड़ता है, न कि संज्ञा-रूपों से। किन्तु दिव्यावदान में, बिहारस्वामिसन्तकं अग्रहादेयम् (पृ० ४६४) के निकट (पृ० ५२९) देवस्य सन्तकं भक्तम् और (पृ० १७४) भगिन्याः सन्तिका प्रेष्यदारिका भी मिलते हैं।

अन्त मे कुछ अत्यन्त सामान्य क्रियामूलक विशेष्य, कर्म० के परवर्ती रूप में, परसर्गों के तुल्य हो जाते हैं; यह प्रयोग, सस्कृत मे देर से, पाली मे प्रायः मिलता है : कर्म० के साथ आदाय सिद्धान्ततः 'लिया हुआ' का अर्थ प्रकट करता है, किन्तु वास्तव मे वह केवल 'सहित' का अर्थ प्रकट करता है; इसी प्रकार गहेत्वा है; स० उद्दिश्य और प्रा० निस्साय प्रति के लोप की पूर्ति करते हैं, पा० उपादाय का वास्तव मे अर्थ 'अनुसार' है, आगम्म का 'सापेक्षिक दृष्टि से, कृपा से', ठपेत्वा 'छोड़कर या सिवाय'। यही रीति चलती रहती है, दे० आगे; उसकी रचना सामयिक सदृश समुदायों से होती है, किंतु उसमें अँगरेज़ी के ढग की चीजो की सभावना की जा सकती है : ये संबधित, ससृष्ट आदि के आधार पर अनुकरणमूलक हैं, न कि व्याकरण-सबधी व्यवस्था के अश।

यह जो केवल नामजात रीति है पाली मे सबसे अधिक विकसित हुई है। सबध० के प्रभाव के निकट, रचना प्राय रहती तो है, किन्तु प्रमुख रूप मे नही · उदाहरणार्थ ('एर्ज़ाहलुगेन इन् महा०') ; १ ४ मे भिक्खु'अट्ठा पाया जाता है और १.२१ वह्'-अट्ठयाए जो ३४४ जस्स्'अत्थाए के निकट है, ६३.१२ मम्'अत्थाए जिसमे रचना असभव हो गयी थी, १० ३७ बम्भदत्त्-अन्तिय किन्तु ३३.३ महावीरस्स अन्तिए,' ८ २५ नियभगिणीणम् अन्तिए, कए (कृते) अथवा कज्जे (कार्ये) जैसे अर्थ-विहीन शब्दो मे रचना सभव नही है : २९.३५, भोगाण कज्जे, ५० ३४ तस्स य कज्जे, ७८.८ तुम्हाण कज्जेण, ६.३४ मुक्खबद्धयस्स कए। भविसत्तकह (११ वी शताब्दी) मे केवल एक बार पौर-मज्झि मिलता है, सामान्य सूत्र सबध० है · दुज्जणहँ मज्झि, सज्जनहं मज्झि, नायरहँ मज्झि। ऐसे ही स्थलों पर वह रीति मिलती है जो आधुनिक प्रयोगो पर प्रकाश डालती है।

संज्ञाओं की रचना

विद्वत्तापूर्ण शब्दों से बनी भाववाचकता विशेषतः सस्कृत और मुसलमानी भाषाओं मे मिलती है (अर्थों के व्यतिक्रमो सहित, जिनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है), आधुनिक शब्दो का बहुत बड़ा समूह जिसमें अर्थ-व्युत्पत्ति-विचार से प्रभावित होने की प्रवृत्ति रहती है संस्कृत शब्दो का प्रयोग जारी रहता है; किन्तु जब से मध्यवर्ती व्यंजन अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणत होने या एकीकरण करने लगते हैं, इन

शब्दों की रचना बहुत सार्थक नही रह जाती। प्राकृत के बाद पर-प्रत्यय -अ- की हिन्दी पात् मे आवश्यकता नही रह जाती, और न पर-प्रत्यय -स्ना की ने० जुन् (ज्योत्स्ना) मे; हि० चून् (चूर्ण-) या चौक् (चतुष्क-) मे अन्त्य व्यंजनो के पर-प्रत्यय-संबंधी मूल्य का कोई चिह्न अवशिष्ट नही रह गया; बंगाली मे, जिसमे लिंग लुप्त हो गया है, कोई ऐसा शब्द स्मरण नही हो आता कि जिससे बेल् कभी बिल्व-, कभी बल्ली प्रकट हो सके।

तो जिस अनुपात मे आधुनिक भाषाओ ने रचना की उसी रीति का आश्रय लिया जो संस्कृत मे थी, मध्यकालीन सामग्री उससे उतने ही बड़े अंश मे भिन्न है; और जहाँ उनमे साम्य है वहाँ उनका मूल्य वही नही रह गया।

इसी कारण, अनेक प्राचीन समास दृष्टिगत होते हैं. हि० माउसी, मसी, प्रा० माउस्सिआ केवल *मातृष्वसृका अर्थ-व्युत्पत्ति-शास्त्री के लिये हैं; स्वयं हाल की रचनाएँ जैसे ने० चौलानि मे -आनि, अथवा फुलेल् मे -एल् केवल पानी, तेल् से मेल खाते हुए बने हैं और जो रचना में अपना आदर्श स्थापित कर देते हैं।

तो भी, दोनो पदो या शब्दो की रचना सामान्य बनी रहती है, और इस प्रकार रहती है कि बड़ी कठिनाई से यह जाना जा सकता है कि उदाहरणार्थ क्या हि० चौकोना, चौमास्, पछ्ताओ आधुनिक रचनाएँ हैं अथवा स० चतुष्कोण-, चतुर्मास्(य्)अ, पश्चात्ताप- से निकले हैं। असाहित्यिक भाषाओ मे शब्दो या पदो का सदैव विश्लेषण नही किया जा सकता, किन्तु उसके संबंध मे कम-से-कम थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लेन सरल होता है : कती इन्द्रोन् (इन्द्र-वतुष्-), अश्कुन इम्रा, एक देवता का नाम (यम-राज-), बहुत प्राचीन होने चाहिए, किन्तु अश्कुन मे ही अपल-गोन् 'दुर्गंध', अङ्गल-वट् 'आग का पत्थर', गर्डणि अङुर 'गिनने वाली उँगली' आदि मिलते हैं; शिना दैउँदार 'लड़का', सुँगमयो चूहा' में बहु० दारि् "लड़को" और स० मूष- के मिल-जुल जाने से रचना उपलब्ध होती है। मराठी जैसी भाषा मे, वैयाकरणो को प्रधान संस्कृत रचनाएँ प्राप्त करने मे कोई झंझट नही हुई (यह महत्त्वपूर्ण बात है कि संस्कृत समासो का आधुनिक शब्दो के समासो के साथ मिश्रण से ऐसा होता है) तत्पुरुष : राज्-वाड़ा, पोल्-पाट्, तोण्ड्-पाठ्; ताम्बाड्-माती, चोर्गोंठ्; बहुव्रीहि, प्रत्यक्षतः सख्या मे कम (व्याप्ति सहित, तुल० स० -क-) ति-मज्‌ला चौकड्नाक्या, -सिनृगी, संयोजन किये हुए रूप म० आईबाप्, तुल० हि० माबाप्।

एक प्रकार की रचना जिसके संस्कृत मे केवल चिह्न मिलते हैं शब्दो का दुहरापन (द्वित्व) है, किन्तु दुहरे रूप मे अनियमित ढंग से परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रहती है। पुनरावृत्ति से संस्कृत में नवीनता या विभाजन प्रकट किया जाता है; विशेष्य : दिवेदिवे

(विचित्र स्वराघात की ओर ध्यान दीजिए), सं० सद्यः, तुल० पा० पच्चं पच्चं, प्रा० केसाकेसि। इस संबंध में कुछ अन्य बातें भी हैं, अर्थात् बिना किसी ऐतिहासिक बन्धन के भारोपीय संस्कृत अतिशयार्थकों सहित एक अभिव्यंजक रचना है; उससे संज्ञाओं और क्रियाओं के मिलने की संभावना रहती है। यह बात क्लैसीकल संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में ध्वनि प्रकट करने वाले कुछ शब्दों द्वारा व्यक्त होती है: सं० (घतञ्जलि) झलञ्झला, पा० घुरघुर, घुरघुरायति। आधुनिक भाषाओं में ऐसे अनेक, साथ ही अत्यन्त व्यवहृत, उदाहरण हैं: बं० कट्कटा; ठक्ठका; म० कडकडी, क्रियाविशेषण उठाउठी।

हिं० पानिवानि जैसे प्रकार से पंजाबी पनित्'अनि; पनि तैनि। किन्तु यह अधिक दूर की चीज़ हुई। पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग द्वारा एक भिन्न रूप मिलता है: डोगृरी (पंजाबी बोली) रुक्क-सुक्क, लल्-सुर्ख, अख्ना-बेख्ना, कछो-कोले (गौरीसंकर के अनुसार, 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', I, पृ० ८१)। किन्तु इसी कारक मे एक अंश विकृत भी हो सकता है ग्रीक जिप्सी-भाषा मे सस्टो-वेस्टो है, फ्रेंच 'Sain et sauf' ('निरापद') के विपरीत, जिसके वह तुल्य है, दूसरा शब्द (या पद) सुस्पष्ट नही है। क्योंकि उसके मूल मे क्य है और इन समुदायो मे से मुख्य के मूल मे है, इससे केवल एक ही अंश स्पष्ट हो पाता है; म० उचक्रमाचक्र, आशाटोशा में प्रथम; म० आर्‌पार्, अडोसी पडोसी, इडापिडा मे दूसरा। यद्यपि हिं० उपास्-आनास् सम्भवतः सं० उपवास- को अनाश- के साथ जोड़ कर बनता है, और हि० आस्पास्, स० अभ्र- को पार्श्व- के साथ जोड कर: किन्तु इनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि ये समुदाय पूर्वोल्लिखित समुदायो के लिये आदर्श का काम देते हैं, अथवा यदि वे उन्हीं से निकलते हैं, तो अर्थ-व्युत्पत्ति शास्त्र का साम्य संयोगवश है।

इसी प्रकार की रचनाएं आरमीनियन, तुर्की, फारसी मे भी मिलती हैं; भारतवर्ष में वे संभवतः स्थानीय परिस्थितियों के कारण हैं; वास्तव में वे देसी भाषाओं में प्रचलित हैं भी।

इनमे से जहाँ तक उनका सबंध व्युत्पत्ति से है, यह उन बोलियों मे जिनमें कोई साहित्य नहीं है, और उनमें जिनका अभी ऐतिहासिक अध्ययन नही हुआ कठिनाई से दृष्टिगोचर होती है, जिसकी वजह से एक भाषा के उधार लिये गये शब्दों को दूसरी भाषा के ऐसे शब्दो से अलग न करने का खतरा रहता है; यह बात खास तौर से सम्भव है कि हिन्दी से उसकी समीपवर्ती भाषाओं ने अनेक शब्द ग्रहण किये हों।

संस्कृत से आये पेर-प्रत्ययों का समुदाय दुर्बल है, निम्नलिखित की ओर संकेत किया जा सकता है:

अत्यधिक प्रचलित क्रियार्थक सज्ञा सस्कृत की -अनम् युक्त कार्यवाची सज्ञाओ से निकलती है : सिह० -णु, कश० -उन्, सिधी -नु, लह० -उण्, बुदेली -अन्, तथा व्याप्ति सहित हि० -ना, राज० -णो, ब्रज० -नौं, प० -णा, -ना, म० -णें; प्रेरणार्थक धातु प्रकार के -आपन- से बगाली की प्रेरणार्थक धातुमूलक सज्ञाएँ चालान, सोनान निकलती हैं और कर्तृ० के अर्थ मे, कुछ कृदन्त . देखान। गु० -वुँ, राज० -बो, जो बगाली -बे की भाँति है, -तव्यम् पर आधारित हैं, बन्धनसूचक कृदन्त उसी रूप मे म० -आवा मे सुरक्षित है और वर्तमानकालिक कर्मवाच्य कृदन्त के रूप मे सिधी और गुजराती मे, उससे बगाली भविष्य० प्राप्त होता है।

वर्तमानकालिक और भूतकालिक कृदन्त नियमित रूप से प्राकृत -अन्त- और -इ(त्)अ- से निकलते हैं, वह भी सदैव व्याप्ति धारण कर।

सामान्य म० हि० पाँचवाँ (पञ्चम-) आदि; इसी प्रकार सिंधी -ओं, तोरवाली चोटोम् "४था" जो पैन्जअम् आदि के सदृश है। गुजराती और बगाली मे -म सस्कृत जैसा ही रहता है। सिहली, शिना, जिप्सी-भाषा मे नवीन रचनाएँ मिलती हैं।

स्त्री० की रचना। -इका से निकला अत्यन्त प्रचलित पर-प्रत्यय, आगे दे०; इनिं प्राय मिल जाता है हि० धोबिन्, प० धोबण्, म० वघीण्, पु० बं० चुरणी, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खबिनी (गर्भिणी), मनुसेंती।

भाववाचक, स० त्वम्, -त्वनम्, हि० प० बुढापा, हि० बुढापन्, सिं० बुढपण्ᵘ, गु० बुढापौं, प० लड़कपुणा, म० चांगूलेपण्, चांगुलपण्, कश० बैंन्युअुपौन्ᵘ अथवा -तौन्ᵘ, जिप्सी-भाषा मनुशिपे, चोरिपेन्, वेल्श जिप्सी-भाषा बिगिनपेन् जो अंग० begin से है, गौण रूप से म० चोरवण्, चोरवें, बगाली मे कुछ व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण हैं चांद्पाना, लाल्पाना।

कुछ पर-प्रत्यय तो वास्तव मे उन विशेष्यो से बने हैं जो पहले समासो के द्वितीय अंश के रूप मे प्रयुक्त होते थे -रूप-, (-द्)हर-, -कर-, -कार-, -पाल-, और जो मुसलमानी कोश मे, -गर् आदि रूप ग्रहण कर लेते हैं।

सर्वाधिक रोचक अश तो विशेष मूल्य से रहित पर-प्रत्ययो के हैं, जिन्होने आधुनिक सज्ञाओ की रचना मे एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

आधुनिक व्युत्पत्तियो मे निस्सदेह सबसे अधिक प्रमुख उनमे से सबसे कम महत्त्वपूर्ण है, स० -क , -प्रा० -(य्)अ- जिनके पूर्व -अँ-, -इँ-, -ऊँ- आते हैं; और ठीक उसी के भाव का कारण है जिससे उसका व्यापक प्रयोग व्याप्ति की भाँति होता है। उसके कारण शब्दों की एक बहुत बड़ी संख्या का विशेषता-सूचक स्वर सुरक्षित बना रहता है, जो

उसके बिना अपना अल्पप्राण खोकर स्पर्श में परिणत हो गया था : उदाहरणार्थ, सं० अश्रु, प्रा० अंसु, पशई मे ओओसुन रह जाता है, किन्तु सर्वत्र भी उसी व्युत्पत्ति वाले रूप के अंतर्गत दृष्टिगोचर होता है : हि० आँसू, प० अञ्झू, ने० आँसु (सिंह० अँस अन्य सिद्धान्त के आधार पर बना है); अक्षि, नपु० स्त्री० हो जाता है अपने अन्त्य के कारण, हि० में आँख् रह जाता है, किन्तु शिना मे अन्त्य दीर्घ हो जाता है, अछी; स० माल्लिन्-, माल्लिका- के रूपान्तर्गत, हि० माली, मे वह पर-प्रत्यय बना रहता है जो उसे माला, हि० माल् (और जिनके साथ उपादेयता के साथ 'चीनी' वाला मुसलमानी मूल का पर-प्रत्यय जुड जाता है) से पृथक् करता है। इस व्याप्ति की खास बात यह है कि उसके कारण उन लिंगो के वर्गों का निर्माण होता है जो विशेषणों और संज्ञाओ में परस्पर विरोधी होते हैं; यहाँ पर स्त्री० -अका अथवा -अकी नही है, किन्तु -इका है; उसी से हैं, उदाहरणार्थ, मैथिली बड़ · बडी। किन्तु सामान्यत पु० की भी व्याप्ति हो जाती है गु० बडा, बडी, घोडा, घोडी, शिना लैंउ, लैंइ (श्वेत); मालु-ए, मालिय्-ए (महल्लक-), अश्कुन गड्युब्री, -वी, काँड़, काँडि, तूरी चोन, चोनि; कुईतोल-ति "छोटा, छोटी"।

शेष मे व्याप्ति स्वयं अपने मे ही जुड जाती है : बं० कालिआ (*कालककः), मैथिली० घरैया, हि० रखवैया; किन्तु यह हाल का है : बं० माटिका से उसी प्रकार माटी का अनुमान किया जा सकता है जिस प्रकार छत्तीस० मछरिया से मछ्री का। मैथिली मे तो ऐसे रूपो की एक पूरी शृंखला है · घोड्, घोडा तुल्य है, घोड़[अ] वा के निश्चित रूप से ग्राम्य रूप घोडौवा। इससे यह प्रकट होता है कि प्रणाली जीवित है, और सभवत. व्याप्ति-युक्त रूपो का प्रयोग इधर हाल का है।

एक दृष्टि से विशेषणो की योजना भिन्न है . छोट्, छोटा, छोटक्का, छोट्कवा। वास्तव मे प्राकृत मे पुनरावृत्त क् वाला एक पर-प्रत्यय है · राइक्क- (=राजकीय-); गोणिक्क-, महिसिक्क- (किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा के अभिलेखो मे पूर्वी अशोक० -इक्य-, बरबर् देवदाशिक्यी एक प्रकार से तरल कठ्य के प्रतीक हैं), प्रारभ मे यह योजना एक अभिव्यजक रूप मे पायी जाती है म० थोडका जो थोडा के निकट है, फुशार्की जो फुशारी के निकट है। पशुवाची सज्ञाओ को देखिए . कलाश गर्दो-क्, पछिएक्। बगाली मे वह एक प्रचलित पर-प्रत्यय हो जाता है चड्-अक् (प्रा० चढ-), -फट्-अक्, बैठक्। उसमे स्वभावतः संस्कृत पर-प्रत्ययो का मिश्रण है : हि० पैराक् (-आकु-)। प्रशुन, कलाश, खोवार और शिना के -क युक्त कृदन्त और क्रियार्थक-सज्ञा संभवत. ईरानी प्रयोग है, तुल०, मौर्गेन्स्टिएर्न, 'इंडो-ईरा० फ्रंटियर लैंग्वेजेज़', पृ० ३५८।

प्राचीन काल मे सस्कृत मे -ल-(-र-)प्रत्यय का प्रयोग कम पाया जाता है : स्थिर- अनिल-, बहुल-। यह पर-प्रत्यय अल्पार्थक की ही रचना के रूप में नही हो जाता, वरन् एक साधारण व्याप्ति के रूप मे भी (कुछ दीर्घ स्वर वाले रूप हैं जैसे -क- के लिये : कर्- मार-, वाचाल, शीतालु)। मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह प्रयोग व्यापक होता है और पुनरावृत्ति ग्रहण करता है · पा० दुट्ठुल्ल-(दुष्ट- और दुष्ठु-), अट्ठिल्ल-(अस्थि), महल्ल(क)-(तुल०, अशोक० महालक-)। प्राकृत में, विशेष मूल्य-रहित, बहुसख्यक उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक भाषाओ मे विशेषणो के निर्माण मे उसका प्रयोग होता है · हि० आगला, म० अगल (जिसमे मूर्द्धन्य सामान्य -ळ्- की कल्पना करता है), नें० अघिल्लो (-अग्र-); -हि० पहिला (प्रथम-; प्रा० पहिल्लें; ब० पाकिल (पक्व-); -मराठी, गुजराती (हाल ही में), बगाली, बिहारी और हिन्दूकुश की कुछ बोलियो मे भूतकालिक कृदन्त की भी व्याप्ति हो जाती है; म० गेला (गत-), पात्ला (प्राप्त-), ब० भान्गिल, सुतिल, उसी से क्रियामूलक विशेष्य, जो विकृत कारक मे है चलिले।

आधुनिक भाषाओ मे एक और प्राय मिलने वाली व्याप्ति मूर्द्धन्य ड् अथवा ट् है। पाणिनि को ही वाचाट- ज्ञात था किन्तु अपभ्रंश और देसी तक उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। ब० खाग्डा (खड्ग-), पात्डा (पात्), शामुडी जो सास् (श्वश्रु-)के तुल्य है, चाम्डा (चर्म-)आदि मे उसका कुछ व्युत्पत्ति का मूल्य है, वह सिंधी पन्घ्डो,मोलिडो, गु० गामूडं, थांट्डी, हि० अन्क्डी, अण्ड्डा मे वह अल्पार्थक है।

अघोष-रूप, जो सस्कृत *-ट्ट- की कल्पना करता है, का प्रतिनिधित्व सिंधी और मराठी मे क्रियामूलक धातुओ से निकले कुछ विशेषणो मे होता है सिंधी धरटु, म० चेपट्, इसी प्रकार बँगला मे निरन्तर घस्टा है, नामजात विकरणो के अनुकरण पर पाँसुटा, रोगाटे। प्रत्यक्षत. यह वही पर-प्रत्यय है जो गवर्बती लोंट्अं (गिर·) के अन्त मे आता है। बगाली मे उसका एक विशेष प्रयोग है सज्ञाओ के साथ प्रत्यय होने पर इससे उन्हें एक निश्चित मूल्य प्राप्त होता है, वह एक उपपद की स्थान-पूर्ति करता है गाछ्टा "यह, बडा पेड," गाछ्टी "यह, छोटा, सुन्दर पेड"।

-वट् (हि० बनावट्) और -हट् (हि० बुलाहट्) रूप अस्पष्ट है, घट्- धातु, तुल० सं० दन्तघाट-, दोनो रूपो मे से केवल एक की स्मृति दिलाता है और कार्यवाची सज्ञा को स्पष्ट नही करता।

सस्कृत पुर प्रत्ययो के कुछ चिह्न मिट गये हैं; उदाहरणार्थ अनेक शब्द प-(प्र-) द्वारा, ओ- और उ- द्वारा शुरू होते है जिनसे उदासीन रूप मे अप-, अव-, उप-, उत्- का प्रतिनिधित्व होता है, और फलत· कोई स्पष्ट महत्त्व दृष्टिगोचर नही होता। कुछ सस्कृत पुर प्रत्ययो का काफी उदार रूप मे प्रयोग हुआ है, किन्तु उन्हीं शब्दो के साथ जो स्वय

संस्कृत के हैं; वे हैं, स-, सु- जिनमें स्व-(सुभाव्=स्वभाव) के समाहित हो जाने की संभावना रहती है, स्वयं स्वर से पूर्व, अन्- रूप के अतर्गत नकारात्मक अ-प्राय. मिल जाता है, जैसे मध्यकालीन भारतीय भाषा में। स्वभावत: कुछ मुसलमानी पुर:प्रत्यय हैं . हि० बे, जिप्सी-भाषा बि- जो फ़ारसी के बे, बी के सदृश हैं, न कि सं० वि- के; बद्-, ना-, जो बगाली मे देशज शब्दो के साथ सम्बद्ध हो सकता है, स० 'न' मे सुरक्षित मिलता है। किन्तु प्रचलित शब्दावली के शब्दो के निर्माण की दृष्टि से सचमुच इन सबसे कोई लाभ नही है।

रूप-रचना

मध्यकालीन भारतीय भाषा के विकास-काल मे, ध्वनि-सबधी परिस्थिति और आकृति-मूलक सादृश्य के कारण कर्ता० और कर्म० का सामजस्य उपस्थित हो जाता है, जो पृथक्त्व की दृष्टि से केवल नपु० के लिये सामान्य था, -इ- और -उ- युक्त स्त्री० और नपु० सज्ञाओ मे, यह बात शीघ्र ही प्रस्तुत हो जाती है, विकरणयुक्त पु० मे, प्रतिरोध-शक्ति अधिक लबी रही है, किन्तु बहु० मे प्राकृत मे तो पुत्ते के निकट कर्म० पुत्ता मिलता ही है, अन्तत उस दिन से जब से, जैसे अपभ्रश मे, पुत्तो और पुत्त पुत्तु के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, एक नामजात रूप-रचना मिलने लगती है जिसमे गौण कारकों के विरोध मे एक मुख्य कारक मिलता है।

उनके दो समुदायो मे भेद उपस्थित किया जा सकता है .

एक ओर तो प्राचीन संबध०-सप्र० का स्थानापन्न, जिसका सामान्य कार्य परसर्गों को जारी करना है (उपसर्गात्मक अव्यय पूर्णत अपवाद-स्वरूप है अश्कुन प, प्रशुन नु 'मे') और जो विशेष्य का वाक्याश के साथ सबध स्थापित करता है, इसका तात्पर्य यह है कि इस विकृत रूप मे सज्ञाओ का पूर्ण अभाव होता है, वे सब सर्वनामो मे सुरक्षित रहते हैं (उदा० मैथिली ब० से · ता, पशई ऊसे . उँतिस्, अकेली छत्तीसगढ़ी एक-वचन मे कुछ पुरुषवाचक सर्वनाम और प्रश्नवाचक सर्वनाम) : यहाँ परसर्गों को सज्ञा मे अपने को दृढ बनाने की सुविधा प्राप्त होती है और उससे एक नवीन रूप-रचना का निर्माण होता है।

दूसरी ओर परिस्थिति-सूचक कारक हैं . करण, अधिकरण, अपादान, जो वास्तव में बच रहते हैं, किन्तु उत्तरोत्तर वास्तविक सज्ञा-रूप से अलग होते जाते हैं : वे वहाँ भी मिल सकते हैं जहाँ कोई अन्य रूप-रचना नहीं है, वहाँ लुप्त हो सकते हैं जहाँ एक नियमित रूप-रचना है; अंत में वे एक क्रिया-विशेषणमूलक मूल्य ग्रहण लेते हैं।

मुख्य कारक

दो रूप हैं एक जिसके अंत मे न्यून स्वर या व्यंजन आता है, दूसरा जिसके अंत मे दीर्घ स्वर। प्रथम मूल रूप है व्यंजन प्रकार मे, लिंग और वचन दृष्टिगोचर नही होते। इसके विपरीत द्वितीय वर्ग मे वे दृष्टिगोचर होते है, और निस्सदेह विशेषणो अथवा मूल द्वारा लिंग न प्रकट करने वाली संज्ञाओ मे उनके सामान्य प्रयोग का यही कारण है।

मूल संज्ञाएँ

एकवचन

कुछ उदाहरण

	पु०	स्त्री०
पु० राज०	पाउ (पाद)	वाट (प्रा० वट्टा)
		आगि (अग्नि)
सिंधी	देह्[उ] (देश)	सध्[अ] (श्रद्धा)
	पि[उ] (पिता)	रात्[ए] (रात्री)
	केहर्[ए] (केशरी)	विज्ज्[उ] (विद्युत्)
शिना	मोस् (मासम्)	जिप् (जिह्वा)
		ग्रेन् (गृहिणी)
		सेंध् (श्वश्रू)
कश०	चूर् (चौर)	जेव् (जिह्वा)
		राथ् (रात्री)
यूरोपीय जिप्सी-भाषा	चोर्	चिब्, रत्
हि०	चोर्	जीभ्, रात्, मास्
छनीम०	फर् (फलम्)	गोठ् (गोष्ठी)

इसी प्रकार नपु० के लिये म० सूत् (सूत्रम्)।

न्यून स्वर स्वर-संबंधी प्रत्ययो से निकलते हैं या निकले थे : प्रा० चोरो, चोर, जिब्भा, जिब्भ, रत्ती, रत्ति, अग्गी, अग्गि, सस्सू सस्सु।

आधुनिक समानता इन विविध विकासो को छिपा सकती है। प्राचीन बंगाली मे मिलता है कुम्भीरे, कान्हि (संबोधन, "कृष्ण"), बंगाली बोली मे पुति जो पुत्[अ] के समीप है, नेह (स्नेह-), इस बात की ओर भी प्राय ध्यान जाता है कि उनमे शेष मागधी

प्राकृत की विशेषता -ए वाले हैं; व्याप्ति वाला रूप -ए है : लोके बोले, चल सबे। साम्य के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है, और यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन सिंहली मे कर्ता० पु० नपु० है जो -ए युक्त है (पुत्ने, लेने) और जो उसी प्रकार पु० बहु० -अहु के विपरीत है जिस प्रकार अर्द्ध-मागधी -ए -आसो के। किन्तु -ए का स्वयं विरोध : -आसो जो इस अंतिम बोली मे पाया जाता है यह सूचित करता है कि हर हालत मे यह तथ्य रूप-विचार-संबधी है, न कि ध्वनि (उच्चारण)-संबधी, स्वयं बगाली में, सिंहली की भाँति, सामान्य व्याप्ति -आ युक्त है, जो -अए से नही आ सकती, जैसा कि लोक्-ए के अनुमान से होना चाहिए; यदि यह अंतिम रूप ध्वनि-संबधी था, तो हिंदी का -आ युक्त पूरा समुदाय आधुनिक, उधार लिया हुआ समझा जाना चाहिए। नब करण का आश्रय लेना पड़ता है . इससे वाक्य-रचना का प्रश्न उत्पन्न होता है, और -ए तथा -अहि अथवा -ए को प्राचीन लेखन-प्रणाली मे साम्य का अनुमान होता है। समस्या अस्पष्ट बनी रहती है।

ईसी प्रकार जहाँ वे हैं (आधुनिक सिंहली मे व्याप्ति सामान्यत. मिलती है), वहाँ ह्रस्व विकरण एक साथ ही सब भाषाओ मे दृष्टिगोचर नही होते। -उ- युक्त विकरण की सामान्यत व्याप्ति हो जाती है और इसी प्रकार, किन्तु कुछ कम, -ई युक्त स्त्री० विकरण की जैसे गवर्बती मे पुल्त् * "पुत्र", किन्तु ससे "बहन" भी; साथ ही विशेषण मे मैथिली मे स्त्री० बड़ि का पु० बड से विरोध है।

बहुवचन

पुंल्लिग

प्राचीन काल मे विकरणयुक्त पुंल्लिगो के बहुवचन, प्रा० -आ, व्यंजनयुक्त संज्ञाओ मे दृष्टिगोचर नही होते हिं० जिप्सी-भाषा चोर्, कश० चूर्। जहाँ न्यून स्वर बना रहता है, वहाँ उसका विरोध एक० के न्यून स्वर से पाया जाता है (अपभ्रंश -उ जो प्राकृत -ओ और अ से निकला है)।

सिंधी	एक० डेह्उ	बहु० डेह्अ
लखीमपुरी	घर्उ	घर्अं

इस विरोध के चिह्न दो समीपवर्ती भाषाओ मे अनेकाक्षरात्मक स्वर-संबधी परिवर्तन-क्रम मे पाये जाते हैं :

कश०	एक० बाँदुर्	बहु० बाँदर् (किन्तु चूर्)
लहंदा	कुक्कुड़्	कुक्कड़् (किन्तु घर्)

स्पष्टता की आवश्यकता निस्संदेह मूल संज्ञाओ के बहुवचन मे व्याप्ति के विस्तार के मूल के सबध मे रही है।

यूरोप की जिप्सी-भाषा मे एक० मनुस्, फल् का विरोध बहु० मनुसा, फला से पाया जाता है, जैसा कि स्त्री० एक० चिंब्, बहु० चिंबा, नूरी मे मानुॅस् से भिन्न मानुस्-ए नियमित रूप से मिलता है, तुल० एक० चोनुॅ का बहु० चोने। इसी प्रकार सामान्य गुजराती मे है बाळको, किन्तु खैर (khaira) मे बाप् का बहु० बाप है (और नपु० मे घर् . घरां), पलन् (palan) मे नोकर् का है, नोकराँ, घराँ की तरह।

यह प्रत्यक्षत कलाश एक० सों 'राजा' वाला कारक है बहु० सोंवो (मोंचॅ् एक० बहु० के निकट), सभवत माल् के निकट तोराही अदम्-अ की भी (तुल० स्त्री० में, एक० चलि, बहु० चले जो -इ-अ से है), अन्त्य -ए सहित, कती तोत्-किल्-ए, वैगेलि गुड़्-ए, कलाश ददै (स्त्री० छ्-लै?), शिना चहर्-इ (स्त्री० बाम्-ऍ), ब्ह् की श्रोक्पा अपसॅ्-आ और अपसॅ्-इ "घोडे"।

-इ युक्त संज्ञाओ मे, सिंधी कॅह्रे बहु० और एक० मे समान रूप से है।

नपुंसक

प्रा० -आइ की स्वर-सधि स्थानो के अनुसार विविध रूपो मे होती है म० सूनेॅ (सूत्राणि), गुज०बोली घरां [सामान्य भाषा घरो, -आँ व्याप्ति वाली संज्ञाओ मे काम आता है छोकराँ, जो छोकरुँ का बहु० है, कोकनि वोर्साँ (वर्षाणि)]।

स्त्रीलिंग

प्राचीन -आ युक्त विकरणो मे, प्रा० -आओ सामान्यत -आ तक सीमित रह जाता है कश० एक० जेव् बहु० जेव, यूरोपीय जिप्सी-भाषा चिंब् चिबा, मन्देआलि (mandeali) देद् "बहन" देद्दा (किन्तु घर् एक० और बहु०), म० ईट् ईटा, कोंकनि वाट् वाटो।

किन्तु दूसरी ओर, उन भाषाओ मे जिनमे केवल दो लिंग हैं, नपु० मे कुछ प्रत्यय मिलते हैं ब्रज० बातैं, हि० बाते, लखीम० किताबैं, बरसैं जो तुलसीदास की रचनाओ मे -एॅं युक्त अचेतन को दीर्घ कर देता है गुजराती, जिसमे बहु० नपु० -आँ युक्त है, के निकट, सिंधी मे मघाँ और मघ् हैं, लहदा मे जबानां, अत मे मारवाडी मे बातां है, इन पिछली दो भाषाओ मे साक्षात् रूप विकृत रूप के समान ही है। इस स्थान-पूर्ति का इतिहास अज्ञात है। यह एक रोचक बात है कि भीली मे स्त्रियो के लिये अनियमित रूप मे कभी स्त्री० और कभी नपु० का प्रयोग होता है बैरी और बैरू; इससे द्रविड नियम की याद

जाती है। गुजराती मे स्त्री से सबंधित विशेषण (किन्तु न तो सज्ञा, न क्रिया) आदर-भाव के कारण नपु० बहु० में आता है मारौं मा सारौं छे, ओ मारौं प्यारौं बेहेनो।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की -ई युक्त सज्ञाओ मे प्रा० -ईओ के सदृश -ई की आशा की जाती है। वह वास्तव मे मिलती है कोंकनि कूड्, बहु० कूडी; भद्र० बैहण्, बहु० बैहणी, कश्० राथ्, बहु० र्ओं च[उ]। किन्तु यह अपवाद-स्वरूप है। चाहे -ई, -आ की भाँति, बाधा के रूप मे प्रतीत होती हो, क्योंकि उससे पु० एक०, अथवा सस्कृत से लिये गये (नदी, आज्ञा) स्त्री० एक० का स्मरण हो आता है, अथवा अन्य कोई कारण हो, वह सामान्यत. सदैव व्याप्तियुक्त प्रत्ययो के रूप मे प्राप्त होती है . यूरोपीय जिप्सी-भाषा फेन् "बहन" बहु० फेनीआ, चुरी . चुरीआ; गबर्बती जु "लडकी", बहु० जुअ, तोरवाली धू "लडकी", बहु० धी (तुल० अर्सौं स्त्री० एक० और बहु० सामान्य, पु० एक० अर्सूं)। व्याप्तियुक्त प्रत्यय सिंधी मे नपु० रूप मे है रातिउँ। लहंदा मे केवल उसका नपु० के साथ अनुकूलत्व हो जाता है अक्खीं (स० अक्षीणि, नपु० जो -इ युक्त अन्य विकरणो के साथ स्त्री० मे हो गया है क्या उसमे स्त्री० बहु० के नपु० रूप-रचना के मूल तो निहित नही हैं ?), छोहरीं, बहु० छोहिर्; रन्नौं, जो रन्न् (रण्डी) से है। साथ ही हि० बहनें आदि मे -आ युक्त सज्ञा-रूप वाले अश।

-ऊ युक्त सज्ञाएँ अन्य सज्ञा-रूपो, और विशेषत -आ युक्त वालो, के आधार पर अपना रूप निर्धारित करती हैं चाहे सादृश्य के माध्यम द्वारा हो, लहदा हज्ऊ, भणौं की भाँति, जबानौं, चाहे पूर्ण समीकरण द्वारा हो, म० विजा, सिंधी विज्।

संबंध-सूचक संज्ञाओं का बहुवचन

-र्- युक्त सबध-सूचक सज्ञाएँ बहुत समय तक एक अलग समदाय का ही निर्माण करती रही, और उसके चिह्न अब भी अवशिष्ट मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें समीपवर्ती अर्थ की सज्ञाएँ भी जुड गयी हैं।

वेदो के समय से, पितुं के अनुकरण पर पत्युं ('पति' के अर्थ में, किन्तु 'स्वामी' के अर्थ मे पते), जन्युं (हाँपाक्स्, विकरण जनि- से निकले सबध० का यह अकेला उदाहरण भी है) और साथ ही सख्युं। यदि पाली कर्त्ता० बहु० सखारो, कर्म० एक० सखारं से पितर की अपेक्षा सत्थार का रूप अधिक सामने आता है, तो करण० सखिना, सबध० सखिनो को -इ- युक्त विकरणों के रूप मे माना जाता है और पिति- जैसे प्रकार की स्मृति दिलाते हैं जो उत्कीर्ण लेखो की मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रायः मिल जाता है (किन्तु प्रत्येक दृष्टि से ये पुराने रूप हैं, पाली गद्य में साधारणतः सहायक- अधिक मिलता है)। महावस्तु मे भार्याम् के बदले भारियरम् है, जिसकी रचना माताम् के साथ-साथ मिलने

वाले मातरम् के आदर्श पर हुई है : इसी प्रकार प्राकृत मे माअर है और मार्य है; और 'देवी माता' का अर्थ प्रकट करने के लिये रचित माअरा इस बात का प्रमाण है कि बहु० माअरो निरन्तर बना रहता है।

अथवा सिंधी मे सबध-सूचक सज्ञाओ मे बहु० (किंतु एक० के विकृत रूप मे नही) की विशेषता र् सुरक्षित है

एक० पि^{उ} बहु० पिउर्^{अ} एक० मा^{उ} बहु० माइर्^{उ}

मा^{उ} माउरु^{अ}

इसी प्रकार सादृश्य के आधार पर मा^{उ}, भेन्^{उ}, धि^{उ}, नुह्^{उ} के सबध मे विचार किया जा सकता है।

हिन्दुकी धीरिँ, नूहाँ के समीप नोहरिँ निस्सन्देह इसी सज्ञा-रूप का बचा हुआ रूप है, एल० एस० आई०, VIII, I, पृ० ३३७।

शिना मे सीधे सबध-सूचक सज्ञाओ के समुदाय अथवा सबध द्वारा बहु० -आरे मे मिलता है . दि "लडकी" . दिजारे, म "मा" मॅयारे, स "बहन" सयारे, सॅर्अष् "सास" सॅर्अषारे, ग्रेन् "पति" ग्रेनारे, ज़ॅर्अमृज़ो जॅर्अमृज़ारे, सॅरि "साला या बहनोई" सॅयारे आदि।

व्याप्ति-युक्त संज्ञाएँ

इन सज्ञाओ के मुख्य कारक का इतिहास प्रत्येक भाषा मे स्वर-सधि के सूत्रो पर आधारित रहता है। फलत यह देखा जाता है कि -ई युक्त सज्ञाओ मे, प्रा० एक० -इओ और बहु० -इआ का अन्त मे आने से समान परिणाम होता है हिं० सिंधी माली, म० माली एक साथ एक० और बहु० दोनो हैं। अस्तु, मूलत जिन पर विचार करना होता है वे केवल -अओ युक्त पु०, अन मे -अ(य्)अ युक्त नपु० और स्त्री० हैं।

पुंल्लिंग

एक० मे, ब्रज के कृदन्तो (गयौ) मे और क्रियार्थक-सज्ञाओ (मार्नौ) मे सयुक्त स्वर बना रहता है; किन्तु घोड़ा (दे० अन्यत्र)। सिंधी, गुजराती, राजस्थानी और नेपाली, बुन्देली मे मिलता है घोडो; इसके साथ हैं कश० गुर्^{उ}, शिना माल्^{उ} (महल्लक-) तोरवाली सूँ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खोरो (घट)।

मराठी, हिन्दी, ब्रज, पजाबी, बंगाली मे . घोडा; पशाई, गवर्वती गोड़ा, बैगेलि

लत "पिता", अस्कुन कांइ; सिंहली पुता [सामान्य रूप : अता (हाथी); और इसी प्रकार बहु० -ओ के सामान्य रूप हुए हैं, पु० सिंहली -अहु, दे० अन्यत्र।]

सीरिया की जिप्सी-भाषा मे दो रूप मिलते हैं : बक, दीर्घ विशेषणो के प्रकार हैं; प्रकार अन्धो (आमातर्), जरो अपवाद-स्वरूप हैं, किन्तु सर्वनामजात प्रत्यय नन्दो-म्, र् वाले अतीत काल मे वह सुरक्षित है। मराठी मे भी ऐसे क्रियामूलक रूप हैं जिनकी रचना प्रत्यक्षतः -लो और -लो, जो -ता -ला के निकट हैं, से युक्त कृदन्तों के आधार पर हुई है (तुल० दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, IV, पृ० ५६७)। ब्रज के संबंध मे दे० ऊपर। बंगाली लोके के संबंध मे अन्यत्र देखिए।

बहुवचन मे,*-अय अथवा *-अअ (स० अकाः) से आगे बढ़ने पर परिणाम भिन्न आता है. म० गु० घोडा, किन्तु बुन्देली हिं० प० सिं० घोडे, कश० गुरि, शिना माऴएँ, वैगेलि ताले, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खोरे, नूरी बक्के (मूल संज्ञाओ तक प्रसारित मनुसे, अगे)।

नपुंसक लिंग

म० मुल्गीं, मुल्गें का बहु०, गु० छोक्‌राँ, छोक्‌रूँ का बहु०।

पुल्लिंग और नपुंसक० की स्वर-संधि के नियम स्वतंत्र हैं कोंकनि मे जिसमे गुजराती की भाँति पु० गओ है, नपुंसक० मे मराठी नियम का पालन करते हुए बुर्‌गें है।

स्त्रीलिंग

यह प्रा० घोडीओ है जिसका संबंध गु० घोडी से स्थापित करना आवश्यक है और निस्संदेह कश० गुर्‌एँ के साथ। किन्तु उसके समीप एक रूप था -इआओ, -इअओ, जिससे हैं गु० घोडीयो, कोंकनि घोड़्यो, म० घोड्या, हिं० प० राज० घोडियाँ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा रनीआ (हिं० राणी, स० राज्ञी); नूरी चोनिए, जूरे, जो चोनि, जूरि से हैं, मे संभवत. नपु० का प्रत्यय है; तुल० नपु० पानि-ए; उसी से मिलता है पुं० सहित बक्के, ऊपर देखिए; यही प्रश्न मुलाइ (महल्लकी) के बहु०, मुलायो के निकट मुलायूएँ के संबंध मे उठता है, तुल० अक्षहिये स्त्री० (प्राचीन नपु०), सउँ (सेतु-) का बहु० सेवे, और पु० माले।

गौण कारक

एक विचित्र मूल्य कारक के विपरीत सामान्यतः एक विविध प्रकार के मूल्यों से युक्त विकृत कारक मिलता है, जो परसर्गों से शक्ति ग्रहण करता है और प्राचीन संबंध०

पर आधारित रहता है। इसके अतिरिक्त शेष तीनो प्राचीन कारक—करण, अपादान और अधिकरण कुछ-कुछ सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

यह सोचा जा सकता था कि यह कारक अपने कम-से-कम महत्त्वपूर्ण चिह्न तो छोड जाता, क्योकि भूतकालिक क्रियामूलक रूप के साथ उसके प्रयोग की आवश्यकता पडती रहती थी, और जैसा कि उसके कर्मवाच्य रूप मे देखा भी जाता है। उसमे ऐसा कुछ नही है, उसमे बडी मुश्किल से केवल विकरणयुक्त एक० मिलता है, जो सामान्यतः क्रियाविशेषणमूलक रूप मे है।

पुरानी मराठी मे उसका प्रचुर रूप मे प्रयोग हुआ है गाधवें (गर्दभेन); सेनवइएँ मे प्रत्यय का प्रयोग -इ- युक्त (सेनापतिना) विकरण मे होता है, बहु० पु० नपु० पण्डितिं, चिह्निं (प्राकृत -एहि से)। स्त्री० एक० मे देविआ, जो विकृत रूप मे देवीए से भिन्न है, तुल० प्रा० -आए ? अथवा सस्कृतपन ? हर हालत मे बहु० का अभाव है पूजां विकृत रूप है, ऐसाँ चिह्निं। आज वह केवल एक० विकरणयुक्त के रूप मे रह गया है और ऐसे शब्दो मे मिलता है जो मूळे, मळें, अथवा 'अपल्या कृप्-एँ करून' प्रकार के समुदायो मे परसर्ग का काम करता है।

व्याप्तियुक्त विशेषण मे, पु० बोड्^{उ}, स्त्री० बुयुड्^{उ}, कश्० मे सप्रदान एक० पु० बडिस्, स्त्री० बर्जे से, कर्तृ० पु० बड्^{इ}, स्त्री० बजि को, जिसके प्रत्यय निस्सन्देह प्राचीन कश्० -ए, -इ, प्राकृत मे –(अ)एण-ईए द्वारा प्रकट होते है, अलग रखा जाता है।

बहु० मे, प्रत्यय की गडबड अपादान के साथ हो जाती है, और एक० मे मूल सज्ञाओ के साथ। पु० चूरन् अपा० चोर के आधार पर निर्मित हुआ प्रतीत होता है, हर हालत मे वह उससे भिन्न है, तुल० सुतिन्, जो मराठी सें, सिं की भाँति *सहितेन से है ?

सिहली मे, अचेतन सज्ञाओ मे, जो नपु० मूल सज्ञाओ के सदृश हैं, करण एक० के अन्तर्गत एक प्रत्यय होता है अतेन्, अतिन् (हस्तेन) जो अत (व्याप्तियुक्त मुख्य कारक) से है। इन सज्ञाओ के आधुनिक बहु० का निर्माण एक समास द्वारा हुआ था जिसका द्वितीय अश एक० के रूप मे आता है, करण का रूप उसमे समान रहता है अत्वलिन् "हाथो से"।

पुरानी राज० -इँ प्रत्यक्षत सस्कृत -एन, अप० -एँ का उत्तराधिकारी है . सुखिं, देहइँ, और इसी प्रकार पानिइँ, पु० गु० घोडइँ, हथिइँ। स्त्री० में स्त्रीइ और मालाइँ। बहु० मे (हाथे, नयने, पाणीए, स्त्री० ज्वालाए, नारीए) -ए अप० -अहिँ के सदृश है जो प्राकृत -एहिँ का स्थान ग्रहण कर लेता है। उसमे केवल ऐसे रूप ही अधिक मिलते हैं गु० हाथि, राज० घोडै, गु० घोडे (मुख्य० घोड़ो, विकृत० घोड़ा)।

पुरानी बंगाली मे, पूर्ण एकीकरण है : बेगें (वेगेन), -जाले, स्त्री० लीलें, भान्तिये (लील्या, भ्रान्त्या) और बहु० मे तिणिएँ पटें, उसमे 'हाथे' शेष रह जाता है। इसी प्रकार मैथिली मे फलें, नेनें ओ नेन्में सौं (मुख्य० नेना) के निकट है और साथ ही पानिएँ और स्त्री० में कथे बेटिएँ। प्रत्यय -एँ सम्बद्ध हो गया है।

उत्तर-पश्चिम में भी वह मिलता है, जिसके बिना उसका विस्तार नही जाना जा सकता : वैगेलि अवातें (अश्कुन आवोतूं), खोवार छुई-एन्, वैगेलि सुदें (सुदु), खोवार पचेन् (समवत पक्षेण)।

अपादान

इसके सबंध मे अवशिष्ट चिह्न भी बहुत कम है, और वे एक० के उस प्रत्यय के साथ सम्बद्ध हुए भी मिलते है जो मूलत क्रियाविशेषणमूलक था, प्रा० -आओ। सिंधी की नियमित रचना, म० मे -औ-नि, -ऊन् मे अन्तर्भूत, से पु० राज० का हाथो हाथइँ, दिसो-दिसि प्रकार प्राप्त होते है, तुल० पा० दिसोदिस। उत्तर-पश्चिम समुदाय मे खोवार अन्-आर् (सबध० अनो), अचॅर्, मिलते हैं, तुल० अचॅं, तोरवाली सिँर, तुल० करण० अधि० सिँरे, विकृत० सिर्; सभवत गवर्बती बाबो, तुल० विकृत० बाब, पु० कश० औसा, कश० चूर, पेठ, अन्द् ^{अ} अर। यूरोप की जिप्सी-भाषा मे सदृश प्रत्यय सहित क्रियाविशेषणो से अधिकरण का अर्थ निकलता है तलल्, अङ्गल् (अग्रतह्, *अग्गातो) और फलत मुई-अल्।

एक अनुनासिक रूप भी मिलता है, जो करण के सादृश्य पर बना प्रतीत होता है ब्रज० भूखों, सों, तुल० हिं० से, म० सिँ, पु० राज० कोपां, कम मिलता है, प० घरों, सिंधी घरेँ और फलत स्त्री० जबानां, नोडिआं, बहु० घरनिआं, -अउँ, -ओं, -उँ भी मिलते हैं और साथ ही परमर्गों मे खां, खउँ, खों। सभवत अश्कुन अवोतू की तुलना करना भी आवश्यक है। अर्थ के रहते हुए भी, मराठी अधिकरणों गळां, इयां पाटणिँ, कोंकनि शेतां, गरां का निस्सदेह वही मूल है।

अधिकरण; पूर्वो विकृत रूप

इस सबध मे भी, प्राचीन प्रत्यय, अकेला जो स्पष्टत सुरक्षित रह सका है, विकरण-युक्त के एक० का है।

संस्कृत -ए कभी-कभी -इ की भाँति मिलता है . कश० वारि, गु० हाथि (हस्ते), तुल० पु० राज० घरि, कूइ। प्रायः यह स्वर लुप्त हो जाता है, किन्तु उसका चिह्न पूर्ववर्ती

स्वर मे विशेषत. रह जाता है, जैसे गु० घेर्, कोकनि गेर् (*घरि से), लहदा जनूगिल् (जन्गुल् से, विकृत० जन्गल्) मे, हिं० जिप्सी-भाषा आदि दूर्, लहदा घर्, ब० दोर् दोर्। यह रूप कुछ परसर्गों मे सुरक्षित है कोकनि गेर्, कश० मन्ज् (मध्ये), हिं० पास् (पार्श्वे)।

व्याप्ति-युक्त सज्ञाओ मे, -अके से एक स्वर, -ए अथवा -इ, उपलब्ध होता है : जिप्सी-भाषा खेरे, पु० कश० गरे, गु० प० लहदा० राज० ब्रज०, पु०ब० घरे, पु० कश० आथे (हस्ते), दूरि, अन्ति, गगनि, कलाश खुरे, जिप्सी-भाषा अग्रे, अन्द्रे। मारवाडी मे तो अब भी 'आगै' मिलता है, जिसके अनुसार फिर बने है पछै, मैं।

कभी-कभी इस प्रत्यय का विस्तार अन्य विकरणो तक हो जाता है प० छाँवे जो स्त्री० छाँ(व्) (छाया) से है, पु० कश० वते, दारे (धारा), आधुनिक दारि दारि, पु० ब० साँझे। इसमे प्राचीन विकृत रूप -आए को अधिकरण के रूप मे मानने का कोई कारण नही है, शेष पु० राज० रात्रै, बाहि (बाहु से) मे और विशेषत विद्याइ, शिबि-काईं मे, -इ निश्चित रूप से परसर्ग है।

एक बडी भारी कठिनाई अपभ्रंश मे दो प्रत्ययो, -ए, -इ और -अहि अथवा -अहिँ का साथ-साथ मिलना है। यह पु०हिं० देसहिँ, 'सेवकहि निद्रा लागै' द्वारा प्रमाणित भी है, दिवसैं के निकट हिअहि, कश० द्वारा अन्ति के निकट अन्तिहि, वेहेर्थं के निकट पु० सिंहली वेहेरहि, और आज भी लखीमपुरी घरै, गाँवै, बजारै जो दुआरे के निकट है, समहे। स्त्री० मे, लहदा अक्खिं, जबानिं (प० बहु० घरीं हथीं निस्सदेह अनुकूलत्व-प्राप्त है)। ऐसा नही है कि अनुनासिक प्रत्यय की व्युत्पत्ति मालूम करना कठिन हो : अधिकरण क्रियाविशेषणमूलक प्रा० तहिँ से नमूना प्राप्त होता है, किन्तु अधिकतर यह ज्ञात नही यदि -ऐ, -ए एक या दूसरे प्रत्यय पर आधारित है। फिर करण के साथ गडबड की आशा की जा सकती है और वास्तव मे गुजराती और मारवाडी मे घोडे के दो महत्त्व हैं।

गुजराती मे यह प्रत्यय विकृत० के बाद सुप्प्रत्यय के रूप मे आता है · घोडए, इसी प्रकार स्त्री० घोडीए, बहु० घोडाए, घोडाओए, घोडीओए, इसी प्रकार सिंहली मे अधिकरण बहु० असाधारण रूप मे विकृत० और -हि के योग से बनता है. नम्बरन्हि।

चाहे सामान्य रूप मे हो, क्योकि अधिकरण सामान्यत एक ऐसा कारक है जो कही भी खप जाता है, तुल० दे० अन्यत्र, चाहे व्याप्ति-युक्त विकृत रूप पु० एक० -ऐ जो -अहिँ से निकला है, के साथ गडबड के फलस्वरूप हो; फिर चाहे इस कारण हो कि भारोपीय से आया एक सर्वनामजात विकृत रूप प्रा०-अहि बना रह गया हो अथवा अन्य

सब बातो की दृष्टि से, क्या हमेशा ऐसा तो नही होता कि पूर्वी समुदाय में अधिकरण से साम्य रखने वाला एक विकृत रूप होता है।

तुलसीदास की पु० अवधी सछेपहि, गुनहि, अब अविकरण नहीं रह गये, बहु० पायन्ह, पीढन से अधिक नही, और वास्तव मे न केवल 'चोरहिं राति न भावा' ही ठीक-ठीक विवादास्पद है, बरन् मोतिहि जो, रामहिं टीका, 'पुरोहितहिं देखा राजा' भी।

पु० मैथिली हरदहि, खेतहि, किन्तु बलहि भी (जिसमे प्रा० -आहि का शेषाश हो सकता है), और विशेषत सत्रुही आन् (एक और प्रत्यय -हु, अप० -अहु, अपादान मे प्रा० -आओ का शेषाश ?)। इसी प्रकार पु० बगाली कुले कुल, किन्तु (चर्या) 'सहजे कहेइ' भी।

अस्तु, इस समुदाय मे अधिकरण पर आधारित विकृत रूप सचमुच विद्यमान था; वह लुप्त हो गया है। मैथिली मे ही एक और -आ युक्त विकृत रूप है; और बगाली में विकृत रूप का विशेष रूप नही है, -ए ने सभवत मुख्य कारको मे व्याप्ति ग्रहण कर ली है, दे० पीछे।

वास्तविक विकृत रूप

रूप-रचना, यदि कोई हो तो, उसके रूप मे सकेतित अवशिष्ट रूपो से बना भाववाचक, सदैव मुख्य कारक, जिसमे बहुत से विकृत रूप-सबधी मूल्य रह सकते हैं, के विपरीत रहता है, और जो सामान्यत परसर्ग पर आश्रित रहता है।

बहुवचन

विकृत रूप लगभग सर्वत्र स्पष्टत बहुवचन मे आता है, उसकी विशेषता है अन्त्य, अनुनासिक व्यजन या अनुनासिक स्वर।

पु० सिहली पिलिमल्न (प्रतिमल्लानाम्) ; दनन् (जनानाम्), महणुन् (श्रमणानाम्), वेदुन्। उसमे आधुनिक बहु० विकृत रूप केवल चेतन सज्ञाओ के लिये है।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मर्शनुसैन्, चवेन्' लडके', स्त्री० चिबेन् 'भाषाएँ', फेनिएन् 'बहनें'; नूरी मन्सैन्, चौनन्, स्त्री० लचिएन् 'लडकियाँ'।

कती मन्चें अँ, मनूचिं से। अश्कुन गोंडाँ, बाँ 'भाई', सुसाँ 'बहनें', नोकरन् 'नौकर'। बैगेलि गोंडाँ, जैराँ (फा० यार्), बहु० के पर-प्रत्यय सहित -केले . ततेकेलियाँ; प्रशुन यामिलिओँ 'माता-पिता', लुर्षेतूंकिलिओँ। पशई आद्मेम्य् अन्; बेयन् 'लडकी', बयाँ, बेय से।

खोवार दगन् 'लडका', अश्नन् 'पर्वत'।

क०इ० "सप्रदान" घूरन्, घूर् से, गुर्एँन्, गुरउ से, स्त्री० मालन्, माल् से; रोंखउँन् 'रात', राथ् से, गर्एँन्, गुरउ से।

सीराही श्नलिन्, अद्मन्; दुन्, 'लडकी', दी से।

शिना -ओ, तोरवाली -अ में अनुनासिकता नही है (तुल० करण -ए)।

सिंधी डेहन्ए, पिउन्अ, पिउरन्अ, केहरिन्ए, स्त्री० सघुन्ए मघ्अ से, विज्जुन्ए, विजुउ से, रुखन्ए, रुखे, रुखाँ, रुखिन्ए, रुखिएँ, रुखिआँ, पु० रुखो से, स्त्री० रुखी।

ब्रज० घरन्(इ), घरनु, घरौं, स्त्री० बातन्(इ), बातौं।

प० लहदा० गु० राज० घराँ, घोड़ाँ, हिंदी घरों, घोडों, घोडिओं, मराठी घराँ, नपु० सुताँ (सूत्र-), स्त्री० इटाँ (इष्टा-), रातिं (रात्री)।

अवधी (लखीमपुरी) चोर् से चोरन्, दिया से दियन्, अद्मिन्, हिन्दुन्, स्त्री० लाठिन्।

पूर्वी समुदाय मे, जो विकृत रूप से नही है, कुछ एसे रूप शेष हैं जो विशेषत बहु० के अन्तर्गत प्रत्ययो या उपसर्गो का काम करते है मैथिली० लोकनि, मध्यकालीन बगाली सभान्, बगा० -गुलि-गुल के निकट -गुलिन्-गुलान्।

अनुनासिक व्यजन और अनुनासिक का सिंधी और ब्रज मे सह-अस्तित्व हिन्दी के प्राचीन कवियो के दुहरे प्रत्यय से साम्य रखते हैं तुलसीदास सुरन्अ, नाउन्अ एक ओर हैं और दूसरी ओर लोगन्ह्अ, मुनिन्ह्अ, बधुन्ह्अ, दासिन्ह्अ, नयनन्ह्इ। ये अन्तिम प्रत्यय (और फलत -न् युक्त अन्य प्रत्यय) प्राचीन प्रत्यय मे अप० -(अ)ह् प्रत्यय के जुड जाने से बनते हैं (तुल० विपर्यस्त रूप मे दे० पीछे, एच० स्मिथ, बी० एस० एल०, XXXIII, पृ० १७१ n ने कुछ समान प्रयोगो की ओर सकेत दिया है, और विशेष रूप से त्र्यात्मक सर्वनामजात सबध० हि० इन्-ह्-ओं की ओर)। निस्सन्देह इन अतिरिक्त बलो की आवश्यकता सस्कृत -आनि से निकले मुख्य नपु० (तत्पश्चात् अतत स्त्री०) और -आनाम् से निकले सबध० के बीच ध्वनि-सबधी सघर्ष से उत्पन्न होती है।

एकवचन

पुल्लिग मे, प्रत्यय प्रा० -अस्स उत्तर-पश्चिम समुदाय के एक भाग मे मिलता है : "कर्म०" यूरोपीय जिप्सी-भाषा चोरेस् (जो टर्नर, जं० आर० ए० एस०, १९२७,

पृ० २३३; बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५० के अनुसार एक मध्यवर्ती रूप *-अस की कल्पना करता है; स्वरित सर्वनाम कस् मे -स्स्- का चिह्न सुरक्षित रह जाता है), नूरी मनुसस् (व्याप्ति- युक्त सज्ञाओं तक प्रसारित प्रत्यय यूरो० चवो से चवेस्, नूरी चोन से चोनस्); "सप्रदान" कश० चूरस्, गुरिस् (घोटकस्य), कलाश मोच्-एस् और फलतः छूअस्, पशाई लोनिस् और वेयस् अथवा वयेस्। भारत के मुख्य भाग मे, केवल सर्वनामों मे उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रह गये हैं, अथवा स्वभावत. दो लिंगों (अस्य, अस्या) के लिये इन रूपो का महत्त्व है हिं० इस्, आपस् मे, ब्रज० इस् याहि के समीप है, प० जिस् जो सबधवाचक जिह् के समीप है, लहदा के नॉ-उस् ?, कस्स्-इस्; जाते ओस्— किन्तु इस अन्तिम भाषा मे, जैसे कश्मीरी के अतिरिक्त, अधिकरण एकवचन को नियमपूर्वक ला सकते है, तुल० ध्वनि-सबधी अस्सि के लिये।

अन्यत्र असाधारण मूल सज्ञाओ से सबधित बातो मे अधिकरण प्रकार मिलता है, अन्यत्र दे०, सामान्यत *-आ अप० -अह यथेष्ट रूप से प्रमाणित हैं म० देव् से देवा, सूरत और काठियावाड की गुज० बाप्-आ, सिंधी देव्^{अ} जो देव्^{उ} से है, लहदा कुक्कड् जो कुक्कुड से है, लखीमपुरी घर्अ, कुछ परिस्थितियो मे मैथिली अन्ह^{अ}रा, क्रियार्थक सज्ञा देक्^{अ}व्-आ, ब० देखिबा(र्), तोरवाली पन्द्-अ, गवर्बती बाब्-अ, अश्कुन मर्च्-अ (इन अन्तिम तीन भाषाओ मे -अ भी स्त्री० मे), खोवार दग्-ओ, अन्-ओ, वैगेलि गुड् से गुडो और तत से ततो "पिता"।

गुजराती, हिंदी आदि मे शून्य प्रत्यय (दे० पीछे)।

व्याप्ति-प्राप्त सज्ञाओ मे प्राचीन कठ्य का चिह्न प्राय. स्वर के तालव्यीकरण मे पाया जाता है, प्रकार * घोडया . राज० घोडा घोडो से, किन्तु म० घोड्या, सिं० लहदा० हिं० घोडे, घोडा से ब्रज घोडे, लखीमपुरी मे घोडा परिवर्तित नही होता, किन्तु मूल मे ठण्ड् का विकृत रूप है ठण्डे।

स्त्री० मे, मराठी मे माले, प्राकृत मालाए का 'राती', प्रा० रत्तीए से भली भाँति अन्तर पाया जाता है, इसी प्रकार यूरोपीय जिप्सी-भाषा चिंव जो चिंब्र से है और फेनी जो फेन् से है (जिह्वा, भगिनी)। कश० में रओं च्^{उ} के अनुकरण पर 'मालि' समान रूप धारण कर लेता है। नूरी, पजाबी, सिंधी, हिंदी और विशेषत पूर्व मे और गुजराती मे, विशेष रूप नही है।

व्याप्ति-प्राप्त सज्ञाओं मे, प्रा० -इआए : म० गु० राज०, प०, हिं० लखीमपुरी घोड़ी, तुल० तोरवाली विकृत रूप सीं, सुं "बहन" से, किन्तु पु० राज० देवीज, राणीज,

रानि से जिप्सी-भाषा रानीआ, नूरी चोनि-अ "लडकी" (जो -इ युक्त पु० में आ गया प्रतीत होता है बेलि-अ) ; सिंधी गोलि-अ, निस्सन्देह कश० गूरएँ, किकिली से सिंहली किकिलिय।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे अब भी विकृत रूप का प्राचीन मूल्य बना हुआ है : न देलस् ई जेक्स चिं ते ख्थल् (na delas i Jakes ći te xål) "जैक को कुछ खाने को मत दो", सस् मे ददेम्. सी लेस्, लेन्, क्रिया-विशेषणों का अति लचीला प्रयोग, तचनेस् 'सचाई के लिये', अर्कोदिवेस 'आज'। अन्यत्र, स्वय भाषा मे ही अन्य प्राचीन विकृत कारक सुरक्षित रह जाने के कारण, विकृत रूप विविध प्रकार के सबध प्रकट करता है।

कश० र्‌एँतम खरज्; फकीरम् औस्[उ], नियूएँ खबर राज्‌एँस्, मस्त् कासनि अमिस् लालमैएँनाकस्, और क्‌एँन्छाह् करन अमिस् लाल्सैएँनाकस्, दोप्[उ] .... पननिस् मो लिम्, व्‌उव्‌ह्[उ]स् ग्रीम्निगरस्, जो गरन्, वौंतु गर (मुख्य), और गरि (अपा०) वैहुन् के निकट है, जेननस् किन दोजकस् , मुव्[अ] हस्। अश्कुन गोडों, जो मुख्य गोड्[अ] "(मैं देता हूँ) एक घोडा" से भिन्न है।

पु० म० अभि० मढा दिन्हला, ज्ञानेश्वरी वसया भेदे, ते समास्तां क्रियां नांव्[अ], किन्तु मासियां कोंपे, गगना भेटे, स्वभावें विलया जाती (एक अधिकरण मिलता है सागरिं)।

इसी प्रकार सिंधी पानव्[अ]-जि[अ] पव्हह्[अ] ।

विकृत रूप की यह रचना असाधारण है, सामान्यत वह, जैसा कि वैयाकरणो का कहना है, एक ऐसे समुदाय के काम आती है जिसका द्वितीय अश परसर्ग होता है, वास्तव मे सज्ञा-रूप-युक्त शब्द जो सबध० को प्रभावित करता है, तो रचना वैसी ही है जैसी फ्रेंच मे "à côté de, auprès de, dans la direction de, au moyen de, à l'egard de" आदि। यह प्राचीन है

पु० म० (ज्ञान्) ऐसयां काजां लागीं, कृष्णा ते म्हाणे,
पु० अवधी (तु० दास) बरहिं लागि, मिलेहिं माझ,
पु० बगाली (सरह) स्वपणे मैं,

पु० कश० (लाल देद) पानस मनूज्, कन्ने पेंठय (मुख्य क्‌उन्[उ])।

कश्मीरी मे एक दुरूहता मिलती है प्राचीन सबध० (जो सप्रदान कहा गया है)

धूरस् के समीप उसमें अपादान धूर रह जाता है; अथवा जब कि अन्दर्, मन्त्स्, स्युत्[उ] आदि जैसे परसर्ग "संप्रदान" के साथ जाते हैं, तो अपादान के अर्थ और रूप वाले परसर्ग अपादान के अंतर्गत संज्ञा के साथ जाते हैं : अट पेठ, साथ ही अन्द्[अ]र, किन्[इ] आदि : सान् का संबंध दो कारकों के साथ हो सकता है : संबंधवाची विशेषण -होन्दु जो आजकल संप्रदान में चलता है, लाल देद मे अपादान है। यह रचना प्राचीन नहीं हो सकती : संस्कृत में 'समीपे' का संबंध० समीपात् की भाँति बनता है। तो भी इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि पुरानी मराठी मे 'सहित' के द्योतक शब्द करण० मे हैं जो करण० वाली संज्ञाओं के साथ आते हैं : जीवितें सिं, इहीं नानभूतें सहितें। अस्तु, यहाँ निस्सन्देह एक ऐसे रूप का आकर्षण प्रदर्शित होता है जो आधुनिक भाषाओं के प्राचीन काल से संबंधित है, और जो सं० 'मध्ये समुद्रे' प्रकार का अवशिष्ट रूप नहीं है, दे० अन्यत्र।

यह देखा जा चुका है कि गुजराती मे और हिन्दी-समुदाय में मूल संज्ञाओं मे विकृत रूप एकवचन नही होता। यह प्राचीन स्थिति है; तुलसीदास में है :

रघुबसिन्ह मह,

तरुबरन्ह मध्य;

किन्तु छन महँ, जग माँझे, सचिव संग, सम्भु पहँ, विरिञ्च तरे, भगतन (विकृत० बहु० जो संबंध० के धर्म वाला है) हित लागी, वच्छकुमारी संग।

पुरानी गुजराती में, एक ही वाक्यांश मे मूल विकृत रूप शून्य और व्याप्ति-युक्त विकृत रूप दिखायी देता है वर्ग तणा पहिला अक्षर परै (मुख्य तणौ, पहिलो)। पु० राज० मे टेसिटरी ने बताया है कि -ह "मे बिना कोई चिह्न छोड़े लुप्त हो जाने की अति प्रबल प्रवृत्ति मिलती है" : वनह् महि, किन्तु, जिन साथी, और साथ ही, किन्तु बहुत कम, बहु० 'कुमर सूँ' सहित।

यह तथ्य कि अन्य रूपों में भी विकृत रूप दिखायी देता है इस बात के सोचने पर बाध्य करता है कि वह वास्तव में ऐसा प्रत्यय के तीव्र न्यूनत्व के कारण हो जाता है। तो भी पु० मराठी मे नित्ययाग सहितें, लाल देद वाली पु० कश्मीरी में बर् प्र्एँठ्, जो, चायें स् बागावरस् की भाँति है।

तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ निर्भरता और तुलना द्वारा रचनाएँ मिलती हैं, जिनसे प्राचीन एकमूलक भिन्नार्थी शब्द उत्पन्न होते हैं : सं० तस्य समीपात् और तत्समीपात्, उपरि बनानाम् और बाणक्योपरि, पा० गोतमस्स सन्तिके और भिक्खूनसन्तिके, बानरस्स पिट्ठे और सीहपिट्ठे। निस्सन्देह कविगण शीघ्र ही

उस विकृत रूप के विकसित रूप की ओर ध्यान देते हैं जो सौभाग्यवश प्रिय बने रहने वाले परपरागत रूप के साथ साम्य रखता है; यही कारण है कि चन्द में सर्वनामजात संबधवाची विशेषण का विकृत रूप मिलता है

ता के कुल्[अ] ते उप्पनौ।

और बिना परसर्ग के

सब्[अ] जन्[अ] सोच्[अ] उप्पनौ।

सभवत ऐसा शैली के एक ऐसे प्रभाव के कारण हो जाता है जिसमे वास्तव मे व्याकरण के सबध दूर हो जाते हैं, ऐसे रूप मे जिससे सस्कृत की साहित्यिक शैली के दीर्घ समासो की याद हो आती है, तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि यह प्रभाव कम होता यदि लेखन-पद्धति मे (जैसा कि निस्सन्देह कम-से-कम कवि के उच्चारण मे था) दुर्बल रूप मे उच्चरित स्वर बने रहते, किन्तु जो आज भी सिंधी अथवा लखीमपुरी मे तो दृष्टिगोचर होते ही हैं सभवत प्रथमत. ये थे *सब्[इ] जन्[इ] सोच्[उ]।

एक कारक है जिसमे परसर्ग से पूर्व का रूप, मुख्य कारक मे है : ऐसा उस समय होता है जब मूल वाला परसर्ग होता है, न कि एक सज्ञा वरन् मुख्य कर्म कारक मे एक क्रिया (दे० अन्यत्र)। शिना मे भी मजौ 'मे', साति 'सहित' विकृत रूप-सहित, किन्तु गि० (गृहीत्वा) मुख्य रूप-सहित : चिलिम् रीलिगि; किन्तु यह विकृत रूप सादृश्य के कारण है चिलिम् रिलै गि। पु० मराठी मे वाँचूनि "सिवाय", ठीक-ठीक "छोडते हुए", अब भी मुख्य रूप मे ही बनता है। बगाली मे कहते हैं मथुरापुरेर माझे और बन्[अ] माझे, किन्तु केवल हाथ् दिआ देख[अ], मोर्[अ] ठायि, किन्तु आमा छाडा।

परसर्ग। संबंधवाची विशेषण

परसर्गों का कार्य भी निश्चित है, उनका शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से विभाजन करना केवल शेष रह गया प्रतीत होता है। यह निश्चित होना चाहिए, ताकि परसर्गात्मक शब्दों की स्वतत्र सत्ता की रक्षा हो सके और फ्रेंच परसर्ग de, depuis, parmi, sauf, pendant, hormis आदि की भाँति उनमे स्पष्टता आ सके। किन्तु ऐसी बात नही मिलती, एक बहुत बडी सख्या मे भारतीय शब्द केवल व्याकरण-सबधी साधन की भाँति है, इस विशेषता के कारण उनमे एक ध्वनि-सबधी ह्रास पाया जाता है जो कुछ एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे दृष्टिगोचर होता है : सिंधी मांझि और मॉं, हिं० ऊपर् और पर् (यह स० उपरि से ऐसा नही होता, वरन् अधिकरण से निर्मित

एक शब्द से है, प्रा० उप्परि, प० उप्पर्; इस रूप मे अधिकरण हैं जिप्सी-भाषा ओप्रे, तुल० ओप्राल् अपा०, म० वरिँ) : शिना गोट्एँजें अंज़ुए में एक ही शब्द दो बार है। इस ह्रास का प्रभाव यह हुआ है कि इन परसर्गों की शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से व्याख्या प्राय. कठिन या असभव हो जाती है।

स्पष्ट शब्दो और क्षीणता-प्राप्त शब्दो, जिन्हें व्याकरण-सबधी साधन मात्र बना डाला गया है, मे भेद के कारण वैयाकरणो ने अनिश्चित प्रत्ययो या उपसर्गों और "परसर्गों" का भेद उपस्थित किया है। इस भेद, सैद्धान्तिक मूल्य रहित, का तो भी एक वास्तविक आधार इस दृष्टि से है कि उल्लिखित विषयों द्वारा कुछ ऐसे शब्द जाने जा सकते हैं जिनकी स्वतत्र सत्ता है, जैसे कश्० मनुज़् जिसका अर्थ "बीच" होने के साथ 'मे' भी है, जब कि अन्य का कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही म० सिधी ला, हिं० को, ब्रज सों, हिं० से, गु० ने, हिं० ने। एक भाषा से दूसरी भाषा मे, अथवा स्वय एक ही भाषा में उन सबके विविध रूप मिलते हैं कश्० पेठ्[इ] अधि०, पेठ्[अ] अपा० (पृष्ठ-), म० पाशिं अधि० हिं० पास् की भाँति, किन्तु पासून् अपा० (पार्श्व) ; सिधी सें, हिं० से, ब्रज सों, बगाली के, हिं० को।

इसके अतिरिक्त यह परिणाम निकलता है कि परसर्ग न तो विशेष्यो से है, न क्रियामूलक विशेष्यो से, किन्तु कुछ-कुछ उन विशेषणो से जो "सबधित" का अर्थ प्रकट करते हैं, और उस सज्ञा के साथ साम्य रखते है जिसका विकृत रूप, जो उनके साथ आता है, पूरक है। इसी को प्रचलित व्याकरणो मे "सबध०" कहा गया है।

मध्य युग से सबधवाची विशेषण का प्रयोग प्रचलित है :

पु० म० (ज्ञान०) जया चेया इन्द्रियाँ चेया घरा, तयाचिये दिठि, खपनेयाँ चाँ गाँवि।

तुलसीदास सन्तन्ह कर साथ, जा करि तइँ दासि।

लाल वँद गौंर सोन्द्[उ] वनुन्, दयँ सन्द प्रहे।

आधुनिक उदाहरण·

सिंधी घर जो धणि "घर का मालिक"।

घरन्[ए] जो धणि "घरों का मालिक"।

मुर्स जी जोए।

मुर्सन्[ए] जू ओयू।

प्रियाँ सन्दे पार्[अ]।

हि॰ कुत्ते का सिर्।

कुत्ते के सिर् पर् (जिसमे विकृत रूप की भाँति सिर् का रूप ठीक परसर्ग द्वारा देखा जाता है जो उसके साथ साम्य रखता है)।

लखीम॰ गोपाल् क्अ लरिका।

गोपाल् के लरिका।

गोपाल् की लौंडिया।

गोपाल् कें लरिक के।

इसी प्रकार है म॰ चा (ची, चें), गु॰ नो, राज॰ रो, सिंधी जो, प॰ दा, यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'को' अथवा 'केरो', कश॰ होन्दु समस्त स्त्री॰ बहु॰ और एक॰ सहित, उक्^{उ} और उन्^{उ} केवल पु॰ एक॰ मे मिलते है, अन्त मे क्युत् से अधिक विशेष रूप में उद्देश्य का द्योतन होता है, तुल॰ स॰ कृत्य-। बगाली मे सामान्यत अव्यय रूप विशेषण "सबध॰" -एर् उडिया -आर् से बने प्रत्यय को स्पष्ट करता है।

इस विशेषण के प्रयोग के कारण "सामासिक परसर्ग" की रचना सभव होती है; जैसे फ्रांसीसी मे sur के निकट au dessus de है, वैसे ही हिन्दी मे 'पर्' के निकट 'के ऊपर' का प्रयोग होता है जिसमे द्वितीय अश विशेष्य है, जब कि मराठी मे अधिकरण पाशीं, अपादान पासून् सीधे विकृत रूप के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, हिन्दी में 'के पास्' का प्रयोग होता है।

इसी प्रकार सिंधी 'जे आगे', ब॰ -एर् बाहिरे, -एर् भीतरे। वाक्य-विस्तार की यह प्रणाली हिन्दी मे विकसित नही हुई और वह विविध विशेष्यो को, अधिकाशतः फ़ारसी-अरबी को, आत्मसात कर लेती है।

अस्तु, सबध प्रकट करने वाला परसर्ग विशेषण है। अथवा यह विशेषण उस मूल के कारण हो सकता है जो नामजात पूरक से बनता है और जो प्राय विकृत रूप में मिलता है।

तो भी मराठी मे (घर् चा, घरा चा) और राज॰ मे (देव तणै प्रासादि), देवतनी कुसुम तनी वृष्टि, और दूसरी ओर, चरित्र मुन्या तसु तणा ["उनके (३-४) चरित्र (१) सुने गये हैं (२)"] दोनो रचनाएँ अपवाद-रूप मे मिलती हैं।

आधुनिक युग मे, सबधवाची विशेषण मे, न केवल विकृत रूप से, वरन् परसर्ग वाले समुदायो के साथ सम्बद्ध होने की सभावना रहती है, और यह दुरूह परसर्गों के अनुकरण पर . जैसे गुजराती मे कहा जाता है निशल् माँ थी, कहा जा सकता है घर्माँ-नी छोकरी, आ देश्-माँ-न लोको; और मराठी में : घरीं चा, त्या दिवशीं चा।

निश्चित रचना, जो अंशतः आश्रित-वाक्य-योजना, जिसका आगे प्रश्न उठेगा, के अभाव की पूर्ति करती है।

इस प्रकार आधुनिक रूप-रचना दो कारकों में स्थित होने की प्रवृत्ति प्रकट करती है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं हो पाया; तथा दूसरी ओर उनमे विकृत रूप निर्धारित करने वाले शब्द सामान्य नियमानुसार परसर्गात्मक किये गये, तो नवीन रूप-रचना फिर से प्रत्ययों के सज्ञा-रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करती है। फलत. विकास-क्रम के सबंध मे सोचते समय मूल विकरण हो गये विकृत रूप "मूलों" पर आधारित प्राचीन प्रकार की रूप-रचना की सभावना सोची जा सकती है, किन्तु जहाँ तक सज्ञा-रूप के योग्य बना रहा सबधवाची विशेषण उसे पर-प्रत्ययो मे स्थान देता है, उसमे यह एक कठिनाई है। अथवा अव्यय-रूप प्रत्यय या उपसर्ग द्वारा विचित्र रूप मे प्रकट होने वाला नामजात प्रभाव बहुत कम मिलता है सिंहली गे (गृहे), अश्कुन ब, वैगेलि बूथं (भावात् ?), तोरवाली से, मि, एक मध्यवर्ती भाषा मे, मारवाडी रइ, तुल० पु० राज० व्रन रह पीडाई "व्रनानाम् पीडा"।

अस्तु, प्रणाली एक स्थायी संतुलन के निकट नही है।

विशेषण

विशेषणो की कोई विशेष रचना-प्रणाली नही है। सज्ञाओ के मूल या व्याप्ति-प्राप्त होने के अनुसार उनका रूप हो सकता है (सस्कृत या मुसलमानी भाषाओ से ग्रहण किये विशेषण प्रथम वर्ग के हैं) : म० उञ्च, हि० ऊंचा, स्त्री० ऊंची।

अपवाद रूप मे ब्रज मे, विशेषणों का व्याप्ति-प्राप्त रूप पु० एक० मे सज्ञाओं से भिन्न है . अलीगढ़ मे छोटौ बेटा, आगरा मे लहुरौ छौरा। पहले तो उसे समुदाय-गत रूप के परिणाम-स्वरूप देखने का लोभ होता है नूरी मे भी एक ओर तो विशेष्य कज्ज और क्रियामूलक नन्द के रूप मे एक मात्र कृदन्त पाया जाता है, और दूसरी ओर नन्दो-म् समुदाय मे निहित कृदन्त। किन्तु यह सूत्र ब्रज के सबध मे लागू नही होता, जिसमे क्रियामूलक रूप वाले कृदन्त के अन्त मे उसी रूप का समुदाय आता है जिस रूप का विशेषण . छोटौ बेटा चल्यौ गयौ। इसमे दो प्रकार के मिश्र सज्ञा-रूप मिलते हैं; उन सज्ञाओ के जो अन्य बोलियो से हाल ही मे ग्रहण किये गये है, हिन्दी-पजाबी प्रकार के।

एकरूपता

जिन भाषाओं मे व्याकरण-सबंधी लिंग स्वीकृत है, उनमें लिंग-सबधी एकरूपता व्याप्ति-प्राप्त रूपों में मिलती है, और साथ ही मूल रूपो में, जहाँ कही उनमे अन्त्य स्वर

सुरक्षित रहता है सिंधी उमिर्ए चौसाल् अ (पु० चौसाल उ), इसी प्रकार तुलसी-दास मे दाहिनि आँखि और सपथ अ बडि जिनमे केवल विशेषण मे लिंग मिलता है। लखीमपुरी मे यह प्रयोग सुरक्षित है पातर्, पातर् इ (तुल०पातलो, पत्र से उत्पन्न); नीक्, नीक् इ (फारसी शब्द), किन्तु व्याप्ति-प्राप्त विशेषण में स्वर दीर्घ है : थोरा थोरी। और यही कर्ता मे भी एक् डेगेर् अडि "एक बुरा लडका", एक् डेगेरि जुक् "एक बुरी लडकी"।

बगाली जैसी प्रसिद्ध भाषा मे अर्थ के अनुसार सस्कृत अन्त्य-रूपो का प्रयोग होता है सुन्दर् बालक्, सुन्दरी बालिका; परम मित्र, परमा शान्ति।

सामान्य रूप मे ऐसा प्रतीत होता है जैसे दीर्घ रूपो का विस्तार आधुनिक हो; हिन्दी मे पुल्लिग के बजाय मूल रूपो को अधिक पसन्द किया गया प्रतीत होता है, जिनकी रचना मे सन्देह बना रहता है, अध्चन्दर् सस्कृत समास, किन्तु तद्भव मे आधा चाँद, यें बात् सच् है, किन्तु सच्ची बात्, 'सब्' जैसा शब्द विशेषणो के वर्ग से हटकर सख्यावाची सज्ञाओ मे चला जाता है। एक स्पष्टता और अन्तर उपस्थित करने की विशिष्टता की झलक मिलती है दूर्, किन्तु दूर् का, की, काल्, काला (असाधारण रूप मे काल्जुआरी)।

विशेषण के विशेष्य की भाँति निर्मित होने के कारण, ऐसी आशा की जाती है कि उसकी रूप-रचना विशेष्य के समान हो, (तो) एकरूपता मूल रूपो या व्याप्ति-प्राप्त रूपो के बीच स्थापित हो सकती है हिं० मीठे बचन् से, हिं० काले घोडे को, म० काला घोड्या-स्, म० थण्ड् पाण्या नें। वास्तव मे वह पूर्ण एकता जो सस्कृत में आदर्श थी केवल कुछ ही भाषाओ मे मिलती है कश्मीरी (बडिस् अज्ऍगटिस् मनुज्, स्त्री० बजऍ गरीबियें मनज्, बाग्नौ मालो), सिंधी [छोथें डिंह् अँ, केतिर् अ उमिर् ए जो (पु०)?, थोरन् ए डीहन् ए क्'हआँ पो], पजाबी और गुजराती (मे नामजात बहु० के प्रत्यय या उपसर्ग -ओ का भाववाचक रूप करते समय)। लखीमपुरी मे सामान्यत सज्ञा-रूप प्राप्त करने वाले विशेषणो के रहने पर नामजात रूप-रचना के क्षीण हो जाने का अपवाद मिलता है।

किन्तु स्वय सिंधी मे बहुवचन के स्थान पर एक० विकृत रूप का प्रयोग होते देखा जाता है. कूडे (अथवा कूडन् ए) नबिउन् ए से। हिन्दी का प्रयोग इस प्रकार है: काले घोडे को, काले घोडों को, काली बिल्ली, बिल्लियों को। इस सरलीकरण के मूल

मे ध्वनि-संबंधी विषमीकरण की झलक मिलती है, जो उस युग से पहले उत्पन्न होता है जब कि विकृत रूप बहु० का अन्त्य *-आँ मन्द पड जाता है : *कालयाँ घोडयाँ > *कालय घोडयँ > काले घोड़(य्)उँ (ब्रज घोडउँ)। क्योंकि समदाय मे होने वाले परिवर्तन के कारण वास्तव में ऐसा होता है, इसी से यह तथ्य प्रदर्शित होता है कि वह केवल 'पीले फूलो-वाला गन्दा' प्रकार मे ही उत्पन्न नही होता, वरन् विशेष्यों में भी : हम् बच्चे लोगों को (हम-बच्चे विकृत रूप एक० अथवा मुख्य बहु० ? -गेन्स् विकृत रूप बहु०), लड्के और लडकियो के लिये [लडको के लिये (प्रत्यक्षत विकृत रूप एक० अथवा मख्य बहु०) और लडकियों के लिये (विकृत रूप बहु०)] और विशेषत एक स्त्री० संज्ञा मे 'बाते बातों में'' [प्रत्यक्षत मुख्य बहु० बातें के स्थान पर बाते, बातों (विकृत रूप बहु०)]। इस अन्तिम उदाहरण से मन मे यह आता है कि पुल्लिग मे एक-वचन विकृत रूप पर किस प्रकार मुख्य बहु० की भाँति विचार हो सकता था, 'घोडे' में दो मूल्य हैं ही, सर्वनाम वाले समुदायीकरण की गणना करना भी आवश्यक है : 'इन् लोगो ने' जो 'इन्होने' से भिन्न है; और हम् जो मुख्य या विकृत रूप हो सकता है : हम् लोग्, हम् लोगो ने, 'काली बिल्लियों'' तब तो मुख्य मे प्रतीत होने वाले विकृत रूप एक० 'काली बिल्ली' से अलग होने मे स्पष्ट हो जाता है, अथवा मुख्य बहु० 'काली बिल्लियाँ' से अलग होने मे, किन्तु स्वय इसका तो निर्माण समुदायगत शब्दो के विषमीकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण होता है।

अन्यत्र विशेषणजात रूप-रचना का न्यूनत्व एक दूसरे रूप मे होता है : यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे हिन्दी की भाँति है काले मनुसैंस्, काले मनुसैंन्, किन्तु पुल्लिग रूप ने फिर भी स्त्री० बहु० को प्रभावित किया है। मराठी मे भी यही बात है, किन्तु फिर भी विकृत रूप स्त्री० एक० मे पुल्लिग प्रत्यय भी मिलता है।

शिना और गवर्‌बती मे लिग मे विशेषण एकरूपता रखते हैं, किन्तु विकृत रूप के लिग मे नही।

अस्तु, विशेषण की रूप-रचना विविध रूपों मे मिलती है, इस प्रक्रिया का इतिहास तैयार नही हुआ।

तुलना

पीछे दी गयी आधुनिक प्रत्ययो की छोटी-सी सूची मे न तो तुलनात्मक, न तमवन्त के पर-प्रत्यय का उल्लेख हुआ है।

भारोपीय से प्राप्त, सस्कृत मे वे थे एक ओर -ईयांस्- और -इष्ठ- धातु के साथ सीधे संबद्ध हैं, दूसरी ओर -तर- और -तम- विशेषणों से उत्पन्न हैं, ये अंतिम, जो अधिक स्पष्ट

हैं, क्लैसीकल संस्कृत मे अधिक सामान्य हो जाते हैं; प्रत्यक्षत वे पाली में बने रहते हैं; किन्तु यह बता देना भी लाभदायक होगा कि पाली और अशोक० में केवल -तर- ही रचनात्मक है। (अश्कुन और वैगेलि के -स्त्‌थ युक्त व्याप्ति-प्राप्त विशेषण तो फिर, तमबन्त पर-प्रत्यय से युक्त न होकर, किन्तु जैसा कि श्री मौर्गैंस्टिएर्न को दृष्टिगोचर हुआ है, स्था- धातु से सम्बद्ध एक रूप से युक्त सान्निध्य-युक्त होंगे)।

किन्तु स्वय तुलनात्मक पर-प्रत्ययों को आघात पहुँचता है; पाली की अपेक्षाकृत हाल की सीमा में एक नवीन सूत्र मिलता है, अर्थात् अधिकरण मे तुलना के अंश के साथ विशेषण के सामान्य रूप . एतेसु कतर नु खो महन्त, अथवा अपादान में : सन्ति ते ञातितो बहू (महावग्ग, काफी बाद का पाठ)। यह दूसरा सूत्र था जिसे अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई; वह द्रविड़ सूत्र के अनुरूप है, और फिर मुण्डा में मिलता है, जिसमे वह सभवत आर्य-प्रभाव के कारण है; क्योंकि सोरा में वह नही है, और किसी दूसरे रूप मे मुण्डा में उत्कर्ष-सूचक मध्यवर्ती-प्रत्यय है।

'अलग होना' का अर्थ प्रकट करने वाली अभिव्यजना स्वभावत अलग-अलग भाषाओ में अलग-अलग है, उदाह० हिं० से, गु० थी, प० थो, छत्तीस० 'ले', बगाली होइते, थाकिया, शिना जॆओ, तोर० केजा, अश्कुन तै, सिंहली सिट। अन्य अभिव्यजनाएँ हैं : कश० निशिए, स्रोत जो खस्- के कृदन्त का अनियत रूप है (खस्- का मूल ईरानी है, दे० हॉर्न 'खास्'- शब्द के अन्तर्गत), बिहारी और पु० अवधी चाहि, ब० चाहिया, नै० भन्दा।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे केवल एक पर-प्रत्यय है, जो उसने ईरानी से ग्रहण किया है और जो नकारात्मकता के साथ रहता है 'सैन् तू बर्बलेदेर् न मे' और साथ ही भारतीय 'बॅरेदेर् न तुते' मे "अपादान" के साथ "*बड़ा नही तुमसे"।

सबधवाची तमबन्त भी बराबर सामान्य रूप द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु "सबकी अपेक्षा अधिक" अथवा "सबमे" का अर्थ प्रकट करने वाले शब्दो के साहचर्य मे, तुल० पाली सब्बकनिट्ठ अर्थात् "सब से छोटा"; हिं० यें घर् सब् से ऊँचा है, इन् पेड़ो मे बड़ा येहि है।

जहाँ तक पूर्ण तमबन्त से सबध है, सबसे अधिक प्रचलित सूत्र है "आवृत्ति" : हिं० गरम् गरम् दूध्, ब० भाल भाल कापड। 'बहुत' का अर्थ प्रकट करने वाले क्रिया-विशेषण का भी प्रयोग किया जा सकता है : पु० म० थोर्, हिं० बहुत्, निहायत्, कश० सेंठा, सिंहली इता; बड़ा का अर्थ प्रकट करने वाला विशेषण शायद ही कभी स्थान प्राप्त करता हो : हिं० बड़ा ऊँचा, म० मोठी लाम्ब् काठी, तुल० मिश्र या सयुक्त विशेषण पाकुल्ला महापना।

विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है; जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि विशेषण का केवल एक ही रूप है।

विशेष्य का निर्धारण

संस्कृत में उपपद नहीं है। तो भी सर्वनाम स· का आवृत्तिमूलक मूल्य बहुत शीघ्र मिटता हुआ दिखाई देता है; महाकाव्यों मे, और विशेषत बौद्ध पाठों मे, वह वास्तविक उपपद के रूप में आता है।

उपपद और निश्चयवाचक के बीच की मध्य स्थिति आज भी एक से अधिक भाषाओ मे दृष्टिगोचर होती है। किन्तु समस्त भारतीय-आर्य भाषाओं मे केवल यूरोपीय जिप्सी-भाषा ही एक ऐसी भाषा है जिसमें वास्तविक उपपद मिलता है, स्पष्टत: ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत। अस्तु, सिद्धान्तत. भारतीय आर्य सज्ञा-निर्धारण के प्रति उदासीन रहता है।

दूसरी ओर अनिर्धारण अपने को स्वेच्छापूर्वक एक- द्वारा प्रकट करता है; यह प्रयोग दूर की चीज है : अथर्व० से ही बहु० एके का अर्थ 'कुछ' मिलता है, महाकाव्यो और विशेषत जातकों मे अनिश्चयवाचक के रूप मे 'एक' का यथेष्ट बड़ी सख्या मे प्रयोग मिलता है। आज 'एक' की अभिव्यजना अनिवार्य है और वह सिंहली मे (मिनिहेक्, गमक्, इसमे समुदायगत रूप-रचना चलती है) और जूरी मे (जूरि-क् "एक स्त्री", जूरि "स्त्री", जो एँ-जुरि "यह स्त्री" से अलग है) परसर्गात्मक रूप मे आता है; स्वभावत: यहाँ इस प्रत्यय या उपसर्ग के अप्रस्तुत विशेष्य का निश्चित मूल्य है। कश्मीरी मे जिसमे -आह्, जो कर्ता० एक० अनिश्चयवाचक के बाद आता है, अनिवार्य नही है, पृथक् हुआ विशेष्य भी उसी के द्वारा निर्धारित नही होता।

तो भी निर्धारण की कुछ अनिश्चयवाचक रीतियाँ मिलती है। हिन्दी, लहदा, सिंधी, बगाली, तीराही (एल० एस० आई०, I,I, पृ० २७१) में निश्चित उद्देश्य मिलता है, मुख्य कारक मे नही, किन्तु "à" (मे, पर) का अर्थ बताने वाले परसर्ग के बाद आने वाले विकृत रूप मे . हि० पानी मेज् पर रखो, पानी को ठण्डा करो, कोई नौकर् लाओ, नौकर् को साथ लाओ; सिंधी कनिक् के भाण्ड् में मेडे रखो। बगाली मे यह नियम केवल चेतन जीवो और फलत: पुरुषों के नामों में लागू होता है : गोरू चराय् · गोरु-टा के बाँधो (टा का तो वैसे ही निर्धारक महत्त्व है, दे० आगे) ; पु० ब० राधा का देखिओं, बड़ायि क छाड़ी, इसी प्रकार गुजराती में हुँ गोपाल ने कारकुन् ठेरवुँ छुं, राइ-रंक् ने समान् दृष्टिए जोतो, भुप्को ने चार्या सारु; मराठी में मिं तुला एक् राजा दाखवितों किन्तु आपण् राजा ला आऊन् पाहूँ; अवधी (लखीमपुरी) में मर्दन कुर्वत माळडारेउ ·

कश्मीरी और यूरोप की जिप्सी-भाषा मे अकेले विकृत रूप का सम्प्रदान वाला मूल्य है, पुरुषवाची सज्ञाओ के लिये वह कश्मीरी मे मुख्य कर्म कारक का भी काम देता है : वाज़स् मारान्, जिप्सी-भाषा मे पुरुषवाची नामो के लिये, अनिवार्यतः पशुओं के लिये कम · अन्द् पानी "पानी ला", कूर् ई जुक्लेस् "कुत्ते को मार", अन्द् दुइ ग्रेन् "दो घोडे ला", खार्दस ई मूर्सैस अरे। नूरी मे नपु० मुख्य कर्म कारक प्रत्यय-रहित है, चेतन विकृत कर्म कारक मे है। सिंहली मे भी ऐसा ही मिलता है।

निश्चित और चेतन भावो का योग भी दृष्टिगोचर होता है, ऐतिहासिक विस्तार नही मिलता। यह संभव है कि पुरुषवाची सर्वनामों मे मुख्य कर्म कारक का अभाव विकास का सूत्रपात होते समय हुआ हो।

मैथिली मे व्याप्ति-प्राप्त रूप, जो उसका निश्चित सिद्धान्त है, उपपद के तुल्य मूल्य धारण कर सकता है नेन् अ वा घनिष्ठ है या बुरी नजर से देखा जाने वाला, किन्तु घोड् अ वा का अर्थ केवल प्रस्तुत 'घोडा' है।

छत्तीसगढी मे हर् (अपर-) एक ऐसी सज्ञा के साथ सबद्ध होता है जो "तथा अन्य, आदि" कहलाने योग्य है, किन्तु यह महत्त्व 'ओमांके एक् हर्' मे लुप्त हो जाता है; स्वय ओहर्, इन्हर् मिलते हैं: चेरिया हर्, सूआ हर्, गर् हर् मे वह उपपद के रूप मे आता है (हीरालाल, पृ० ३७, ४१)।

जिस सीमा तक वह केवल जोर देने की रीति का विशेष प्रयोग हो जाता है, वहाँ तक वचन-युक्त सज्ञाओ का निर्धारण समीप रखा जा सकता है : हिं० दोनों, तिनों, तुल० सैंकडो (विकृत के रूप), तुल० छत्तीस० दुनो, तिन्नो, सैओ और सबो, मैथिली दुन् उ, अवधी दोउ, चारिउ, तुल० एकौ, घर् अथवा 'घरी से', पु० राज० बिहु, त्रिहुँ, चिहुँ और ज़ोर देने वाले -इ सहित 'अढार-इ लिपि', अवधी कुत्ते, मराठी दोघे, तिघे, चौघे (सज्ञा-रूप-योग्य), भोजपुरी दोगो, तिन्गो अस्पष्ट हैं, किन्तु उसी सिद्धान्त के अनुसार बनते हैं।

बगाली मे एक बिचित्र प्रयोग मिलता है वह है एक सज्ञा के बाद निर्धारण वाले निपात का : टा से मोटी या भद्दी वस्तुओ का द्योतन होता है, टी से छोटी, कोमल, अच्छी लगने वाली वस्तुओं का : मानुष, एक अथवा एक्टा अथवा एक्टी मानुष्; मानुष्टा अथवा मानुष्टी, इसी प्रकार चौडी और लम्बी वस्तुओं के लिये : (खण्ड- से) बल् खाना, कापडखानि और एक दण्ड से मिलती-जुलती वस्तु के लिये (गाछ्) लाठी-गाछ्, छरी-गाछि, दडी-गछि; इसी प्रकार पु० बगाली मे . बाण गोटा, बाँसी गुटि,

तुल० वचन-युक्त संज्ञाओं से मैथिली सुहुँ गोटा, यह शब्द जो इसी प्रकार उड़िया में आता है, बंगाली में केवल "पूरा, सब" के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। पूर्वी समुदाय तक सीमित, यह प्रयोग अपने को भाववाचक के अवशिष्ट रूप मे घोषित करता है · यह कोई सयोग की बात नही है कि वर्गीकरण करने वालों ने स्यामी भाषा मे उसे उपपद मे परिवर्तित होते पाया है (श्री बुर्ने द्वारा सोसिएते द लांग्विस्तीक को पत्र, बी० एस० एल०, XXIX, पृ० XXVI)।

सर्वनाम

पुरुषवाचक सर्वनाम

जब कि सज्ञाओ मे कर्त्ता० और कर्म० इस रूप मे थे कि मुख्य कारक हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, सर्वनामों मे कर्त्ता० और कर्म० मे पृथक्त्व की दृष्टि से विभिन्न विकरण थे। नामजात विकरणो के प्रभावान्तर्गत और अन्य सर्वनामो के भी, विशेषत सबधवाचक के जिनके नियमित रूप से विपरीत रूप थे, निश्चयवाचक मे प्राय. नामजात रूप-रचना मिल जाती है। उत्तम और मध्यम पुरुष के पुरुषवाचक सर्वनामो मे, जिनमे वही प्रभाव इतना कम दृष्टिगोचर होता है कि ये सर्वनाम वस्तुओं के सबध में व्यवहृत नही हो सकते, कर्त्ता० का अन्य कारको मे विरोध होता चला आ रहा है।

किन्तु फिर मुख्य कर्म कारक मे गौण कारको से मिल जाने की सभावना थी · अश्कुन मे प्राप्त एक उदाहरण से यही परिणाम दृष्टिगोचर होता है इमा तो लानुमिर्से, ऐ तो पल प्रेम् अथवा तो-अ ब की भांति। इस विकास का प्रारभ निस्सदेह प्रत्ययाश न , व का वह प्रयोग प्रदर्शित करता है जो उसी समय वैदिक था, और इस दृष्टि से, सस्कृत मे अधिक सयमित, किन्तु जो कर्म० साथ ही सबध० और सप्रदान० मूल्य सहित मध्यकालीन भारतीय भाषा के 'मे, ते' द्वारा भली भाँति प्रमाणित होता है। यह देखा जा चुका है कि प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा मे कर्म० मम, जो सबध० मम के अनुकरण पर म के निकट है, मह के अनुकरण पर प्राकृत मे मह और मिलता है; अन्त में अपभ्रश मे मइ (हिं० मैं) है जो करण० है।

अपने मे यह कर्म० और विकृत रूपो की गड़बड़ उन्हीं भाषाओ में कठिनाई उपस्थित कर सकती थी जिनमें सज्ञाओ का कर्म० उनके कर्त्ता० के समान था। परसर्गों के प्रयोग के प्रचलित होते समय, यह सभवतः पुरुषवाचक सर्वनामों के मुख्य कर्म कारक तक "को, लिये" (à, pour) का अर्थ प्रकट करने वाले परसर्गों के प्रसार की निर्णयकारी स्थितियों मे से एक रही है : हिं० 'को' आदि; इस प्रयोग मे ही फिर सामान्यत. वाक्य-विचार

में चेतन और अचेतन संज्ञाओं का भेद प्रकट करने की प्रवृत्ति को दृढ़ किया, दे० ऊपर।

दूसरी ओर प्रमुख-प्रमुख रूपो मे कर्त्ता० को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति पायी जाती है : उसी के कारण पाली मे है ही अम्हे तुम्हे [अशोक मये जो पाली मय है, और तु(प्)-फे] जिनमें बहु० मे प्राकृत भाषाओं मे एक अधिक नियमित विशेषता पायी जाती है। आधुनिक भाषाओ मे, म० मी, हिं० मैं आदि, भूतकालिक क्रियाओ के साथ सामान्यतः करण, मुख्य कारक मे हो जाते हैं।

एकवचन

उत्तम पुरुष

सस्कृत अह का प्रतिनिधि, अथवा उचित रूप मे मध्यकालीन भारतीय भाषा अहक का प्रतिनिधि अब भी कुछ भाषाओ मे मिलता है प० और ब्रज हउँ, पु० गु० हउँ हूँ हो जाता है, मालवी, मारवाडी हूँ, कोकनि हांव्, प्राचीन प० हौं (हउँ) जिसका स्थान मई ने ले लिया है, सिंधी आऊ, आँ, पशई, गवर्‌बती, तोरवाली, कलाश आ, तीराही अओ, खोवार आव।---कती उजे ऊच, प्रशुन उन्‌जू जो कल्पित *अहम् का प्रतिनिधित्व तो नही करते? अश्कुन ऐ, वैग० ये, सभवत निश्चयवाचक है, कश० बोंह् अस्पष्ट है।

प० मईं (और लहदा मूँ) मूलत करण० ही है (जो अपभ्रंश मे ही कर्म० मे दृष्टिगोचर होने लगता है); यही रूप फिर ब्रज, जयपुरी और मेवाती, अवधी मे पाया जाता है, पु० मैथिली, भोजपुरी मे (छोटों के बारे मे कहते समय) 'मैं' है। निस्सन्देह यही रूप प्रकट होता है म० मे 'मी', ने० मे 'म' (उच्चारण करते समय अनुनासिक), पूर्वी समुदाय मे विकृत रूप मो- पर आधारित एक सदृश रूप है . पु० ब० मोए, ब० मुइ, असामी मैं, उडिया मुँ।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे, नूरी अम, समान बहु० अमे से भिन्न, शिना म स्पष्ट नही है, हर हालत मे वे निकलते बराबर हैं विकृत रूप से।

पजाबी मे कर्तृ और कर्त्ता० मईं का विकृत रूप मैं, मे से भेद है, गु० मे भी विकृत रूप म से भिन्न 'मैं' कर्तृ० है।

अनेक रूपों की उत्पत्ति विकृत रूपो से हुई है।

नूरी -म् (कर्त्ता० मे प्रतीत होने वाले अम के निकट), लहंदा -म्, सिंधी -म् ए, कश० मूएँ, -म्, पशई मे, -म्, तीराही, तोरवाली मे, प्रशुन -म् सं० प्रा० मे का प्रतिनिधित्व कर

सकते हैं; दीर्घ स्वर-युक्त अथवा परंपरागत रूप सर्वनामों में स्पष्ट किये जा सकने वाले प्राचीन रूप होने चाहिए। किन्तु तोरवाली में कर्ता० आ, ऐ, विकृत रूप मे के समीप कर्म० मा है। यह संभवतः प्राचीन संबंध० मह है जो विकृत रूप में पु० म० मा-, गु० मालवी जैपुरी म-, सिंधी बोली मह्ए, कोंकनि मोज्- के निकट मा-, खोवार म, तीराही मे के निकट म में बने रहते हैं; तुल० अश्कुन इम संबंध० (किन्तु क्या जो विकृत यूँ का प्रतिनिधित्व करता है ?)। इसके अतिरिक्त मह अपभ्रंश में मह्ु था जो सिंधी मूँह, जैपुरी मेवाती मूँ, ब्रज, बुन्देली, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, बंगाली आदि मो मे पाया जाता है (ब्रज, बघेली, मैथिली, भोजपुरी मोहि नामजात विकृत रूप का प्रत्यय -हि है)।

अन्य संबंध०, प्रा० मज्झ, माझ्- मे मिलता है, गु० मज्, कोंकनि मोज्-, मेवाती मुज्, ब्रज और हिन्दी मुझ् (तुझ् से प्रभावित स्वर)।

उत्तर-पश्चिम मे, कर्ता० ये के विपरीत ँई, कती ई और साथ ही यूँ, संबंध० इम अयम् जो फिर अहम् की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं; साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा मे कोई गड़बड़ ज्ञात प्रतीत नहीं होती है। प्रत्येक स्थिति में कर्म० कती -मँ, -ईं, -अ सर्वनामों मे नही हो सकते।

सर्वनामों के प्रत्यांश रूप हैं; विकृत रूप के तो उद्धृत हो चुके हैं; इसके अतिरिक्त सिंधी -स्ए, कश० -स् मिलते हैं जो अस्मि का प्रतिनिधित्व करते पाये जाते हैं।

सिंहली मे कर्ता की भाँति मम है, जो संस्कृत संबंध० प्रतीत होता है, और जो विकृत रूप मा के निकट प्रतीत होता है; पशई मम् कर्तृ का, जो विकृत रूप मे के निकट है, वही रूप है अथवा उससे उत्पन्न होता है।

मध्यम पुरुष

मराठी कोकनि सिंधी लहंदा पंजाबी तूँ, गु० तुँ, अवधी तू, यूरोपीय जिप्सी-भाषा तु, कती कर्ता० त्युं, विकृत० तू, नूरी अतु के संबंध मे कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि सिंहली 'तो त्रय' पर आधारित हो सकता है, तो खोवार. गवर्‌बती, कलाश तु, पशई तो, तोरवाली तु (आ, ऐ के आधार पर निर्मित त, तै के निकट), तीराही तु तो, शिना तु, कश० चह् का मूल निश्चित करने का साहस नही होता।

विकृत रूप में, वे रूप जो भारत के मुख्य भाग मे प्राय: मिलते हैं 'तुझ्-' और 'तो' हैं जो प्राकृत तुज्झ और सं० तव पर आधारित हैं। पशई -ए (दन्द्-ए), नूरी -ए, सिंधी -ए, लहंदा -ई, सं० प्रा० ते के साथ खपने वाले प्रतीत होते हैं; किन्तु प्राकृत तए के निकट रूप हैं जो पु० कश० तोँयँ, आधु० चएँ (किन्तु प्रत्ययांश -थ्, -य्) की याद दिलाते हैं;

इसी प्रकार कलाश तै, प० तै, लहदा तुअं हैं। केवल तोराही ते (कर्ता और साथ ही कर्म), तोरवाली तै जो सबध० चिं से भिन्न है (तुल० कती पुता-सें जो तोत्-चीं से भिन्न है) और कर्म० ता के सबध मे निश्चय किया जा सकता है।

उन्जु से भिन्न प्रशुन मे इयू, विकृत रूप ई- हैं जो निश्चयवाचक सर्वनाम के रूप में भली भाँति प्रतीत होते हैं, तु से भिन्न विपर्यस्त रूप मे कती हैं की भाँति।

कर्ता के रूप मे प्रत्ययाश रूप, कश० -ख़्, लहदा -एँ, ई, सिंधी -एँ, स्त्री० अँ अस्पष्ट हैं।

सिंहली का विकृत रूप एक विचित्र विशेषता प्रस्तुत करता है, और वह है लिंग ग्रहण करने की · पु० ता, स्त्री० ती (ती गे अत, ती पिया)।

बहुवचन

आदि रूप सामान्यत. सस्कृत अस्मत् युष्मत् आदि मे अनुनासिक का अनुसरण करने वाले शिन्-ध्वनि या शकार ध्वनि वाले समुदाय के ध्वनि-सयोग के अनुकरण पर वर्गों में विभाजित होते हैं।

सिंहली मे वे इसी रूप मे मिलते हैं : अपि, विकृत रूप अप; तेपि, विकृत० तोप (* अप्फे प्रकार जो अशोक को भी ज्ञात था, दे० अन्यत्र)।

इसी प्रकार "प्राकृत" वाले समुदाय मे सर्वत्र ह्म है · म० आह्मि, विकृत० आह्मा, तुम्ही, विकृत० तुम्हा, गु० अमे, अमा, तमे, तम्, राज० म्हे, म्हा, थे, थाँ, ब्रज हम्, हमउँ; तुम्, तुम्हउँ, ब० आमि, आमा; तुमि, तोमा, नूरी अमे, मेन्, अत्मे (विकृत० अम्नन्, -रन् का निर्माण एक० विकृत० के आधार पर हुआ है); विचित्र रूप : हिं० हम्, तुम्(ह), ने० हमी, तिमी, मैथिली हम्, तोह्, जिप्सी-भाषा अमेन्, तुमेन्।

पश्चिमी भाषाओ मे शिन्-ध्वनि के बाद म् व् हो जाता है, जिससे हैं * अस्वे, जब कि *तुसॅव्- *तुह्व्- के निकट आ जाता है

कश०	असि, विकृत० असे	तोँही, विकृत० तोँहे
सिंधी	असीँ, विकृत० असाँ	तवहीँ, विकृत० (त्)अ(व्)हाँ
शिना	अस्, बे का विकृत०	च्हुओ

पजाबी और लहदा में, चाहे दोनो वर्गों का समान रूप मे व्यवहार होता रहा हो, चाहे मध्यम पुरुष उत्तम पुरुष मे मिल गया हो, हमे मिलते हैं . लहदा असीँ तुसीँ, पजाबी असीँ तुसीँ, विकृत० असाँ तुसाँ।

अह्म् से भिन्न *तुह्म् के व्यवहार से सभवतः स्पष्ट होते हैं :

तीराही	मेन्, विकृत म्या	ता
तोर०	मो	थो तो
गर्बी	संबध० मो	संबंध० था

निस्सन्देह शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि के अन्तर से ही कती एम, सैा (ईरानी विशेषता का रूप, किन्तु जो समीपवर्ती ईरानी बोलियों मे नहीं पाया जाता) बराबर स्पष्ट हो जाते हैं।

किन्तु उत्तर-पश्चिम मे कुछ अस्पष्ट बाते मिलती हैं खोवार इस्प (अस्मत् ?), पिस, प्राचीन बिस (व +*-स्मत् ?); कलाश आति "हम" और "तुम", विकृत० १ होम, २ मीमि। इस अन्तिम समुदाय से गर्बी १. अम, २ मे की ओर ध्यान जाता है, पशाई १ हम, २ (ह्)ऐमा। निश्चयवाचक के प्रवेश की झलक दृष्टिगोचर होती है जैसे वैगेलि येम युम, ये का बहु०, विकृत० ईं से स० इमे की ओर ध्यान जाता है, जब कि तु का बहु०, जो 'वी' है, वीम बडी अच्छी तरह से यूयम् (अथवा व. जिसके कारण दूसरी ओर वयम् का प्रचार बन्द हो गया ?) को जारी रख सकता है। विपर्यस्त रूप मे प्रशुन में, वी से भिन्न, विकृत० यम् (यूयम्, युष्मत्), उत्तम पुरुष मे वास्तविक सर्वनामो से मिलते हैं एक० उनृझू, विकृत० उम्, बहु० असें, विकृत० अस्।

उन भाषाओ मे जिनमे नामजात-पूरक सज्ञा के बाद आने वाले सबधवाची विशेषण द्वारा प्रकट होता है, 'सबध०' का सबध स्वच्छन्दतापूर्वक व्युत्पन्न विशेषण द्वारा प्रकट होता है।

एक वचन मे मराठी मे विकृत० के विकरण माझ्-, तुझ्- के आधार पर माझा, तुझा हैं, किन्तु बहुवचन मे उसमे, संज्ञाओ की भाँति, आम् चा, तुम् चा मिलते हैं।

विशेषण का अत्यधिक प्रचार संबध० से उत्पन्न एक रूप पर आधारित है, जो स० मामक-, तावक- नही है, किन्तु एक सदृश सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए *ममकर- अथवा *महकर-(अप० महार) है जो अत मे विकृत० के साथ सकरता स्थापित कर लेता है जैपुरी मालवी मारवाड़ी म्(ह्)आरो, गु० मारो; ब्रज मेर्यो मेरो, मेवाती कनौजी नेपाली मेरो, प० हिं० मेरा, यूरोपीय जिप्सी-भाष. मीरो (नूरी मे वास्तविक सबंध० का प्रयोग होता है); पूर्वी हिन्दी, मैथिली, बगाली मोर्।

सिंधी मे सभी सर्वनामों का सज्ञाओं की भाँति व्यवहार होता है। इसी प्रकार कश्मीरी मे, जिसमें शीघ्र ही पुल्लिग व्यक्तिवाची संज्ञाओं के प्रत्ययों : म्योन्^{उ}, सोन्^{उ}, छ्योन्^{उ} का रामुन्^{उ} की भाँति प्रयोग होने लगता है, और शीघ्र ही सामान्य संबंधवाची विशेषण का : तुहोन्द्^{उ} का घुरसोन्द्^{उ}, मालिहोन्द्^{उ} की भाँति।

पुरुषवाचक सर्वनाम उस व्याकरण के अंश हैं जिसमें यह बात भली भाँति दृष्टिगोचर होती है जिसे मध्यकालीन भारतीय साहित्यिक भाषाएँ भारतीय भाषाओं के अंग के रूप मे प्रस्तुत करती हैं; जहाँ से वे अलग होती हैं वह पूरे समुदाय के लिये समान है, किन्तु, अन्य बातों के अतिरिक्त, ध्वनि-संबंधी पृथक्त्व ने फलत. एक ओर सिंहली को स्पष्टत: अलग कर दिया है, दूसरी ओर हिन्दूकुश की बोलियों को।

आदरसूचक रूप

पुरुषवाचक सर्वनामो का व्यवहार मे सर्वत्र शब्द-व्युत्पत्ति-विचार-संबंधी मूल्य नहीं रह गया। भारतवर्ष मे, परिवार में या परिवार से बाहर, सामाजिक संबंध वह सूक्ष्म भेद या अतर उपस्थित करते हैं जो शब्दावली और व्याकरण मे एक साथ प्रतिबिंबित होते हैं; जैसे एक, अकेले, आदरणीय व्यक्ति को संबोधित करते हुए, 'तू, तेरा' स्वभावतः वर्जित है ' कहीं-कहीं पर "तुम" दृष्टिगोचर होता है, और मध्यकालीन भारतीय भाषा में तो मध्यम० बहु० के सर्वनाम द्वारा प्रकट किया गया मिलता ही है, अन्यथ ऐसी संज्ञा द्वारा— महराज, हुजूर, साहेब आदि (तुल० स० भवन्त्-) जो प्रथम पुरुष से बने हैं (सामान्यतः बहु० में)। अत में एक, अकेला, आदरणीय व्यक्ति संस्कृत आत्मन्- द्वारा प्रकट हुआ है, जिसका मूलत: अर्थ "आत्मा, व्यक्ति" होता है और जो साथ ही तीनों पुरुषों मे प्रतिबिंबित अन्य सामान्य प्रयोग मे आता है, किन्तु कारकों का अनुसरण करते हुए जिसमें 'हम', 'तुम', 'वह' होने चाहिए और भाषाओ के अनुसार जिनकी विविध रूप में रचना होनी चाहिए।

सिंहली में 'तो' उग्र और अभद्र है, उमॅब अथवा नुब का प्रयोग बराबर वालों में होता है (प्रथम पुरुष मे); तमा (आत्मन्), तमुसे आदरसूचक हैं; वे 'बहुत से' के साथ आ सकते हैं।

मराठी मे आह्मी का मी के संबंध से वही रूप है जो फ्रेंच मे nous का je के संबंध से है; इसी प्रकार 'तुम्ही' vous की भाँति है जिसका प्रयोग उन सब के लिये होता है जो परिचित या निम्न नही हैं; किन्तु बड़े के लिये संबोधित 'तुम' (vous) आपण् द्वारा प्रकट किया जाता है और क्रिया बहु० मे मध्यम पुरुष की होती है। इसी प्रकार गुजराती में तुँ केवल ग्रामीणों में बड़ो के लिये प्रयुक्त होता है; तमे सामान्य रूप है; आदरार्थ आप् और बहु० के मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी में भी ऐसे ही भेद मिलते हैं, किन्तु आप् की रचना बहु० के प्रथम पुरुष में होती है। उसमे स्वच्छन्दतापूर्वक हम् (उत्तम पुरुष बहु० की क्रिया के साथ) का प्रयोग एक व्यक्ति के लिये होता है और जिसमें अहं की भावना नहीं होती। इसी प्रकार

छत्तीसगढ़ी में मैं कहैंवें की अपेक्षा हम् कहैंन् अधिक प्रचलित है; तुइ का प्रयोग छोटे बच्चों और घर के नवयुवकों के लिये होता है; किन्तु अधिक उम्र वाले लड़के या लड़की के लिये तुम् का प्रयोग होगा; आपु बहुत कम मिलता है और एक अजीब-सा रूप लगता है; वह बहु० के मध्यम पुरुष में रहता है।

छत्तीसगढ़ी में आत्मन्- नहीं मिलता; इसके विपरीत यह एक अजीब बात है कि उसमें तई, तू (तु) के समीप का प्रयोग विशेषतः नम्रतासूचक है, मुख्यतः संबंधित परिवार के लोगों में; बहु० में तुम् है। इसमें पड़ोसी बिहार का प्रभाव प्रतीत होता है। वहाँ एक और नयी प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। मैथिली में प्राचीन सर्वनाम 'मैं', तू' लुप्त हो गये हैं और उनके स्थान पर हम्, तोंहु रह गये हैं जिनका एक नया बहु० बनाना और सभ् शब्द जोड़ना आवश्यक हो जाता है, जिससे भाषा के सभी बहु० बनते हैं, साथ ही निश्चयवाचक भी (इ, एहु; इ सभ, एहु सभ्; एकर, एहु सभक्); फलतः हम सभ्, तोंहु सभ्; इनसे आदरसूचक सर्वनामों अहाँ, अपने आदि को कोई आघात नहीं पहुँचता।

भोजपुरी में प्राचीन सर्वनाम लुप्त नहीं हुए। इससे एक तुल्य प्रणाली दृष्टिगोचर होती है :

(निम्न) मैं (उच्च) हम् (निम्न और उच्च) तुँ, तैं
(,,) हम्नीका (,,) हम्रन् (निम्न) तोह्नीका, (उच्च) तोह्रन्;

जिनमे जुड़ जाते हैं अपने, बहु० अपनन् और रउवाँ अथवा रौरा (राजराज), बहु० रवन् अथवा रउरन्।

बंगाली मे, जिसमें मुइ ग्रामीण हो गया है और तुइ अनम्रता-सूचक (केवल छोटे या स्थिति मे निम्न व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हो सकता है), संप्रति सामान्य रूप आमि या तुमि है; उसमें एक नवीन बहु० की आवश्यकता पड़ जाती है आम्रा, तोम्रा (अंततः आम्रा-सब्, आम्रा-सकले आदि द्वारा पुष्ट)। इसके अतिरिक्त एक नम्रतासूचक रूप है आप्नि (जिसने सर्वनामों का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है) जिसका बहु० रूप बनता है आप्नारा। इसी प्रकार प्रथम पुरुष से, बहु० ता (हा) रा के समीप का नम्रतासूचक एक रूप है एक० तिनि, बहु० ताँ (हा) रा; जब उसका व्यक्तियों से संबंध होता है तो समीपवर्ती निश्चयवाचक में एक० में ए रहता है, आदरसूचक इनि (दोनों का बहु० इहारा; आदरसूचक एनारा); दूरस्थ निश्चयवाचक में ओ रहता है, आदरसूचक उनि (दोनों का बहु० उहारा, आदरसूचक ओनारा)। उड़िया में भी सदृश प्रणाली है।

नेपाली में हम् का प्रयोग आदरसूचक एक० के लिये होता है और साथ ही बहु०

के लिये, उससे एक नये बहु० की रचना होती है हामि हरु, जो हम् के तुल्य है। मध्यम पुरुष मे, तँ प्रचलित है, तिमि (बहु० मे क्रिया-सहित) कम, एक० मे *आप् जोडकर आदरसूचक रूप बनाया जाता है, जिससे तपँइँ बनता है जिसका अर्थ 'तू-स्वय' मालूम होता है, किन्तु होना चाहिए 'तुम, श्रीमन्' के समान, उसका बहु० तपाईंहरु बनाया गया है।

अन्त मे कुछ प्रायौगिक रूपो की ओर सकेत कर देना आवश्यक है जिनका प्रयोग बात करने वाले के सहित या रहित 'हम' का अन्तर बनाने के लिये होता है। यह भेद 'वह स्वय' अर्थ के द्योतक शब्द मे भी मिलता है, गुजराती और राजस्थानी मे आप्, लखीमपुरी मे आप्ना स्वयवाची हैं, इसी प्रकार सिंधी मे विशेषण पाहा- जो "हमारा ('तुम' और 'हम' दोनो मे)" और मराठी मे आपला जो आम्-चा "हमारा (तुम बिना)" के विपरीत है।

निश्चयवाचक और आवृत्तिमूलक

विशेषण-सर्वनामो की रचना और रूप-रचना मे एकसूत्रता का अभाव मिलता है। सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रयुक्त प्राचीन विकरणो से तो हम परिचित ही हैं, और इन विकरणो मे से कुछ कर्त्ता० के विकरण का शेष रूप-रचना के सबध मे विरोध बनाये रखते है। किन्तु कुछ ऐसे विकरण भी हैं जो सस्कृत मे अज्ञात है और अस्पष्ट व्युत्पत्ति के है, दूसरी ओर प्राचीन रूप-रचना मे प्राय नामजात रूप-रचना घुलती-मिलती देखी जाती है, जो निस्सन्देह प्रश्नवाचको, और विशेषत सबधवाचकों, के जो सामान्यत विपरीत पडते हैं, प्रभावान्तर्गत है।

प्राकृत विकरण सो तस्स (प्रत्ययांश 'से') आज तक विविध बोलियो मे प्रसारित है

गवर्बती	से तस (कर्तृ० तेन्), बहु० थेमि तस् (ते+इमे, तस्स+तेषाम्?)
बैगेलि	से तसौं (सेओ), बहु० ते तेँस
पशाई	ऊ-स्[अ] उ-ती (स्), बहु० ऊत्[अ]
कलाषा	से तासे, ताअ, बहु० तेह् तासे, तैंतासे
खोवार	ह्-स ह-तो/ओ, बहु० हते-त् हते-तन्
वह की शोक्प	सो, स्त्री० सा तेस्, बहु० ते तेन्
कश०	सुह, स्त्री० सौंह्, स तस् [और तमि (स्)], बहु० तिम्, स्त्री० तिम . तिमन्; अचेतन तिह् तम्[ह], तथ् (तत्र ?)

ब्रज सो · तसु, तिस्, ता, पबहु० ते (और सो) तिन्

नेपाली सो : तस्; बहु० ती और तिनि दो प्रयोगों में

कुमायूंनी (पुरुष) सो और तौ, (वस्तु) ते : तै, ते, बहु० ते (और सो, तौ) तन्

अवधी से (और तौन्) ते, बहु० ते . तेन् (ह्)

(तुलसीदास सो ना, तासु, नाहि, तेहि, बहु० ने और तिन्ह् तिन्ह्- : ब्रज रूपो का मिश्रण)।

इनमे से कुछ भाषाओ मे एकीकरण के क्रम का सूत्रपात देखा ही जाता है . इनमे कर्त्ता० बहु० एकवचन मे मिल जाता है

प०	सो निस्	बहु० से . तिन्ह्-
सिंघी	सो (स्त्री० मा) ताह्,	बहु० से तन्-
तोरवाली	से तेस्,	बहु० से

अन्यत्र विकृत विकरण है जो कर्त्ता० एकवचन को प्रभावित करता है और फलत· सज्ञाओ का समीकरण दृष्टिगोचर होता है तोरवाली मे ते से की अपेक्षा कम प्रचलित है, बहु० निर्ये, मराठी तो (जिसमें अन्त्य स्वर प्राचीन ही बना रहता है), गु० ते, विकृत० ने, बहु० तेम्, मारवाडी तिको जो सो के समीप है, अन्त मे अँगरेजी जिप्सी-भाषा ल लि, बहु० ले जो लेस् (नस्य) से निकलता है।

उपर्युक्त उदाहरणो म, गवर्बती और कश्मीरी विकरण इम- का प्रवेश प्रदर्शित करती है। इन भाषाओ मे से सर्वप्रथम मे स्वय एक निश्चयवाचक है जिसमे विकरणो का समुदायीकरण सस्कृत के लगभग वैसे ही समुदायीकरण का स्मरण दिलाता है .

एक० वोइ अस, कर्त० एन्, बहु० एमे अमु

इसी से लगभग पूर्णत उत्पन्न होता है

अयम् अस्य, एन, बहु० इमे एषाम् (अ- एक वचन मे)

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे जीवित रहता है, प्राकृत इमेयारूवे (-रूप-), अप० इमेरिस (एरिम के अनुकरण पर) की भाँति व्युत्पत्तियो की रचना की दृष्टि से, विकरण इम् जो सिंहली में- और कश० यिम्, स्त्री० यिम बहु० चेतन (अचेतन यिह्) जो यिह् का है, और जो एक० विकृत० यिमिस्, ag. यिमि (प्रा० इमस्स, इमेण) मे भी दृष्टिगोचर होता है, कश्मीरी मे ही उसका उपर्युक्त बहु० तिम्, स्त्री० तिम के और सबधवाचक यिम् स्त्री० यिम के साथ सबध स्थापित हो जाता है।

प्रशुन मे एक ही लिंग के आपस मे मिल जाने से परिचित होना आवश्यक है सु : सु-मिसें; बहु० मू (अमुका ?) · मिसिंन्।

यहाँ पर सकेतित विकरण अमु- कश्मीरी दूषित सर्वनाम मे भी मिलता है, सप्र०

अमिस्, बहु० कर्त्ता० अम्, स्त्री० अम, विकृत० अमन्, तुल० स० अमुष्य, बहु० अमी, केवल प्राकृत मे एक ही विकरण के आधार पर निर्मित कर्त्ता० एक० का प्रयास किया गया है, किन्तु ऐसा बहुत कम मिलता है। तो भी, खोवार कर्म० एक० हम्, बहु० हमित् (कर्त्ता० एक० हैय), वैगेलि विकृत० बहु० अनी जो एक० ई से सबद्ध है; तोरवाली 'स' जो केवल बहु० है, अत मे सभवत कती अम्ना अमूनी जो इना इनी का बहु० है।

अत्यन्त प्रचलित अपरिवर्तनीय विकरण एक ओर तो है ए- और इ-, दूसरी ओर ओ- उ-, पहले से समीपत्व प्रकट होता है, दूसरे से दूरी (कश्मीरी मे तीन श्रेणियाँ है यिह्, हुह्, सुह्)।

(१) प्रथम समुदाय स० एत-, प्रा० एअ- से निकलता है, जिसके विकृत० पर सभवत विकरण कि- का प्रभाव पड़ा है, तुल० साथ ही सबधवाचक (विकरण इ- संबध० की नही थी स० अयम्, इदम् अस्य)।

करण का पूर्ण सामान्यीकरण गु० मे हो गया है ए, बहु० ए-ओ जिसमे ओ सर्वो० का एक प्राचीन चिन्ह है (श्री दवे के अनुसार, श्री टर्नर की व्यक्तिगत सूचना), बगाली मे एक० और बहु० ए, विकृत० एक० इहा, बहु० इहाँ। उसका सज्ञा-रूप होता है

तोरवाली मे	हे एस्-, इस्-	बहु०	इय इयँ
लहदा म	ए(ह्), ई इस्, इह् ई		ए(ह्)ई(ह्) इन्ह्-
पजाबी मे	एह्, इह एस्, इस्, इह्		एह्, इह् इन्ह्, एह्
ब्रज मे	यह् या, इस्		ये इन्(ह्)
सिधी मे	ह्-ए, ह्-इ हिन्[अ]		हे, ही, हिन्(अन्)[ए]
	ही[उ], ही[अ]		

वहाँ विकरण शिना ओ, स्त्री० एस् विकृत० एक० एस्, बहु० एइ एन् के साक्षात् एक० के अतिरिक्त निस्सन्देह अन्य रूपो मे भी पाया जाता है। नेपाली यो येस्, यस्, बहु० (इन्) इन् से, एक० मुख्य कारक व्याप्तियुक्त रूप धारण कर लेता है, तुल० पशई यो (विकृत० मी-)।

सिहली ए बहु० एवहु एवुन्, सज्ञाओ की भाँति सज्ञा-रूप होता है। वैगेलि ई अव्यय है।

(२) सिहली	ऊ उहु		बहु०	ओवहु ओव्
लहदा	ओ, ऊ(ह्)	उस्, उह्, ऊँ		ओह्, ऊ(ह्) उन्ह्-

पंजाबी	ओह्, उह् . अस्, उस्, उँ	ओह् उह् : उन्ह्
ब्रज	वो, चुह्, वह बा, वाहि, विस्	वै, व विन्-उन् (ह्)-
सिंधी	हो, हु, हुआ हुन्[अ]	हो, हू, होए · हुन (अन्)[ए]
नेपाली	उ · उस्	उन् उन्-
बंगाली	ओ, उइ, ओहा	पु०बं० उहँ, उनि ओं

प्रशुन उऊ, क२० पु० एक० हुह्, बहु० हुम्, विकृत० हुमिस्, बहु० हुमन्, गर्वी वोइ (तुल० बंगाली मे जोर देने के लिये ओ-इ?), और विशेषत यूरोपीय जिप्सी-भाषा ओव्, स्त्री० ओइ, बहु० ओ-ले भी दृष्टिगोचर होते है। इसी श्रेणी में अप० कर्त्ता० कर्म० बहु० ओइ, और नूरी उहु, स्त्री० इहि रखे जाने चाहिए, यह ज्ञात नही।

दोनो तालिकाओ की समानता की ओर सकेत किया जा सकता है (राजस्थानी मे भी यही बात है, दे०, एल० एस० आई०, IX, II, पृ० ९), विविध प्रभावो की सभावना की झलक मिलती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय की कुजी उपलब्ध नही है। यह स्वीकार करने का प्रलोभन होता है कि भारतीय-ईरानी विकरण अव-, जिसका वैदिक भाषा मे केवल एक विचित्र चिन्ह अवशिष्ट रह गया है, बना रहा है (इस बोली मे ऐसा तो नही हुआ कि वह आवम् द्वारा निकाल दिया गया हो?), शेष मे उसका अमु- के साथ मिश्रण हो सकता है, अथवा स्वर-मध्यग म् प्रकट होकर लुप्त हो जाता है (विकरण अमु- के बने रहने के कारण, दे० पीछे)। यह भी बराबर सभव है कि ये सब रूप ईरानी से आये हो, पु० फा० और अवेस्ती अव-, फारसी ओं।

विकरण अ- जो सबध० अस्स और करण० प्रा० एण, एहि, जैन अस्सि मे निहित ही था, कर्त्ता० मे स्थित हो जाता है, किन्तु यकायक उसमे परिवर्तन उपस्थित हो जाता है अथवा वह गु० आ की ओर लगभग पजाबी आह्, निस्सन्देह तोरवाली आ [विचित्र रूप मे कर्त्ता० एक० और बहु०, यह देखा जा सकता है दीर्घत्व निस्सन्देह ओ (अव), ए (एन-) के कारण है और अपभ्रंश आअ- द्वारा प्रमाणित है] की भाँति अव्यय है, अथवा उसकी व्याप्ति हो जाती है और एक ऐसा सर्वनाम उपलब्ध होता है जो सज्ञाओ की भाँति रूप धारण करता है म० हा, ही, हें, विकृत० पु० एक० या, ह्यॉं, बहु० यॉं, ह्यॉं; सभवत. ग्रीक जिप्सी-भाषा -अव्, स्त्री० -ऐ, अथवा अन्त मे उसकी झलक कुछ अनियमित उदाहरणो मे मिलती है कलाश आसि, तुल० ईमि, अत, विकृत० तर (तुल० मद् तर. ?) के विपरीत।

रूप को छोड़ कर, इस विकरण का अर्थ भली भाँति निश्चित नही हो पाया.

गुजराती मे, पजाबी में, जिप्सी-भाषा मे उससे पास की वस्तु का द्योतन होता है; इसके विपरीत शिना में ओ, स्त्री० ए अनु की भाँति होना चाहिए।

क्या इस अंतिम मे कोई दूसरा प्राचीन विकरण छिपा है? सच तो यह है कि विकरण अन- भारतीय-ईरानी मे बहुत कम है, और भारतवर्ष में केवल मुश्किल से करण० में मिलता है, प्रा० अणेण, विकरण एन- जो वास्तव मे भारतीय प्रतीत होता है संस्कृत मे कर्त्ता कभी नही है, प्रत्ययाश होने के कारण, मध्यकालीन भारतीय भाषा में वह विशेषत अन्त्य स्वर-विहीन है, कर्म० बहु० ने। प्राकृत में कर्त्ता० के अतिरिक्त अन्य कारको मे विकरण इण- है, क्या वही कती मे इने (मौरगैन्सटिएर्न के अनुसार न्यि), ग्रामीण कश० मे स्त्री० नोंह (पु० यिह), विकृत० नोमि (स्), बहु० नोम्, नोम, विकृत० नीमन्, और शिना मे (अ) नु, स्त्री० (अ) ने, बहु० अनि (ह्) के रूप मे होना चाहिए? यह एक और पुरानापन होगा।

अन्त मे एक -ल्- युक्त विकरण है, जिसे भारोपीय माना जा सकता है, यद्यपि समुदायगत लै० इल्ले ओल्ल्म, आयरलैंडिश अन्ल केवल इटैलो-केल्टिक मे जीवित रहने चाहिए (ब्रगमन, ग्रुड्रिस, III², पृ० ३४०). वैगेलि अलि, तीराही ला, पशई एल्[अ], प्रशुन एस्ले, कलाश बहु० एले (मध्यवर्ती -त्- का ल् की भाँति व्यवहार की समावना के अन्तर्गत)। क्या यह वही है जो लै० ओलिम की दीर्घ श्रेणी सहित सस्कृत मे आरात् आरें है, जिससे पाली आरका और सिंहली अर है। हर हालत मे उसके साथ शिना रो, स्त्री० रि, जो बोली के रूप पेरो का सक्षिप्त रूप होना चाहिए, को सबद्ध करना उचित न होगा, तुल० पल्लोला अडो भी।

एक ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त सर्वनामो मे से बहुतो मे, और अन्य मे भी, शब्द-व्युत्पत्ति-विचार-हीन महाप्राण पाया जाता है। जैसे हैं म० हा. ब्रोक्प हाहो, खोवार ह-इय, कर्म० हमु, बहु० हमित्, हस, कर्म० हते, हतो, ओ, बहु० हतेत्, नूरी अह, उडु स्वराघात विहीन शब्दाश, अहक् अव्यय, ह निपात, सिंहली हे अथवा एं।

एक वैयाकरण ने अपभ्रंश मे कर्त्ता० एक० पु० अहो की ओर सकेत किया है, जहाँ जितना यह रूप मिलता है, उसकी व्युत्पत्ति प्रा० अव्यय अह से होती है जिसमे पिशेल स० अथ का प्रतिनिधित्व पाते हैं। इस प्रतिपादन से कम-से-कम आदि मे और कश० सुह की भाँति कर्त्ता० मे ह्- का कार्य भली भाँति जाना जा सकता है। प० एह् आदि अधिक परेशानी की चीजें हैं · सबसे अधिक सरल तो उसका सिंधी हे के साथ साम्य स्थापित करना है। अप० एहो भी है जो प्रा० एसो, स० एष के तुल्य समझा जाता है : एक बार तो इससे स्वर-मध्यग स् के अनियमित व्यवहार की समस्या अधिक उप-

स्थित हो जाती है। यह सोचा जा सकता है कि एक '(अ)ह् ए-' जैसी रचना एह्, साथ ही हे, के समीप हो। वास्तव में इन सब रूपों की कुंजी अभिव्यंजक ह् में है : तुल० छत्तीस० ह्-अर् आदि, दे० अन्यत्र।

सर्वनामों में भी निपात सबद्ध हो जाने की संभावना होना मामूली बात है। भारतवर्ष मे यह 'ही' का अर्थ प्रकट करने वाला निपात है, तुल० हिं० ही, बं० -इ, म० -च्. सिन्धी -ज्। अश्कुन यूअँक् मे विकरण इ- क्- के साथ अथवा सर्वनाम 'की' के साथ सम्बद्ध है, तुल० सूथं अथवा सूजं कथं (वैगेलि स्कूथं)। सिंहली में व्याप्ति-युक्त -क- है, जो उसी प्रकार का होना चाहिए (यहाँ 'एक्' का मानना ठीक नहीं, विशेषतः जब बहु० भी है)।

सर्वनामजात विकरण का इकट्ठा हो जाना तो प्रायः काफ़ी मिलता है : खोवार में हस का बहु० हतेत् है जिसमे तें दो बार आया प्रतीत होता है; और बहु० हमि-त्, हैय का, मे तो तीन विकरण होने चाहिए, अथवा कम-से-कम निपात से पूर्व दो; पशाई ऊ-स्[अ], कश० तिम, गर्वी तेमे, प्रशुन मुमि आदि के साथ कती अस्का, बहु० अनृगि जो साक्षात् एक० 'का', बहु० *के, जिसके पूर्व विकृत० के और बहु-सख्यक जिप्सी-भाषाओं के रूप आते हैं, से बना प्रतीत होता है।

स्पष्ट रूपो की ओर फिर से आने पर, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्त्ता का विकरण और विकृत० (प्राचीन सबंध०) का विरोध सर्वनामों के सभी प्रकारों मे आ गया मिलता है : यूरोपीय जिप्सी-भाषा पु० एक० योव्; लेस्, नूरी पनृजि : -स्, -अनुस्, प्रशुन मु मिसें, कश० यृह् यिमिस्, खोवार हैय : हमु, पशाई यो : मी; वैगेलि ई, विकृत बहु० अमी।

अन्त मे पश्चिमी समुदाय मे प्रत्ययांश-सबंधी विकृत० का बना रहना भी ध्यान देने योग्य है : कश० -स्, (ag. न्), बहु० ख् (एषाम् ? तुल० एक० खाह्, बहु० खोक्[अ] : खशो, खशा)[1] लहदा -स्, बहु० -ने, सिंधी -स् (ag. -ईं), बहु० न्[ए] (ag. -ऊ); गर्वी एक० -स्, अश्कुन (अ)स्, बहु० मोन्, नूरी -स्, बहु० सन्।

संबंधवाचक सर्वनाम

भारोपीय क्षेत्र मे भारतवर्ष ही एक ऐसा स्थान है जहाँ प्राचीन सबंधवाचक, सस्कृत य- आज भी बना है। ईरानी में इज़ाफ़त मे केवल उसका चिन्ह ही अधिक मिलता है और इज़ाफ़त का कार्य नितान्त भिन्न है; भारतवर्ष की आर्य भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं मे संबंधवाचक के अभाव से यह बात और भी प्रमुख हो जाती है। इस सर्वनाम

की दृढ़ता निस्सन्देह बनी रही है क्योंकि वह उस कठोर प्रणाली में है जिसकी रचना सर्वनामजात विशेषणों और सबधवाचक, नित्यसम्बन्धी, प्रश्नवाचक (और अनिश्चय-वाचक) क्रियाविशेषणो द्वारा होती है। उदाहरणार्थ, हिंदी मे ·

जो, सो, * को, तुल० कोइ, तुल० ब्रज जौन्; कौन्।
जैसा, तैसा, कैसा।
जित्‌ना, इत्‌ना, कित्‌ना।
जब्, तब्, कब् (कभी)।

केवल बाह्य समुदाय की भाषाओ मे सबधवाचक लुप्त हो गया है . कश्मीरी को छोडकर, उत्तर-पश्चिम के समुदाय मे उसके स्थान पर प्रश्नवाचक का प्रयोग होता है (ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशुन के एक नवीन भेद मे सहायता प्राप्त होती है केस्, तेस् और गवर्‌बती के केन्‌जे, कर), अथवा फारसी के 'कि' का जो निश्चित रूप से समुच्चयबोधक होना चाहिए अथवा अन्तत: केवल वाक्याशो के सान्निध्य से सतुष्ट हो जाना चाहिए।

पशई मे (एल० एम० आई०, VIII, II, पृ० ९८, किन्तु श्री ग्रियर्सन उसे दूसरे प्रकार से रखते है) निश्चयवाचक से काम चला लिया जाता है स्अ, तुल० ऊ-स्अ (किन्तु सिराजी और रम्बानी 'जो', पोगुली यों)।

यूरोप की जिप्सी-भाषा मे ग्रीक ऑपोउ की एक नकल का प्रयोग होता है और फिलिस्तीन के एक शब्द और एक सेमेटिक-रचना की नकल का।

सिहली मे सबधवाचक पूर्वसर्ग के बदले मे अनुकूल कृदन्त है रचना जो बहुत दिनो से भारत से लुप्त हो गयी है, तो भी एक सबधवाचक निपात यम् शेष है, जो सदैव प्रश्नवाचक निपात (द, व्युत्पत्ति ?) अथवा सभाव्य (नम्, स० नाम) द्वारा पूर्ण होता है।

सबधवाचको की रूप-रचना, नित्यसबधी हि० सो, राज० यो आदि के साथ-साथ, कुछ कठिन समस्याएँ प्रस्तुत करती है। केवल मराठी मे वह पूर्ण है, शेष मे वह नामजात रूप-रचना मे मिल जाती है।

उसमे, और साथ ही सिंधी, पजाबी और हिन्दी मे कर्ता० एक० 'जो', बहु० 'जे', के रूप प्राचीन अप्रचलित प्रतीत होते हैं, किन्तु जब कि वे केवल पु० स० यो, ये से निकलते हैं, उनके लिंग मे मराठी के बाद, केवल सिंधी मे, राजस्थान की विचित्र जैपुरी मे (पु० जो, स्त्री० जा), अन्त मे सभवत सान्निध्य-प्राप्त कश्मीरी मे, युस्उ, स्त्री० योस्स (तुल० सुह्., स्त्री० स), परिवर्तन होता है, मारवाडी मे व्याप्ति-प्राप्त जिको, स्त्री०

जिका में परिवर्तित होता है, किन्तु 'जो', 'ज्यो' में परिवर्तित नहीं होता, और स्वयं परिवर्तन भी केवल एक० मे होता है; बहु० मे तो केवल मराठी में लिंग की दृष्टि से अस्थिर रूप हैं।

अवधी (किन्तु तुलसीदास और जायसी ने 'जो' का प्रयोग किया है), बगाली, उडिया और विशेषत गुजराती जे (गुजराती और उड़िया मे उपसर्ग या प्रत्ययो द्वारा बहु० मे परिवर्तित) सुस्पष्ट नही है, नेपाल और कुमायूं मे 'जे' का प्रयोग निर्जीव वस्तुओ के लिये होता है, 'जो' चेतन, पु० और स्त्री० है। क्या यहाँ नपु० के सामान्यीकरण हो जाने के कारण है कि मराठी मे केवल ऐसा मिलता है जें ? अथवा उसमे एक सम्बद्ध निपात है, जैसे हि० 'ही' है ?

राजस्थान मे सबधवाचक का निश्चयवाचक की भाँति प्रयोग देखिए, विशेषत: व्युत्पन्न क्रियाविशेषणो मे मारवाडी जिको, जिन् सू, जरि तरि की तरह (तुल० म० जरी, जैपुरी जिन्नै, जद्, जणँ, तुल० हि० जभिं)। क्या यह शुद्ध लुप्त-समुच्चय-बोधक मे दुहरे वाक्यांश का आ जाना है ?

प्रश्नवाचक

ऐसे रूपो की अत्यधिक विविधता है जो लगभग सभी परपरागत विकरण क-, कि-, क्रमश फ्रेंच "qui" और "quoi" मे प्रकट होते हैं।

"qui"—साधारण रूप मे बहुत कम मिलता है · सिंधी 'को', स्त्री० 'का', शिना नेपाली 'को', कनी कू, कश० कु-स् उ, को-जन ? 'को' के समीप 'को' यह प्रकट करता है कि यह व्याप्ति-प्राप्त रूपो से ऐसा होता है, अपेक्षाकृत म० प्रा० 'को' से, तुल० सभवत सिहली कवद्। स० कीदृश से निकलते है सिंधी केहो, गु० कशो, शो, प्राचीन किसिउ और सभवत यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'सो' ; सभवत प्राकृत केरिस- मे साम्य रखते हुए हैं सिंधी केहरो, केर्, प० केहरा।

अप० कवणु (पा० कोपन, कि पन, दे० ऐंडर्सन कृत 'पाली रीडर' की अनुक्रमणिका) से साम्य रखने वाला एक समुदाय है · राज० प० कोण्-, हिं० अवधी कौन्, गु० म० कोण्, लहदा काण्, ने० कुन्, बगाली कोन् जो 'के' के समीप है, जिप्सी-भाषा कोन्, कलाश कूर ?

पशाई वैगेलि 'के', अश्कुन चुऍड, विकृत० को, दूसरी ओर मैथिली बगाली 'के' समस्या प्रस्तुत करते हैं; तीराही 'काम' अफ़गानी है।

"quoi"—सं० किम् प्रत्यक्षत: इनमे प्रतिबिंबित हुआ प्रतीत होता है—मैथिली

की, बंगाली उडिया कि, प० की, गर्वी तीराही कि, शिना जे-क्, सिंहली किमु-द; हिं० क्या (विकृत० काहे), प० किआ (विकृत० कित्, कईं), सिंधी छा, कश० क्यह् (संप्र० कथ्), कलाश कीअ उसके व्याप्ति-प्राप्त रूप प्रतीत होते हैं।

विकरण क- भी बराबर काम आता है, निस्सन्देह विकृत कारको पर आश्रित होकर पु० हिं० कहा और वैगेल्ि कस् तो स्वय विकृत हैं, अवधी मे काव् है, छत्तीसगढ़ी मे का, नपुं० बहु०, अप० काइँ, जैपुरी काँई, मराठी काय् (विकृत० कसा-, कासया), समवत कती कड, लहदा मेवाती के, नूरी 'के' मे फिर मिलता है। अन्य रूप भी हैं, जो कम स्पष्ट हैं।

हिं० क्या, ब० कि आदि जो प्रश्नवाचक वाक्याशो मे काम आते हैं (ने० 'कि' उन्ही का अनुसरण करता है), सुर को छोडकर सामान्य वाक्याशो में कोई विशेषता ग्रहण नही करते, उनसे फ्रेंच "est-ce que" वाला काम निकलता है। बगाली प्रकार 'न कि', हिं० कि नाहिँ पर—दे० अन्यत्र।

सस्कृत मे च, चित् अथवा (अ)पि के बाद आने वाला अनिश्चित प्रश्नवाचक के रूप मे आता है। उससे, उदाहरणार्थ, है पाली कोचि, नपु० किंचि, अशोक० मे इसी प्रकार केचि केच है, और इसके अतिरिक्त तालव्य घोष रूप केछ, किछि है जिससे म० कश्च का जीवित रहना प्रमाणित होता है। प्राकृत मे 'कोवि' का प्रमाण मिलता है।

को (चि) अथवा कोवि से निकलते है हिं० प० राज० हिं० कोई, उडिया केइ और स्वर-सधि के फलस्वरूप गु० सिंधी शिना को, कती को, (न् कइ), पशाई तीराही वैगेलि कि। समान रचना-क्रम से, किन्तु आधुनिक म० कोण्ही, पु० हिं० कौऊ, बिहारी केऊ, बगाली केहो, केउ, नपु० म० काहिँ, गु० कांइ, मार० कीं, सिंधी किं।

किछि का बगाली किछु, उडिया किछि, हिं० कुछ (उ) मे दीर्घीकरण हो गया है; सिहली किसि सदिग्ध है।

सर्वनामजात विशेषण

सामान्यत सस्कृत के सर्वनामजात विशेषण, जो भारतीय-ईरानी मे दृष्टिगोचर होते हैं, लुप्त हो गये है, उनके जो अत्यन्त दुर्लभ रूप अवशिष्ट रह गये है वे उनकी एक भी विशेषता प्रकट नही करते, सज्ञा-रूप विशेषणो का संज्ञा-रूप है : हिं० सब्, जैसा।

सर्वनामो से व्युत्पन्न समुदायो मे एक साथ संबधवाचक, निश्चयवाचक और प्रश्न-वाचक रूप मिलते हैं - जैसा, तैसा, कैसा।

सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व उसका हुआ है जो परिमाण प्रकट करता है, जो संस्कृत कियन्त्-, पा० कित्तक-, प्रा० केत्तिअ- (जिसमे 'के' निश्चयवाचकों के ए- के अनुकरण से बने होने चाहिए, तुल० पा० ए-दिस-, एत्तक-) से निकला है। कती में केस् का अर्थ होता है "कौन, कौन" ? किन्तु वैगेलि मे प्राचीन अर्थ-सहित केति है; तीराही में कतेसि है, तुल० ले-तिक्, कतिसि; अश्कुन मे चीत् है, गवर्‌बती में कत। विभिन्न पर-प्रत्ययों सहित तोरवाली कवक्, प्रशुन केरेग्, शिना कथाक्, कतक्, मया कतुक्, कश० कूत्[उ], स्त्री० कीच[उं], यूरोप की जिप्सी-भाषा केति, नूरी कितर्‌अँ, सिंधी केतिरो, केट्‌लो, म० किॅत्‌का (पु० म० जेती), प० हिं० कित्‌ना, बं० कत (सं० कति से प्रभावित ? हर हालत मे प्रा० तत्तक- के बारे में सोचा भी नही जायगा), उड़िया 'केते' मिलते हैं।

क्या कलाश किमोन् ने फारसी से विशेषता प्रकट करने वाला पर-प्रत्यय -मान् उधार लिया है ?

मराठी केवढा *कीयद्-वृद्ध- प्रकार पर, अथवा कहना चाहिए प्रमाणित हुए के-महालय्‌अ - के समान प्राकृत *के-वड्‌ढअ पर आधारित प्रतीत होता है।

सिंहली 'की' जो किय-द मे व्याप्ति-युक्त हो जाता है कति पर आधारित प्रतीत होता है; कोच्चर अस्पष्ट है, 'को पमाण' सान्निध्य-प्राप्त विद्वत्तापूर्ण शब्द है।

'किस प्रकार का' प्रकट करने के लिये हिं० कैसा, म० कसा के समुदाय *कादृश-प्रकार प्रदर्शित करते है, तुल० वैदिक होॅपाक्स यादृश्- ब्राह्मण०, तादृश्-।

कीदृश- के व्युत्पन्न रूपों मे, दे० पीछे, पु० ब० के-मन्त्, ब० के-मत्, के-मन् हाल की रचनाएँ हैं। अन्य भी हैं, जो कम स्पष्ट है।

निजवाचक

यद्यपि मूलत यह केवल शब्दावली की बात है, तो भी सस्कृत आत्मन्- के जीवित रहने की ओर सकेत करना उचित होगा जो ऋग्वेद मे भारतीय-ईरानी तनूॅ के साथ-साथ मिलता है, और तुरन्त बाद ही उसका स्थान ग्रहण कर लेता है, स्वॅ और स्वयम् का उसमे कोई सबध नही रहता (सम्भवत मध्यकालीन भारतीय भाषा मे स और सोयम् के समीपवर्ती होने के कारण)।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे आत्मन्- के व्युत्पन्न रूप दो प्रकार के हैं (दे० अन्यत्र) : अप्पा, अत्ता। पहले से निकलते हिं० प० आप् (विकृत० आपस्), उड़िया आपे, पु० ब० आपा, बगाली आपसेर् मध्ये, ने० आफु, विकृत० जिप्सी-भाषा पेस् और व्युत्पन्न मु० पोते, वैगेलि पेह, गर्वी फुका, ब्रोक्प फो और पेरो। विकृत० के चिकरण

मे उपलब्ध होते हैं ब० आपुनि, सिंधी पानु, कश० पन, प्रशुन पने, मूरी पमुजि और विशेषण हि० आपना, प० आपणा, गु० आपणो ("हमारा" सहित) ने० आफ्नु।

दन्त्य वाले विकरण से आते हैं एक ओर सिंहली तमा (अथवा यह पा० तुम- है ?), दूसरी ओर तोरवाली तम्, पशाई तानिक् और विशेषण शिना तोमु, गर्वी, वैगेलि, अश्कुन तनु, खोवार नन् फारसी से लिया गया होना चाहिए।

आदरसूचक सर्वनामो की भाँति इन शब्दो के प्रयोग के सबध मे दे० अन्यत्र।

सर्वनाम एक ऐसा व्याकरण-सबधी समुदाय है जो मुख्यत अर्थ-विचार और अभिव्यजना-सबधी तोड-फोड से, फलत पुन सस्कार से, प्रभावित है। इस प्रकार रूपों का बाहुल्य स्पष्ट हो जाता है। किन्तु व्युत्पत्ति द्वारा वे सब मूलत सस्कृत प्रदर्शित होते है, और यदि कुछ उपयुक्त बना लिये गये रूप है, तो वे मूल उत्पत्ति के नही है, जैसा कि उदाहरणार्थ रोमन मे देखा जाता है। प्रारभिक विशेषताएँ निश्चयवाचक स् अथवा त्-, सबधवाचक ज्-, प्रश्नवाचक क्- बराबर बनी रहती है, और अर्थ द्वारा समुदाय मे रखे गये शब्द रूप द्वारा स्पष्ट बनायी गयी प्रणाली मे भी समुदायगत बने रहते है, जिसके कारण, जैसा कि देखा जाता है, दुरूह वाक्याशो की स्पष्टता और साथ ही नियमबद्धता है।

रूप-रचना का प्राचीन अप्रचलित रूप बना रहता है हिंदी-पजाबी-लहदा-नेपाली समुदाय मे -स् युक्त विकृत०, और विशेषन 'जो' प्रकार का कर्ता० जो उदाहरणार्थ हिन्दी के विशेष्य प्रकारो बाप् और घोडा के विरोध मे है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीनता है लिंग का सामान्य अभाव, जो सभवत पुरुषवाचक सर्वनामो के समानान्तर रखे जाने के कारण है।

तृतीय खण्ड

क्रिया

पुरुषवाची रूप

भारोपीय क्रिया मे एक ओर तो पुरुष के, लिंग के नही, द्योतक प्रत्ययो से ग्रहण किये गये रूप हैं; दूसरी ओर ऐसे नामजात रूप है जो लिंग और साथ ही वचन का, पुरुष का नही, द्योतन करते हैं, और जिनकी विशेषता है ऐसे विकरणो से संबद्ध होना जो वास्तव में क्रियार्थक हैं, और जिनमे उसी प्रकार वर्गों और रचनाओ से प्रभावित होने की सभावना रहती है जिस प्रकार पुरुषवाची रूपो मे। यहां केवल पुरुषवाची रूपों का प्रश्न है।

वैदिक स्थिति

वैदिक क्रिया अवेस्ती क्रिया के अधिक निकट है। उनमें विकरणो की रचना समान रूप से होती है (अकेली प्रेरणार्थक धातु मे -प्- का प्रयोग वास्तव मे भारतीय है); दुहरे रूपो का निर्माण भी समान है और उनमे रीतियाँ हैं (वर्तमान में स्वर उ : अ० सुस्रुर्से-, स० शुश्रूष्, पूर्ण मे उ और इ: अ० -उरुरओδअ, स० ररोध; अ० चिकोइतर्अ र्असे, स० चिकितु ; आगम भी वैसा ही है, किन्तु वह अवेस्ता की भाँति न तो दुर्लभ है, न पु० फारसी की भाँति निरतर बना रहने वाला)। अन्त्य प्रत्ययो मे समान विशेषताएँ हैं (आज्ञार्थ ३ एक० कर्तृ० -तु, मध्य० -आम् और -ताम्, २ एक० मध्य० -स्व, १ एक० सामान्य अतीत मध्य० विकरणयुक्त -इ, प्रारभिक मध्य० रूपो के बहु० के अन्तर्गत मध्यम पुरुष के -ध्व्- का प्रयोग : वायध्वे, अ० वेरθवे, इसी प्रकार १ बहु० गौण मध्य० -महि के निकट, अ० मैδइ, आदि रूप स० -महे, अ० -मैदे) ; जहाँ तक भिन्नताओ से सबध है, वे कोई गभीर नही हैं और परिवर्तन-विरोधी प्रवृत्ति पर आधारित है : १ द्वि० -व. जो अ० -वही से भिन्न है एक साधारण पुनर्विभाजन का परिणाम है; इसी पुनर्विभाजन का परिणाम है १ एक० -आ का संशयार्थसूचक क्रिया-रूप तक सीमित रहना (ब्रवा अ० अऊहा की भाँति; किन्तु अ० पुर्अ र्असा से विपरीत केवल निश्चयार्थ क्रिया-रूप पृच्छामि अधिक मिलता है), उसके पूर्ण लुप्त हो जाने का पूर्वाभास (उसके केवल लगभग दस उदाहरण मिलते ही हैं)। २ एक० आज्ञार्थ गृहाण, बधान और वैदिक प्रत्ययो -त-न, -थ-न का वास्तव मे भारतीय निपात संभवतः भारोपीय में दृष्टिगोचर होता है (हित्ती बहु० १. -वे-नि, २. -ते-नि ?) ; प्रत्येक स्थिति मे तत्त्वों,

पश्रौं, दीर्घ स्वर-सयुक्त धातुओ के पूर्ण० के एकवचन १-३ भारोपीय से आये हैं (मेइए, 'रेव्यू द एत० आर्मेनिएन', १९३०, पृ० १८३) और ईरानी की विशेषता उसे अलग करने मे है, -अ (विर्द, चक्र) युक्त पूर्ण० के मध्यम० बहु० का प्रत्यय जिसका स्थान ईरानी मे आदि प्रत्यय ग्रहण कर लेता है, निश्चित रूप से एक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग है, इसी प्रकार आज्ञार्थ विस्तात् लैटिन और ग्रीक द्वारा प्रमाणित है, २ एक० मध्य० अदिथा, सभावक प्रकार जानीथा के केल्टिक मे प्रतिरूप मिलते हैं। उसके समीपी आशीर्वादात्मक का जन्म, द्वि० रूपो अथवा र् युक्त प्रत्ययो (अथर्व० वर्त० शेरे जो अ० सोइरे सरेरे) की भाँति है, पूर्ण० चक्रिरे जो चाखूरे की भाँति है, किंतु जगृभ्रिरे; असमृग्रम् जो वओज्(अ)इरअम् की भाँति है, किन्तु अचक्रिरन्, सामान्य अतीत अदृश्रन्, अपूर्ण० अशेरत, बहु० जैसा पूर्ण० अवबृत्रन्त, आज्ञार्थ दुहराम्, पूर्ण० तक आदरार्थ का विस्तार ऐसी नवीन बाते हैं जिनका आगे के लिये कोई महत्त्व नही है।

अन्त मे जोडिए, उन्हे जिनका सबध प्रत्ययो के प्रयोग से है, जो अवेस्ता की गाथा की भाँति वेद मे नपु० बहु० के अतर्गत कर्त्ता, एक० क्रिया-सहित के रूप मे मिलता है। किन्तु यह प्रयोग, जो गाथा मे नियमित रूप से मिलता है, ऋग्वेद मे अपवाद-स्वरूप ही है।

विकरण

विकरण मे बहुत विविधता है व्युत्पत्ति से बने भाववाचक की दृष्टि से देशी वैयाकरण वर्तमान० के दस भेद स्वीकार करते है, इसके अतिरिक्त सामान्य अतीत, मूल और स-भविष्यत् हैं, और हर एक प्रकार के कई-कई भेद है, भविष्य० और पूर्ण०। कुछ विशेष भेदो का प्रकार-विषयक पर-प्रत्ययो द्वारा प्रकटीकरण हुआ है सामान्यार्थ और आज्ञार्थ (शून्य), सशयार्थसूचक (गुण मूल तथा रूपमात्र -अ-), आदरार्थ पर-प्रत्यय -या- -ई-; -ए- विकरणयुक्त मे। अन्त मे दो वाच्य है कर्तृ और मध्य।

वर्तमानकालिक विकरण

इनकी सख्या बहुत है, कुछ (तीन) सामान्य अतीत के समान हैं, अधिकतर वर्तमान० मे विशेष व्युत्पन्न रूपो मे है। इसी से ऐसा है कि क्रिया को समस्त सभव विकरण प्राप्त होने पर भी उनका प्रयोग नही होता, बडी कठिनाई से ऋग्वेद की धातुओ के पाँचवे भाग से अधिक मे वर्तमान मिलता है।

वर्तमानकालिक विकरण और शून्य पर-प्रत्यय-युक्त सामान्य अतीत

अविकरणयुक्त रूप

इस रूप की रचना मे न केवल पर-प्रत्यय का अभाव मिलता है, वरन् उसमे धातु का स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रम और स्वराघात का स्थानान्तरीकरण, कम-से-कम वर्तमान० में, मिलता है ए॑-ति य्-अ॑न्ति, अ० अएइति येइन्ति, ध्वनि-सबधी अथवा अन्य परिस्थितियो के फलस्वरूप सामान्य अतीत परिवर्तन-क्रम कम स्पष्ट है उदाहरणार्थ, एक० १ अ॑गम्, २-३ अ॑गन्, बहु० १ अगन्म, ३ अग्मन्, एक० १ अभूँवम्, ३ अभूत्, बहु० ३ अभूवन्।

भारोपीय मे अन्य स्थलो की अपेक्षा वेद मे यह वर्ग अधिक अच्छे रूप मे मिलता है उसमे लगभग ११० वर्तमान०, १०० सामान्य अतीत है (जिनमे से ८० ऋग्वेद मे है), जब कि दोनो समुदायो मे मिला कर अवेस्ता मे मुश्किल से ८० धातुओं से अधिक हैं।

भारतवर्ष मे कुछ विकरण द्व्यक्षरात्मक है, उदाहरणार्थ वर्तमान० मे ब्र॑वी-नि · ब्रुव्-अ॑न्ति, ये रूप बहुत कम मिलते है अ॑निति, नवीनि, श्वसिति, अवमित्, आज्ञार्थ स्तनिहि। किन्तु यह प्रकार बना रहता है, स्वय अथर्व० मे मिलता है रोदिनि जो लै० रूडो, रुडीअर के मुकाबले आश्चर्यजनक है, जहाँ तक स्वपिति मे सबध है, तुल० अथर्व० भविष्य० स्वपिष्यति- जो स्व॑प्न- के विपरीत है, ऋ० आज्ञार्थ २ एक० स्वप, मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९८ के अनुसार लै० कैपिओ कैप्टि प्रकार का अवशिष्ट रूप होना चाहिए।

सामान्य अतीत मे, अग्रभम् अग्रभीत् बनाया गया है अब्रवम् अ॑ब्रवीत् की भाँति, किन्तु रूप अलग-अलग हो गये है, अ॑ग्रभीत् -इष्- युक्त सामान्य अतीत के साथ चला जाता है, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १२८।

स्वराघात के सतुलन रहित, सामान्य विकरणयुक्त रूप

वर्तमान० यह बहुत मिलता है प्रचलित रूप मे गुण है बो॑धति। सामान्य अतीत मे, धातु शून्य श्रेणी मे है : वृधन्त। एक ही धातु मे दो विकरणो का सह-अस्तित्व और विरोध दोनो, जो ग्रीक मे बहुत है, अवेस्ती की भाँति सस्कृत मे भी बहुत कम मिलते है उदाहरणार्थ, रो॑हति . अ॑रुहत्; शोचतु अशूचत्, व॑र्धति अवृधत्, क्रदन्ति : २ एक० क्रद , किन्तु अतनत् का तनोति से विरोध है, अविदत् का विन्द॑ति मे, और साथ ही अमुचत् का मुञ्च॑ति से उस समय तक जब तक वर्तमान० होता है जिसका प्रथम० बहु० है मुच॑न्ति। इस समय, अपूर्ण० और सामान्य अतीत मिल गये है, इसी से अथर्ववेद मे अनेक रचनाएँ मिलती है।

समस्त भारोपीय भाषाओ मे, विकरणयुक्त क्रिया-रूप, जो परपरा के आदि समय

मे ही प्रचुर मात्रा मे थे, अविकरणयुक्त रूपो को सबद्ध कर लेते हैं, जिनमे परिवर्तन-क्रम के कारण एक गभीर दुरूहता उत्पन्न हो जाती है—न केवल स्वर-सबधी चमत्कार द्वारा, किन्तु व्यजनो के सपर्क मे आने के कारण उत्पन्न ध्वनि-सबधी परिणामो द्वारा भी, तुल० तष्टि अतक्ष्म, प्रथम० एक० अघ आदि।

सस्कृत मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीन वर्ग तुदति प्रकार है, जो सशयार्थसूचक और सामान्य अतीत के आदरार्थ पर आधारित है, इस मूल के कारण उनके निर्दिष्ट रूप की गणना की जाती है, चाहे स्वय क्षणिक कार्य द्वारा क्रिया द्योतित हो (रुजति, सृजति, अ० हर्ॅर्ज़ैति), चाहे वह कुछ समय तक रहने वाले भाव के द्योतक रूप के विरोध मे हो (तरति तिरति)। प्राचीन काल मे यह वर्ग प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है लगभग ८५ क्रियाएँ वेद मे, पचास अवेस्ता मे।

इ और उ के द्वित्व वाले रूप से सामान्यत कुछ सामान्य अतीत उपलब्ध होते हैं (अबू-बुधत्, सिश्वपत्) जो फिर प्रेरणार्थक धातु मे सम्बद्ध हो जाते हैं (बोधयति, स्वापयति, तुल० अ० ज़ोज़न्-, और ग्री० पेफ्निन् प्रकार), एक भिन्न रूप मे यह विरोध अविकरणयुक्त मे मिलता है अजीग जरते। वर्तमान० के मुकाबले, टिक्टो की समृद्ध ग्रीक माला और मिम्नो समुदाय आदि से भिन्न, ईरानी मे मुश्किल से केवल आध दर्जन दुहरे विकरणयुक्त रूप हैं, और कुछ अपवाद-स्वरूप रूपो को जैसे जिघ्नते, तुल० अ० जैγन्अन्ते, अथवा अस्पष्ट रूपो को छोड कर, स्वय सस्कृत मे, यदि वे प्राचीन है पिबति, तुल० पु० आयर्लैंडिश इबिद, तिष्ठति, अ० हिस्तैति और लै० सिस्टो से भिन्न रूप मे निर्मित, दे० पीछे।

अन्य सब रूप मुख्य है, चाहे वे वर्तमान० मे हो, अथवा सामान्य अतीत मे।

द्वित्व-युक्त वर्तमान

अविकरणयुक्त :

यह क्रम, जिससे पहला क्रम निकला प्रतीत होता है, भारतीय-ईरानी मे भली भाँति स्थापित हुआ मिलता है, यद्यपि भले ही उसकी सख्या बहुत न हो, वेद मे ५० धातुओ से कुछ कम, अवेस्ता मे २०। उनका एक काफी निश्चित अर्थ है : इ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप विशेषत णिजन्त हैं (इयर्ति, सिसर्ति) अथवा सकर्मक है (सिषक्ति कर्म० सहित जो सचते करण० सहित, से भिन्न है, जो अ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप हैं वे विशेषत अतिशयार्थक प्रतीत होते हैं (बभस्ति, वर्वर्ति), किन्तु ददाति, दधाति सकर्मक हैं और बिभर्ति का विरोध भरति से है, जो साथ ही स्वच्छन्द रूप में पूर्व-क्रिया के साथ आता है, जिघ्नते अ० जै नृअन्ते के अनुरूप है, तुल० ग्री० ऐप्एफ्नोन्

और इस बात के संकेत प्राप्त होते हैं कि *दिदति ददाति के समीप रहा है। अस्तु, वेद मे इन रूपो का मूल्य बहुत निश्चित नही है; उनका प्रधान प्रयोग सामान्य अतीत संबधी धातुओ को वर्तमान० रूप प्रदान करना है, तुल० अधात्, अदात्।

कुछ की उत्पत्ति पूर्ण० के बाद हुई बिभेति (ऋ० भयते . बिभाय, जागर्ति, जागार)।

अतिशयार्थक

यह भी द्वित्व-युक्त वाली माला मे रहता है, किन्तु द्वित्व-युक्त धातु के स्वनंत को इस रूप मे दुहराता है मानो वह एक हो, और यदि धातु मे स्वनत नही रहता तो वह दीर्घ रहता है, वर्वर्ति, बहु० वर्वृतति, जङ्घन्ति, चर्कर्मि, तर्तरीति, चाकशीति, पापतीति।

यह वर्ग भारोपीय है, किन्तु केवल भारतीय-ईरानी मे उसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, तथा अकेले वेद मे उसका विकसित प्रयोग पाया जाता है (अवेस्ता मे १३ के मुकाबले, ९० धातुएँ)। नये रूपो की उत्पत्ति नंनमीति जो मध्य० नंम्नते के विपरीत है, वरीवर्ति जो वर्वर्ति के निकट है, जैसे द्वयक्षरात्मक प्रकार के लयात्मक मूल के विस्तार मे मिलती है। इसके अतिरिक्त वेद के समय से उसमे कुछ विकरणयुक्त कर्मवाच्य मिलते है, जैसे मर्मृज्यते, रेरिह्यते।

अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय-युक्त विकरण

स्पष्ट रूप मे केवल भारतीय-ईरानी मे, और प्रचुर मात्रा मे केवल वैदिक मे सुरक्षित अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग। उसके विविध प्रकार हैं

एक धातु रिच्- का, ३ एक० रिणक्ति (अ० इरिनख्ति), बहु० रिञ्च्-अन्ति,

एक द्वयक्षरात्मक धातु अर्थात् *ग्रेभ्अ का गृभ्णाति (अ० गृअ्र्अ्वनाइति), बहु० गृभ्ण्-अन्ति,

एक व्याप्ति-युक्त उ युक्त धातु का अर्थात् *वेल्- (तुल० लै० उओलुओ, ग्री० 'इलउओ), वृणोति, तुल० अ० आज्ञार्थ वृअ्र्अ्नूइθइ।

किन्तु शीघ्र ही इस प्रकार की स्पष्टता लुप्त हो जाती है पहला प्रकार यथेष्ट रूप मे दुर्लभ है (वेद मे ३० से कम, अवेस्ता मे ८)। अन्तिम दो, जिनमे -ना- / -नी-, -नो- / -नु- का पर-प्रत्यय वाला रूप था, सस्कृत मे विकसित होते हुए पाये जाते है, उमसे जानाति (जो भारतीय-ईरानी ही था), बध्नाति जिनका ऋ० मे बहुत कम प्रमाण मिलता है, बाद मे विकसित होते हैं, मिनाति जो मिनोति के समीप है, अश्नोति, अथर्व० शक्नोति, अनुनासिकतायुक्त धातुओ में पर-प्रत्यय -ओ-/-उ- जैसा प्रतीत होता है: सनोति जो सामान्य अतीत से भिन्न है, वनोति जो वनति के समीप है, मनूते जो मन्यते

के समीप है, स्वय जिससे कृणोति से निकले करोति सामान्य अतीत सशयार्थसूचक के साथ सम्बद्ध रहता हैं। इन विस्तारों के कारण ही, दोनों वर्गों के प्रमाण वेद की क्रमश तीस और चालीस क्रियाओ मे मिलते हैं (अवेस्ता मे प्रत्येक की २५)। इन क्रियाओं का प्रयोग, जहाँ तक उन्हें निर्धारित किया जा सकता है, निश्चित है, और वह अन्य भाषाओ के प्रयोग से काफी साम्य रखता है; यही कारण है कि भारोपीय के समय से उनका प्रयोग एक ही अर्थ मे सामान्य अतीत के रूप में वर्तमान की तरह होता है, और उस समय वे अस्थायी मूल्य ग्रहण कर लेते है छिनत्ति छेदम I बहु०; पृणाति . अप्रात्, जानाति, तुल० ज्ञेय, कृणोमि ' अकर्, स्तृणोति, अस्तर्, वर्तमान के लिये यह मनोनीत प्रका" ही है जिसमे विकरणयुक्त रूप नही होते।

अनुनासिकता-युक्त क्रियाओ ने भारतीय-ईरानी के समय से कुछ मध्यवर्ती प्रत्यय वाले विकरण रूप प्रदान किये हैं, जैसे सिञ्चति (अ० हिन्चॅति), विन्दति, अ० अपूर्ण० विन्दत् जो वर्तमान० वीनस्ति के समीप है, ऋ० मे कुल मिला कर दस हैं, अवेस्ता मे छ, अथर्व० मे वस्तुत लिम्प्- और कृन्त्- हैं। इसके अतिरिक्त -ना- से निकला पर-प्रत्यय -न- सहित ऋ० पृणति जो पृणाति के समीप है, मृणसि जो मृणीहि से भिन्न है; अथर्व० गृणत ऋ० गृणीत के लिये और अथर्व० शृण ऋ० शृणीहि के लिये। यह अब भी केवल एक प्रलोभन है।

किन्तु यह हो सकता है कि विकरणीकरण अधिकाधिक, जैसा कि शुरू मे ही सोचा जाता है, बोधति प्रकार के पूर्ण क्रम के विकास के लिये हो जो व्युत्पन्न वर्तमान के साथ सम्बद्ध हो जाता है और जिसका अब उल्लेख करना आवश्यक है।

व्युत्पन्न विकरण

पर-प्रत्यय -य-

सम्पूर्ण भारोपीय की भाँति इस पर-प्रत्यय का सस्कृत मे बहुत अधिक विस्तार पाया जाता है। उससे मूल क्रियाएँ, कर्मवाच्य, सज्ञाओ और क्रियाओ के व्युत्पन्न रूप प्राप्त होते है।

सस्कृत (और भारतीय-ईरानी) की दृष्टि से जो मूल क्रियाएँ हैं उनके विभिन्न मूल हैं · ऐसे हैं पत्यते, पश्यति (गाथा स्पस्या), नश्यति (अ० नस्येइति) जो सज्ञाओ से निकलते हैं, तुल० लै० पोट्-(स्त्री० पट्नी), -स्पेक्स् (स्पट्), नेकम्, मन्यते, हर्यति, कुप्यति पु० एक० मिॅनित्, ओम्ब्री हेग्गिएस्ट, लै० कूपिओ, अकेला जिसमे पर-प्रत्यय का मूल की दृष्टि मे एक विशेष अर्थ था, कर्मवाच्य इसी क्रम के साथ सम्बद्ध हो जाता है; वे एक, शारीरिक या मानसिक, परिस्थिति का द्योतन करते हैं।

किन्तु संस्कृत में जिस प्रकार अकर्मक क्रियाएँ हैं (पूयति, शुष्यति) उसी प्रकार कर्तृवाच्य क्रियाएँ भी (ईर्ष्यति)। साथ ही उनमें, अन्य कारणों से, कुछ वर्तमान० है जो सामान्य अतीत की भाँति आती है द्रुह्यति, द्रुहत्, गृध्यति अगृधत् आदि और उनमे केवल स्वराघात द्वारा अन्तर उपस्थित होता है, जो संस्कृत के लिये उचित है तो भी सामान्य रूप मुच्यते के निकट मुच्यते मिलता है।

धातु सामान्यत शून्य श्रेणी मे है, इस दृष्टि से संस्कृत अवेस्ता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, अवेस्ती मे ख्रओस्येइति स्वीकृत है (तुल० स० क्रोशति)। जब मूल स्वर अ है, तो यह अ सुरक्षित रखा गया है ताकि धातु को अभिव्यंजकत्व प्राप्त हो सके (पश्यति, अस्यति, दंह्यति, हर्यति, किन्तु म्रियते)। वायति, जैसी दीर्घ स्वर वाली क्रियाओं की गणना करना भी आवश्यक है, और सामान्य अतीत के एक लुप्त रूप पर आधारित गृभायति प्रकार की भी (कुल मिला कर ३०)।

तो एक ऐसे वर्ग मे काम पडता है जिसका अर्थ स्पष्टत निश्चित नहीं है, जिसमे पर-प्रत्यय अपने आप यांत्रिक ढंग से आ जाता है, और जो सजीवता का चिन्ह है शुरू मे ही उसमे कुछ क्रियाएँ हैं, बिना गणना के ८० कर्मवाच्य (अवेस्ता मे कुल १००)।

उसमे कुछ नामधातु क्रियाएँ जोड लेना भी आवश्यक है, जो स्वय संस्कृत के मध्य निर्मित हुई प्रतीत होती है, पर-प्रत्यय -य- सहित स्वराघात कभी-कभी प्रेरणार्थक की भाँति मूल पर रहता है मिषज्-यति (अ० बएँषेज्यति), तुल० अविकरणयुक्त भिषक्ति, अ० सहायार्थसूचक विसैंजाति और ऋ० अभिष्णक्, अपस्यति, वृषण्यति और वृषायति, कवीयति, जनीयति, पृतनायति। जब संज्ञा विकरणयुक्त होती है तो स्वर का प्राय दीर्घीकरण हो जाता है अमित्रयति, देवयति, मृगयते, ऋतयति, किन्तु ऋतायति, अथर्व० अमित्रायति, यज्ञायति। क्या पृथक्त्व की दृष्टि से, इस दीर्घीकरण (ऋग्वेद मे पूर्ववर्ती स्वर लगभग सदैव ह्रस्व होता है) का कोई लयात्मक कारण है? हर हालत मे विभिन्न समुदाय यह प्रदर्शित करते हैं कि अपनी सजीवता के कारण इस क्रम ने सादृश्यमूलक विस्तार स्वीकार किये हैं अध्वरीयति, पुत्रीयति जो अध्वर-, पुत्र- मे है, सत्वस्यति सत्व- से, मानवस्यति मानव- से, रथर्यति रथ- से। वास्तव मे इन नामधातुओं का विकास संस्कृत की अपनी विशेषता है (अवेस्ता के २० के मुकाबले १००), वेद मे उनका बहुत बार प्रयोग हुआ है, केवल एक बार आने वालो की संख्या सदैव उदारतापूर्वक की गयी रचनाओ की प्रतीक है।

पर-प्रत्यय -अय- :

रूप द्वारा पिछले पर-प्रत्ययो के लगभग समीप पर-प्रत्यय-सहित निर्मित प्रेरणार्थक

और पुनरावृत्तिमूलक हैं अर्थात् *-एये- (ग्री० फोबेंओ, फॉरेंओ, लै० मोनेओ, सोपिओ); सिद्धान्तत पहले वालो मे दीर्घ श्रेणी होती है, दूसरो मे शून्य श्रेणी द्योतयत, रोचयत्, द्युतयन्त, रुचयन्त, और समान परिवर्तन-क्रम द्वारा पार्तयति, पतर्तति। (स्वार्पयति, लै० सोपिओ का साम्य भी देखने योग्य है)। ऋग्वेद मे तो १०० प्रेरणार्थक, ५० पुनरावृत्तिमूलक है ही (अवेस्ता मे सब ८० के लगभग)। दीर्घ -आ- युक्त धातुओ के व्याप्ति-युक्त -प-, जो विशुद्ध सस्कृत का है, का उल्लेख करना आवश्यक है स्थापयति, स्नापयति (स्नाति), इस रचना को, जिसका मूल अज्ञात है (तुल० वांद्रियस, 'इडियन लिंग्विस्टिक्स', II. पृ० २४, वॉ० घोष, 'लै फॉर्मेसियो आँ प् दु सस्कृत', पृ० ६७), काफी सफलता प्राप्त हुई।

इच्छार्थक (सन्नन्त) और भविष्य० :

य दा रचनाएं विकरणयुक्त ही है, जो भारोपीय मूल द्वारा बद्ध है, किंतु सस्कृत के इतिहास मे विभिन्न और असमान रूप मे आती है।

भारोपीय *-से-/-सो- का इच्छार्थक मूल्य कुछ शब्दो मे प्रतिबिंबित होता ही है, अप्सन्त जो आप्नोति से भिन्न है, तुल० ईप्सति, श्रोषमाण- तुल० शृणोति, हासते का मध्य० प्रयोग भी देखा जाता है, तुल० जहाति, ग्रा० मोक्षते, तुल० मुचति और मुञ्चति। पर-प्रत्यय ने उसके वास्तविक मूल्य को केवल द्वित्व वाले रूपो मे सुरक्षित रखा है जो वेद मे भारतीय-ईरानी मे शाय है जिगीषति (और जिज्यासति), अ० सशयार्थ-सूचक जिजिसैइति कृदन्त शिक्षमाण, अ० मुम्रसुअस्नो, शिक्षति शक् से, तुल० अ० आसिख्शो। वेद म वे लगभग ६० है (अवेस्ता मे लगभग एक दर्जन है), इसके अतिरिक्त सादृश्यमूलक रचनाएँ जैसे ऋ० दिदिषामि जो धित्सते के निकट है, पिपीषन्त् जो पिपासति के समीप है, अथर्व० पिपतिषति (*पित्स्- पत्- से बहुत दूर नही था, जैसे दिप्स्- अ० दिवज्- दभ्- से) की रचना इस रूप की सजीवता का परिचायक है।

भारतीय ईरानी मे इच्छार्थक पर-प्रत्यय के जिस रूप ने अधिक विस्तार धारण किया है वह -स्य- है जिससे भविष्य० बनाने का काम लिया गया है। यह ग्रीक और इटैलो-केल्टिक मे *-से-, लिथुआनियन मे -स्ये- वाला रूप है। किन्तु भारतीय-ईरानी रचना स्वतत्र है इटैलो-केल्टिक मे सशयार्थसूचक का चिन्ह सुरक्षित है जो अन्तवर्ती है, और केल्टिक मे द्वित्व वाले रूप का प्रयोग होता है जो सस्कृत इच्छार्थक वर्तमान के पूर्णत समान है, अन्त मे लिथुआनियन के विस्तार मे भेद मिलते है।

एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आती है वह यह है कि ऋग्वेद मे इस रूप की अल्पता की दृष्टि से वैदिक भाषा भारतीय-ईरानी के कितने निकट है ऋग्वेद मे

भविष्य० के केवल १५ विकरण मिलते हैं; अथर्ववेद मे बीस से अधिक नये मिलते हैं; काफ़ी हैं, साथ ही यदि इस बात को भी ध्यान मे रखा जाय कि ऋचा के विषय का संबंध भविष्य से बहुत कम होता है। इनमे से जिनका सबध प्राचीन ईरानी से है, गाथा मे वे दो हैं, इधर के अवेस्ता मे सात। पुरोगमन केवल तीव्र हो जाता है, ऋ० मे सशयार्थ-सूचक करिष्या ( ) मिलता ही है और एक उदाहरण अतीत काल का जिससे क्लैसी-कल संभाव्य की रचना होती है अभरिष्यत्।

स-भविष्यत्-युक्त सामान्य अतीत

ऊपर सकेतित रचनाओ मे, सामान्य अतीत वर्तमान के बल पर अपने प्रत्ययो द्वारा, न कि अपने विकरण द्वारा, अपने को निश्चित कर लेता है, तो भी भारोपीय मे सामान्य अतीत मे व्याप्ति-युक्त -स्- और -इष्- का प्रयोग हुआ है, किन्तु ऐसे रूपो की सख्या बहुत कम है जिनके कई भाषाओ मे साम्य है -स्- युक्त सामान्य अतीत के लिये, म० अदिक्षि का साम्य अ० दाइसें से, ग्री० ऍडेइक्स , लै० डीक्सी से है, म० २ एक० अवाट्, सशयार्थसूचक वक्षन् (इ), का साम्य अ० -वजेत्-, लै० उएक्सी से है, अस्तु, यदि संस्कृत अंस्थिषि और अ० सशयार्थ० स्तंऊहतु एक ही सिद्धान्त का अनुसरण कर बने हैं, तो केवल इतना निश्चित हो जाता है कि रूप भारतीय-ईरानी है। इसी प्रकार सशयार्थ० मे और कुछ प्रत्ययो से पूर्व -इष्- का प्रयोग सस्कृत, लैटिन और हित्ती मे सादृश्यमूलक है (मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV पृ० १२७), किन्तु ये प्रकार फिर नही मिलते।

विभिन्न भाषाओ मे प्रयोग-साम्य ध्यान आकृष्ट करने वाला है, किन्तु उनमे से प्रत्येक की रचनाओ की इधर की विशेषता को विविध प्रकार से प्रमाणित किया जा चुका है। ऋग्वेद के समय से ही सस्कृत मे उनका आना केवल अत्यन्त अभिव्यजकतापूर्ण है . उसमे वे कम-से-कम उतने ही है जितने मूल सामान्य अतीत (-स्- सामान्य अतीत ६०, -इष्- युक्त ७० धातुओ के लिये, अविकरणयुक्त मूल सामान्य अतीत ८८, विकरण-युक्त ३८ धातुओ के लिये), अवेस्ता मे -स्- युक्त सामान्य अतीत केवल लगभग ४० हैं, -इष्- युक्त तीन। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे -सिष्- युक्त दो रूप मिलते हैं आयासिषम्, गासिषति, और -स- युक्त सामान्य अतीत आठ।

पूर्ण

पूर्ण की एक अलग ही, केवल प्राचीन, प्रणाली है, जिसमे विशेष, और जैसा कि देखा जा चुका है, "कर्तृवाच्य" रूप वाले प्राचीन अप्रचलित प्रत्ययों की खास बात हैं : १ और ३ एक० -अ (क्रमश भारोपीय -अ और -ए, ग्री० ओइदा तथा ओइदे), २ बहु०

-अ अन्यत्र अज्ञात; स्वरो के इस साम्य से परिवर्तन-क्रम को पूरा महत्त्व प्राप्त होता है एक० १ चर्कर, ३ चकार (भारोपीय मूल का परिवर्तन-क्रम, कुरीलोविच, 'सिम्बोली ग्रैमै० रौज़ावदौम्की', पृ० १०३, किन्तु यहाँ व्यजन से पूर्व स्वनत, १ और ३ विवेश, उपनिषदो तथा उनमे आगे प्रथम पुरुष के अनुकरण पर उत्तम पुरुष का वैकल्पिक सामान्यीकरण), बहु० २ चक्र।

एकवचन के प्रथम पुरुष मे, पप्रौ (और सभवत जहौ) के निकट, कुछ -आ- युक्त धातुएँ जिनमे अन्त्य स्वर स्वर-सधि के कारण है, पप्रौ प्रकार मे, जो भारोपीय के सबध मे कहे गये के अनुसार है, रूप को विशेषता-सपन्न बनाने का लाभ था (इन धातुओ मे उत्तम पुरुष के वैदिक उदाहरण नही मिलते)।

पूर्ण० की एक अन्तिम विशेषता है प्रथम० बहु० -उ , जो प्राचीन * ऋ से निकलता है आसु, अ० अंडहर्आ, का प्रत्यय।

मध्य० रचनाओ और क्रियार्थ-भेदो द्वारा यह प्रणाली पूर्ण हो जाती है नवीनताएँ पुरानी ईरानी मे ही बहुत कम है (आज्ञार्थ मे विशेषत नही है), जिसमे सामान्यत वैदिक की अपेक्षा पूर्ण० कम प्रचलित प्रतीत होता है ऋग्वेद के २४० के मुकाबले लगभग ५० भले ही धातुओ की दो-तिहाई सख्या का प्रयोग हुआ हो। रूपो का यह विकास अर्थ की दुर्बलता से साम्य रखता है, अन्तिम रूप मे वह एक नवीन अतीत काल के रूप मे आता है जो क्रिया-रूप का निर्माण करते समय एक साथ अनुकलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

क्रियार्थ-भेद

ऊपर उल्लिखित विकरणो के सभी वर्ग निश्चयार्थ कहे जाने वाले, जो सकारात्मकता प्रकट करते है रूपो की भाँति मिलते हैं। उनमे आज्ञार्थ और जोडे जा सकते है जो एक निश्चित क्रम प्रकट करते है और जिनके विकरण की कोई खास विशेषता नहीं होती। इसके विपरीत, एक सभावना (अर्थ के विस्तार के लिये आगे देखिए) उन विशेष पर-प्रत्ययो के दो वर्गों द्वारा अभिव्यक्त की गयी है जो भारतीय-ईरानी से आये है

सशयार्थसूचक मे, -अ- (१ एक० भराणि, जो 'भरा' की अपेक्षा अधिक आता है, मे एक भारतीय-ईरानी निपात रहता है गाथा ख्सया उफ्यानी, किन्तु उसका प्रयोग सस्कृत मे बहुत अधिक है),

आदरार्थ (सभावक) मे, -या, -ई- अविकरणयुक्त क्रियाओ मे, अन्य मे -ए- बराबर विकरणयुक्त स्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है

अयत् (इ) इयात्, पत पतेत् (१ एक० भरेयम्, जो अ० बर्य्अम् से भिन्न

है, एक प्राचीन रूप हो सकता है; तुल० ओइए युक्त ग्रीक आदरार्थ जिसमे 'इ' पुनरावृत्ति प्रकट करती है)।

वेद मे संशयार्थ०, आदरार्थ (सभावक) की अपेक्षा, तिगुने या चौगुने बार आता है। किन्तु आन्तरिक दुर्बलता के रूप मे यह देखा जा सकता है कि गौण रूप क्रियार्थ-भेद से संबधित मूल्य वाले आदेशार्थ को प्राय द्वित्व-युक्त कर देते है, तथा गौण रूपो का आदरार्थ की अपेक्षा निश्चयार्थ से भेद अधिक अस्पष्ट है। दूसरी ओर मध्य० स-भविष्यत् सबधी सामान्य अतीत (२, ३, एक०) फिर कर्तृ० मूल सामान्य अतीत (३, एक०) मे विधेयात्मक के कहे जाने वाले रूपो को सकलित कर आदरार्थ अपनी सजीवता का परिचय देता ही है (दे०, एम्० एस० एल०, XXIII, पृ० १२०)।

रूपों का प्रयोग

वाच्य

मध्य प्रत्यय कर्ता द्वारा किया गया कर्म प्रकट करते है, जैसे भारोपीय मे। उनमे ऐसी क्रियाओ का अस्तित्व प्राप्त होता है जिनमे केवल मध्य वाच्य होता है जैसे आस्ते, ग्री० ऍस्ताइ, २ एक० शेषे, तुल० ग्री० केइटाइ, मरते, लै० मोरिअर। और जिन क्रियाओं मे कर्तृवाच्य होता है मध्य का विशेष मूल्य साम्य रखता है शिशीते वज्रम्, उपा नयस्व वृष्णा। उसके विविध भेद उत्पन्न होते है दोग्धि का अर्थ होता है 'वह गाय का दूध निकालता है' (गां माम् वि दोग्धाम्), दुहे का है "स्त्री अपना दूध देती है"। दूसरी ओर मध्य कर्तृवाच्य से विरोध अन्य स्थलो पर मिलता है, जहाँ कर्तृवाच्य मध्य द्विकर्मक धातु-सबधी की भाँति प्रतीत होता है वर्धति अथवा वर्धयति, वर्धते। उससे मूल क्रियाओ के मध्य का प्राचीन काल मे कर्मवाच्य की भाँति अधिक प्रयोग मिलता है स्तवसे। किन्तु ऋग्वेद मे तो वैसे ही कर्मवाच्य को प्रकट करने के लिये -य- युक्त व्युत्पन्न विकरणो के मध्य का काफी प्रयोग होता है हन्यते का उदाहरणार्थ स्पष्ट विरोध हन्ति से है, सृज्यते का सृजति से, दुह्यते का दुहे से।

इन विरोधो से यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नही है कि वेद मे एक मध्य क्रिया-रूप हो, जिसमे एक उपलब्ध विकरण के लिये प्रत्ययो के समुदाय कर्तृवाच्य के समुदायो से विरोध करे . उदाहरणार्थ जिघ्नते है जो हन्ति मे मध्य का काम देता है। दोनो प्रकार के विकरण अपने को पूर्ण बनाते है, न कि साम्य रखते है मध्य वर्तमान से सामान्य अतीत, भविष्य और कर्तृ० पूर्ण० का साम्य हो सकता है भ्राजते अभ्राट्; म्रियते मरिष्यति, ममार। इसी प्रकार प्रत्ययो के लिये है आज्ञार्थ मे तपस्व तपतु

के विपरीत है, कर्तृवाच्य तपति की भाँति, भजस्व का अर्थ भजति की भाँति होना चाहिए, न कि भंजते की भाँति। सामान्यत गौण वर्ग मे मध्य प्रत्यय अधिक पसन्द किये गये हैं शोचति शोचन्त, शुचुचीत, शोशुचन्त, अशोचि, मर्जयति मर्जयन्त, जायते के विपरीत, जनिष्ट का भिन्न अर्थ है। पूर्ण० मे, प्रथम० बहु० वावृधु की रचना वावृधे की भाँति होती है, विपर्यस्त रूप मे गौण अशयत्, शेते, जो प्राचीन है, के निकट है।

यहाँ तुरत इस बात की ओर सकेत कर देना चाहिए कि कृदन्त स्वच्छद रूप मे मध्य है ददान-, अ० दθआन-, ददाति का कृदन्त है, यजमान- का अर्थ यज्ञ कराने वाला, साथ ही विश्वासी भी है।

इन समस्त प्रयोगो की दृष्टि से, वैदिक भाषा भारोपीय और भारतीय-ईरानी से साम्य रखती है। यह कम सच नही है कि मध्य की प्रवृत्ति कर्तृवाच्य के विरोध के लिये अपना विस्तार करने की ओर है उसका सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण पूर्ण० और असम्पन्न भूत के विविध प्रत्ययो की उत्पत्ति मे है।

मूल और गौण प्रत्यय

जिन क्रियाओ मे पूर्ण से बाहर के दो विकरण है, उनमे वर्तमान और सामान्य अतीत का विरोध सिद्धान्तत प्रत्ययो के प्रयोग द्वारा व्यक्त होता है। निश्चयार्थ मे अकेले वर्तमान मे प्राथमिक के साथ-ही-साथ गौण प्रत्यय मिलते है। रूपो का यह विभाजन अर्थ के विभाजन से साम्य रखता है वर्तमान प्रस्तुत क्षण मे होने वाले कार्य का वर्णन करता है अथवा समयातीत कार्य का, उसका अतीत काल, अपूर्ण, अतीत से सबध रखता है, सामान्य अतीत वर्णन करने का समय नही है, किन्तु प्रमाण प्रस्तुत करने के समय का है, और अतीत की बात को केवल उल्लिखित विषय से सबधित हाल के अतीत की ओर सकेत करता है।

फलत गौण प्रत्यय वाला रूप अपूर्ण या सामान्य अतीत से मुक्त हो जाता है, जिसके बाद वह प्राथमिक रूप का विरोध करता भी है, नही भी करता अयजत्, जो यजति के समीप है, अपूर्ण है, अग्रभम् और अगृभम्, जो गृभ्णामि, अगृभ्णात् के अतिरिक्त अन्य विकरणो के आधार पर निर्मित सामान्य अतीत के है, गमन्ति सशयार्थसूचक सामान्य अतीत है जिसका गच्छान् वर्तमान है। क्योकि सभी सभव रूप कभी नही मिल पाते, वे स्वभावानुकूल समुदायो मे मिलते हैं, व्युत्पन्न वर्तमान रूपो मे भिन्न मूल सामान्य अतीत अचेत् चिनोति, अगन्, गच्छति, असरत् : सिसरति, गुण वाले वर्तमान से भिन्न विकरणयुक्त सामान्य अतीत अवृधन् वर्धते, अरुहत् (और अरुक्षत्) : रोहति।

किन्तु इस सिद्धान्त का आदर्श रूप केवल सांख्यिक प्रमाणों मे ही मिलता है · प्रयोग से प्रकट होता है कि दभन्ति, दभ्नुवन्ति के बावजूद (तुल० अ० दृबंबृवंनओता) दभति, तुल० अ० दब- का सबध वर्तमान से अधिक है, बिर्भति और भॅरति के समीप वर्तमान भॅति प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा एक प्रयोग है तुल० फेरो, फर्ट्, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९७। इसी प्रकार दर्तं, VI, २७ ५ दॅर्दरीति (अ० द्वारा दर्अंदॅर्यात् रूप मे) सामान्य अतीत की अपेक्षा अपूर्ण अधिक है।

इसके अतिरिक्त, स्वय वर्तमान मे, गौण प्रत्ययों वाले रूप मे, जब कि वह आगम द्वारा उपलब्ध नही होता, सदैव अतीत काल का अर्थ नही निलकता . ऋ०, ७. ३२, २१ मे, उदाहरणार्थ, एक ही प्रयोग मे वर्तमान और गौण रूप पास-पास मिलते हैं .

नॅ दुष्टुतीं मॅर्त्यो विन्दते वॅसु
नॅ स्रॅधन्तम् रयिॅर् नशत्

इन गौण वर्तमान रूपो को अथवा मूल सामान्य अतीत को आदेशार्थ नाम दिया जाता है, जिनमे अतीत काल के भाव के निकट, वर्तमान निश्चयार्थ का भाव निहित है (ऐसे १/३, ८०० के लगभग उदाहरण ऋग्वेद मे है), वे निपात हिं, नकारात्मक नॅ को ग्रहण कर सकते है, दूसरी ओर उनमे अनिश्चित क्रियार्थ-भेद का भाव और हो सकता है, आज्ञार्थ का भाव भी रह सकता है (निषेधात्मक नकारात्मक मॉ इस रूप का अकेला एक यही प्रयोग है जो सस्कृत मे सुरक्षित रहा है), सामान्यत अर्थ सदर्भ पर निर्भर रहता है। ये बाते, जो अवेस्ता द्वारा प्रमाणित है, एक प्राचीन स्थिति की अवशिष्ट मात्र है जब कि अर्थ और रूप का भेद अभी निश्चित नही हुआ था।

दूसरी ओर सशयार्थसूचक, आश्रयसूचक और विवेचनसूचक क्रियार्थ-भेद मे प्राथमिक और गौण प्रत्यय स्वीकृत होते है, यह आदरार्थ के विपरीत है, जिसमे केवल गौण प्रत्यय रहते है यही बात अवेस्ता मे है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवेस्ता मे मूल प्रत्ययों का कर्तृवाच्य वाले साधारण भविष्यत् के भाव मे साम्य है (अथवा वर्तमान के अतर्गत वाक्याशो पर निर्भर सबध० मे वर्तमान के भाव से), गौणो का, अनिश्चितता या इच्छा के भाव से। सस्कृत मे इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है, किन्तु अर्थ कम प्रधान रहता है वर्तमान और विकरणयुक्त सामान्य अतीत मे -ति बहुत अधिक मिलता है (-म के बल पर वर्तमान -मसि की भाँति, और -आ के बल पर -आनि सशयार्थसूचक की भाँति) तथा इसके अतिरिक्त उसकी सामान्य गति दृष्टिगोचर होती है। फलतः चीजे इस प्रकार सामने आती हैं मानो सशयार्थसूचक आदेशार्थ था—अस्तु, दुर्बल प्रत्यक्षीकरण वाला, एक अनिश्चित भाव वाला वर्तमान—जिसमे निर्धारित मूल

स्वर-पद्धति वाले तथा पर-प्रत्यय -अ- की विचित्र विशेषता-युक्त, कर्तृवाच्य और मध्य दो प्रकार के प्रत्ययों की संभावना रहती है, उसी के फलस्वरूप उसकी विकरणयुक्त वर्तमान के साथ गड़बड़ हो जाती है, और वास्तव में यदि पूर्ण वर्ग के नहीं तो उनमें से अनेक (कर्तरि, अगमत् प्रकार) के मूल में यही बात रही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हित्ती में संशयार्थसूचक और विकरणयुक्त वर्तमान बराबर नहीं हैं, और स्लाव तथा जर्मनिक में वर्तमान (स्लाव में पूर्ण पूर्णकारी) भविष्य का बोध कराता है, और कोई संशयार्थसूचक तुलनीय नहीं है, लैं० एरिट, फेरेट से अथवा ग्री० ऐदोमाइ बोध कराने के लिये नहीं है (मेइए, 'आर० ए स्लाव्,' XII, पृ० १५७)।

अस्तु, दो रीतियों से अति प्राचीन पाठों में मूलतः अनिश्चित भाव के प्रति वर्तमान की झलक मिलती है, यह भाव क्लैसीकल भाषा में बना रहता है और आधुनिक वर्तमान तक चला आता है।

पूर्ण

सिद्धान्ततः पूर्ण का वर्तमान (अपने 'अपूर्ण' कहे जाने वाले अतीत काल सहित, और भविष्यत् सहित जब वह जितने मात्रा में हो) और सामान्य अतीत से विरोध है, यह विरोध विकरण की स्वतंत्र रचना द्वारा (अस्ति आस, अयति आय, कृणोति चकार, भिनत्ति बिभेद, गच्छति जगाम आह, दाशद् अलग हैं), उनके विशेष प्रत्ययों द्वारा (जिनमें सिद्धान्ततः वाच्य संभावित नहीं है, भयते, जुषध्वम् बिभाय, जुजोष), तथा उसके प्रयोग द्वारा होता है क्योंकि पूर्ण प्रथमतः प्राप्त स्थिति अथवा वास्तविक फल का बोध कराता है, किन्तु विवरण या प्रमाण नहीं।

वास्तव में यह परिभाषा अपवाद स्वरूप हो गये प्राचीन अप्रचलित प्रयोगों पर आधारित है, और जिसकी प्राचीनता अन्य भाषाओं के साथ तुलना में उभर आती है, फल को प्रकट करते हुए, पूर्ण ने उसी से पूर्व की घटनाओं की याद दिलायी, वास्तव में ऋग्वेद में पूर्ण का सामान्य प्रयोग अतीत काल का प्रयोग है जो उत्तम पुरुष में वैसे ही बहुत कम मिलता था, तत्पश्चात् व्यक्तिगत अनुभव का बोध विशेषतः सामान्य अतीत द्वारा हुआ, और जो दूसरी ओर अपूर्ण से भेद केवल एक अधिक गंभीर सूक्ष्म भेद द्वारा स्थापित करता है।

तब से पूर्ण अनेक रूपों में वर्तमान से भिन्न रूप में विकसित होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। वह अपने वर्तमान के वास्तविक अर्थ से पृथक् होते समय ऐसा करता है। कुछ अपूर्ण और द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत पूर्ण में कुछ अतीत काल की भाँति प्रकट होते हैं, क्रियार्थ-भेद-रूप, जो संख्या में कम है, द्वित्व-युक्त वर्तमान के या अनिश्चयार्थ

(युयवत्) के क्रियार्थ-भेद-रूप के साथ जुड़ जाते हैं। विपर्यस्त रूप मे बिभाय के आधार पर अबिभेत् (और कृदन्त बिभ्यत्) बनता है जिसमे वर्तमान बिभेति निकलता है, वेद से, अवेदम्, चाकन से, २-३ एक० चाकन्, जागार से, २ एक० अजागर् (और कृदन्त जाग्रत्) जिसमे फिर बहुत बाद को जागर्ति, जाग्रति।

किन्तु ये नवीन रचनाएँ, किंवा अन्य रूप मे अतीत कालो की रचना और साथ ही मध्य प्रत्ययो के, जो शुरू से ही बहुत मिलते हैं, ग्रहण करने की भाँति, पूर्ण की मौलिकता मिटा डालती है, वास्तव मे यह देखा जाता है कि वह वैदिक भाषा मे भी अपने मूल्य के एक अश की रक्षा करते हुए, केवल क्लैसीकल सस्कृत मे एक उदात्त रूप की भाँति व्यक्त होता है, प्राचीनतम मध्यकालीन भारतीय भाषाओ के समय मे, यह प्रणाली निष्प्राण हो जाती है जिसके केवल एक या दो चिन्ह शेष रह जाते है।

अस्तु, वैदिक क्रिया मे विभिन्न युगो के अश विद्यमान मिलते हैं, इसके अतिरिक्त, उसमे रूप एक क्रम मे नही हैं, केवल धातु है, न कि उसकी रूप-रचना, जिससे उपलब्ध क्रिया की एकता स्थापित होती है, और धातु के अर्थ पर एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से रूप-मात्रो का चुना जाना निर्भर रहता है, तत्पश्चात् धातु द्वारा स्वय अपने से बोधित एक निरन्तर या निर्दिष्ट कार्य का। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वैदिक क्रिया जितनी व्याकरण के लिये सामग्री प्रस्तुत करती है उतनी ही कोश के लिये।

क्रिया का परवर्ती इतिहास उसकी दरिद्रता का अथवा एक प्रकार से भार-मुक्ति का, और रूपो के समानान्तर होने की प्रवृत्ति का, फलत क्रिया-रूप की स्थापना का इतिहास है।

संस्कृत में परवर्ती विकास

परिस्थिति तो अथर्ववेद में ही बदल जाता है। १ एक० सशयार्थ० -आ का प्रत्यय निश्चित रूप में नहीं रह जाता और उसके स्थान पर -आनि का प्रयोग होने लगता है, निश्चयार्थ १ बहु० -मसि -म के सामने, जिस पर वह ऋग्वेद में बहुत दिनों तक हावी रहा, पिछड़ जाता है। विपर्यस्त रूप में मध्य मशयार्थसूचक पूर्ण हो जाता है -नै, जिसका ऋ० में केवल एक उदाहरण मिलता है, और -मै जो उसमें है ही नहीं, सामान्य हो जाते हैं। दूसरी ओर भविष्यत् का विस्तार हो जाता है।

आदेशार्थ रूपों में, दस में से नौ का क्रियार्थ-भेद-सवधी भाव है, जो ऋग्वेद में आधे भी नहीं हैं, और नकारात्मक मा, रूपों के एक-तिहाई के साथ चलने के स्थान पर, ४।५ के साथ चलता है यहाँ तक कहना पड़ता है, यदि कोई यह सोचे कि अथर्ववेद में बहुत-से अश ऋग्वेद के हैं, तो क्रियार्थ-भेद-हीन आदेशार्थ लुप्त हुआ मिलता है।

पूर्ण बहुत कम मिलता है और गद्यात्मक मत्रों में तो बिलकुल नहीं है, सामान्य अतीत विरल हो जाता है, स-भविष्यत्-सबधी सामान्य अतीत में अपूर्ण के प्रत्यय आ जाते हैं (एक० २ अरात्सी राध्-से, अवात्सी वस्- से, भैषी भी-से, ३ अनैक्षीत् निज्-से)। यह वास्तव में वह अपूर्ण है जो भूतकाल की भाँति विकसित होता है, साथ ही रहस्यवादी ऋचाओं में विकसित होता है, तथा दूसरी ओर अपना विस्तार करते समय नामजात शैली -त- युक्त क्रियामूलक के अनुकूल पड़ती है।

अन्त में कुछ नवीन रूप प्रकट हो जाते हैं, जैसे 'करोति' जिसमें प्राचीन आदेशार्थ करति और कृणोति निहित है, और एक वर्ग प्रकट हो जाता है, प्रेरणार्थक का यौगिक पूर्ण : गमयाम् चकार।

ब्राह्मण ग्रन्थों में रूप-रचना को सरल बनाने की ओर गति और भी तीव्र हो जाती है। ऐतरेय में, पुरुषवाचक रूपों में आधे से अधिक वर्तमान निश्चयार्थ में प्राप्त होते हैं, भविष्यत् का विस्तार होता ही जाता है, और वह अस्थायी निर्धारण के समीप प्रयुक्त एक यौगिक रूप में बल प्राप्त करता है शतपथ ब्रा० श्वो' हर्‌ भविता।

वर्तमानकालिक विकरणों में से, -य‌अ- ही एक उत्पादन-शक्ति-सपन्न है, अथर्ववेद के समय में इच्छार्थक भी बराबर गति को प्राप्त होते हैं, इसके विपरीत अतिशयार्थक कम होते आते हैं और मध्य तक सीमित रह जाते हैं अभिव्यजक रूप में और उस रूप

मे, जिसका मूल्य अपने को कृत्रिम व्याकरणीय कार्य में परिणत कर देता है, अन्तर देखा जा सकता है।

भूतकाल मे से, अपूर्ण निश्चित रूप मे प्रमुखता धारण कर लेता है सामान्य अतीत साक्षात् उक्ति तक सीमित रह जाता है, जहाँ तक पूर्ण से सबध है, जिसका प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थो मे कम प्रयोग होता था, ऐतरेय के दो भागों मे और शतपथ मे उसका फिर से प्रचुर मात्रा मे प्रयोग होने लगता है, और वह परवर्ती साहित्य मे बना रहता है किन्तु अधिक प्राचीन पाठो से सबधित प्रमाण और उसका अर्थ-विचार-सबधी अभाव (वह अपूर्ण के अर्थ से अपनी विशेषता प्रकट नही करता) यही प्रकट करता है कि वह केवल साहित्यिक प्रयोग के रूप मे ही अधिक रह गया था।

इसके अतिरिक्त वर्तमान मे स्वय अतीत को प्रकट करने की सभावना पायी जाती है, इस शर्त पर कि उसके साथ कुछ ऐसे निपात सम्बद्ध हो जिनमे अपने मे कोई अस्थायी अर्थ न हो, अर्थात् ह, स्म इसके अतिरिक्त वेद मे अतीत के अर्थ मे स्म पुरा का प्रयोग हुआ है।

क्रियार्थ-भेद-सबधी अभिव्यजना सामान्य अतीत मे लगभग और पूर्ण मे बिल्कुल नही है, वर्तमान मे, सशयार्थसूचक बहुत कम मिलता है, किन्तु सभावक की स्पष्ट प्रगति होती है, उदाहरणार्थ, यदि, यंत्र, यदा और यंहि (जिसका वेद मे अभाव मिलता है) द्वारा शुरु हुए वाक्याशो मे ऐसा मिलता है। अतीत के अर्थ मे संभाव्य का विकास होता है।

मध्य का सामान्य प्रयोग होने लगता है। इससे आगे उससे केवल कर्त्ता से सबधित कार्य प्रकट होता है। उसके कारण अर्थ-सबधी विभाजन फिर सामने आता है भजति, भजते, भुनक्ति, भुङ्क्ते, सृजति, सृजते, हवा- जो वेद मे सामान्यत मध्य में प्रयुक्त हुआ है, इस वाच्य मे केवल यह निश्चित करने के लिये अधिक आता है कि ध्वनि कर्त्ता के लिये और उसकी तरफ है। पाणिनि ने यजति, जो बलि का कार्य प्रकट करता है, मे और यजते, जिसका प्रयोग उसके लिये होता है जो बलि करता है, में भेद किया है। मध्य स्वय (सर्वप्रथम उदाहरण अथर्ववेद मे मिलते है) स्वेच्छा से प्रतिबिंबित भाव धारण करता है।

अभावपूर्ण और सामान्य होने के साथ ही, क्रियामूल वर्ग सज्ञाओ से बराबर अधिक स्वतत्र हो गया प्रतीत होता है . नामधातु सख्या मे कम हो जाते हैं। बाद मे उनका अत्यधिक बिस्तार हो जाता है, किंतु उस समय जब कि सस्कृत मृत भाषा हो चुकती है और जब कि धातुओ पर आधारित क्रियामूल रूपो की रचना असंभव हो जाती है।

महाकाव्यों के बाद क्रिया और भी क्षीण हो जाती है, इस बार रूपों के वास्तविक ह्रास द्वारा और उनके प्रयोग की अस्पष्टता द्वारा।

मध्य मे, विकरणयुक्त रूप अधिक प्रमुख हो जाते हैं; भविष्यत् के मध्य प्रत्यय कर्तृवाच्यो मे अधिक पसन्द नही किये जाते। इसके अतिरिक्त नवीन क्रियाएँ अधिक सामान्य रूप मे कर्तृवाच्य मे हैं।

सामान्य रीति से मध्य विशेषत पद्य मे मिलता है, यह एक प्रमुख रूप है : -स्व युक्त आज्ञार्थ अतिरिक्त और परिष्कृत रुचि का है। इसके अतिरिक्त कुछ छंद-सबधी बातें बीच मे आ जाती हैं महा० १ ७६ १४ :

रक्षते दानवांस् तत्र, न स रक्षत्य् अदानवान्;

किन्तु यह स्वयसिद्ध है कि छद-सबधी विचार की प्रमुखता से व्याकरण-सबधी दुर्बलता सकेतित होती है।

सशयार्थसूचक, जो सूत्र-ग्रन्थो मे बहुत कम मिलता है, महाकाव्यो मे मृत हो जाता है। उसमे केवल -आनि युक्त १ एक० का रूप बच रहता है, जो आज्ञार्थ मे मिल जाता है, और आज्ञार्थ के कुछ स्फुट रूप बच रहते हैं जैसे ३ एक० नुदातु और महावस्तु मे गच्छासि, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे, सारनाथ मे अशोक० हुवाति, यदि यह सशयार्थसूचक है तो, निस्सन्देह अन्तिम है जो उद्धृत किया जा सकता है, अथवा यह 'होना' क्रिया है।

आज्ञार्थ से अलग, जो एक क्रियार्थ-भेद बच रहता है, वह आदरार्थ (सभावक) है। आशीर्वादात्मक, जो उससे निकलता है, अविकरणयुक्त आदरार्थ (सभावक) सामान्य अतीत के रूप के अन्तर्गत सामान्य रूप धारण कर लेता है (भूयात्, भूयासम् जो भवेत् से भिन्न है भ्रियात् जो बिभृयात् से भिन्न है, पक्षीष्ट जो पचेत से भिन्न है); उसका प्रार्थना वाला विशेष अर्थ लुप्त हो जाता है और वह किसी भी सभावक के तुल्य हो जाता है, इसके अतिरिक्त आगे वह सर्वोत्तम साहित्य मे सुरक्षित रहेगा। इसके विपरीत सभावक बना रहता है और केवल बाद मे प्रचलित गद्य (वेताल) मे लुप्त हो जाता है, उसके विविध अर्थ हो जाते हैं और अनुमान, इच्छा, क्रम, सभावना भी व्यक्त होती है, जिससे स्वय उसका निश्चयार्थ के साथ परिवर्तन होने की सभावना हो जाती है। किन्तु महत्त्व की रक्षा करने मे, उसकी विविधता मिट जाती है वह केवल वर्तमान मे मिलता है। जहाँ तक सभाव्य से सबध है, वह महाभारत के बाद बहुत कम मिलता है।

इसी प्रकार काल भी परिणत हो जाते है, यद्यपि क्लैसीकल संस्कृत मे अब भी

वर्तमान (अपूर्ण और भविष्यत् सहित) के निकट सामान्य अतीत और पूर्ण की प्रणाली प्राप्त थी।

पूर्ण का समस्त विशेष मूल्य लुप्त हो जाता है, और वैसा ही हो जाता है जैसा कोई अतीत काल हो, केवल एक बात यह है कि व्याकरण के नियम के व्यवहार द्वारा, जिसके अन्तर्गत सामान्य अतीत तक सीमित व्यक्तिगत अनुभव-संबंधी बातों से वह पृथक् हो जाता है, शैलीकार उसका कथोपकथन में प्रयोग नहीं करते। वह एक ऐसा उदात्त रूप है जो केवल परंपरा द्वारा सुरक्षित रहता है। वह केवल कर्तृवाच्य में अधिक जीवित रहता है; और जितने रूप में वह उसमें विद्यमान रहता है, उतना ही -आं चकार युक्त यौगिक रूपों, बाद को (पाणिनि ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया) आस, अन्ततः (महाकाव्यों से पृथक्) बभूव की प्रगति से क्षीणता उसका अनुमान करती है; मूल्य-सहित शब्द तो जरा कम महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी प्रकार सामान्य अतीत का प्राचीन मूल्य केवल कुछ ग्रन्थकारों में मिलता है : ब्राह्मणों के गद्य मे उसको निकट अतीत के स्वय एक सूक्ष्म भेद की तरह बढ़ा दिया जाता है; काव्य मे वह कथोपकथन में प्रयुक्त होता है। किन्तु उनमें कुछ क्रमिक रूप हैं और साधारण सामान्य अतीत निर्देश रहित अतीत व्यक्त करता है। इस शीर्षक का एक काफी सम्पन्न वर्ग है, कम-से-कम वह जिसका संबंध स-भविष्यत् रूपों से है : (-इष्- से अधिक -स्-, इसके विपरीत -सिष्- शक्तिहीन है)। सूत्र-ग्रन्थों और महाकाव्यों मे इन्हें ही विकास प्राप्त होता है; जटिल अथवा जिनमे भ्रम की संभावना थी उन मूल सामान्य अतीत के रूपों के स्थान पर वर्तमान रूपों का प्रयोग करते हुए, उनकी बढ़ती हुई संख्या सामान्य अतीत और वर्तमान के निरन्तर विरोध का प्रतीक है; वैयाकरणों ने -स्- युक्त सामान्य अतीत को सामान्य अतीत का साधारण रूप माना है।

दूसरी ओर अपूर्ण, व्याकरण के नियमों के रहते हुए भी, महाकाव्यों तक में प्रचलित अतीत काल का काम देता है; तत्पश्चात् उसका परिष्करण होता है, निस्संदेह ध्वनि-संबंधी दृष्टि से सामान्य अतीत की अपेक्षा, और शैलीगत मूल्य की दृष्टि से पूर्ण की अपेक्षा, कम विशेषता लिये हुए।

भविष्यत् रूप, जिसका विकास होता है, के लिये वर्तमान है; और इसके अतिरिक्त वर्तमान की उसके साथ प्रतिद्वन्द्विता रहती है, पहले उस समय जब कि निकट भविष्य की तरह व्यवहृत होता है, तत्पश्चात् अन्य प्रयोगों में।

यह वर्तमानकालिक प्रणाली है जिसका प्रभुत्व क्रिया पर छाया रहता है, और वह भी एक साथ रूपों और प्रयोगों द्वारा। अकेले वर्तमान में क्रियार्थ-भेद मिलते हैं : आज्ञार्थ और आदरार्थ (संभावक)। इसके अतिरिक्त व्युत्पन्न रूप भी वर्तमान से

संबंधित हैं; उसमे, जैसा कि देखा जा चुका है, भविष्यत् और विशेषतः कर्मवाच्य, जो एक व्युत्पन्न रूप का विशेषीकरण है, और जो बहुत व्यापकत्व ग्रहण कर लेता है, को उसके साथ जोड़ देना आवश्यक है : वह कर्तृवाच्य के सभी सकर्मक रूपों और साथ ही उनसे बाहर के रूपों (आस्यते प्रकार के अकर्तृक गम्यते और आज्ञार्थ गम्यताम्) के मुक़ाबले में उत्पन्न होता है। सामान्यतः क्रिया वर्तमान के अन्तर्गत रखी जाती है, व्याकरण-संबंधी अध्ययन के इतिहास के प्रारंभ मे, धातु द्वारा विश्लेषण के युग से पूर्व, क्रिया वर्तमान के प्रथम पुरुष एक० द्वारा द्योतित होती है . यास्क ने लिखा है क्रुध्यति-कर्मणा, शवतिर् गतिकर्मा भाप्यते, ह्रस्वो ह्रसते ।

महाकाव्यो से अलग वर्तमान का एक नवीन प्रयोग होने लगता है और एक ओर वह हाल की बातो की अभिव्यक्ति, अथवा (वर्णन करते समय) स्वयं अतीत की अभिव्यक्ति करता है, दूसरी ओर भविष्यत् की, केवल उसी समय नही जब कि उसका संबंध निकट की घटनाओ से होता है, किन्तु सामान्यतः संबंधवाचक वाक्यांशो मे, वह प्रश्न मे, उत्साहार्थ मे, संशयार्थ मे, अनिश्चितता, और निषेधार्थ प्रकट करने के लिये आदरार्थ (संभावक) मे आ सकता है, अन्त मे वे क्रियार्थ-भेद है जिनका 'यथा' और 'येन' के साथ अत्यधिक प्रचार होता है।

रूप की दृष्टि से भी वर्तमान क्रिया पर छाया हुआ मिलता है; सभी क्रियाएँ वर्तमान मे आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं, और ऐसा करने के लिये वे अन्य विकरणो से संबंध स्थापित करती है : प्राचीन काल मे ही सामान्य अतीत के आधार पर अगमत्, करति और तुदति प्रकार की रचना हो गयी थी, वेद मे ही पूर्ण से बराबर बिभेति, जागर्ति प्राप्त होते है, महा० जघनन्त् अपना द्वित्व पूर्ण रूप से ग्रहण करता है; उपनिषदो में वेदते और विदन्ति का प्रयास किया गया मिलता है जिसे सफलता प्राप्त होती है। विपर्यस्त रूप मे वर्तमान अन्य रूपो पर आधारित रहता है, जिससे महाकाव्यो मे -सीदतु', शासुः है, वह आज्ञार्थ पर छा जाता है जब कि -थ, और कभी-कभी -मः-महे गौण प्रत्ययों का स्थान ग्रहण कर लेते है। संयोग से इनका कम प्रचार हुआ, किन्तु जो निस्सन्देह व्याकरण-संबंधी परंपरा से विहीन रहने के कारण अधिक फ़ायदे मे रहे होंगे।

किन्तु जब वह प्राथमिक स्थान ग्रहण करता है, तो नियमबद्धता की दृष्टि से वर्तमान क्षीण हो जाता है।

वैदिक भाषा मे वह विविध विकरणो के आधार पर निर्मित होता है। इनमें से अविकरणयुक्त का लुप्त होना प्रारंभ हो जाता है : मूल विकरण केवल परंपरा के कारण बने रहते हैं; अनिति के अनुकरण पर अनिमः अथवा कुर्मः के अनुकरण पर कुर्मि, इसी प्रकार बूमि की भाँति कुछ आंशिक रूप मे समानता रखने वाले सब रूप अस्थायी हैं;

नये रूपों में से अधिकतर, जिनकी उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता है, विकरणयुक्त हैं; इस प्रकार महाभारत में हैं शास्ति से, अपूर्ण पु० अशासत, आज्ञार्थ शासन्तु; अपूर्ण अहनम्, और अघन् के आधार पर बनते हैं अहनत् और अघ्नम्; उपनिषदों में स्तुते के लिये स्तुवते मिलता है, और प्राचीन रोदिति, और ब्राह्मण-ग्रन्थों के रुदति से भिन्न सूत्रों में रोदति है। अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय वाली क्रियाओं में, रुन्धति तो वैदिक ही है; उपनिषदों में भुञ्जति, युञ्जति, जानति, महाकाव्यों में गृह्णति, अबध्नन्त और मिलते हैं; किन्तु इस अन्तिम क्रिया का अत्यन्त सामान्य रूप है ब्राह्मण० प्रेरणार्थक बन्धयति, भविष्यत् भन्त्स्यति, महाकाव्य भविष्यत् बन्धिष्यति, क्रियार्थक संज्ञा बन्धितुम् और बन्द्धुम्; बौद्ध भाषा में भिन्दति, प्रीणति आदि और मिलते हैं। इसी प्रकार अतिशयार्थक में : ब्राह्मण० लेलायति, सूत्र० सासृजति, महाकाव्य० जाज्वलति, चकमति तथा कुछ अन्य; किन्तु अतिशयार्थक का पूरा वर्ग क्षीणावस्था में मिलता है।

विकरणयुक्त में, -अ-, -य-, -अय- युक्त रचनाएँ निर्माण-शक्ति रखती हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से उनमें गड़बड़ दिखायी देती है : जैसे कारयति करोति के तुल्य है। जहाँ तक इच्छार्थक के वर्ग से संबंध है, सूत्रों के बाद उनमें क्षीणता आ जाती है, उन्हीं में उसके अनियमित रूप ह्रास के चिन्ह प्रकट करते हैं : जैसे इयक्ष्-मेत, तुल० इयक्षते वैदिक (छा०उ० का विवत्-स्यामि शतपथ ब्राह्मण विवत्सामि के स्थान पर है ही); वास्तव में यह ऋग्वेद में अज्ञात इच्छति+क्रियार्थक संज्ञा समुदाय है जो प्राचीन इच्छार्थक का स्थान ग्रहण कर लेता है (इसी प्रकार पाली में धम्म सोतु इच्छामि आदि)।

इस प्रकार क्रिया सामान्यतः वर्तमान को मजबूती से जकड़े हुए है जो स्वय रूपो की विविधता खो बैठता है, वह चाहे विकरणों से संबंधित हो, चाहे क्रियार्थ-भेदों से। इसी प्रकार भविष्यत् का क्रिया-रूप वर्तमान काल की भाँति होता है; इससे प्राचीन व्यक्ति-वाचक रूपों के निकट एक मिश्र योग प्रकट हो जाता है, हन्तास्मि प्रकार का, किन्तु न तो रूप की दृष्टि से और न प्रयोग की दृष्टि से ही यह प्रकार सामान्य प्रयोग बन जाने के लिये काफ़ी दृढ़तापूर्वक अपने को बद्धमूल कर पाता है। जहाँ तक अतीत काल, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता उसके प्रचुर प्रयोग के रहने पर भी उसकी दुर्बलता की निशानी है, से संबंध है, वह अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता जाता है, चाहे ऐसा स्वयं स्म सहित वर्तमान द्वारा हो जो इसी बीच में इस निपात से अलग ही जाता है, चाहे -त- युक्त क्रिया-मूलक विशेषणों द्वारा हो जिनके साथ कभी-कभी क्रिया 'होना' अथवा उत्तम और मध्यम पुरुषों में पुरुषवाचक सर्वनाम रहता है; कृदन्त कर्ता से साम्य रखता है; जब उससे व्यक्त होता है, तो कायवे से कर्ता करण द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योंकि कृदन्त तो नपुं० होता है। -तवन्त्- युक्त कृदन्त का क्रियामूलक प्रयोग अधिक संयमित है। उसमें

एक नवीन तिङ के अंश मिलते हैं जो बाद में, भविष्यत् की भाँति, -य- और -तव्य-युक्त बन्धनसूचक विशेषण के प्रयोग की दृष्टि से आदर्श का काम देता है।

निष्कर्ष स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि हमे एक ऐसी प्रणाली मिलती है जिसमें वर्तमान अतीत काल का विरोध करता दिखायी पडता है; इससे परवर्ती स्थिति की पीठिका तैयार होती है जिसमें अतीत काल का स्थान ग्रहण करने वाले कृदन्तों का विरोध वर्तमान द्वारा होता है।

अन्य समुदाय भी हैं : प्रेरणार्थको का वर्ग, व्युत्पन्न वर्तमान मे से ये ही अकेले हैं जो बच रहते हैं, प्राचीन काल से द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत अतीत काल मे परिगणित किया जाता है। अन्त मे -इ युक्त मध्य सामान्य अतीत की -यते युक्त वर्तमान के साथ निकटता से कर्मवाच्य के निर्माण का पृथक्त्व प्राप्त होता है, कर्मवाच्य जो वास्तव में -त- युक्त क्रियामूलक द्वारा तथा -तव्य-, -य- युक्त क्रियामूलक विशेष्य द्वारा पूर्ण होता है; किन्तु क्योंकि यह प्रणाली स्पष्ट नही होती, उसका ध्वनि-संबधी विकास लगभग पूर्णतः अपरिवर्तनीय रह जाता है; इसी प्रकार क्लैसीकल ग्रन्थकारो का व्याकरण प्राचीन संप्रदायो से अधिक लाभान्वित होता है अपेक्षाकृत भाषा के सबंध मे उनकी अपनी व्यक्तिगत भावनाओ से। ऐसा सस्कृत मे नहीं है, यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में और आधुनिक भारतीय भाषाओ मे ही है कि एक नवीन प्रणाली का निर्माण देखा जाता है, अथवा, उचित रूप में, भारतीय-आर्य भाषा मे बनी प्रथम प्रणाली के निर्माण का।

उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा

पाली में क्रियामूलक रचनाएँ बहुत बनी रहती हैं, और कुछ नवीन विकरण उत्पन्न हो जाते हैं : किन्तु यह वास्तव में पुनःसंगठन की प्रवृत्ति के कारण है। जहाँ तक उस समय की प्रणाली से संबंध है वह सरल हो जाती है : उसमें वर्तमान, भविष्यत् (अथवा संभाव्य) और अपूर्ण तथा अनिश्चित भूतकाल से संबद्ध अतीत काल है। क्रियार्थ-भेदों में, सम्भावार्थसूचक नहीं मिलता; उसके कुछ चिन्ह आज्ञार्थ और आदरार्थ के रूपों में मिलते हैं।

वर्तमान

वाच्यो की प्रणाली में केवल शेष, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य, का विरोध प्रत्ययों मे दृष्टिगोचर नहीं होता, वरन् विकरणो मे होता है। फलतः कर्मवाच्यों में और -यति युक्त क्रियाओं में, जो स्वय संस्कृत में स्वेच्छापूर्वक वास्तविक या भावना-संबंधी स्थिति भी प्रकट करती हैं, कोई अतर नहीं है। फलतः पाली मे हैं नच्चति (वै० नृत्यति), पस्सति (ऋ० पश्यति और अष्टक ९ में पश्यते), कुप्पति (महाकाव्य कुप्यति और कुप्यते) और साथ ही मञ्ञति (मन्यते), बुज्झति; दूसरी ओर वुच्चति (उच्यते), दीयति, पच्चति (पच्यते), लब्भति (लभ्यते), हञ्ञति (हन्यते), कयिरति (क्रियते के लिये *कार्यते)।

व्युत्पन्न क्रियाओ मे पर-प्रत्यय का दीर्घ रूप प्रचलित मिलता है : दिस्सति (दृश्यते) के निकट प्रेरणार्थक दस्सेति (दर्शयति) का कर्मवाच्य में है दस्सियति; इसी प्रकार भाजियति (भाज्यते), मारियति, पूजियति; उसमे एक भारोपीय और वैदिक लयात्मक नियम मिलता है, जिसके प्रमाण विशेषत. नामजात पर-प्रत्यय के आधार पर मिलते हैं (मेइए, 'इन्ट्रोडक्शन', पृ० २४४; आर्नल्ड, 'वैदिक मीटर', पृ० ८५)।

किन्तु पर-प्रत्यय का यह रूप, जिसका लाभ मूल की स्पष्टता की रक्षा करने मे है, व्युत्पन्न क्रियाओं में कोई विशेष बात नहीं है। वह साधारण क्रियाओं में पाया जाता है, और उसी नियम के अनुसार उसका विभाजन हो जाता है : एक ओर पुच्छियति (पृच्छ्यते), युञ्जियति, दूसरी ओर विज्जति, (विद्यते), युज्जति (युज्यते)। लयात्मक परिवर्तन-क्रम के कारण भी हीरति (ह्रियते) के निकट हरीयति के दीर्घ स्वर की गणना

की जाती है; अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो सादृश्यमूलक पतीयति है, जो पतति से सम्बद्ध पातेति का कर्मवाच्य है; तुल० अशोक० वु(चू)चति, हु(उ)अति के निकट, एक ओर खादियति, नील(क्)खियति और दूसरी ओर गनीयति। वैयाकरणों के आधार पर परीक्षा करने से दीर्घ स्वर वाला रूप सर्वत्र वैध हो जाता है।

विकरणयुक्त रूप के सामान्यीकरण से उत्पन्न एक प्रधान लाभ यह भी हुआ कि मूल निश्चित हो गया। विकरणयुक्त रूप का संस्कृत में सूत्रपात हो ही चुका था। सुत्तनिपात में प्रयोग हुआ है हन्नि का; किन्तु उसका आदरार्थ (संभावक) है हनेय्य, जो हनति के अनुकूल है। संहिताओं के पश्चात् प्राचीन संशयार्थसूचक वर्तमान हो जाता है; इसी प्रकार संस्कृत महाकाव्यों की भाँति पाली में पाया जाता है रोदति, रुवति; आसति ब्राह्मण-ग्रन्थों के आसते(आस्ते) के अनुकूल है, लेहति महाकाव्य के लिहति(लेढि) के, पाली में सामान्य अतीत के आधार पर निर्मित घसति और मिलता है, और अन्य की अपेक्षा अच्छे रूप में मिलता है। द्वित्व-युक्त वाली क्रियाओं में, ददामि में ददाम निहित रहता है, जिसमें आज्ञार्थ दद आदरार्थ (ददे) जो दज्जा के निकट है, धा- से ऋग्वेद में अदधते नि सृत होता ही है, जिससे फिर महाकाव्य० दधति और पा० दहति जो दहाति से अधिक प्रचलित है, आदरार्थ विदहे, सद्हेय्यु, अशोक० ३ बहु० उपदहेवु निकलते है, जहाँ तक जगाति से संबंध है, वह सूत्रों के जाग्रति से साम्य रखता है। -नाति युक्त क्रियाओं में प्राय -न युक्त आज्ञार्थ रहता है : पापुण, जिन, सुण; गण्हातु के निकट गण्हतु, अशोक० गहिनेवु मिलता है, स्वयं निश्चयार्थ में, जानाति से भिन्न जानति, बहु० जानरे मिलता है।

प्रेरणार्थक के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ग (धातु के आधार पर निर्मित; छेदेति, खावयति, अथवा वर्तमान पर आधारित नच्चेति, लग्गेति, बुज्झापेति) और साथ ही नामधातु के महत्त्वपूर्ण वर्ग में एक ही पर-प्रत्यय के दो ध्वनि-संबंधी रूप मिलते हैं : वादयति और वादेति और मूल स्वर की लयात्मक विविधता सहित नमयन्ति, किन्तु पणामेति, और विपर्यस्त रूप में दापेति, किन्तु समादपेति। वे अशोक में भी बराबर मिलते हैं : गिरनार में है पूजयति, व(ड्)ढयति, आ(ज्)ञपयामि, अन्य अभिलेखों में है, पूजेति, व(ड्)ढेति, अनपेमि। यह अन्तिम रूप ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वह उत्तम पुरुष का अन्य (-अयमि, -अयति की भाँति व्यवहृत -अयामि) के साथ सारूप्य स्थापित होने का प्रमाण है जिसका प्रभाव होता है -ए- युक्त मूल का निर्धारित होना।

उसके द्वारा व्युत्पन्न रूप -ई- युक्त क्रियाओं के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, जिनमें अन्य दृष्टिकोणों से परिवर्तन-क्रमों को दबाकर प्राचीन अविकरणयुक्त उनमें अपने मूल जोड़ देते हैं : एति, एन्ति, एहि; सेति (शेते), सेन्ति; उनका नेति, नेमि, (नयति) का

एक छोटा-सा वर्ग बन जाता है, जो एमि, एहि से बल प्राप्त करते हुए देहि के अनुकरण पर बने देमि को अपनी ओर आकृष्ट करता है; जेमि (जो जिनाति के निकट है), आदरार्थ जेय्यं (जयेय्यं)।

इन -ए- युक्त क्रियाओं के सदृश कुछ -ओ- युक्त क्रियाएँ हैं और प्रथमतः होति, होन्ति, होमि जो भव, भवेय्यं और भवि० हेस्सति, हेहिति, जिससे सामान्य अतीत अहेसुं है, के निकट हैं; तत्पश्चात् करोमि : करोन्ति तथा -नु- युक्त प्राचीन क्रियाएँ : सुणोमि, सुणोम, आज्ञार्थ सुणोहि; सक्कोमि, सक्कोति : सक्कोम, सक्कोन्ति (उसका सक्कति कर्मवाच्य है, सं० शक्यते); पप्पोमि, पप्पोन्ति, अशोक० आदरार्थ पापोवा (पा० पप्पुय्य), क्रियार्थक संज्ञा पापोतवे।

यह सामान्यीकरण मध्यवर्ती-प्रत्यय-युक्त शब्दांश का समर्थन करता है : -ना- युक्त वर्ग इस प्रकार स्थापित करता है जानामि : जानाम, जानाहि, वह कुछ -नो- युक्त प्राचीन क्रियाओं को आत्मसात् कर लेता है : सुणामि, धुनाम, पापुणाति जिसका प्रयोग अशोक ने किया है, पहिणति, और उसमें नवीन रूप मिला लेता है : मा- से मिनाति, मन्- से मुनाति, वायति के समीप विनाति, क्रियार्थक संज्ञा वेतुं, जेति के निकट जिनाति, सभोति से भिन्न सभुणाति।

क्रिया 'होना' सब रूपों में मूल स्वर को बनाये रहती है : अत्थि : अम्ह, आदरार्थ एक० १ अस्सं जो सिय के निकट है, २ और ३ अस्स जो ३ सिय आदि के निकट है।

अन्ततः ध्यान दीजिए दम्मि, कुम्मि की ओर जो स० महाकाव्य दद्मि, कुर्मि द्वारा प्रमाणित होते हैं जिनमें एकवचन, सामान्य प्रणाली के विपरीत, बहु० के अनुकरण पर पुनर्निर्मित होता है।

इन सब सुधारों का परिणाम एक निश्चित प्राचीन विकरणयुक्त की अपेक्षा अधिक निश्चित वाली क्रियाओं का अत्यधिक मात्रा में हो जाना है।

भविष्यत्

कुछ ऐसी क्रियाएँ रह जाती हैं जिनमें पर-प्रत्यय धातु से सबद्ध होता है और जिसका अन्त तालव्य में होता है : मोक्खति (मोक्ष्यति), वक्खति (वक्ष्यति), मोक्खं (मोक्ष्यामि), कण्ठ्य में होता है : सक्खति (शक्ष्यति), अथवा दन्त्य में होता है : छेच्छति (छेत्स्यति), वच्छति (वत्स्यति)। इन रूपों ने उन क्रियाओं के लिये आदर्श का काम दिया प्रतीत होता है जिनमें धातु के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है: अशोक० कर्- से कच्छति, पा० हञ्छामि, हन्- से हञ्छति। किन्तु वे स्पष्ट नहीं थे : दक्खति और दक्खिति, जो सं० द्रक्ष्यति का प्रतिनिधित्व करते हैं, कुछ वर्तमान रूपों की अपने अतीत

काल के प्रति विपरीतता की भाँति, सामान्य अतीत अदक्खि (अद्राक्षीत्) के मुकाबले में आते हैं; और वास्तव में वे वर्तमान का भाव ग्रहण कर लेते हैं; स्पष्ट पर-प्रत्यय सहित भविष्यत् के कारण बताये जाते हैं, दक्खिस्सति, और इसी प्रकार सक्खिस्सति; फलत: सबंध गच्छति . गच्छिस्सति के तुल्य है।

स्वर के बाद पर-प्रत्यय स्पष्ट रहता है : दा- से दस्सति, पा- से पास्सति और पिस्सति (पिविस्सति के साथ मिश्रण द्वारा), श्रु- से सोस्सति, इ- से एस्सति, जि- से जेस्सति, हेस्सति सीधा भविष्यति से आया हुआ है; किन्तु वर्तमान के आधार पर पुनर्निर्मित होता है अनुभोस्सति, अशोक० होस्सति। इसी प्रकार -ए- युक्त क्रियाओं में, सं० -अय- : कथेस्सति जो संस्कृत कथयिष्यति से निकलता है, पाली की दृष्टि से कथेति और विशेषत. अतीत काल कथेसि का सामान्य भविष्यत् है (इस अन्तिम काल के साथ अधिक विशेष सम्बन्ध इनमे भली भाँति दृष्टिगोचर होता है गहेस्सति, अग्गहेसि जो वर्तमान गण्हाति, स० गृह्णाति, के विपरीत है)।

व्यजनों के बाद अत्यधिक प्रचलित रचना-धातु (गमिस्सति) और विशेषत: वर्तमानकालिक विकरण से सम्बद्ध -इस्सति है . पस्सिस्सति, पुच्छिस्सति, गण्हिस्सति, चङ्कमिस्सति, प्रेरणार्थक बन्धयिस्सति, यह सामान्य भविष्यत् है जो भाष्यो मे ओरों को प्रतिपादित करने का काम करता है ' जैसे जिनिस्ससि, भुञ्जिस्सामि प्रतिपादित करते है जेस्ससि, भोक्ख।

यहाँ, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उनके बने रहने और आधुनिक भाषाओ मे उनके साम्य मिलने के अन्य कारणो मे, किन्तु जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती, दीर्घ मूल की क्रियाओ मे पर-प्रत्यय द्वारा विशेष रूप ग्रहण किये जाने की ओर सकेत किया जा सकता है (पीछे दे०) अशोक० होहन्ति जो होसन्ति के निकट है, दाहन्ति, धौलि० एहथ, जो J (?) एसथ के निकट है, पाली काहसि (जिसमे दीर्घ क्या सामान्य अतीत से आया है ?), हाहसि; इसके अतिरिक्त स्वय इन क्रियाओ मे विकरणयुक्त स्वर प्राय -इ- हो जाता है, पा० पदाहिसि, विहाहिसि, हाहिति, एहिसि, एहिन्ति, होहिन्ति, काहिसि, काहिति, उसी से स्वय करिहिति; इसी प्रकार दक्खिसि, -ति, -न्ति, अशोक ने रूपनाथ और मैसूर मे व(ड्)ढिसिति का प्रयोग किया है, और कालसी मे वधियिसति का। यहाँ सामान्य अतीत के प्रभाव की झलक मिलती है।

संस्कृत की भाँति, भविष्यत् के आधार पर बना है अयथार्थ : अभविस्स, ३ बहु० अभविस्सासु।

अतीत काल

सामान्य अतीत और अपूर्ण पर एक साथ आधारित केवल एक अतीत है। उसमें वैदिक की अपेक्षा आगम अधिक आवश्यक नहीं है। कर्तृवाच्य में वह बना रहता है: १ अगमं २-३ अगमा, बहु० अगमाम -अम्ह, अगमथ -त्थ, अगमुं; एक० १ अदं, २ अदो, अदा, ३ अदा; बहु० १ अदम्ह, २ अदत्थ, ३. अदू, अदुं (दे० अन्यत्र)। मध्य रूप एक प्रकार से अपूर्ण के हैं : बहु० १ अकरम्हसे, २ अमञ्ञत्थ, ३ एक० ३ आयेथ, अभासथ, अमञ्ञरुं, अवोच और अवचं। अप्रचलित प्राचीन रूप : अद्दाँ (अद्राक्), जिससे अद्दं जो जातक ३. ३८०[१] में उसी छन्द में मिलता है जिसमें अद्दसं, अका जो अकर के निकट है, और अकासि।

अधिक सामान्य विशेषता सामान्य अतीत की इ है, उसके पहले शिन्-ध्वनि हो या न हो : एक० ३ अस्सोसि, अशोक० नि(क्)खमि, जिससे अगमि, १ अस्सोस्सिं, अगमि (जैसा ऋ० मे वधीम् है ही, तै० सं० अग्रभीम्), बहु० ३ अस्सोस्सुं, अगमिसु, अगमिंसु। स्पर्श में अन्त हुई मूल वाली कुछ क्रियाओं मे, सामान्य अतीत भविष्यत् के निकट पहुँच जाता है अछेच्छि (अछैत्सीत्), अद्दक्खि (अद्राक्षीत्), जिससे असक्खि (शक्-), अक्कोछि (क्रुश्-), पावेक्खि (विश्-); अधिगच्छिस्सं और अगच्छिसं के बीच उत्तम० एक० मे बन्धन सकोचमय दृष्टिगोचर होता है। किन्तु अतीत कालों का अधिकांश भाग वर्तमान के आधार पर निर्मित हुआ है :

एक० १ अगच्छिसं, अपुच्छिस, परिलेहिसं, अमञ्ञिस्स, भुञ्ज, असुणि, ३ आनयि और आनेसि, इच्छि, अपिवि, हनि; बहु० ३ नच्चिसु, अथवा अनच्चु, अशोक० इच्छिसु, अलोचयिमु, हुसु।

मध्य में, एक० २ पुच्छित्थो, ३ पुच्छित्थ, अशोक० नि(क्)खमि(त्)था, बहु० १ अकरम्हसे में सामान्य अतीत के विकरण हैं; एक० २ अमञ्ञथ, ३ जायथ, अशोक० हुथा (पा० अहोसि), बहु० ३ आमञ्ञरुं, अबज्झरे का संबध अपूर्ण से है।

जहाँ तक पूर्ण से संबंध है उसमें केवल कुछ भग्नावशेष रह जाते हैं : ३ एक० आह, बहु० आहु तथा इस अतिम के समीप आहसु बना भी लिया है (साथ ही महावस्तु); दूसरी ओर विदु (–) है जो वेदि (अवेदीत्) मे बहुवचन का काम देता है।

निश्चयार्थ के प्रत्यय : मध्य, भविष्यत्

जैसा कि देखा जा चुका है, पाली मे कुछ मध्य प्रत्यय बने रहते हैं। ये उन प्रत्ययो के बचे हुए रूप हैं, जो प्रधानत: पद्य-बद्ध पाठों में आते हैं; यह अधिकांशत: एक ऐसी लेखन-संबंधी प्रणाली द्वारा होता है जो आगे दीर्घ स्वर का व्यवहार करने वाली थी;

अथवा इस सुर का कोई भाषा-विज्ञान-सबधी महत्त्व नही है, क्योंकि साहित्यिक मध्य-कालीन भारतीय भाषा मे सभी अन्त्य स्वरो मे दो मात्रा-काल हो सकते हैं, जो कहना चाहिए वास्तव मे सब ह्रस्व थे। तो इससे आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मध्य प्रत्ययों का कोई विशेष महत्त्व न हो। कुछ उदाहरणों मे जैसे एक० २ पुच्छित्थो (जो कहना चाहिए ठीक-ठीक रूप मे आधा कर्तृवाच्य है · -था +-अ > — *थः), ३ पुच्छित्थो, उनमें सदृश रूपो मे अन्तर मिलता है; इसके विपरीत २-३ (अ)पुच्छि, (अ)पुच्छसि अस्पष्ट हैं।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे मध्य के महत्त्व का पूर्ण लोप हाल की चीज हो : गिरनार मे अशोक ने लिखा है दुकर करोति, किन्तु मगल करोते (स्पष्टत. अपनी वास्तविक रुचि के अनुकूल) क्या यह वैपरीत्य केवल किसी सयोग के कारण है ? इसी प्रकार गिरनार मे वहाँ म(ञ्)ञे है जहाँ अन्य सस्करणो मे म(ञ्)ञति है, किन्तु उसमे मूल निश्चयार्थ के कुछ ही रूप है म(ञ्)ञे का सशयार्थसूचक है म(ञ्)ञा, तथा कर्मवाच्य मे, आर(ब्)भरे, भविष्यत् आर(ब्)भिसरे, से भिन्न, सामान्य अतीत आर(ब्)भिसु है।

इससे उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के -र- युक्त प्रत्ययो के समुदाय के विषय मे एक प्रश्न उठता है। यह मध्य रूपो का है, क्योंकि स० -उ मे भारतीय दृष्टिकोण से *-ऋ नही रहता, अथवा -रे सस्कृत मे बहुत कम और पाली मे बहुत प्रचलित है; वर्तमान मे लभरे, खादरे (खादन्ति द्वारा स्पष्ट किया गया), जीयरे जो जीयन्ति और जीरन्ति के निकट है, हञ्ञरे जो हञ्ञन्ते के निकट है, मिय्यरे जो मरन्ति के निकट है, अशोक मे अर(ब्)भिसरे है जो भविष्यत् अधिक है। अपवाद रूप मे यह रूप अतीत काल अबज्झरे मे मिलता है, और दूसरी ओर है अमञ्ञरु, यहाँ, एक प्रकार से जो वैदिक -रन् का अवशिष्ट रूप है, जैसी कि गाइगर की इच्छा है, क्या -रे अन्त्य ३ बहु० सामान्य गौण के अनुकूल नही हो जाता ?

३ एक० और २ बहु० के मध्य प्रत्ययो, स० -त, पा० -थ (अभासथ, अमञ्ञथ) एक जटिल समस्या प्रस्तुत करते हैं और महत्त्वपूर्ण भी क्योंकि उनका सम्बन्ध अत्यधिक व्यवहृत प्रत्ययो से है।

जिनका सबध मध्यम० बहु० से है, उनके लिये यह अनुमान करना आवश्यक है कि प्राथमिक प्रत्ययो का प्राचीन -थ कर्तृवाच्य के गौण प्रत्ययो की ओर झुक गया है, सभवत. आज्ञार्थ लभथ की मध्यस्थता के कारण, और फिर आदरार्थ लभेथ (अशोक० वर्तमान पापुनाथ, आदरार्थ पटिवेदेथ) के कारण; और उसके द्वारा मध्य में, प्रत्यय -ध्व के कठिन होने के कारण (कभी-कभी उसका प्रतिनिधित्व -व्हो द्वारा होता है जिससे

*-पुस्-अ: का अनुमान होता है) । अस्तु, संक्षेप में बहु मध्य पर कर्तृवाच्य की प्रमुखता का एक विशिष्ट उदाहरण हो जाता है।

प्रथम पुरुष एक० तो और भी भली भाँति स्पष्ट नहीं होता : अमात्य, अशोक० आदरार्थ पटिपजेय = पटिपजेय; निश्चयार्थ अशोक० हुथा, किन्तु जनगाट में हुता। २ बहुवचन के प्रत्यय का विशुद्ध यांत्रिक सादृश्य अपने में अपर्याप्त कारण प्रतीत होता है। संस्कृत में -था: मध्यम पुरुष है, जिसका ठीक-ठीक पाली में -थो हो जाता है (मध्यवर्ती *-थ: का सुर -अ. के साथ मिलता है, तुल० अदो, आसदो) । २-३ एक० के गौण प्रत्ययों की प्राय: मिलने वाली निकटता को स्मरण करते हुए (पृथक्त्व है अस्सोसि : -ई: और -ईत्) क्या यह सोचना आवश्यक है कि *-थों, -थो द्वारा (आदरार्थ लभेथो तुल० जो लभिस्ससि द्वारा स्पष्ट होता है, अतीत काल अमञ्ञित्थो), स्थान-च्युत होने से पूर्व प्रथम पुरुष की ओर झुक गया है?

इसके अतिरिक्त अतीत काल मे मध्यम० बहु० अस्सुत्थ, अगमित्थ है, जो सं० अश्रौष्ट, अबोधिष्ट से भिन्न है। तथा मध्य के प्रथम० में, पुच्छित्थ, सूयित्थ प्रकार प्रचुर रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। दन्त्य अप्रत्याशित है।

जिनका संबध बहु० के मध्यम पुरुष से है उनमें फिर भी एक युक्ति-संगत सादृश्य मिलता है : -म्ह भली भाँति -स्म और -ष्म का बराबर प्रतिनिधित्व करता है; सबसे कुछ प्राथमिक रूपो का अस्तित्व प्राप्त हुआ है, विशेषत: क्रिया "होना" का भूतकालिक कृदन्तो के साथ संबद्ध होना पाया जाता है, उदाहरणार्थ, आगत्'अत्थ, *आगत्'अम्ह।

प्रथम० एक० मे, मूर्द्धन्य, जिसकी आशा की जाती है, एक बार अशोक सोपरा में प्रमाणित होता है (निख्मिठ, पढने मे निखमिट्ठ ?), अन्यत्र वढिया आदि। शुलनुका के अभिलेख मे कमयिथ है; फलत यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ स्थान-परिवर्तन इधर हाल का है। वह -थ प्रथम एक० की रचना पर निर्भर रहता है।

यदि -म्ह वर्तमान द्वारा स्पष्ट हो जाता है, तो यह और भी अधिक प्रमुख रूप में देखा जाता है कि किस प्रकार स्वयं वर्तमान में १ बहु० लभम्हे (दूसरी ओर मध्यम बहु० लभव्हे पर आधारित) निर्मित होता है, दोनों दुर्लभ प्रत्ययों को कहना ठीक होगा, लभामसे और लभाम्हसे, तुल० अस्मसे, अम्हसे, की भाँति ही।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य पर कर्तृवाच्य-रूपों का प्रभाव रहा हो, और साथ ही गौण रूपों पर प्राथमिक रूपों का।

इस दूसरी बात के कारण भविष्यत् की कुछ विशेषताओं की गणना की जा सकती है : सोस्सामि और सुस्सं (श्रु-), वच्छामि और वच्छं (वस्-); अशोक गिरनार लिखापयिसं, अन्यत्र लेखापेसामि, बहु० कषं (पा० कासं), कालसी कछामि। वाकरनागेल

ने यह बताया है कि अशोक० मा पलि(बृ)म(स्)सवि(स्)सं जो भ्रंस् से है, भवि-ष्यत् और आदेशार्थ है। यह देखा जा चुका है कि सामान्य अतीत -इस्सं और -इस्सम् मे कितनी अनिश्चितता है।

विपर्यस्त रूप मे उत्तम० बहु० का कर्तृवाच्य के साथ योग से बना प्रत्यय गौण रूप के विस्तार द्वारा अपने को स्पष्ट करता है, -मो, -म. के सूक्ष्म रूप में सामान्य परि-णाम, आदरार्थ के लिये नवीन रचना, -मु प्राप्त करने के लिये; इसके विपरीत -थ का मध्यम पुरुष के -थ के साथ सुर मिल गया था, इसके अतिरिक्त उसमें प्रथम बहु० के प्रत्ययो को छोडकर अन्य सभी प्रत्ययो के साथ संक्षिप्ति द्वारा रखे जाने का लाभ था।

इस प्रकार उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा में, क्रिया के व्याकरण-संबंधी वर्गों की संख्या घटाने के प्रयास के कारण, विकरणों और प्रत्ययों की प्रचुरता मिलने लगती है। अपने प्रयोग के आधार पर समुदाय मे वे सरल होने की प्रवृत्ति प्रकट तो करते है, किन्तु नयी-नयी रचनाओ को ओर भी, जिनका कारण कभी-कभी समझ में नही आता। यह भी पाया जाता है कि सरल किये जाने का प्रयास उन क्रियार्थ-भेदों के इतिहास मे उपलब्ध दुरूहताओं की सीमा पर पहुँच जाता है जो मध्यकालीन भारतीय भाषा मे शेष रह जाते हैं, अर्थात् आज्ञार्थ और आदरार्थ।

आज्ञार्थ

-थ के मध्यम० बहु० कर्तृवाच्य और २ बहु० मध्य -व्हो के सबध मे तो बताया ही जा चुका है। मध्यम० एक० मे, अविकरणयुक्तो का प्रत्यय अपने को बनाये रखता है और विस्तृत करता है : ब्रूहि, देहि, अक्खाहि, किन्तु जीव के निकट जीवाहि भी, गण्ह के निकट उग्गण्हाहि, सुणाहि और सुण के निकट सुणोहि (वैदिक० श्रृणुहि, स० श्रृणु), करोहि, तुम्साहि। इसके अतिरिक्त -स्सु बहुत प्रचलित है, यह सस्कृत मे सामान्यत. मिलने वाले -स्व का स्थानापन्न है, व्यवहार चाहे तो ध्वनि-सबधी रूप मे विचारणीय हो सकता है, चाहे -तु, -न्तु युक्त प्रथम पुरुषो के प्रभाव के रूप मे हो सकता है, पुच्छस्सु, मुच्चस्सु, जहस्सु, साथ ही मिलता है १ बहु० पप्पो, जो पापुणेय्याम द्वारा विवेचित है। आदरार्थ के स्वय अन्त्य के लिये, इसके बाद देखिए।

आदरार्थ

अन्य गौण रचनाओं की भाँति, मध्यम० और प्रथम० एक० के प्रत्ययों में अन्त्य व्यजनो के लोप के बाद गड़बड हो जाती है दज्जा, जो प्रथम पुरुष से सम्बद्ध रहा आता है, मध्यम० मे भी व्यवहृत हुआ है। उससे प्राचीन संशयार्थसूचक के साथ योग होता है (जिसके कुछ स्फुट उदाहरण बच रहे हैं, जैसे गरहासि, भवाथ वास्तव में मध्यम

पुरुष में है) जिससे फिर एक० के लिये एक लिङ्ग प्राप्त होता है १ दज्जं, १ दज्जासि, ३ दज्जा। इसी प्रकार विकरणयुक्तों मे २-३ लभे, जो लभेय, लभेयु, (अशोक० में प्राप्त, रूपों का प्रकार) के प्रभावान्तर्गत लभेयाँ में व्याप्ति को प्राप्त होता है, तत्पश्चात् पाली में [संभवतः दज्जं, दज्जु का (दो दीर्घ शब्दांशों का) छान्दिक चरण प्राप्त करने के लिये] *लभेय्यां रूप के अन्तर्गत दृढ हो जाता है, अंत में जो २ लभेय्यासि प्रदान करता है जिससे हैं १ लभेय्यामि और लभेय्याति; और इसी प्रकार बहु० में १ लभेय्याम, २ लभेय्याथ जो लभेथ के निकट है और जिसे -एति युक्त क्रियाओं के, विशेषतः प्रेरणार्थक के, वर्तमान रूपो के साथ सुर मिलाने में असुविधा हुई।

यह प्रणाली सामान्यीकरण के एक वर्ग से निकलती है; किन्तु अशोक की कृपा से यह ज्ञात हो जाता है कि इतिहास अधिक दुरूह रहा है और उसमें अपरिपक्व अयौगिक रूप दृष्टिगोचर होते हैं; उसमें कुछ रूप ये १ एक० -एहं जो -ए(अ)हं है; पाली मे कुछ रूप लभेय्याहं प्रकार हैं जो उसी सिद्धान्त पर निर्मित होते हैं, बहु० में लभेय्यामु; इसी प्रकार मध्य में वरेय्याहे। प्रथम० बहु० मे अशोक में आलचयेवु है, जो -येयु का ध्वनि-संबंधी रूपान्तर है, और साथ ही नीखमावु है जो अब भी संशयार्थसूचक के साथ मिश्रण का प्रभाव है। गिरनार में और भी मध्य हैं : सुसुंसेर जो प्राचीन है और लुणारु जो संशयार्थसूचक है अथवा आज्ञार्थ।

पाली क्रिया परस्पर- विरोधी बातों का प्रमाण है : एक तो प्रणाली के सरलीकरण की ओर, और जो परंपरागत दुरूहताओं का अंत प्राप्त नहीं कर पाती, विशेषतः सामान्यीकरण के लिये प्रयास से कुछ नवीन रूप आ जाते हैं, दूसरी, साहित्यिक मूल है, जो प्राचीनता-प्रिय है; तथा यह कह देना आवश्यक है कि हम यह बता सकने मे असमर्थ हैं कि अनेक रूप, जो स्वयं नवीन हैं, कहाँ तक संस्कृत व्याकरण के अनुकूल नहीं हैं।

प्राकृत

प्राकृतो की विशेषता अतीत काल का ह्रास है। जैन प्राकृत से बाहर केवल आसि मिलता है, जैन प्राकृत मे आसि, अव्वाबी, अभू और होत्था तथा कुछ अन्य रूप मिलते है जैसे (अ)कासि, वयासि बहु० मे कुछ सज्ञाओ के साथ प्रयुक्त होते है, विपर्यस्त रूप मे पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ, प्रथम० मे और साथ ही एकवचन के उत्तम० मे करिसु, आहु ३ ए.क० तथा बहु० के निकट मिलते है जैसे पाली मे आहमु जो १ और ३ एक० मे समान है। -इत्था युक्त प्रत्यय (प्रेरणार्थक मे -एत्थ) मध्यम और प्रथम पुरुष मे मिलते हैं। इसी प्रकार पिशेल का कथन है कि अच्छे, अब्भे (-छिद् और -भिद् से) का प्रयोग आदरार्थ की भाँति हुआ है।

तो अब केवल वर्तमान (आज्ञार्थ और आदरार्थ सहित) और भविष्यत् का सबध और शेष रह जाता है, इसमे यह प्रणाली पाली की प्रणाली के निकट बनी रहती है।

वर्तमान के विकरणो की रचना एकाधिक है, किन्तु क्योकि उसके क्रियार्थ-भेद महत्त्वपूर्ण नही रहे, इसलिए, उन्हे छोडकर जिनका संबध प्रेरणार्थक और कर्मवाच्य से रहा, उनके सबध मे रुकना निरर्थक है।

प्रेरणार्थक का निर्माण -ए (स०-अय) से युक्त होता है . हासेइ, किन्तु विशेषतः -वे- से युक्त (स० -पय-) और यह, निस्सदेह धातुओ से निकलता है : ठावेइ (स्थापयति) की भाँति हसावेइ, जाणावेइ (वर्तमान के विकरण पर निर्मित) और साथ ही जाणवेइ, ठवेइ।

कर्मवाच्य का सामान्य साक्षी है, -ईय, हो सकता है -इज्ज- -इ(य्)य- से निकला हो, वर्तमान के विकरणो के साथ उदारतापूर्वक जोडे गये हैं · धरिज्जै, सुणिज्जै (श्रु), पुच्छिज्जै (पृछ्-) और इसी प्रकार दिज्जै (दीयते), पिज्जै। कुछ सबल रूप हैं : दिस्सै, दीसै (दृश्यते), मुच्चै (मुच्यते), गम्मै (गम्यते) ; इस बात का भेद करना कठिन है कि कौन से सामान्य थे और किन्हे ग्रन्थकारो ने सस्कृत के अनुकरण पर बना लिया था।

वर्तमान की रूप-रचना मे कुछ ध्वनि-संबंधी नवीनताएँ हैं : २ बहु० वट्टह; १ एक० वट्टेमि जो वट्टामि (वैयाकरणो को ज्ञात; क्लैसीकल प्राकृत के लिये, न कि पाठों मे) के निकट है। किन्तु इसके अतिरिक्त बहुवचन के उत्तम० में, विशेषतः पद्य में, -म जैसे पाली मे (और निय मे प्रेषिशाम), और -म्हु पाया जाता है (और साथ ही एक०

में -म्हि। तुल० क्रिया "होना" १ एक० म्हि १ बहु० म्ह, म्हो; और जैन में मि, मो) : किन्तु प्रचलित रूप है मो अथवा -मु, जिसका सूक्ष्म रूप है, तथा स्वभावतः वास्तविकता के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त विकरणयुक्त स्वर का प्रायः स्थान ग्रहण कर लिया जाता है -इ द्वारा जाणिमो, वन्दिमो, हसिमो, लिहिमो; इसी प्रकार एकवचन में, किन्तु कभी-कभी, जानिमि; यह सन्देहात्मक है कि द्व्यक्षरात्मक धातुओं के संस्कृत क्रिया-रूपों में से एक शेष रहा हो, ब्रवीमि तो पाली से है जिसका स्थान बूमि ने ग्रहण कर लिया है; यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि किस प्रकार -इ युक्त सामान्य अतीत अथवा -इति युक्त भविष्यत् रूप हुए; इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि यह बात प्रथम पुरुष तक ही सीमित रखी जाय, तो ध्वनि-संबंधी क्रम की व्याख्या आवश्यक होगी।

जहाँ तक मध्य प्रत्ययों से संबंध है, वे हैं (प्रथम० बहु० -न्ते और -इरे में); किन्तु स्वयं वैयाकरणों में ही तिङ पूर्ण नहीं है, और जो कुछ निश्चित रूप से ज्ञात है वह यह है कि ये कुछ भाषा-विज्ञान-संबंधी महत्त्व से हीन रूप हैं।

आज्ञार्थ २ एक० में तीन प्रत्यय हैं जो पाली के प्रत्ययों से साम्य रखते हैं : रक्ख, भणाहि, रक्खसु। जिसका संबंध अन्तिम से है, वह क्या वर्तमान (रक्खसि) के लय के अनुकूल बनाया गया पाली -स्सु है? अथवा इसके विपरीत क्या वह यहाँ मूल प्रत्यय नहीं है : एक ओर -नु के अनुकरण पर -मु, तथा दूसरी ओर -सि, -ति? यहाँ यह पूछने का लोभ हो सकता है कि यह कहीं पाली-स्सु -सु के पुनःसंस्कृतीकरण के प्रयास के रूप में तो नहीं है।

आदरार्थ में कभी-कभी यह प्रत्यय मिल जाता है : करेज्जासु जो करेज्जामि आदि के साथ चलने वाले करेंजासि के निकट है। प्राकृत वास्तव में एक ओर तो कुप्पे आदि का प्रयोग छोड़ देती है, दूसरी ओर सिया, सक्का, कुज्जा (कुर्यात्) और उसके अनुकरण पर देज्जा, होज्जा; जिससे योग द्वारा, जीवेज्जा, कुप्पेज्जा आदि।

किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उत्तम० का अनुनासिक प्रायः नहीं मिलता, जिससे कि एक० के उत्तम और प्रथम पुरुष समान हैं; इसके अतिरिक्त इस विचित्र रूप में प्रथम बहु० का भाव है; भवेयुः के लिये भवे, आगच्छेयुः के लिये आगच्छेज्जा। यहाँ तक कि आदरार्थ वास्तव में बहुत क्रिया-रूप ग्रहण नहीं करता।

इसके विपरीत भविष्यत् के रूप प्रचुर और अत्यन्त विविध हैं। वे सब-के-सब वही रहे आते हैं जो पाली के हैं; -इहिसि, -इहि(द्)इ, जिससे -इहीं है, प्रकार के विस्तार का उल्लेख करना यथेष्ट होगा : फलतः मिलते हैं गमिस्सं (विशेषतः क्लैसी-कल), गमिस्सामि (जैन : दुर्लभ), गच्छं (जैन) और गच्छिहिमि। वैयाकरण गच्छिहित्था प्रकार के २ बहु० रूप का जो सामान्य अतीत से आया प्रतीत

होता है, और १ बहु० गच्छिहिस्सा, अस्पष्ट और अप्रचलित, का उल्लेख करते हैं।

अस्तु, प्राकृत की वर्तमान और भविष्यत् की तालिका पाली से मूलतः भिन्न नहीं है, विशेषत यदि यह बात ध्यान मे रखी जाय कि रूपो की वृद्धि साहित्य की अवधि और विविधता के कारण होनी ही चाहिए, और निस्सन्देह ग्रन्थकारो और वैयाकरणों की रचनात्मक कल्पना द्वारा भी। इसके विपरीत प्रमुख बात जीवित रहने योग्य अतीत काल का अभाव है। विकास की यही स्थिति है जिसमें भूत अपने को कृदन्त द्वारा प्रकट करता है, स्वच्छन्दतापूर्वक और अन्य रूपो का स्थान ग्रहण कर नहीं, वरन् सामान्य और विशिष्ट रूप मे।

नव्य-भारतीय भाषाएँ

क्रिया-रूप, रूप-विचार, जिसमें वह भली भाँति प्रदर्शित होता है, का एक अंग है, तो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा भारतीय आर्य-समुदाय के केवल एक अंश का प्रतिनिधित्व करती है, एक सामान्य अनुपात में खास भारत की भाषाओं में मिलने वाले अस्पष्ट रूपों से अलग, दर्द समुदाय के कुछ तथ्य यह प्रकट करते हैं कि सामान्य अनुरूपता स्वतंत्र विकासों को असंभव नहीं मानती। जहाँ तक ज्ञात है, उसके व्याकरण की सामान्य बातें वही हैं जो अन्यत्र मिलती हैं, और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश भेद स्थानीय उच्चारण के कारण अथवा शब्दावली (सहायक -स्त्) के कारण हैं, अथवा, यदि फारसी या अफगानी (-ऑन् युक्त वर्तमानकालिक कृदन्त ?) से उधार लिये गये शब्दो के कारण नही, तो ईरानी बोलियो के समीपवर्ती भाषा-रेखाओं के अस्तित्व के कारण (-इक् युक्त क्रियार्थक सज्ञाओ; सबधवाचक सर्वनामों का प्रयोग) हैं। किन्तु रूप-रचना मे कुछ विशेष प्राचीन अप्रचलित रूप बने रहते हैं और जिन्हें साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा पूर्ण उपेक्षा की दृष्टि से देखती है : सबसे अधिक निश्चित तो है उत्तम० बहु० वैदिक -आमसि के दीर्घ प्रत्यय का जीवित रहना (स् का तालव्य-भाव देखा जा सकता है) .

कती अस्अंमिसें, अश्कुन सेमिशें, प्रशुन एसेम्सें-ओ, पशाई बोली इनमस् "हम हैं", कलाश दक्षिणी करिमिशें।

वैदिक २ बहु० -अथन के कती -एंर्, प्रशुन -एन्-ओ, वैगेलि -एँ मे बने रहने का अनुमान किया जाता है, तथा उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा से बहिष्कृत स० दधि का खोवार देत् मे बने रहने का भी अनुमान किया जाता है, किन्तु यहाँ स० तावत् और तथा की भाँति सम्बद्ध निपातो की सभावना रखना आवश्यक है, तुल० पु० कश० ता, तो, आधु० तव्, हि० तो, जिप्सी-भाषा त।

सबसे अधिक आश्चर्यजनक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग, यदि वह प्रमाणित हो जाय, तो कलाश और खोवार मे अतीत काल के आगम का अस्तित्व है · खोवार सैर्, कलाश सिंउका विरोध : खोवार ओर्सोइ, कलाश अर्शिस् और खोवार बोम् का · ओबेतम्, कलाश पिम् : अपीस् वास्तव में ध्यान आकृष्ट करने वाला है : किन्तु इन भाषाओं के प्रत्ययो की तुलना से यह प्रकट होता है कि वे प्राय. सहायक क्रियाओं द्वारा निर्मित हैं,

निस्सन्देह क्रियामूलक विशेष्य अथवा कृदन्तो से नि सृत, तो ऐसा गौण रचनाओं के सबंध में हो सकना है, न कि सस्कृत के आगम वाले रूपों के जारी रहने के संबंध में। अशोक में क्रिया "होना" में ये रूप केवल मुश्किल से मिलते हैं, पाली मे आगम का प्रयोग अपेक्षाकृत सक्षिप्त रूपो मे ही हुआ (अगा, अगमा), किन्तु अ-धार्मिक साहित्य में से वह लुप्त हो जाता है, आधुनिक भारतीय भाषाओ मे, अकेली आसि सहायक-क्रिया चिन्ह के रूप मे रह जाती है।

नव्य-भारतीय प्रणाली रूपो के दो समुदायो के विरोध पर आधारित है एक तो वास्तव मे क्रियामूलक समुदाय है, जो वर्तमान निश्चयार्थ को जारी रखता है, और कुछ हद तक प्राकृत भविष्यत् और आज्ञार्थ को, एक समुदाय मे नामजात रूप मिलते हैं जो न्यूनाधिक आदि रूपो के साथ सबद्ध हो जाते है या उनमे मिल जाते हैं ये रूप कर्तृ-वाची सज्ञा के हैं, उदाह० सिंहली मे, किन्तु प्रधानत वर्तमानकालिक कृदन्तो, भविष्यत् भूत के। इन भूतकालिक कृदन्तो के विकरण निश्चयार्थ के वर्तमान के साथ समान हैं या नही, इसके आधार पर ही क्रियाओ के एक या दो विकरण होते हैं, वर्तमान की रचना सिद्धान्तत कर्तृवाच्य होने के कारण, और भूतकालिक कृदन्त की कर्मवाच्य होने के कारण, पृथक् होने की दृष्टि से क्रिया का दुहरा कार्य है, वैसा ही जब कि दोनों रूपो के लिये विकरण विचित्र होते हैं।

विकरण

स-भविष्यत्, जहां कही भी यह मिलता है, और आज्ञार्थ के वर्तमान के विकरण के आधार पर निर्मित होने के कारण, की रचना पर विचार करना यथेष्ट होगा।

नव्य-भारतीय की दृष्टि से, मूल विकरण विचित्र प्रकार के है, यह जैसे शब्द-व्युत्पत्ति का विशुद्ध कार्य है वैसे ही उन वर्गों के भेद करने का जिनसे उदाहरणार्थ निकलते हैं हिं० जा- (याति), खा-(खादति), हो-(भवति), सो-(स्वपिति), कूद-(कुर्दति), पूछ्- (पृच्छति), कर्-(करोति), उठ्-(उत्तिष्ठति), गण्-(गणयति), पी-(पिबति), जाग्-(जागर्ति), छिन्-(छिनत्ति), जान्-(जानाति), सुन्-(शृणोति), नाच्-(नृत्यति), उपज्- (उत्पद्यते), सक्-(शक्यते) आदि, हाल की नामधातुओ की गणना किये बिना।

कुछ भाषाओं द्वारा भूतकालिक कृदन्तो से लिये गये ऐसे विकरणो की ओर सकेत करना सुविधाजनक होगा, जिनकी सस्कृत मे सज्ञाओ की भाँति गणना की जा सकती है, जिनसे दो रचनाओ की तुल्यता है, न केवल कुछ सकर्मक मे जैसे हिं० बैस्- और बैठ् (उपविशति, उपविष्ट-), किन्तु नूरी के सबध मे बग्-, वेल्श जिप्सी-भाषा फग्-, गु० भाग्-(भग्न-) जो ग्रीक जिप्सी-भाषा फनग्, गु० मानग्- से भिन्न है, प्रा० मुक्क-, मुष्-

कृदन्त से निकलते हैं प० मुक्क्-, संभवतः कती, वैगेलि मुक्- (अश्कुन मुचॅ्- के निकट, मुच्यते से), किन्तु गु० जिप्सी-भाषा मुक्-, म० मुक्-(सिंघी मुञ्ज्-, सं० मुञ्च- से, के निकट) भी। इसी प्रकार प० लद्घ्- से भिन्न गु० लाघ्-, लाध्-, बेल्श जिप्सी-भाषा क्रत् "पाना" का अर्थ प्रकट होता है, अर्थ का विरोध अन्त मे वैसा ही है जैसा कि लभ्यते कर्मवाच्य से निकले म० लाभ्- और नामधातु गु० लाभ्- मे है। तो भी कृदन्तो के कुछ विकरण, कर्मवाच्य के विकरणो से पृथक् नहीं देखे जाते : उदाहरणार्थ, प्रा० लग्गै, लग्ग- स० लग्यते, लग्न- से निकले हैं।

विकरणों के स्वर से नियमित परिवर्तन-क्रम उपलब्ध होते हैं, यह उस समय जब कि प्राचीन सामान्य वर्तमान के निकट कर्मवाच्य के विकरणो अथवा प्रेरणार्थक के विकरणो का सह-अस्तित्व रहता है। व्यजनो के, विशेषत प्रेरणार्थक मे, परिवर्तन-क्रम के भी उदाहरण उसमे देखे जा सकते है। किन्तु ये परिवर्तन-क्रम सामान्य नहीं हैं और कर्मवाच्य और हेतुक बनाने के लिये अधिक अनुकूल और अधिक प्रयुक्त पर-प्रत्यय हैं।

कर्मवाच्य

एक ही क्रिया से सीधे दो विकरण निकल सकते हैं, एक वर्तमान सामान्य कर्तृवाच्य या प्रेरणार्थक को, दूसरे कर्मवाच्य को बताते हुए।

उदाहरणार्थ सिंघी मे हैं :

खाज्-(खाद्यते)	:	खा-(खादति)
छिज्ज्-(छिद्यते)	:	छिन्-(प्रा० छिन्दै)
बुझ्-(बध्यते)	:	बन्ध्-(प्रा० बन्धै)
रझ्-(रध्यते)	:	रन्ध्-(रन्धति)
लभ्-(लभ्यते)	:	लह्-(लभते)
ट्रुट्-(त्रुट्यते)	:	टोड़्-(त्रोटयति)

अन्यत्र भी ये ही युग्म मिलते हैं, उदाहरणार्थ लहदा बज्झ्- बन्न्ह्-, शिना राज्- : रण्-। अन्य हैं, उदाहरणार्थ शिना दज़्- दॅय्-(दह्-), नेपाली लाग्- : लाउ-(लग्-), लहदा, गु० तप्- ल० ता-, गु० हिं० ताप्- : ताव्- (तप्-); लहदा दिस्स्- . दस्स्- जो दृश्-य- : दर्श- के प्राचीन परिवर्तन-क्रम पर आधारित है।

इन सादृश्यमूलक युग्मो से, जो सिन्धी मे काफ़ी पाये जाते हैं (उदाह० डुह् से डुभ्-), अलग इन परिवर्तन-क्रमो ने गौण समुदायो के लिये, जिनमे गुण-रहित मूल अकर्मक और फलतः कर्मवाच्य प्रकट करता है, आदर्श का काम किया है :

हि० लद्ना, लाद्ना (लर्दयति) के अनुकरण पर।
दिख्ना, देख्ना (प्रा० देक्खै) के अनुकरण पर।
फट्ना, फाड्ना (स्फाटयति) के अनुकरण पर।
बन्ध्ना, बान्ध्ना के अनुकरण पर।

क्रियाओ के युग्म नियमित क्रम-माला से नही बनते और किसी भी भाषा मे उनका परिवर्तन-क्रम निरन्तर नही मिलता। इसके अतिरिक्त उनका कोई स्पष्ट अर्थ-विचार-सबधी मूल्य नही है।

कुछ भाषाओ मे कर्मवाच्य के रूपमात्रो के प्रयोग द्वारा सामान्य परिवर्तन-क्रम मिलते है, प्रा० -इउ ऍं अथवा -ईऍ मूल, जिसके बिना सस्कृत का स्वर-सबधी विकार बना रह सकता है, के साथ जुड कर मारवाडी करीज्-, खवीज्-, सिंधी दीज्-, मारिज्-, मार-से जो मर् का प्रेरणार्थक है, जिसमे अकर्तृक मे हलिज्-, और साथ ही, कृदन्त के आधार पर निर्मित, थिज्-, शिना चरिजें-, तपिजें-(कर्मवाच्य के मूल तप्प्- के आधार पर), लहदा पढीए, मरीसा, नेपाली गरीए, चहीँ-दैन, पु० म० करिजे, सेविजे, वेइजे, जाइजे, पु० गु० कहीयै, दीजै, तुलसीदास पूजिअत् अ, पूजिअहि, करिअ और करीजै, पु० ब० करिऐ, करिज्जै और किज्जै। उसके कुछ प्राचीन अप्रचलित प्रयोग रह जाते हैं जैसे म० पाहिजे, म० बगाली पाइए, आज्ञार्थ करिऊ, जाइऊ, प० कि जानिये, गु० जोइये। इन रूपो का सरलतापूर्वक बन्धनसूचक भाव है. तुलसीदास सुनिअ कथा। उससे है नम्र आज्ञार्थ हिन्दी के (देखिये), उत्तरी बगाली के (रा वेक्), कश्मीरी के गुपिजि जो केवल कर्मवाच्य मे वर्तमान हैं जैसे, चाहिये, तुल० वीरभूमि की बगाली मे बचाव की भावना भी आगुने हात् दिये न।

प्रेरणार्थक के कर्मवाच्य, स० -प्यते, से भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं. प० कि जापे, कि जानिये (कि जानाप्यते) प्राचीन है, किन्तु प० सीप्-, जो सी-(सिव्-) से है, सादृश्यमूलक है, और इसी प्रकार सिंधी घे-प्-, जा-प्-[जा(प्)यते] जो जण्- से भिन्न है, पु० म० घे-प्- जो घे-इज्- के निकट है, हारप्-। इन रचनाओ के आधार पर और प्रचलित घेपिज्-, हारपिज्- प्रकार का अनुसरण करते हुए पुर्ननिर्माण किया गया है (दोदेरे, बी० एम० ओ० एस०, IV पृ० ५९)।

अत मे एक दीर्घ स्वर वाला प्रकार है। गुजराती मे नियमित रूप से व्यजन के बाद -आ- है लखा-, और स्वर के बाद -वा- गवा-, जोवा-, तुल० अप० आवइ (आयते); तुलसीदास कहावउ, इसी प्रकार बगाली मे हैं बोला-, बुजा- (गु० बुझा-) (किन्तु हि० बुझ्-)। यह अन्तिम क्रिया पाली मे विज्झायति के रूप मे है (जिसका प्रेरणार्थक रूप है विज्झापेति), किन्तु इससे कुछ ज्ञात नही होता, क्योकि पाली क्रिया का सस्कृत पूर्वरूप

नहीं मिलता; तथा दूसरी ओर -आयति युक्त संस्कृत व्युत्पन्नों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। प्रेरणार्थक रूपों के साथ अनुरूपता ध्यान आकृष्ट करती है, विशेषत यदि कोई कर्मवाच्य की भाँति निर्मित "शक्तिशाली" मराठी के निकट जाय तुकाराम · आह्निं . कैसें कर्-अव्-एल्। इन रचनाओं की कुंजी प्रेरणार्थक और श्रेणीसूचक की तुल्यता होनी चाहिए, जहाँ तक रूप से संबंध है, सादृश्यों का पृथक्त्व, यदि कोई हो तो, मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रदर्शित होना चाहिए।

पर-प्रत्ययों में भाषाएँ सामान्यत उन परिवर्तन-क्रमों को चुनती है जो प्रेरणार्थक के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, अथवा पड्-, खा-, जा- सहित निर्मित अभिव्यंजनाओं में निहित मुहावरे के साथ पहली अभिव्यंजना द्रविड की याद दिलाती है, अन्य दो ईरानी की।

प्रेरणार्थक

अत्यधिक सामान्य गौण रचनाएँ प्रेरणार्थक की है।

संस्कृत में दो प्रकार के प्रेरणार्थक (और नामधातु) थे ·

(१) परिवर्तनीय मूल वाला, प्रेरणार्थक का मूल स्वर गुण से निकला हुआ होने से, अर्थात् संस्कृत स्वर-प्रणाली की दृष्टि में एक अतिरिक्त अ होता है, इसके अतिरिक्त कुछ विविधताएँ होती है · पर-प्रत्यय -अय-।

(२) -आ- युक्त धातुओं में, पर-प्रत्यय -प्- का योग दा-पयति, मा-पयति, इस पर-प्रत्यय का विस्तार अन्य धातुओं तक हो जाता है, सूत्र० के समय से : अश्-आपयति।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में दोनों रूप साथ-साथ जीवित रहते हैं, किन्तु दूसरा अधिकाधिक विस्तार ग्रहण करता है, यहाँ तक कि प्रथम को द्विगुण कर देता है (अशोक सावापयामि) और स्वयं अपने को द्विगुण कर लेता है. अशोक० कृदन्त लिखापापिता जो लिखापिता और लेखापिता के निकट है।

१

पहला नव्य-भारतीय भाषाओं में बना रहता है, किन्तु निश्चित रचनाओं में और एक सीमित, यद्यपि बड़े, क्षेत्र में, सिंहली, काफ़िर, शिना में उसका अभाव प्रतीत होता है; जिप्सी-भाषा के निस्सन्देह विचित्र परिवर्तन-क्रम मेर्-(मर्) मर्-(मारय-) का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि मर्- का अर्थ 'मार डालना' नहीं है, किन्तु "पीटना" है, "मार डालना" होगा मेर-। तोरवाली में कम-से-कम मैय्- सुरक्षित है : मोव्- "मार डालना"; और सादृश्यों के प्राचीन जाल के शेष, चुज् : चूज् का विरोध बना रहता है।

[खोवार मे एक ए- युक्त पर-प्रत्यय है (बिना मूल परिवर्तन-क्रम के) जिसके सबध मे यह नही कहा जा सकता कि वह प्रा० -ए- का प्रतिनिधित्व करता है अथवा काफ़िर मे सामान्य -आ- पर-प्रत्यय के ध्वनि-सबधी रूपान्तर का ›अर्-, ›अरे-, चिच्- : चिचे]।

"प्राकृत" भाषाओ मे एक परिवर्तनीय क्रियाओ का समुदाय है जिसमे व्यंजन रुचि की दृष्टि से अनस्थ (द्रव वर्ण) है (उसमे रहता है -ड्- जो म० -टति का प्रतिनिधित्व करता है और -ट्यते से निकले -ट्- का विरोध करता है) और जिसके शब्द है, एक, प्राचीन कर्मवाच्य पर आधारित अकर्मक, दो, कर्तृवाच्य के अर्थ मे प्रेरणार्थक। उसके विरोधी रूप है

गु०	वळ्-	वाळ्-
म०	पड्-	पाड्-
	मर्-	मार्-
	चर्	चार्-
	नर्-	तार्-
	तुट्-	तोड्-
और भी	दब्-	दाब्-
सिंधी	सड़-	साड़-, बार्-
	पढ-	पाढ़- (और पढा-)
	चिड़-	चेड़- (और चेडा-)
	भुर्-	भोर्-

कश्मीरी के कुछ उदाहरण

लग्-	लाग्- (जिसमे -ग्- ध्वनि-सबधी नही हो सकता)।
डल्-, तर्-	डाल्-, तार्-
मर्-	मार्-

हिन्दी मे रचना मशक्त है

मर्-	मार्-
छुट्-	छोड़-
दब्-	दाब्-
खुल्	खोल्-

कुछ नयी रचनाएँ हैं कत्- मे, त् -त्य- से नही आ सकता, वह कात्- (कर्त्-) से आता है, इसी प्रकार छेद्-, जो स्वय एक सस्कृत शब्द से लिया गया है, के अनुकरण पर

रचनाएँ हैं; विपर्यस्त रूप मे प्रेरणार्थक रेत्- का त् रित्- से आता है जो हिन्दी रीता (रिक्त) के आधार पर बना है; इसी प्रकार मेट्- का ट् मिट्- (मृष्ट) से आया है; देख्- के अनुकरण पर दीख्- दिस्स्- (दृश्यते) का स्थान ग्रहण कर लेता है।

लय अ . आ परिवर्तन-क्रम इ पर प्रमुखता धारण किये हुए है : ए अथवा उ; ओ, कुछ परिवर्तन-क्रम इ है ई, उ : ओ; पीस्- के अनुकरण पर जैसे पिस्-, विपर्यस्त रूप मे लुट्- के अनुकरण पर लूट्-।

बगाली मे कुछ युग्म रह जाते है, किन्तु कभी-कभी अर्थ से विहीन : पड्- : पाड्-, गल्- : गाल्-, किन्तु चल-, चाल्-; सर्-, सार्-; छुट्- : छोड्-।

रूप-रचना वैसी ही है जैसी साधारण क्रियाओ मे।

२

इसके विपरीत स०-आपयति, प्रा०-आवेइ प्रकार बहुत-सा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है और जीवित रहता है मराठी (स्थान के कारण ह्रस्व स्वर सहित) करवि- (रूपांतर करिवि- जो निस्सन्देह एक दूसरे प्रेरणार्थक करे के प्रभावान्तर्गत है), गुजराती लखाव्-, मारवाड़ी उडाव्-, सिंधी तरा-, मवा-, तुलसीदास सुभाव्-, मैथिली लगब्-, बोली लगव्-, पु० बगाली बन्धावए (आव्- बाद को पजाबी, हिन्दी, बगाली मे -आ- का रूप धारण कर लेता है); उड़िया देखाएँ, किन्तु खुआइ, खा- से; नेपाली गराउ-, कश० स्य्-आव्- जो कश्तवारी के स्यावनाव्- के निकट है; इसी प्रकार सिंहली में (कव-, यव-), यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे पेड-, पेडव्-, नूरी जन्- ' जनौ- (दुरूहताएँ, दे० मैकालिस्टर, §१०८), अन्तत दर्द मे : कती पिल्त्-ए और अत्ल्-आ-, पर्सि-ए; अश्कुन आज्ञार्थ उषव- मे उषा- उष्- से था; कलाश नार्से- नसें-।

यह रचना उन ईरानी बोलियो पर लद गयी जो भारत की सीमा पर हैं . अफगानी, वक्सी, यिद्घा, दे० गाइगेर, 'ग्रुड्रिस' II, पृ० २२२, ३२९ (फारसी प्रेरणार्थक -आन्- है, पहलवी और बलोची -ऍन्-)।

तो भी खास भारत मे उसे अन्य पर-प्रत्ययो की प्रतिद्वन्द्विता झेलनी पडती है : प्रथमत -आर्- सिंधी उथार- और दुहरे पर-प्रत्यय सहित खा-रा- (जैसा कि पर-प्रत्यय और मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम के योग द्वारा प्राप्त होता है फिर्- से भिन्न फेरा- जो फेर्- के समीप है, और तीनो एक साथ सेखार् मे मिलते हैं), कश० स्य्- : जेव्^अ^र्- (सामान्य रूप प्राचीन प्रेरणार्थक पर-प्रत्यय की कार्यवाची सज्ञा के साथ सम्बद्ध हो जाने की अनुमति प्रदान करता है : करनाव्-), शिना परुजे- : परुजेर-; सो-; सर्-; उथि- : उथर्-! -अर्- युक्त, ग्रीक प्रकार कल्-अर्-, को और जिप्सी-भाषाओ के नामधातुओ को एक

दूसरे के समीप लाने का प्रलोभन होता है, जो, जब वे कृदन्त के आधार पर बनते हैं जैसे लत्-अर्-, मर्द-अर्- मे, तो प्रेरणार्थक रूप प्रस्तुत करते है। यह सादृश्य -कर्-सहित रचना के अनुमान की ओर ले जाता है।

यह एक नामजात पर-प्रत्यय ही है जिसे गुजराती देख्-आड्- मे देखने का प्रलोभन होता है (प्राकृत के लिये हेमचन्द्र द्वारा सकेतित भमाडै), तो भी वह सकलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है धव्-अड्-आव्-, प० के सिखाल्- और, सिखाउ- के निकट, सिख्लाउ-, बिठाल्- जो बिठाउ- के निकट है, के -ल्- मे, नेपाली (असाधारण) बस्-आल्-, हिन्दी इस पर-प्रत्यय का प्रयोग कुछ स्वर-सबधी धातुओं के अनुकरण पर करती है : दिला-, दे-से, सुला, सो- मे आदि।

प्रेरणार्थक और नामधातुओं के रूपो की तुल्यता वास्तव मे सस्कृत के समय से निरन्तर रहती है। किन्तु पर-प्रत्ययो का वास्तविक इतिहास नही मिलता।

जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह देखना है कि साधारण प्रेरणार्थक विकरणो का विरोध, जो कर्मवाच्य मे साधारण विकरणो के विरोध से पूर्ण हो जाता है, अन्तिम रूप मे अकर्मक विकरण और सकर्मक विकरण का विरोध है (असाधारण रूप मे एक भिन्न रूप-रचना द्वारा पूर्ण, दे० अन्यत्र)।

हिन्दी के वास्तविक दृष्टिकोण से उदाहरणार्थ, निम्नलिखित मे, सबध एक ही है, प्रत्येक समुदाय का मूल चाहे जो रहा हो :

मर्-(पा० मरति)	मार्-(पा० मारेति)
लद्-	लाद्-(स० लर्दयति)
मिट्-	मेट्-अथवा मिटा-
पिस्-	पीस्-

और इनमे

पढ्-(पा० पठति)	पढा-
जाग्-(पा० जग्गति)	जगा-
सुन्-(पा० सुणति)	सुना-
सुख्-(पा० सुक्ख-, स० शुष्क-)	सुखा-
पक्-(पा० पक्क-, स० पक्व-)	पका-
बूझ्-(पा० बुज्झति, स० बुध्यते)	बुझा-
बन्-(वर्ण्यते)	बना-
बाज्-(वाद्यते)	बजा-

जिन पर-प्रत्ययों की परीक्षा की गयी है उनके अतिरिक्त, काफिर में कुछ विभिन्न रचनाएँ देखने मे आती हैं, उदाहरणार्थ -न्- में (अनुनासिकता-युक्त प्राचीन रूप से निकला हुआ, अथवा स्थानीय कृदन्त से, तुल० कश्मीरी प्रेरणार्थक ?) और साथ ही -म्- मे (कृदन्त -मान् से आवृत या उससे निकला हुआ ? दे० गवर्बती, एल० एस० आई०, VIII, II, पृ० ८४)।

कुछ अपवाद जो बहुत कम भी मिलते हैं, पूरे समुदाय की एकता को और भी अधिक स्पष्ट कर देते है।

रूप-रचना

निश्चयार्थ की अकेली सामान्य रूप-रचना वह है जो प्राचीन अविकरणयुक्त वर्तमान से और कर्तृवाच्य भविष्यत् से निकलती है। वह प्राकृत मे दो रूपों मे दृष्टि-गोचर होती है, ३ एक० -अइ और -एइ, जो सस्कृत के मूल विकरणों और प्रेरणार्थक नामधातु से निकलते हैं। नव्य-भारतीय भाषाओ मे दूसरा प्राय नही ही मिलता, कभी-कभी, ऐसा प्रतीत होता है, वह पहले के साथ मिल जाता है, अत मे दो भाषाओं, मराठी और सिंधी, मे स्पष्ट अर्थ-विचार-सबधी मूल्यवालो के साथ उसका विरोध होता है।

मराठी मे हैं ·

एक०	१	हसें	मारीं
	२	हससीं, हसेस्, हसस्	मारीस्
	३	हसे	मारी
बहु०	१	हसो, हसूं	(मारूँ)
	२	हसा, हसां	मारां
	३	हसती, हसत्	मारितीं, मारीत्

और, सिंधी मे .

एक०	१	हलां	मार्यां
	२	हलें, हलिं	मार्यें, मारे, मारी
	३	हले	मारे
बहु०	१	हलूं	मारयूं
	२	हलो	मारयो
	३	हलन्[ए]	मारींन्[ए]

अन्यत्र कुछ मिश्रण हैं, अपभ्रंश मे, करेइ का प्रयोग उसी मूल्य के साथ होता है जिस मूल्य के साथ करइ का, यह सदेह किया जा सकता है कि १ एक० ब० उड़िया चलि, मैथिली मगही चली, २ एक० मध्य ब० चलिसि जो चलसि के निकट है, आधुनिक ब० चलिस् जो पूर्वी बगाली चलस् से भिन्न है, प्रथम बहु० मध्य ब० चलेन्त जो चलन्त के निकट है, प्रेरणार्थक से निकलते हैं, प्रमाण नही मिलता, क्योकि इस लिंग के रूप केवल वही मिलते है जहाँ प्राचीन प्रत्यय मे अन्त्य -इ है, विकरण के पूर्वी समुदाय मे देखत्- के निकट देखित्- वर्तमानकालिक कृदन्त के सह-अस्तित्व से भी अतिम निर्णय नही होता। अन मे यह बता देना आवश्यक है कि कुछ स्फुट रूप हैं जैसे कश्० २ बहु० चलिन्, तुल० ३ बहु० चलन्।

स्वय उनका सबध साधारण विकरणयुक्त की रूप-रचना से है। ऐसी भाषाएँ बहुत कम हैं जिनमे सस्कृत या क्लैसीकल प्राकृत के प्रत्यय स्पष्ट रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। ये विशेषत विलक्षण भाषाएँ है

सर्वप्रथम तो वे है जिनमे क्लैसीकल सस्कृत के अज्ञात प्रत्यय सुरक्षित मिलते हैं, उदा०

अश्कुन—	वैगेलि—
सेम्	वेसम्
सेस्	वेसस्
सेइ	वेस्अइ
सेमिसँ	वेसमिसँ
(सेग्)	वेसव्
सेन्	वेसत्

अथवा जिनका क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषा (प्रथम० एक०) मे क्षय हो जाता है

यूरोपीय जिप्सी-भाषा—	नूरी—
कमव्	ननम्
कमेस्	ननय्- (ननेक्)
कमेल्	ननर्
कमस्	ननन्
कमेन्	ननस्
कमेन्	ननन्द्

तुल० खोवार सैर् (शेते); कलाश एक० ३ दलि जो १ देम्, ३ देस् से भिन्न है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के अन्य सामान्य प्रकार के साथ भी सम्बन्ध मिलते हैं। उनके बिना हमे इन भाषाओ मे एकरूपता नही मिलती।

मध्यम० एक० का -स्- और प्रथम० बहु० का -न्त- (ध्वनि-सबधी रूपान्तरो सहित), पीछे देखी गयी मराठी की गणना किये बिना, कुछ भाषाओ मे सुरक्षित हैं, उदाहरणार्थ :

पोगुलि (कश्मीर के दक्षिण)	नेपाली	पु० मैथिली	बगाली
"मैं पीटूँगा"	'मै बनाऊँगा'	"मैं देखता हूँ"	"मैं जाता हूँ"
फार	गरूँ	देखों (आधु० देखी)	चलि चलिस्
फारुस्	गरेस् (गर्)	देखसि (देख्)	चलइ
फैरि	गरे	देखही (देखे)	चलों
फारम्	गरउँ	देखों (देखी)	चल
फारुथ्	गर	देखों	चलन्त् (इ)
फारुन्	गरुन्	देखथ्[इ]	चलन्ति चलेन्

किन्तु उडिया मे, जो ३ बहु० देखन्ति को सुरक्षित रखती है, २ एक० देखु मिलता है। कश्मीरी मे एक अस्पष्ट २ एक० है जिसके सबध मे यह ज्ञात नही कि क्या वह २ बहु० अश्कुन -ग्, -क्, १ बहु० गवर्बती-कलाश (आशिक) -क् (नूरी २ एक० -क स्थानीय प्रतीत होता है) के निकट होना चाहिए। शेष मे वह लगभग पूर्णत पोगुली के साथ-साथ चलता है . एक० १ गुप, ३ गुपि, बहु० १ गुपव्, २ गुपिव् (क्या उत्तम पुरुष से सघर्ष बचाने के लिये प्रेरणार्थक के स्वर का आश्रय ?), ३ गुपन्।

एक० के मध्यम पुरुष की रूप-रचना की एक दुर्बलता प्रतीत होती है। अपभ्रश मे वह निस्सदेह आज्ञार्थ से आता है, निश्चयार्थ और आज्ञार्थ की निकटता वास्तव मे अपभ्रश मे मध्यम० बहु० करहु द्वारा स्वीकृत है, जो केवल प्रथम पुरुष, एक० करउ, बहु० करन्तु से आ सकता है, तो भी १ बहु० *करमु अथवा करहू, निश्चयार्थ, जो स्वभावत. आज्ञार्थ के अनुकूल हो गया है, द्वारा समर्थित। किन्तु श्लेष-पद ने, जिसे तथ्य बहुवचन मे समर्थित प्रदर्शित करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, एकवचन मे अधिक कठिनाई पैदा कर दी है जिसमे २ करसि समर्थित था १ करमि और ३ करति द्वारा, कर असभव, करेहि अस्पष्ट लय वाला, निश्चयार्थ मे इन दोनो का स्थान करहि ने ले लिया है, जो भली भाँति एकवचन की प्रणाली मे समाहित हो जाता है और जो स्पष्टत. बहु० करहु के विपरीत है, इस नवीनता में भविष्यत् मे -स्- सुरक्षित रखने का अधिक लाभ था।

एक और कठिनाई भी थी जो एकवचन और बहुवचन के उत्तम पुरुष की ध्वनि-संबंधी बातों के मिल जाने के कारण है, कम-से-कम अपभ्रंश तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं मे वास्तव मे ऐसा प्रतीत होता है कि इस समुदाय मे सर्वनाम १ एकवचन हउँ ने उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से प्रमाणित एक नवीन प्रत्यय को सामान्य बनाया हो जानकि अनुमागह, आदि। अपभ्रंश मे फिर ह् दृष्टिगोचर नहीं होता, उस समय जो वह मिलता है वह बहु० मे इधर का है, निस्सन्देह -हु युक्त मध्यम पुरुष के, तथा संभवत प्राकृत अम्हो "हम हैं" तथा "हम" के महाप्राणत्व के प्रभावान्तर्गत।

फलत है

१ एक०	करउँ	बहु० करहुँ (भव० करहूँ)
२	करहि	करहु
३	करइ	

यह पश्चिमी समुदाय का मूल आदर्श है। सिधी मे, जिसका एक तिङ अन्यत्र दिया जा चुका है, और भी जोड़े जा सकते हैं।

लहदा	मारॉं	चमेआलि	मारा
	मारे		मारे
			मारे
बहु०	मारोंह्	बहु०	मारां
	मारो		मारा
	मारेन्		मारन्

तुल० गढ़वाली मे एक० १ मारूँ २ मारी ३ मार, कुमायूँनी मे १ हिटूँ २ हिटइ ३ हिट् भी।

पंजाबी लहदा के साथ-साथ चलती है, केवल -इए युक्त उत्तम० बहु० को छोड़कर जो मध्यकालीन भारतीय भाषा के कर्मवाच्य एक० से निकला प्रतीत होता है, और जो गुजराती मे, मैथिली मे और मध्यकालीन बंगाली मे मिलता है।

अन्त मे मध्यवर्ती भाषाओं की एक अन्तिम नवीनता है, जिसका प्रमाण अपभ्रंश मे मिलता है, उसका संबंध प्रथम पुरुष बहु० अ० करहिँ से है, जो, आज्ञार्थ ३ बहु० करन्तु, वर्तमानकालिक कृदन्त एक० पु० करन्तु, स्त्री० करन्ति के प्रकाश मे देखते हुए, ध्वनि-संबंधी नहीं है। यह देखा जाता है कि प्रथम पुरुष एक० करइ, बहु० करहिँ का संबंध उत्तम पुरुष एक० करउँ, बहु० करहुँ के संबंध से साम्य रखता है, जो सामान्य परिणाम उपलब्ध होता है वह है दो ह्रस्वों द्वारा निर्मित प्रत्यय, लय जिसे -अन्ति ने नष्ट कर दिया।

इस बात का सन्देह रह जाता है कि -अहिँ का प्रमाण उत्तरज्झयण प्राकृत में ही मिलता है : किन्तु यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि एक ग्रामीण प्रयोग जिसे बाद को अपभ्रंश ने सामान्य रूप में स्वीकार कर लिया जैन धर्म-नियम मे प्रचलित हो गया हो।

अपभ्रंश प्रकार गुजराती और राजस्थानी मे मिलता है :

		गुज०	पु० गुजराती	जैपुरी
एक०	१	चालूं	नाचौँ	चालूं
	२	चाले		चलै
	३	चाले	नाचैं	चलै
बहु०	१	(चालिए, किन्तु भविष्यत् चालिशूं)		चलां
	२	चालो		चलो
	३	चाले	नाचैँ	चलै

तथा अवधी (लखीमपुरी) मे :

एक०	चलउँ	बहु०	(चली)
	चलइ		चलउ
	चलइ		चलइँ

इस समुदाय में, हिन्दी और ब्रज मे एक और विशेषता मिलती है, जिसकी व्याख्या नही की जा सकती, और वह यह है कि उत्तम० बहु० का प्रत्यय प्रथम० के प्रत्यय के सदृश है

		ब्रज	हिन्दी, बुन्देली
एक०	१	चलउँ, चलुँ	चलूं
	२	चलै	चले
	३	चलै	चले
बहु०	१	चलैं	चलें
	२	चलौ	चलो
	३	चलैं	चलें

तो भाषाओं का एक स्वतंत्र विकास होता है, वही जिसका संबंध अपभ्रंश को मामूली बातो से अधिक है। उसका एक और प्रमाण छत्तीसगढ़ी में मिलता है जिसमें

मध्यम० और प्रथम० बहु० के नवीन रूप मिलते हैं, किन्तु मध्यम० एक० का प्राचीन रूप सुरक्षित रहा आता है

एक० घुचउँ	बहु० घुचन्
घुचम्	घुचउ
घुचइ	घुचइँ

(भोजपुरी मे एक साथ 'बाग्म' और 'बडे' है, 'बडे' साथ ही हो सकता है "वह है", निस्सन्देह हिन्दी का प्रभाव है)।

सिंहली की, वतत्र, रूप-रचना सामान्य योजना पर आधारित है एक० १ कम्(इ) (खादामि ?), २ कहि, ३ कयि. का, बहु० १ कम्(ह्)उ (क्रिया 'होना' का प्रवेश ?), २ कहु, ३ कन्(इ)।

आज्ञार्थ

इसमे विशेषतासूचक रूप प्रथम पुरुष के हैं स० एक० -अतु, बहु० -अन्तु, जिससे एक० म० -ओ, उडिया -उ, ब० -उक्, बहु० म० -ओन्, उडिया -अन्तु, -उन्तु, बगाली -उन्। देखिए, खोवार एक० दियार्, जो प्रत्यक्षत ददातु का प्रतिनिधित्व करता है।

मध्यम० एक० सामान्य रूप शुद्ध मूल है, क्योंकि स० प्रा० -अ लुप्त हो जाता है। साहित्यिक प्राकृत मे प्राय दीर्घ प्रत्यय मिलते है करसु, करेसु जिसका प्रत्यय ३ एक० -तु के अनुकूल बना लिया गया स० -स्व है, करेहि प्रेरणार्थक विकरण के साथ प्राचीन अविकरणयुक्त प्रत्यय स० -(द्)हि के प्रयोग से बनता है, जैन कराहि मे वह उसी रूप सहित मिलता है, अप० करहि, जो उससे जन्म लेता है, को, जैसा कि देखा जा चुका है, निश्चयार्थ मे भी काम आना चाहिए। करेहि प्रकार ब्रज मे सुरक्षित है, और उससे उपलब्ध होते है पु० राज० कर, मेवि, सांग, करिँ।

सिंधी मे अकर्मक वेह् उ और कर्तृवाच्य मार् ए मे भेद है।

विशेषतासूचक उ स्वर के प्रभावान्तर्गत, मराठी मे १ एक० -ऊँ से युक्त है जो बहु० जैसा है।

भविष्यत्

स-भविष्यत्, जो वर्तमान की भाँति हो जाता है, केवल एक सीमित रूप मे बना रहता है। अपभ्रंश मे सामान्य होते हुए भी, प्राचीन बगाली मे उसके बहुत कम और सन्देहास्पद चिन्ह शेष रह जाते है, पजाबी, सिंधी और इसी प्रकार मराठी और सिंहली के प्राचीन पाठो मे उसका अस्तित्व नही मिलता। पूर्वी हिन्दी और बिहारी मे, वह

कृदन्ती रूपों में मिल जाता है। जैपुरी (पर-प्रत्यय -स्- है) में, मारवाड़ी में, और बुन्देली (पर-प्रत्यय -ह्-) में उसे समास-रूपों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता है। उचित रूप में तो वह केवल गुजराती और लहंदा में, और भारतवर्ष से बाहर, नूरी में, अधिक दृष्टिगोचर होता है; कश्मीरी में वह भूत-संभाव्य का अर्थ ग्रहण कर लेता है।

		गुजराती	लहंदा
एक०	१	मारीश्	मरेसाँ
	२	मार्शे	मरेसें
	३	मार्शे	मरेसी
बहु०	१	मारीशूं	मर्साहीं
	२	मार्शो	मरेसो
	३	मार्शे	मरेसिउ

		नूरी	कश्मीरी
एक०	१		गुपह्
	२		गुपहख्
	३	मन्यरि	गुपिहे
बहु०	१	जन्यनि	गुपहव्
	२		गपिहिव्
	३		गुपहन



नामजात रूप

१. संस्कृत

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति सस्कृत मे क्रिया के पुरुषवाचक रूपो मे कुछ नामजात रूप जुड जाते है · एक तो कुछ विशेष्य हैं जो कुछ कारको के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं और वे प्रभाव (reaction) के योग्य होते हैं, दूसरे कुछ विशेषण हैं जो वाच्य और काल का अनुसरण करते हुए पृथक् हो सकते हैं।

कार्यवाची सज्ञाएँ । क्रियार्थक सज्ञा, पूर्वकालिक कृदन्त

भारोपीय मे, एक सज्ञा, जिसका अर्थ एक क्रियामूलक धातु के निकट पहुँच जाता है, स्वय क्रिया की भाँति प्रभाव की प्रवृत्ति प्रकट करता है, इस दृष्टि से वैदिक भाषा मे प्रागैतिहासिक प्रयोग मिलता है।

कार्यवाची सज्ञाओ की रचना दो रीतियो से हो सकती है . एक ओर तो नामजात रचना है सोमस्य मृर्षे, दूसरी ओर क्रियामूलक रचना यार्जथाय देवान्, और उसी शब्द के सहित गोत्रम्य दावने, अथवा क्रियामूलक मंहि दावने। कुछ सज्ञाओ के विकृत कारको मे क्रियामूलक का प्रयोग सामान्य है, और वास्तव मे यहाँ हमारी क्रियार्थक सज्ञाओ के तुल्य है · जजनुंश् च राजसे, पारम् एंतवे पंथा । स्वभावत वे वाच्य के प्रति उदासीन हैं स्तुषे सा वाम् राति, नं . अस्ति तंत् अतिष्कंदे, उसका केवल पूरक भाव प्रदर्शित करता है नान्येन स्तोमो अन्वेतवे।

वेद मे कुछ ऐसे शब्दो का भी प्रयोग हुआ है जो ध्येय प्रकट करने की प्रवृत्ति वाले कारक मे होते हैं . कर्म० और विशेषत सप्रदान० (अतिरिक्त रूप मे कुछ प्रत्ययक्षत अधिकरण०, शून्य श्रेणी के प्रत्यय वाले प्राचीन सप्रदान०, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९१), और साथ ही, उपसर्गात्मक अव्यय और क्रियाओ के, जिन्हे उसकी आवश्यकता होती है, बाद अपादान, सबध० विचित्र रूप मे ईश्- के बाद और उसकी यह सामान्य रचना है।

जहाँ तक विकरणो से सबध है, वे निर्मित होते हैं :

१. शुद्ध धातु द्वारा दृशें; ऋ० ८, ४८, १० : इन्द्रम् प्रतिरम् एम्य् आयु ,

२. धातु के साधित शब्दों द्वारा, कभी-कभी -मन्- और -वन्- युक्त : विद्मने, दावने; विशेषत चेतन संज्ञाओं द्वारा : -इ- बहुत दुर्लभ है (दृशये, -ति- दुर्लभ), इसका साम्य इस तथ्य से है कि भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा में -ति- युक्त संज्ञाएँ रचना में केवल बड़ी मुश्किल से मिलती हैं; -त्या केवल इत्यै में, प्रायः -तु- बहुत मिलता है [द्रष्टुं, गन्तवे, पातवै (*पातवे वै), गन्तोः]; अन्त में,

३ क्रियामूलक विकरणों के साधित शब्दों द्वारा : पुष्यसे (पुष्- धातु), ऋञ्जसे (ऋज्-) और विशेषतः -(अ)ध्यै : इयध्यै, नाशयध्यै प्रेरणा०।

ये अन्तिम रचनाएँ, जो अनेक पहली की भाँति ईरान मे साम्य रखती हैं, क्रिया के साथ सबद्ध हो जाने के श्रीगणेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। और वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि क्रियार्थक सज्ञा का एक वर्ग सस्कृत मे निर्मित होता है; सप्रदान० के रूप, प्रारभ मे अन्य की अपेक्षा सतगुने, लुप्त हो जाते हैं; और -तुम् जो शुरू के पाठो में बहुत कम है, यहाँ तक लाभ प्राप्त करता है कि क्लैसीकल भाषा मे उसका एकाधिपत्य स्थापित हो जाता है। किन्तु साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा सप्रदान० को बनाये रखती है : अशोक० खमितवे, पा० दातवे (पा० एतसे विचित्र और संदिग्ध है) और स्वयं सप्रदान० की प्रणाली मे भाषा नवीन रूप रचती है, जैसे पा० हेतुये जो अशोक० भेतवे, पा० दक्खिताये (दीर्घत्व निश्चित नही है), प्रा० जैन -(इ)त्तए जो -(इ)उं के निकट है। इसके अतिरिक्त उसमे -अन- युक्त सज्ञाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो अन्त में उसे हटा देंगीं, किन्तु आधुनिक युग मे। तो सस्कृत प्रणाली दृढ़ नहीं है।

-ति- और -तु- युक्त कार्यवाची सज्ञाएँ (और कुछ उनके व्युत्पन्न रूप), जिनका प्रयोग करण० मे हुआ है, मुख्य क्रिया द्वारा व्यक्त कार्य की पूर्व स्थिति प्रकट करने योग्य हो जाती हैं . यह वह है जिसे पूर्वकालिक कृदन्त कहते हैं, दे० अन्यत्र।

कर्तृवाची संज्ञा। कृदन्त

क्रियामूलक धातुओं से सीधे निकले कुछ विशेषण और कर्तृवाची संज्ञाएँ स्वच्छन्द रूप में क्रियामूलक प्रभाव की रक्षा करती हैं : ऋ० कामो . . .अस्य पीतिम्, ददिर् गाः, सं० स० कामुका एन स्त्रियो भवन्ति। पतजलि ने ओदनं भोजको गच्छति का उल्लेख किया है जिसमें विशेषण एक भविष्यत् कृदन्त का भाव ग्रहण करता है। यह उसी अर्थ मे है जो -तर्- युक्त कर्तृवाची संज्ञा का विकास करेगा : ऋग्वेद मे, सबध० के अनेक सबधों के निकट, वह कर्म० पर शासन रखने की क्षमता रखता हुआ पाया जाता है : हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजम्, दाता मघानि . . .

किन्तु भविष्यत् के अर्थ का जन्म होते हुए देखा जाता है, १०, ११९,९, जिसमें

हंन्ताहम् पृथिवीम् आगे के पद्य के सशयार्थसूचक द्वारा स्पष्ट हो जाता है : ओषम् इत् पृथिवीम् अहं जङ्घनानि। यह सज्ञा ही अपरिवर्तनशील होती हुई अस- क्रिया के उत्तम और मध्यम पुरुषो मे काफी जल्दी बद्धमूल हो जाता है (प्रथम पुरुष में नामजात वाक्यांश के नियम काम आते रहते हैं), उसमे भविष्यत् की एक रचना क्रिया-रूपो मे शामिल हो जाती है : दातास्मि, दातासि, दाता आदि, मध्य मे *दातासे, २ एक० दातासे के निकट असभव, का स्थान नामजात समुदाय दाताहम्, दातासे आदि के आदर्श पर निर्मित दाताहे ग्रहण कर लेता है। पाणिनि के अनुसार भाव एक परित्यक्त भविष्यत का है, वास्तव मे पाठो मे नियम का स्पष्ट रूप से पालन नही हुआ, वह प्राचीन समय मे एक यथेष्ट दुर्लभ रहने वाले रूप के कारण होता है, और जो मध्यकालीन भारतीय भाषा तक नही आता।

कुछ विशेषण, भारोपीय के समय से, न केवल धातुओ के साथ, किन्तु क्रियामूलक विकरणो के साथ सम्बद्ध हो जाते है। वे सस्कृत मे है :

१ धातु के आधार पर निर्मित, -त-, -न- युक्त विशेषणो और उनके साधित शब्दो से परिणाम दृष्टिगोचर होता है, जो -य- युक्त हैं उनसे ध्येय प्रकट होता है, व्युत्पन्न और जुडे हुए एक या दूसरे के साथ।

२. विकरणो के आधार पर नियमित रूप मे विभाजित और प्रभाव के प्रति प्रवृत्ति रखने वाले, उचित रूप मे कृदन्त।

अस्थायी कृदन्त

वे हैं जो भारोपीय रचनाओ पर आधारित रहते है, किन्तु उनसे साम्य नही रखते। कर्तृवाच्य मे है :

१. -अन्त्- पर-प्रत्यय, -अत्- के साथ परिवर्तनीय, वाले कृदन्त। अविकरणयुक्त पु० एक० कर्म० सन्तम्, सबध० सतं का साम्य है अ० हअन्तअम्, हतो मे। विकरण-युक्त मे भारतीय भाषा मे वही परिवर्तन-क्रम है, भवन्तम्, सबध० भवत , किन्तु अवेस्ती मे सर्वत्र अनुनासिक है फ्रसुयन्तअम्, फ्रसुयन्तो। द्वित्वयुक्त अविकरणयुक्त क्रियाओ मे सस्कृत नियमित रूप से -अत्- का प्रयोग करती है : ददतम् ददतः, यह एक भारतीय विशेषता है, सभवत प्राचीन अप्रचलित विशेषता।

२. -वास्- वाले पूर्ण कृदन्त -उष्-, कुछ रूपो मे जिसका स्थान -वत्- ग्रहण कर लेता है, जो भारोपीय है, किन्तु विभाजन किसी अश मे समान नही है, और -वत्- ईरानी मे नही है।

मध्य मे, दो रूप हैं जिनका विभाजन काल का अनुसरण करते हुए नहीं, किन्तु

विकरणों का अनुसरण करते हुए होता है। अविकरणयुक्त के साथ, -आन-, जो भारतीय-ईरानी है; विकरणयुक्त के साथ -(आ)मान- जो वास्तव में भारतीय है और पहले के साथ -*म- भारतीय-ईरानी के सामंजस्य से उत्पन्न होता है (दे० बॉवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० ५)। जहाँ तक अशोक० पूर्व और अमरगसुत्त के -मीन- रूप से संबंध है, क्या यह प्राचीन *-म्ओनो- है, जिससे -मान- की लय से सारूप्य-प्राप्त *-मिन- निकलता है? स० आसीन-, आस्ते से, और मेलै से प्रा० मेलीण- की भी गणना करना आवश्यक है, जो स्फुट हैं।

कृदन्तों मे वाच्यो का पुनर्विभाजन केवल गौण रूप से निश्चित है; वेद में, -(म्)आन- युक्त कृदन्त तेजी से कर्तृवाच्य पुरुषवाचक रूपो से साम्य रखते हैं; विपर्यस्त रूप स्पष्टत अधिक दुर्लभ है। वास्तव मे -मान-, जो अकेला निरतर रूप में है, बौद्ध और जैन धार्मिक नियमो मे उपलब्ध कर्तृवाच्य क्रियाओ के वर्तमान के विकरणों तक प्रसारित होता है (पा० अशोक० समान-, अत्थि का प्रा० समाण- आदि)।

क्रियामूलक विशेषण

१

ईरानी और भारोपीय की भाँति सस्कृत मे -त-(-अय- युक्त व्युत्पन्न रूपो मे -इत-) युक्त विशेषणो से, धातु द्वारा द्योतित प्रक्रिया का परिणाम प्रकट होता है: भूर्त- (भू-), अ० बूत-, मृत-(मर्), अ० म्अ॑र्अ॑त-, मर्अॅर्ते-; युक्त॑-(युज्-), अ० यूख्त-; पृष्ट-(पृच्छ्-), अ० पर्श॑त-, जात॑-, अ० ज़ात- [जन्(इ) से], आश्रित- (श्रि-), अ० स्रित-; श्रुत-(श्रु-), अ० स्रुत-। यह देखा जाता है कि क्रिया के साथ सबध अर्थ-विचार की दृष्टि से निश्चित नही है; तो भी वह काफी सीमित है जिससे कि जहाँ तक वह कर्मवाच्य मे आता है, यह विशेषण उससे भूतकालिक कृदन्त हो जाता है, रचना अत्यन्त नियमित है। दा- धातु में छोड़ कर, जिसमे त्वा-दात- और दत्त॑ का पुनर्निर्माण दित॑- से सघर्ष बचाने के लिये किया गया है, धातु की शून्य श्रेणी निरन्तर रूप से मिलती है, उस समय जब कि वह अवेस्ती मे नही है।

सस्कृत ने -न- युक्त विशेषण को वही कार्य सौंपने मे नवीनता का प्रवर्तन किया है, जो वास्तव में, उसके मूलों द्वारा था, उसकी रचना और उसका अर्थ पहले के सदृश था; भारतीय-ईरानी ने उससे काम लिया: अ० फ़्रीनास्प-, ग्री० "फ़िल्-इप्पोस्", तुल० पीणयति और दूसरी ओर वैदिक प्रीत॑- जिसका व्यवहार घोड़ो के लिये हुआ, तुल० हुवा-फ़्रित-; ऊॅर्न॑-, अ० ऊॅन- "अपूर्ण" एक धातु के साथ सम्बद्ध हो जाता है जिसका अ० उयम्न- मध्य वर्तमानकालिक कृदन्त है; किन्तु स्वय क्रिया नहीं मिलती। जहाँ कहीं वह है,

रचनाओं का अनिवार्यतः पुनरुद्धार नहीं होता सं० पूर्ण - से भिन्न, अवेस्ती में पॅ॒र॒ॅन- है।

यह संस्कृत की मौलिकता है कि उसमें यह विशेषण एक नियमित कृदन्त बन गया है, जो प्रधानतः अन्तस्थ (द्रव वर्ण) वाली द्व्यक्षरात्मक धातुओं में पाया जाता है : पूर्ण-(पूर्त-) का एक विशेष अर्थ हो गया है, स्तीर्ण-, कुछ धातुएँ दीर्घ स्वर वाली होती हैं. हीन- जो हा- (हित- कृदन्त है धा- से), जहित- के निकट है, दा- से (अन्य धातुओं में दा- के कृदन्त हैं दित-, दत्त-) दिन, अंत में, दन्त्य में अन्त होने वाली धातुएँ : भिन्न- जो भिद् से है, स्कन्न जो स्कन्द्- से है।

तो भी क्रिया के साथ सम्बद्धता घनिष्ठ नहीं है और रचना असाधारण रूप में रहती है : मै० सं० पत्यु क्रीता सती, त० सं० अस्य प्रीतानि। वाच्य निश्चित नहीं है : गतो , .अथवा "गया हुआ मार्ग", किन्तु गत- का साधारण अर्थ होता है "जो गया है"। स्वयं काल अनिवार्यतः भूत नहीं है; पूर्ण की भाँति, इस विशेषण के विविध भाव हैं। वह ऋ०, १, ११०, १ में प्रवेशसूचक वर्तमान के विरोध द्वारा भूत का अर्थ द्योतित करता है : ततम् मे अपस तद् उ तायते पुनः। भगवद्गीता, २, २७ में है जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्, ध्रुवं जन्म मृतस्य च। किन्तु इससे पहले के छन्द में है : अथ चैनं नित्यजातम् नित्यं वा मन्यसे मृतम् (अनु० सनात)।

यही भाव है जिससे इस बात का पता चलता है कि किस सरलता के साथ ये विशेषण विशेष्य हो जाते हैं : आर्त, आर्तम्, जीवितानि, युद्धानि, अशितम्, तुल० पा० गत, सन्गामे मत। अशित- से, अथर्ववेद में, अन्य सभी विशेष्य की भाँति और उसी संधि सहित (अश्वावन्त्-) सम्बंधवाची एक विशेषण मिलता है : ९, ६, ३८ (गद्य में ऋचा) अशितावत्य् अतिथाव अश्नीयात्। प्रथम अंश का क्रियामूलक भाव जितना शक्तिशाली होता है, उतना ही इस विशेषण में कर्तृवाच्य पूर्ण० कृदन्त के तुल्य होने की प्रवृत्ति रहती है, जो स्वयं प्रयोग द्वारा प्रकट होती है। कृदन्तों का प्रयोग केवल पूर्ण० क्रियाओं के भाव सहित होने की संभावना प्रकट करते हुए, पतंजलि ने एक ही चरण में रखा है : क्व यूयम् उषिता, किं यूयं तीर्णाः ? तथा दूसरी ओर किं यूयं कृतवन्तः ?, किं यूयं पक्ववन्तः ? (पक्व-, तुल० प्रा० पक्क-, पच्- वाले कृदन्त का नाम देता है)। सच तो यह है कि -तवन्त्- युक्त नवीन कृदन्त का विकास, जैसा कि देखा जाता है, केवल अस्थायी रहा है।

२

जब कि -त- युक्त विशेषण भूतकाल का भाव प्रकट करने की दृष्टि से अपने को क्रिया-रूप के साथ सम्बद्ध करने वाले होते हैं, अन्य विकरण, जो भारोपीय के समय से

संभावना या लक्ष्य प्रकट करते हैं, भविष्यत् की नामजात अभिव्यंजना को सभव बनाते हैं।

दोनों जीवित नहीं रहे : -त्(उ)व- (हंन्त्व-, अ० जॅम्θव) ऋग्वेद के एक दर्जन शब्दो मे केवल मुश्किल से मिलता है; -अत- और दुर्लभ है जिसका रूप, कहना चाहिए, कम विशेषतासूचक था : यजत॑-, अ० यज़त-; दर्शत॑, तुल० अ० सुरुन्यत-।

इसके विपरीत -(इ)य- प्रायः मिलता है : वंर्श्(इ)य-, अ० दर्ज़स्य-; एक अन्य स्वर-प्रणाली मे दृंश्(इ)य- : भंव्य- और भाव्य-, देय-। वेद के समय से ही यह पर-प्रत्यय व्युत्पन्न विकरणो तक तथा विभिन्न मूलों तक प्रसारित हो जाता है : उससे श्रवाय्य- जो प्रेरणार्थक के आधार पर निर्मित है, स्तुषेय्य- जो क्रियार्थक संज्ञा स्तुषे के अनुकरण पर निर्मित हुआ है; दिदृक्षेय-, इच्छार्थक विकरण के आधार पर निर्मित हुआ है; वंरेण्(इ)य- जिसकी व्याख्या नही हो सकती, किन्तु जो प्रायः मिलता है और गौण विकरणों के अनुकूल है दिदृक्षेण्य-, वावृधेन्य- ; अन्ततः और विशेषतः, क्रियामूलक सज्ञाओ के अनुकरण पर, धृंत्य-, अनानुकृत्य॑-, चरकृंत्य-। अथर्ववेद मे दो और नये प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं : एक तो विशेष्यो से निकला है, प्रारभ में केवल समास-युक्त विशेष्यो से . आमन्त्रणीय- (आमन्त्रणम्; -अन-, -अना युक्त सज्ञाओ के क्रियार्थक सज्ञा के निकट भाव की ओर पीछे सकेत किया जा चुका है); अत मे,दूसरे, -तव्य-, जो प्रागैतिहासिक प्रतीत होता है (ग्री० -तॅओस्), -तु- युक्त विकरणों के साथ हर परिस्थिति मे सम्बद्ध हो जाता है और अप्रत्यक्ष रूप मे -त्(उ)व- युक्त विशेषणो से सबधित हो जाता है, किन्तु वह -त- युक्त क्रियामूलक के समीप भी रहता है और फलत -तवन्त् युक्त नवीन कृदन्त के, और यही से उसके विकास का सूत्रपात होता है।

कृदन्तो मे वाक्याश मे विविध रूप मे आने वाली सज्ञाओ के साथ स्थान पाने की प्रवृत्ति पायी जाती है : ऋ० ४, १८, १२ : शयुं कंस् त्वाम् अजिघासच् चंरन्तम्। इसके लिये वे अपनी क्रियामूलक प्रभाव की शक्ति का लोप नही कर देते : ४, १८, ११ . अंथाब्रवीद् वृत्रंम इंन्द्रो हनिष्यंन्; १, ४५, ४ अहूषत रॉजन्तम् अध्वराणाम् अग्निम्; १, १४८, २ जुषंन्त विंश्वान्य् अस्य कंर्मोपस्तुतिम् भंरमाणस्य कारोँ.। सच तो यह है कि स्थान-प्राप्त कृदन्त मुख्य कारको में स्वेच्छापूर्वक आता है, और प्राय. परिपूरक बिना रहता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका प्रयोग जारी रहता है : जातक ५, २९० : बोधिसत्त पि किलन्तिन्द्रिय वीथिय गच्छन्त अञ्ञतरा इत्थी दिस्वा।

वर्तमानकालिक कृदन्त को बहुत कम वाक्य-विन्यास-संबधी स्वतत्रता है। वह स्वच्छन्द रूप मे कुछ ऐसी क्रियाओं के साथ आता है जो किसी परिस्थिति या क्रियाशीलता का द्योतन करती हैं : विंश्वम् अन्यॊ अभिचंक्षाण एति; किन्तु नामजात वाक्यांश को

इतनी स्वतत्रता नहीं है कि वह क्रिया का स्थान ग्रहण कर ले · इस प्रकार के जो कुछ उदाहरण मिलते हैं १, १७१, ४, ३, ३९, २ केवल सभावित हैं। उसके सबध मे वही बात नही है जो क्रियामूलक विशेषणो के सबध मे है। -त- युक्त क्रियामूलक ऋ० १, ८१, ५ न त्वांवाङ इन्द्र कश्चनं नं जातों नं जनिष्यते मे पुरुषवाचक रूप के प्रतिकूल पडता है। यही बात भविष्यत् कृदन्तो के लिये है रिपंवो हंन्त्वास , यं एंक ईद् धंव्यश् चरषणीनांम।

प्रथम पुरुष का प्रयोग होने पर उसका प्रयोग अधिकाधिक हो जाता है। जब यह प्रयोग अन्य पुरुषो मे हो जाता है, अथवा वर्तमान की अपेक्षा अन्य कालो में हो जाता है, तो या तो कुछ सर्वनाम आते हैं, या अस- और भू-, अथवा बाद को आस्ते, वर्तते आदि; ऋ० युक्तंस ते अस्तु दंक्षिण , महा० केनास्य् अभिहत किमर्थम् अभिहत ।

इस प्रकार प्रयुक्त होने पर, -त-युक्त क्रियामूलक उसे पूर्ण करता है, और फिर पूर्ण मे उसके प्राचीन प्रयोग का स्थान ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि स्वच्छन्द रूप से उसका प्रथम पुरुष मे प्रयोग पाया जाता है 'अग्निर् उपसमाहितो भवति' कहे जाने योग्य है 'अग्नि अपने को जली हुई पाती है', न कि 'जलायी गयी है'। किन्तु काल की दृष्टि से यह प्रयोग सीमित रहता है।

कर्मवाच्य अर्थ वाला क्रियामूलक करण० के पूरक होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है, और अर्थानुकूल (न्यायोचित) कार्य के कर्त्ता को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, ऋ० ८, ७६, ४ अयं ह येन वां इदं स्वंर् मरुंत्वता जितंम्।

यह रचना, जो निस्सन्देह शुरू मे उन सबधवाची वाक्याशो मे अधिक आती है जो पुरुषवाचक क्रियाओ के अधिक सरलतापूर्वक प्राप्त होते हैं, प्रधान तक प्रसारित हो जाती है। यह एक प्रधान मे ही है कि बन्धनसूचक का कृदन्त पाया जाता है, किन्तु बिना करण० की सज्ञा के, अथर्व० ५, १८, ६ नं ब्राह्मणों हिंसितव्यों 'ग्निं प्रियंतनोर् इव।

इसी प्रकार गिरनार पर अशोक० मे पढने को मिलता है इय धमलिपी . . रा(ञ्)आ लेखापिता। इध न किंचि जीव आरभित्पा प्रजूहितव्य न च समाजो क(त्)तव्यो।

रूपनाथ-माला में सुमि(हक) सघ उपगते (उपेते) की और मया(मे) सवे उपयति (उपयिंते) की तुल्यता दृष्टिगोचर होती है।

एक विशेष कारक वह है जिसमे नपु० कर्ता० का क्रियामूलक सामान्य कर्मवाच्य अकर्तृक की क्रिया के तुल्य है जैसा कि बताया जा सकता है (किन्तु शायद ही कभी प्राचीनकालीन में) श० ब्रा० तप्यते, मै० स० ऋध्यते, संम् अमते, ऋ० में भी श्रद्धित ते बराबर मिलता है। यह क्रियामूलक विशेषण अन्ततोगत्वा अर्थानुकूल (न्यायोचित)

कर्त्ता के करण० के साथ सम्बद्ध हो सकता है. तै० स० तस्मात् समानत्र तिष्ठता होतव्येम्, मै० स० अग्निहोगिणा नाशितव्येम्।

फिर संस्कृत मे एक नवीन अतीत काल है, किन्तु नपु० अथवा कर्मवाच्य अर्थ का; सदृश कर्तृवाच्य के भाव के साथ न रहने वाला -तवन्त्- युक्त व्युत्पन्न का विशुद्ध क्लैसीकल प्रयोग (मनु में सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है) उसी से है।

दूसरी ओर वेद में ज्ञात छ: बन्धनसूचक कृदन्तो मे से, जो -य- युक्त और -तव्य- युक्त हैं (जो अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होते हैं), वे हैं जो धीरे-धीरे संभावना के भविष्यत् का कार्य करने लगते हैं; किन्तु यह बाद का विकास है, जो अकर्तृक कर्मवाच्य के विकास के साथ-साथ चलता है।

२. नव्य-भारतीय भाषाएँ

कृदन्त

ऊपर जिन भूतकालिक रूपो पर विचार किया गया है, उनमें से केवल वर्तमान-कालिक कृदन्त, और भूतकालिक और भविष्यत्कालीन क्रियामूलक विशेषण आधुनिक काल तक आते हैं। पाली मे तो वैसे ही भविष्यत् कृदन्त नहीं मिलता (ग्री० हौपास्स्, मरिस्स कर्म०, तुल० सतीम जो सतिमा का कर्म० है)। प्राचीन पूर्ण० कृदन्त केवल क्रिया-रूप के स्फुट रूपो मे अधिक मिलता है विद्वा; नये प्रकार विदु, विद्दसु वास्तव मे विशेषणो के हैं, -तवन्त्- युक्त विशेषणो के समीप -ताविन्- युक्त तुल्य रूप हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि वे कृदन्तो की अपेक्षा विशेषणो की भाँति अधिक हैं · भुत्तवन्त्- और भुत्ताविन्-, तुल० ऋ० मायावन्त्- और मायाविन्-। किन्तु दोनों रूप बहुत कम मिलते हैं साथ ही भूत को प्रकट करने के लिये -त- युक्त क्रिया से एक सरल और लचीली प्रणाली प्राप्त होती है, और इस भूत० के -त- के साथ अशोक० -तव्व-, पा० -तव्व- भविष्यत् मे आकर इकट्ठे हो जाते हैं। किन्तु इसका एक गभीर परिणाम निकलता है . सामान्य क्रिया मे वर्तमान० सकर्मक है या अकर्मक, किन्तु भूत० और भविष्य० कृदन्त अनिवार्यत अकर्मक या कर्मवाच्य होते है, तब से, वर्तमान सकर्मक के मुकाबले में, भूत० और भविष्य० अनिवार्यत कर्मवाच्य रचना के होते हैं। यह द्वित्व आधुनिक क्रिया के मूल मे है।

इसके अतिरिक्त भूत० और भविष्य० "कृदन्तो" का महत्त्व वर्तमान के आधार पर अकुरित होता है, और वर्तमान० कृदन्त, जो प्राचीन भाषा मे तथा साथ ही मध्य-कालीन भारतीय भाषा मे कभी पुरुषवाचक क्रिया का स्थान ग्रहण नहीं करता, तुल्य होकर समाप्त हो जाता है।

वर्तमान० कृदन्त

रूप :

वर्तमान० कर्तृवाच्य कृदन्त, जो पाली में प्राचीन रूप-रचना को सुरक्षित रखता ही है (पु० एक० कर्ता० तिट्ठ, कर्म० तिट्ठन्त बहु० सबध० तिट्ठत) पूर्णत. विकरण-युक्त सज्ञा-रूप मे चला जाता है (प्रा० पु० एक० जाणन्तो, बहु० जाणन्ता) और यही नवीन रूप है जो इस महाद्वीप की आधुनिक भाषाओ तक चला आता है, चाहे साक्षात् रूप मे : पु० असत्, देँत्, करीत्, करिजत्, तुलसीदास सुनत्[अ] पूजिअत्[अ]; बुन्देली जात्, देत्, ब्रज पु० मारतु, स्त्री० मारति, आदि, चाहे (और यही रूप है जिसने सामान्यत पहले का स्थान ग्रहण किया है) व्याप्ति-युक्त सहित हिं० पु० एक० करता, पु० राज० करतो, कीजतौ, (तुल० प्रा० किज्जइ, स० क्रियते), पुरानी गुजराती पठतौ, पठीतौ, उड़िय। देखन्ता, -न्त्- के पश्चिमी प्रयोग सहित प० मारेन्दा, मारन्दा, मारन्दा, सिंघी हलन्दो, मारीन्दो। मैंयाँ मे अव्यय वर्तमान है कुटान्त् "मैं पीटता हूँ, तू पीटता है, हम पीटते हैं, आदि", दित् (*देन्तो) "वह देता है", जो निस्सन्देह उसी कृदन्त पर आधारित है, इसके विपरीत कश्मीरी मे कोई समान रूप नही है, और महानय-प्रकाश (ग्रियर्सन, § २४३, तुल० § २४०) मे सकेतित -अन्द युक्त कृदन्तो के कर्ता० बहु० सभवत, इसके विपरीत, क्रियामूलक प्रथम पुरुष हैं जो उनके रहित नही मिलते।

मध्य कृदन्त, जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रचलित थे ही, कुछ आधुनिक रूपो मे फिर मिलने लगते हैं। इसलिए गवर्‌बती मिमान्, स० म्रियमाण-से (टर्नर, 'पोज़ीशन ऑव रोमनि,' पृ० ३३), कलाश ईमन्, तीमन्। तो भी यह स्वीकार करना चाहिए कि इस कारक मे कृदन्त गवर्‌बती मे एक पुरुषवाचक क्रिया-रूप प्रदान करता है क्योकि *θलीमन्* कृदन्त है *θलीमेम्*, *θलीमेम्* का, और फलत वर्तमान *θली-म्-* का एक विकरण है जो *θली-म्-* भूतकालिक विकरण *θली-त्-* के प्रतिकूल है, जिसका जो -त्- सस्कृत -त- को बनाये नही रखता, जिसे मी (मृत-) से जाना जा सकता है, अथवा जो ब्रिआए (भ्रातृ-) के प्रतिकूल है। क्या यह याद दिलाना आवश्यक है कि ईरानी परर्ष् इ मे एक -अमान् युक्त पूर्वकालिक कृदन्त (खरमान्) है, जो यद्यपि अस्पष्ट है ?

अविकरणयुक्त रूप, स० -आन-, साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में बहुत कम मिलता है। इसलिए यह जानकर आश्चर्य होता है कि उसमे एक भविष्य का भाव प्रकट हो जाता है, वह चाहे खास भारतवर्ष के कर्मवाच्य कृदन्तो मे (भूत के अर्थ मे) हो, चाहे दर्द और सिहली (कन, कपन) मे कर्तृवाच्य कृदन्तो मे हो . पहले की दृष्टि से, यह स्वच्छन्दतापूर्वक स्वीकार किया जाता है कि -अमान- के प्राथमिक अनुनासिक का

असामयिक लोप हो जाता है, किन्तु उस युग में उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता जब कि प्रेरणार्थक का, उदाहरणार्थ -व्- सुरक्षित रहता है; दूसरे की दृष्टि से, पाली में, प्रयुक्त, -अन- युक्त सज्ञाओं में बराबर सोचा जाता है, विशेषत. समासों के प्रथम अशों की भाँति : व्रीहि पादेहि विवरण-मक्कट, हेट्ठा वसनक- नागराजा; किन्तु आधुनिक रूपो का विश्लेषण निश्चित नही है और दर्द का दीर्घ मात्रा-काल तो कठिन रहता ही है।

कती अचूमन्, विनागन् (क्रियार्थक संज्ञा से निकले) प्रकार मे तो उन्हें पहिचानने मे और भी संकोच होता है जो अवेल् और अते (जो -अन्त्- युक्त कृदन्त मे भली भाँति प्रदर्शित होता है) के साथ सह-अस्तित्व प्राप्त करते हैं। अश्कुन वर्तमान अनुनासिक विकरण पर आधारित रहता है, जो जैसा कर्तृवाच्य कृदन्त में वैसा ही अन्य में भली भाँति व्यक्त हो सकता है, तुल० कोन् (-न्ति)। कश्मीरी मे एक कर्तृवाची संज्ञा गुपवन्[उ] है, स्त्री० वुन्[उ], पु० कश० वसवाने, स्त्री० वाञि, जो क्रियार्थक सज्ञा क्रियामूलक सज्ञा गुपुनु के निकट है, विकृत रूप गुपोन्[इ], स० गोपन- . यह इन रूपो का अव्यय गुपान् के साथ सबध है जो वर्तमान का निर्माण करने के काम आता है बोंह् छुस् गुपान् ? यह कहा जा सकता है कि पहलवी -आन् अब भी मध्य रूप मे सुरक्षित है, यहाँ यह एक संयोग की बात है, जिसका मूल चाहे प्राचीन हो, चाहे उधार लिये जाने के कारण : यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इसी क्षेत्र मे, ईरानी प्रकार के, -इक् युक्त प्रकार प्रचलित हैं।

पु० राज० -आणो, उत्तर की गुजराती और दक्षिण की सिंधी -आणो की कर्मवाच्य कृदन्तो (भराणो, मराणो) से उत्पत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है यदि इन भाषाओ मे -आ- युक्त कर्मवाच्य का रूपमात्र न होता, यदि भविष्यत् के द्योतक समान रूप न होते (सिंधी मारिणो कर्तृवाच्य विकरण से, भीली पड्वानो), यदि अन्त मे समान स्थिति से निकलीं स्पष्ट सज्ञाएँ दृष्टिगोचर न होती . कबीर की रचनाओ मे बिकानो है, किन्तु साथ ही गरबानो भी। इसी प्रकार बगाली के कर्मवाच्य कृदन्तों को, जो प्रत्यक्षत· -आ- युक्त प्रेरणार्थको (उधार लिये गये ? इस समुदाय की अन्य भाषाओ मे ऐसा नही मिलता · उलटे असामी करओँता, खुवाओँता का बगाली से साम्य नही है) से निकले प्रतीत होते हैं, चला, करा प्रकार के नपु० अर्थ वाले कृदन्तो से निकला हुआ माना जा सकता है :-बंगाली सुखान, हरान; किन्तु साथ ही करान, तथा एक सज्ञा से उत्पन्न : ठेन्- गान।

प्रयोग

यह देखा जा चुका है कि भारोपीय की भाँति सस्कृत में, वर्तमानकालिक कृदन्त वाक्यांश के किसी भी विशेष्य से सम्बद्ध हो जाता है, शब्द चाहे, कम-से-कम सिद्धान्त मे,

किसी कारक या किसी वचन मे हो। यह स्वतत्रता सपूर्ण मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से लेकर आधुनिक भाषाओ के प्रारभ तक बनी रहती है।

अपभ्रश के उदाहरण

ध्वन्यालोक, नवम् स० (पिशेल, 'मैटीरिअलेन', पृ० ४५)

महु महु त्ति भणन्त-अहो वज्जइ कालु अणस्सु।

सरस्वती कठाभरण, दशम स० (वही, पृ० ४९)·

दिट्ठि पिअ पईं सम्मुह जन्ती।

पिअ पन्थहिँ जन्तउँ पेक्खमि।

भविसत्तकह, एकादश स०

२१ १ नाह्नु विरञ्चमानु पेक्खन्ती परिचिन्तइ मणि खेइज्जन्ती।

५७ ८ पेक्खइ ताम समुद्दि वहन्तईं जलहन्तईं।

१५६ ३ दिहयईं तीस गयईं चिन्तन्तिए अनुदिणु पुत्तागमणु सरन्तिए।

इस वाक्याश मे यह देखा जाता है कि कृदन्त मे एक परिपूरक है।

किन्तु ज्योंही किसी आधुनिक भाषा से काम पडता है, कृदन्त केवल मुख्य कारक मे मिलता है, अन्त मे कर्मकारक के भाव सहित

दे० बगाली (कण्ह)

मूढ अच्छन्ते लोअ न पेक्खइ।

दूध माझें लड अच्छन्ते न देखइ।

तुलसीदास

तब् सखी मन्गल-गान करत्।

आवत् जानि भानु कुलकेतु।

चरन् परत् नृप राम् निहारे।

पु० गुज०

शिष्य शास्त्र पठतौ
शिष्यिई शास्त्र पठीतौ } हउँ सांभलउँ

जिसके निकट विकृत कारक केवल पूर्ण रचना मे हस्तक्षेप करता है·

गोपालिई गाए दोहितिए चैत्तु आविउ (गोपालेन गवि दुह्यमानायाम्)।

यूरोप की जिप्सी-भाषा मे कर्त्ता० एक० पु० परोक्ष प्रयोग मे बद्ध हो जाता है: हगेरियन रोविन्डो (ग्रीक और बोहीमियन मे कर्त्ता० के -स् द्वारा व्याप्ति . रोविन्डोस्, जोर देने वाली -i द्वारा रूमानियन और जर्मन मे रोविन्डोइ)।

किन्तु जिस समय से कृदन्त किसी भी शब्द के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति नहीं

रखने लगता, उसका कार्य बदल जाता है। ऐसा उदाहरणार्थ मराठी के व्याप्ति-युक्त रूप में देखा जाता है, जिसमें केवल विशेषण अधिक होता है . म० वाहातें पाणी, पु० म० पथियन्तां ठायीं, वाढतें झाड, तथा इसी प्रकार असामी जीयत् माछ् के अव्याप्ति-युक्त रूप में। वह असामी रखों ता, करों ता, गुजराती जता आवता नो जेवो मे विशेष्य हो जाता है। प्राचीन भाव प्रदान करने के लिये उसे सहायक क्रिया, विशेषतः 'होना', के कृदन्त के साथ सम्बद्ध करना आवश्यक है, पु० राज० जागतौ हुँतौ, देक्खतौ करतौ, हिन्दी जरासन्ध् भी यों कहता हुआ उनके पीछे दौड़ा।

वास्तव मे प्राचीन कृदन्त के इसके बाद केवल दो प्रधान कार्य अधिक रह जाते हैं; कर्तृकारक मे वह पुरुषवाचक रूपों का स्थान ग्रहण कर लेता है; विकृत कारक में, उससे पूर्ण रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

१

नामजात वाक्यांश के सिद्धान्त की दृष्टि से यह निश्चित है कि वर्तमानकालिक कृदन्त स्वय अपनी वर्तमानकालिक क्रिया का भाव रखे। वास्तव में, यह केवल बाद को होता है और सभवत भूतकालिक कृदन्त के साथ सादृश्य के कारण। पुरानी मराठी मे मिलता है

उदक तें आखण्ड असत।
तेथ तिन्ही लोक झल्मलीत।
तेथ समुद्रजल्[अ] उसलत्[अ] कैलासवरी।

और व्यप्ति-युक्त रूपो के साथ मी कर्ता (पु०), ती होती, ते मर्ते।

तुलसीदास की रचनाओ मे ·

राउ अवधपुर चहत सिधाए।
सिराति न राति।

इसी प्रकार सिन्धी कविता मे है।

दर्द (दे० ऊपर) और पजाबी (डोग्रा, आउँ मार्दा) को छोड़ कर यह प्रयोग आज दुर्लभ है, यह देखा गया है कि वास्तविक वर्तमान का भाव एक सहायक के जुड़ जाने से प्राप्त होता है। इसके विपरीत कुछ भाव अनिश्चितता के अर्थ से निकलते हैं, अर्थात् अनद्यतन भूत० और भविष्यत्।

भविष्यत् का भाव सिन्धी मे देखा जाता है : हलन्दो, हलन्दी; हलन्दा, हरलन्दिउँ। उत्तम और मध्यम पुरुषों मे पर-प्रत्ययों द्वारा गुण निर्धारित होने के सबध मे, दे० आगे।

हिमालय में, जौनसारी पु० मार्दा, स्त्री० मार्दी भविष्यत् के सभी मध्यम और

प्रथम पुरुषों में काम आते हैं। किउँथली मे इस रूप का विशेष्य वाला भाव है और वह नकारात्मकता सहित सभावना का भाव ग्रहण कर लेता है :

माह्रे निंह् दन्दो।
तेरे निंह् डेउन्दो आन्थि।

यहाँ मैथिली-मगही समुदाय के प्रथम पुरुष की, और पूर्वी बगाली मे भविष्यत् के मूल की गणना करना आवश्यक है से देखत्।

दूसरी ओर अपभ्रश द्वारा अनद्यतन भूत का भाव प्रमाणित है; उदाहरणार्थ पिशेल कृत 'मेटीरिअलेन' का छन्द X देखिए, जो एक वर्णन है, अथवा भविसत्तकह का यह वाक्याश जिसमे दो प्रकार के भूत० परस्पर विरोधी रूप मे आते हैं, २९४, ५ :

जो चिरु अग्गिमित्तु दिउ होन्तओ, सो एउ तिलयदीउ सपत्तओ

इसी प्रकार पुरानी राज० मे

भरथ नै दिनप्रति ओलम्भौ देती।

उसी से गुजराती प्रवृत्ति भूत० (चल्तो) और हिन्दी अपूर्ण (चल्ता) है।

किन्तु प्राकृत और अपभ्रश मे एक भाव मिलता है, जो अनिश्चित और भूतकाल के योग का परिणाम है यह अवास्तविक सभाव्य है। अपभ्रश के लिये, दे० भविस०, पृ० ४१* तथा पिशेल, 'मेटीरिअलेन', पृ० ११, छन्द ३५१।

पु० राज०

जै राग द्वेष न हुत, तौ कौंण जीव दु ख पामत।

तुलसीदास :

जौं पै जिअ न होति कुटिलाई।
होत जनम न भरत को।

गुजराती

जो तये आन्धला होत्, तो तम्ने पाप् न होत्।

पजाबी

जो मैं घल्ल्दा।

हिन्दी

जदि मैं जान्ता, तो कभी नहें जाता।

मराठी मे प्रत्ययो के कुछ अश से वर्तमान के सभाव्य का भेद किया जाता है . पु० म० लरि मी न म्हणता जरि न देखता, यह वर्तमान से भिन्न है : करितो (विस्तार के लिये देखिए अत मे दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५६५)।

मैथिली मे भी बराबर क्रियारूप-युक्त सभाव्य मिलता है पु० मै० देखितहुँ,

करैतन्हि; वास्तव में, जब कि प्रत्यय प्रथम० एक० पु० -अत्, स्त्री० -अत्इ वर्तमान को निश्चित कर देता है, तो -ऐत्, स्त्री० -ऐतइ युक्त संभाव्य को निश्चित कर देता है। बंगाली मे (मध्यकालीन बंगाली से आगे) एक तुलनीय रूप मिलता है :

डुबिआँ मरितोँ जबे ना थाकित कान्हे।

इसी प्रकार उडिया मे है, और असामी के निश्चित कृदन्त हे ँते- न् मे उनका चिन्ह विद्यमान है, जो उसे भूत० मे सम्बद्ध करते समय क्रिया को संभाव्य का भाव प्रदान करता है।

२

संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे स्वच्छन्दतापूर्वक, अनुकूल कृदन्त से युक्त, गौण कारक मे विशेष्य का प्रयोग होता है, जिसमे अप्रत्यक्ष पूर्व सर्ग का भाव निहित रहता है (लुप्त समुच्चयबोधक के फल-स्वरूप प्राप्त पूर्ण कर्त्ता० दुर्लभ है)। जो कारक वेद मे आया है वह अस्थायी भाव वाला अधिकरण है प्रयत्य् अध्वरेँ, उर्छन्त्याम् उर्षसि, सूर्ये उदिते। ब्राह्मण ग्रन्थो मे कुछ मनोवैज्ञानिक भाव प्रकट होते दिखायी देते हैं ' वर्षति, रात्र्या भूतायाम्। इसी प्रकार पूर्ण संबंध०, जो इन्ही पाठो में दृष्टिगोचर होता है, बाद को 'अनादरे' भाव ग्रहण कर लेता है . रुदत. प्राव्राजीत्, किन्तु यह एक गौण विकास है। पाली मे नियमित रूप से अत्थ गते सुरिये, गच्छन्तेसु सकटेसु।

आधुनिक भाषाओ मे यह प्रणाली सुरक्षित बनी रहती है कि विचित्र विकृत रूप स्वभावत प्राचीन अधिकरण का स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसा प्राय. विकृत रूप पु० एक० से होता है :

पु० राज० :

मेघि वरसतइ, मोरा नाचइँ।
गोपालिइँ गाए दोहितीए चैनु आविउ।

तुलसीदास

देखत् तुम्ही नगर जेहि जारा।

उडिया :

चलन्ते मेदिनी कम्पं।

प्रधान पूर्वसर्ग के कर्त्ता, वास्तविक या अर्थानुकूल (न्यायानुकूल), में व्यवहार द्वारा कृदन्त का लोप हो जाता है, किन्तु बिना उसके साथ साम्य रखते हुए; तो फिर पूर्ण रचना तक ही अपने को सीमित रखना पडता है .

मुहम्मद जायसी :

जो भूले आवतहि।

पू० बंगाली :

चलिते॑ चलिते॑ तोर रुणुझुणु बाजे ।

बंगाली

से नाचिते नाचिते आसे ।

हिन्दी

हम गाते गाते सीती हैं ।

इसी प्रकार नेपाली जान्दा (विकृत०), जाँदै (अधि०), उड़िया देखन्ते, आसामी चाइ थाखोंते।

इस प्रकार कृदन्त सचमुच क्रियामूलक संज्ञा हो जाता है, जो एक उपासर्गात्मिक अव्यय द्वारा निर्धारित होने की संभावना रखता है मार० आवृता नै (तुल० बाप् नै), नेपाली ती छोरा घेरै फ़रकै छाँदा-मा तेस्को बबुले देखि, एक विशेषण द्वारा निर्धारित होने की संभावना रखते हुए भी लखीमपुरी हमारे खात्[ह] मा दुन्दु न मचाओ, लहदा मेरे औंदेआँ मोएअ।

यह रचना उस भूतकालिक कृदन्त के सदृश है जो प्राचीन काल से विशेष्य रूप धारण करने की क्षमता रखती है। इससे बंगाली क्रियार्थक संज्ञा की व्याख्या की जा सकती है जाइते छि, से ताहाके मारिते लागिल, से पडिते बसिया छे (वस्तुत 'पढ़ते हुए'; तुल० आशयसूचक भाव के लिये किउँठली सीव्लेउन्दे); से चलिते पारे, जाइते दओ तथा फलत ताहाके जाइते देखिलाम्, जिसमे जाइते का ताहाके के साथ एकान्वय मानने की आवश्यकता नही है, उदाहरणार्थ हिन्दी मे मैंने लड़के को चल्ते हुए देखा की भाँति।

मराठी, गुजराती और राजस्थानी मे बहु० विकृत० के समान प्रयोग मिलते हैं

मराठी

तो चल्ताँ चल्ताँ खाली पड्ला ।

त्याला खेल्ताँ म्याँ पाहिले॑, ।

कर्त्ता भिन्न-भिन्न रहने पर, कृदन्त का क्रिया 'होना' के कृदन्त के विकृत रूप के साथ प्रयोग स्वच्छन्द रूप मे होता है

आयी खेलत् अस्ताँ, तो आला ।

मी काम् करीत् अस्ताँ, आपण् काँही॑ करीत् नाही, ।

परसर्ग सहित .

म्या जेविताँ ना तुम्ही चिठी वाचून् टाकिली , ।

तुला हे॑ काम् कर्ताँ ना येत् नव्हेत्; ।

गुजराती (अधिक संदिग्ध, क्योंकि बहु० के कर्त्ता० और विकृत रूप समान हैं) :

बधाँ छोक्राँ वात् कर्ताँ जाय् ने खाताँ जाय्;

मारवाडी :

माह्रो माल् मगाव्ताँ घडी न कर्सी जेज्।

सान्निध्य के रूप

ऊपर उल्लिखित, कर्त्ता० में कृदन्त की पुरुषवाचक रूप के साथ तुल्यता आधुनिक भाषाओ के विशेषत प्राचीन काल मे प्रमाणित है। समय के साथ-साथ उनमे से कुछ मे ये कृदन्त क्रिया-रूपो मे मिल जाते हैं अथवा क्रियामूलक प्रत्ययो के आवरण मे आते हैं।

इस प्रकार कुछ प्रभावपूर्ण वर्तमान उत्पन्न होते हैं जो उस प्राचीन वर्तमान का स्थान ग्रहण कर लेते हैं जिसने अनिश्चित का भाव ग्रहण कर लिया था। पृथक्त्व पा० अच्छति (स० आस्ते का उत्तराधिकारी) के वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ सान्निध्य मे पाया जाता है, और बाद को ऐसी अभिव्यजनाओ मे जैसे अप० जा अच्छइ पेच्छन्तु। उदाहरणार्थ, पु० मराठी मे हैं म्हणत् आहासि, म्हणत् असे, तो असे बोल्त (अपवाद स्वरूप क्रम), गल्ती आहे, कारितें (बहु० नपु०) आहाति।

तुलसीदास . जानत अहौं, जानति हौं, जानते हौ।

इसी प्रकार हिन्दी होते हैं, नैपाली भन्द छन, सिंधी मारिन्दो आहिआँ, लह्दा मारेन्दा हाँ, प० मार्दा (मार्ना) आँ, नूरी जान्दो मि। क्रिया हो- सहित विशेष अर्थ . प० जान्दा होवाँ (किन्तु, जान्दा हुन्दा, है), सिंधी मारीन्दो हुआँ, गु० हुँ उत्रतो होवुँ (वही उतरूँ जैसा भाव) जो उतरूँ छुँ से भिन्न है।

इन सूत्रो की स्थिरता के कारण कुछ अश आपस मे जुड गये है . पु० म० देखतासि, देखताति, लह्दा मारेनाँ जो मारेन्दा आँ के निकट है। सिंधी भविष्यत् मे क्योंकि अनुकूल पडता है, प्रथम पुरुष मे कुछ विशुद्ध नामजात रूप है हलन्दो, हलन्दी, हलन्दा, हलन्दियू, किन्तु (स्त्री० बहु० को छोड कर) मध्यम पुरुष मे स्वर-सधि के फलस्वरूप क्रियामूलक प्रत्यय हैं . हलन्दें, हलन्दिएँ, (हलन्दो, -दी आँहें से), हलन्दो (हलन्दा आह्यो), और यहाँ स० अस्मि, स्म से निकली क्रिया 'होना' को छोड कर,

ऐसा ही उत्तम पुरुष में पाया जाता है . एक० पु० हलन्दु-स् ए, स्त्री० हलन्दि-अस् ए, तुल० आन्दुस् जो *आन्दु-आहो-स् से है, बहु० हलन्दा सूँ अथवा सी (ई के प्रभावान्तर्गत, यह दूसरा रूप, जो मूलत: स्त्री० कृदन्त था, सभी क्रियाओं में प्रसारित हो जाता है), सिन्धी में भी इसी प्रकार का विभाजन मिलता है : १ एक० हुनु-स, हनि-स् (*भवन्तो-स्मि,

*भवन्ती-स्मि), बहु० हने-स्; २ एक० हनो, हन्ये, बहु० हनेत् (स्थ), ३ एक० हनु, हनि, बहु० हने।

पूर्वी समुदाय मे, जिसमे विकृत रूप कृदन्त ने नामजात या क्रियार्थक संज्ञा का भाव धारण कर लिया है, क्रिया 'होना' के साथ विन्यस्त होने की प्रवृत्ति प्रकट होती है बगाली चलिते छे "वह चल रहा है, वह चलने को है, वह चलता है", कहने को वास्तव मे तुलनात्मक दृष्टि से बगाली मे वह हाल की रचना है, किन्तु १५ वी शताब्दी मे असामी-लेखको की रचनाओ मे उसके प्रमाण मिलते हैं।

इसी प्रकार समवत प्राचीन मैथिली मे ·

गोड् लगैत छी पईयाँ परँत छी। आधुनिक मैथिली मे, मगही मे, भोजपुरी मे अत्यन्त विकसित "क्रिया-भाव" सहित।

लखीमपुरी मे भी, कम-से-कम एकवचन मे, यही सूत्र मिलना है · देखत् ^इ हउँ, तु, वा देखत् ^इ हइ, लिग से मुक्त, किन्तु बहुवचन मे स्त्री० मध्यम और प्रथम पुरुषो मे देखा जाता है देखेती हउ, हइँ, (तुल० अपूर्ण मे देखती रहउ, रहइँ), भविष्यत् मे देखेती होइहउ, होइहइँ, सभाव्य मे देखेती होतीउ, होतिँ। "भूत० सभाव्य" मे कुछ योगात्मक रूप पाये जाते हैं देख्तेउँ, देखते (ह्) उ।

केवल भारत के मैदानी हिस्सो मे, गुजराती और राजपूती बोलियो मे कृदन्त के आधार पर निर्मित वर्तमान का अभाव मिलता है, किन्तु प्राचीन पाठो मे वह समुदायगत मिलता है . वाद करिती छे, नास्ता छँ।

जिप्सी-भाषा ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण समुदाय है जिसमे वर्तमान० कृदन्त क्रिया-रूप से अलग हो जाता है। तो भी फिलिस्तीन की जिप्सी-भाषा मे क्या विधेयात्मक पर-प्रत्यय एक० -एक्, बहु० -ऍन् (ईरानी से उधार फिलि० -आक्, ओसेट, -ॲक्, -ॲग्) है, जो कृदन्त और क्रिया का एक साथ काम देता है .

जन्द्-एक् "वह जानता है" (तुल० अम जन्दो-मि "मैं जानता हूँ")।

पन्जी आतेक् लहेर्दोस् मे^ओ।

जरो कुर्सेतोत्-एक् "लडका छोटा है" (कुर्सेतोत् जरो "छोटा लड़का")।

लचि कुर्सेतोत्-एक् "लडकी छोटी है"।

भूतकालिक कृदन्त

रूप :

सीधे धातु से निकलने के कारण, सस्कृत में इसके अत्यधिक विविध रूप हुए जिनका वर्तमान० विकरणों से कोई सबध नही था : भूत-(भवति), पतित-(पतति), आत-

(जायते, जानयति), ज्ञात-(जानाति), कान्त-(कामयति), पीत-(पिबति-), मृत-(मरति), भक्त- (भजति), पृष्ठ- (पृच्छति), इष्ट- (इच्छति तथा यजति), मित-(मिनोति), नद्ध- (नह्यति), भिन्न- (भिद्यते, भिनत्ति) आदि। केवल साधित क्रिया का -इत- युक्त (चोदित- : चोदयति) निरंतर मिलने वाला रूप है जो किन्तु कुछ सामान्य या मौलिक क्रियाओ तक प्रसारित हो ही जाता है (चरित : चरति आदि)।

सामान्यतः परिवर्तन-क्रम का परित्याग तथा स्पष्ट रूपों की खोज, और अधिक विशेष रूप से क्रिया में वर्तमान० विकरण की प्रमुखता और कृदन्तों वाले क्रियामूलक विशेषणों का सामंजस्य, इन सब बातों का परिणाम हुआ मध्यकालीन भारतीय भाषा में रूपों का पुरोगामी सामान्यीकरण : -इत- का प्रचार पाली में हो जाता है और प्राकृत मे उससे -इद-, -इअ- मिलते हैं पा० पुच्छित- जो प्राकृत पुच्छि(द्)अ, द्वारा जारी रहता है, पुट्ठ- के निकट दृष्टिगोचर होता है जो जैन धर्म-नियम मे भी सुरक्षित है (पृष्ट-), प्रा० जाणिअ- स० ज्ञात- का स्थान ग्रहण कर लेता है, आदि।

तो भी प्राकृत मे "विशेष" कृदन्तो की कुछ सख्या बनी रहती है, जिनमें कुछ नये रूप और जुड जाते हैं जैसे पक्क-(पक्व-), मुक्क-(*मुक्न ? मुक्त- अन्य कृदन्तो से सान्निध्य-प्राप्त कश० -मोत्^उ मे फिर मिलता है), दिण्ण- (पा० दिन्न-) जो दत्त- के लिये है (एक लुप्त वर्तमान *दिदति के अनुकरण पर ?)। आधुनिक भाषाओ वे फिर मिलते हैं, और साथ ही उनमे कुछ वृद्धि हो जाती है . ये कृदन्त सिंधी मे बहुत हैं, लहदा और पजाबी में कुछ कम, कुछ गुजराती मे हैं, 'लिंग्विस्टिक सर्वे' की सबधित जिल्दो मे उनकी सूची मिलेगी। कश्मीरी मे हैं गौव्, गव् (क्रियार्थक सज्ञा गछुन, स० गत-, गच्छति) आव् (आव्) (आगत्-), मोर्यौव् (मृत-), दोद्^उ, तुल० शिना दोदुॅ (दग्ध-), ब्यूठ्^उ, तुल० शिना बेटु (उपविष्ट-), ब्रूठ्^उ (दृष्ट-), मोठ्^उ (मृष्ट-), मुतु, तुल० शिना मुतु-(मुक्त-); अश्कुन में हैं गृद् (गत-), चे (कृत-), प्रौत्‌ब, [कती प्त, वैगेलि प्रत "उसने दिया" (प्राप्त-), निर्सिन (निषिण्ण-)]। जिप्सी-भाषा मे : नूरी गर, यूरो० गिलो (गत-), नूरी सित, यूरो० सुतो (सुप्त-); सिंहली कल् (कृत-, पा० कत-), मल (मृत-), दुटु (दृष्ट-, पा० दिट्ठ-), गिय (गत-) दुन् (पा० दिन्न-)। मराठी में ये कृदन्त -ला, क्षीण कृदन्त का पर-प्रत्यय द्वारा व्याप्ति-युक्त हो जाते हैं : गे-ला, मे-ला, जा-ला, पात्-ला; हिन्दी में भी बराबर है गया (गत-), एक सस्कृत अनुनासिक धातु से, तथा -ऋ- की धातुओं से, किया (कृत-), मुआ (मृत-); कुछ प्राचीन कृदन्तों ने क्रियाओं के विकरणों का काम दिया है, मराठी लाध्- (लब्ध-), मुक्- (प्रा० मुक्क-), हि० बैठ्-

(उपविष्ट-) आदि। उससे नामजात वर्ग से बाहर समुदायो और पुनर्निर्मित रूपों का निर्माण हुआ है जैसे पु० हिं० दीन्ह (प्रा० दिण्ण-) ने, तुल० म० दिन्हला, कीन्ह, लीन्ह, पान्ह के आदर्श के रूप मे काम दिया है, किन्तु दीघ और कीघ का निर्माण लीघ- के, लीन्ह- और पा० प्रा० लद्ध- सहित प० लद्धा, सिंधी लधो द्वारा प्रमाणित, अनुकरण पर होना चाहिए।

वही जहाँ ये दृष्टिगोचर होते हैं, इन प्राचीन कृदन्तो की प्रतिद्वन्द्विता मे सामान्यतः सामान्य रूप आते दिखायी देते हैं। जिनका निर्माण वर्तमान० विकरण से होता है वे सस्कृत -त-, -इत के प्रतिनिधियो का अनुसरण करते हैं, पु० राज० कहिउ (कथित-), थिउ (स्थित-) के निकट थयउ, सिंधी मार्‌यो, प० मार्‌या, ब्रज मार्‌यौ, हिं० मारा, कश्० गुपुउं, गुप्योव्, छु (*अच्छ- "होना" से), इसी प्रकार शिना और काफिर मे है (अश्कुन मुचंग्यों), नूरी मे पर-प्रत्यय -र्- रूप के अन्तर्गत, -ल्-, जिसकी आगे उल्लिखित पर-प्रत्यय के साथ गडबड हो गयी है, के अन्तर्गत यूरो० जिप्सी-भाषा मे . जिससे है नूरी केर, यूरो० खलो (खादित-)।

प्राकृत मे स्वच्छन्द रूप में पर-प्रत्यय -इल्ल- का प्रयोग हुआ है (-वन्त्- के तुल्य स० -इल- का रूप, पाणिनि ५.२ ९६-९७, -अल-, -इल-सभवत अभिव्यजक, वही, ९८-९९) और जैन प्राकृत विशेषत. इस पर-प्रत्यय को कृदन्तो का व्याप्ति-युक्त रूप प्रदान करती है : आगएल्लिया, उसके आधुनिक रूप मराठी मे निरन्तर मिलते हैं (देखिला, गेला), बहुत कम गुजराती मे (-एल्, -एलो रूप के अतर्गत), नियमित रूप से बिहारी (मैथिली देखल्, पीउल्, भेल्, मरल् अथवा मुइल्), बगाली (देखिल, गेल), और उडिया मे (देखिला), निस्सन्देह शिना मे (बुलु जो बूँउ, स० भूत- के निकट है, टर्नर, बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५३४), यूरोप की जिप्सी-भाषा मे (अचिलो, सुतिलो बगाली सुतिल् की भाँति, दीनिलो जो दिनो "दिया गया, मारा गया" के निकट है), पुरानी हिन्दी मे (कबीर पुच्छल, बाधला), ग्रामीण हिन्दी मे (गयला, बेचला)। लहदा मे यह पर-प्रत्यय क्रियार्थक सज्ञा के आधार पर निर्मित कर्तृवाची सज्ञा के लिये सुरक्षित है, मार्‌णाला, मारणेआला, तुल० हिन्दी गैल्।

प्रसगवश यूरोप की जिप्सी-भाषा की व्याप्ति -दो, अश्कुन -द, का भी उल्लेख करना आवश्यक है, जिसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है, द- कृदन्त सहित साभिध्य, जिसकी ओर सकेत किया जा चुका है, इस भाव को लेकर चलता है · हिं० निकाल देना जो निकाल्‌ना के समीप है, किन्तु कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रत्येक परिस्थिति में रूप प्राचीन है, क्योंकि उधार लिये गये शब्दो मे यूरोप मे ग्रीक से लिया गया एक विशेष कृदन्त है . बलन्सिमेन। शिना में -दु- युक्त भूत० की एक श्रृखला है, पशींदु, चरीदु, बिलादु (बिलिज़्-, स० विली-

यते) ; यह निश्चित नही किया जा सकता कि यहाँ ऐसा बदु, ददु (बद्ध-, दग्ध-) के विशेष प्रकार का प्रसार हो गया है।

प्रयोग

आधुनिक भाषाओ का सूत्रपात होने के समय, भूत० की पुरुषवाचक अभिव्यंजना नही थी, -(इ)त-युक्त सस्कृत विशेषण से निकले क्रियामूलक विशेषण ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था। यह देखा जाता है कि फल के रूप मे क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने से शकल बदल जाती है, दूसरे कारक मे पूरक कर्त्ता हो जाता है, और न्यायानुकूल कर्त्ता का प्रचार होना चाहिए गौण कारक द्वारा, करण० द्वारा, यदि वह हो तो। अपभ्रश (सनत्कु० ६७२) के इस दोहे मे दोनो रचनाएँ मिल जाती हैं :

तुहुँ कहिँ गइय चडउ मम ति भणन्तु।
दिट्ठिउ विण्हुस्सिरिजुइण निवइण कह वि भमन्तु।

पु० मराठी

हे कीर्ति .आली तुज।
म्याँ अभिवन्दिला श्रीगुरु।

पु० राज०

हउँ बोलिउ (दो पु० कर्त्ता०)।
राजकन्या मैं दिठी (मया दृष्टा)।

तुलसीदास .

सो फलु हम पावा।
मैं गुरु सन सुनी कथा।

भाषाओ के कुछ प्राचीन पाठो मे भी ऐसी ही रचनाएँ मिलती हैं। ऐसे पाठ अब नष्ट हो गये है

पु० मैथिली ·

शङ्करे गोरी करि घरी आनली।

पु० बगाली :

'शुणिली काहिणी'।

जहाँ सकर्मक क्रिया का पूरक व्यक्त नही होता, वहाँ क्रिया नपु० मे रहती है :

स० महा० : कुरुष्व यथा कृतम् उपाध्यायेन।
प्रा० मृच्छ० : सुट्ठु तुए जाणिदां;
पु० म० : अर्जुनें म्हणितलें।

जिन भाषाओ मे नपु० नहीं है, पु० ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है : हिं० गोपाल् ने जाना कि . . . . .

इस प्रकार की रचना को क्रिया के कृदन्त के अधिकाधिक निकट पहुँचने का लाभ है, और इस रूप मे उसकी नामजात एकरूपता विलीन हो जाती है। राजस्थानी में वह अकर्मक क्रिया मे मिलने लगता है

मारवाडी मैंनकिऐ डर्यौ गयो।

मालवी : छोटा लडकाएँ चल्यो गयो।

दूसरी ओर, व्यक्त पूरकयुक्त सकर्मक क्रियाओ में उसका प्रयोग होता है। यही बात फिर पूरक की विशेषता बताने वाला प्रत्यय ग्रहण कर लेता है .

पु० राज० .

श्रवकिई देव पूजिउँ (श्रावकेन देवाय पूजितम्, न कि . देव . पूजित)। और अभी हाल तक, निर्धारित सज्ञाओ की साक्षात् रचना-सहित . पंजाबी .

उन्हाँ नै कुडी नू मारिआ।

राजा ने इस बात् को बताया "राजा द्वारा यह बात बतायी गयी, राजा ने यह बात बतायी" (राजा ने यँ बात् बतायी, के निकट)।

मर्द्ने सैरों को मार् डाला।

मराठी (इधर का और विद्वत्तापूर्ण, केवल चेतन होने की सज्ञा सहित) ·

त्या नें रामाम् मारिलें (राम मारिला के निकट) "उसने राम को मारा है।"

अत मे दोनो रचनाएँ परस्पर मिल जाती हैं और कृदन्त कर्तृवाची के रूप मे व्यक्त कर्त्ता के साथ साम्य रखता है। गुजराती मे ऐसा निरतर होता है, मराठी मे अक्सर, राजस्थानी मे कभी-कभी। उदाहरण :

गु० तेणे ए राजाए पकड्यो।

तेणे राणी ने नसादी मुकी।

पु० राजस्थानी मे है ही

सुन्दरी नै भरतै रखी।

म० त्याणे आपल्या मुल्गास् शाळें त् पाठविला।

यह दुरूह रूप अन्यत्र प्रमाणित नही होता; परपरागत रचनाओ की शक्ति बताने की दृष्टि से वह रोचक है, क्योंकि उदासीन कृदन्त-युक्त वाक्यांश प्रकार में साम्य फिर स्थान प्राप्त करता है।

इस रीति की प्रधान अपूर्णता पुरुष का अनिर्धारण है।

आधुनिक भाषाओ मे, और कुछ मे एक साथ ही, उन दो रीतियों का आश्रय ग्रहण

किया गया है जिनका प्रयोग संस्कृत में न्यायानुकूल कर्ता या व्याकरणीय कर्ता प्रकट करने के लिये हुआ था।

१. भाषाओं में जहाँ प्रत्ययांश रूप हैं वहाँ सर्वनाम काम आता है। इस प्रकार क्रिया "होना" के लिए नूरी में है एक० १ अथ़ेंतोम्, २ अथ़ेंतूर जिनमें कृदन्त अथ़ेंतो (स्थित- ?) है जिसके पश्चात् -म् और -र् है। सम्भवतः यह मुख्यकारक है (अम, अतु से पूर्ण रूप), यद्यपि -म् और -र् का सामान्य प्रयोग कर्मकारक का होना चाहिए।

सिंधी में मुँमारिओ (मारी) "मैंने उसे मारा है" का प्रयोग होता है। किन्तु साथ ही जब उसमे कहा जाता है पिउ-म्^{ए}, देखिए चिओ-माँ-स्^{ए} "यह कहा गया है —मुझसे— उसको", तो विकृत रूप सर्वनाम सीधे कृदन्त में हो जाता है. मारिउ-म्^{ए} "मैंने उसे मारा है", मारिआ म्^{ए} "मैंने उसे मारा है (स्त्री०)"।

यही प्रणाली लहदा और कश्मीरी मे है (जिसमे क्रियाओ-सहित केवल प्रत्ययांश-युक्त सर्वनाम हैं) ·

म वुछ्योव अथवा वुछ्योम्।
में वुछ्येयें अथवा वुछ्येयँम्।

गुपुम् गुप्$^{उँ}$म् "मैंने उसे छिपा दिया है", गुपिम् गुपँम् "मैंने उन्हें छिपा दिया है", गुपुथ् गुपुंउथ् "तूने उसे छिपा दिया है" आदि।

यही प्रणाली, कम-से-कम आंशिक रूप मे, चितराल की दमेली मे भी है : एक० १ कुरु-म्, २ कुरो-प् (-प् स० -त्वा से) जो प्राचीन वर्तमान १ कुरिम् २ कुर्‌दु से भिन्न हैं।

बंगाली मे भी एक सर्वनाम (प्राचीन एक० हउँ अथवा बहु० आमि) उत्तम पुरुष मे पाया जाता है . पु० बंगाली पडिलहों, आधुनिक पड़िलाम्। रूपो की कठिनाइयो के अतिरिक्त, इस अनुमान के अंतर्गत उलटे सामान्य प्रयोग मे प्रत्ययांश-युक्त सर्वनामो का अभाव मिलता है।

२. अत्यन्त सामान्य सूत्र है कृदन्त मे सहायक क्रियाओ की अनुबधता, जिससे सामासिक रूपों की रचना पर इकट्ठे आगे विचार किया गया है। सहायको मे क्रिया अस्- ने, जिसका आदि विशेषत. स्वर-संधि या स्वर-वर्ण-लोप की प्रवृत्ति रखता था, शीघ्र ही कृदन्तो के साथ योग स्थापित करना शुरू कर दिया। पाली मे आगतो'म्हि, गतासि, वुत्थ्'अम्ह का प्रयोग हुआ है; और कर्मवाच्य में मुत्'अम्हि; दन्त्'अम्ह; और साथ ही सकर्मक भाव सहित : पत्तो'सि निब्बाण। किन्तु ये वाक्य-विस्तार

व्याकरण की प्रणाली में प्रवेश नहीं कर पाते; वे कृदन्तो से अथवा साथ के क्रियामूलक विशेष्य से बने हुए अन्य रूपों के साथ आते हैं, तिट्ठति, चरति, वसति, हर कारक में वे अतीत के ह्रास-सहित पाली मे बराबर-बराबर चलते हैं। किन्तु प्राकृत मे परि-स्थिति बदल जाती है। मृच्छकटिक मे, क्रियाविहीन प्रथम पुरुष मे मिलता है :

पपलीणु
अलकारओ तस्स हत्थे णिक्खित्तो।

किन्तु मध्यम पुरुष मे

गहिदो सि।
नाम से पुच्छिदासि।
तुल० तुम मए सह उज्जाण गदा आसि।

तथा उत्तम पुरुष के स्त्री० मे

अज्जाए गदम्हि (पूर्ववर्ती वाक्याश की गनि के अनुरूप)।
सन्देसेन पेसिदम्हि।
अलकिदम्हि रोदेहि अक्खरेहि।

इसी प्रकार मराठी मे मिलता है घातले आहाति, किन्तु म्यां देख्लासि, तू पुजिलासि भारते। उत्तर-पश्चिम मे यह बात काफी मिलती प्रतीत होती है

अश्कुन एक० प्रथम०, पु० ग्वो, स्त्री० ग्अई "वह चला गया, वह चली गई", किंतु ग्वोम् (गतो'स्मि) "मैं चला गया हूँ", 'तो ऐ लउम्' "तेरे द्वारा मैं पीटा गया हूँ।"

कश्मीरी, केवल अकर्मक मे

वुपुस्, स्त्री० वुप्उस् "मैं विक्षुब्ध हो गया (गयी) हूँ" (वुप "मैं विक्षुब्ध होना हूँ")।

छुस्, स्त्री छुँस् "मैं हूँ" (प्राकृत से निकले अच्छ- कृदन्त के आधार पर निर्मित)।

ओसुस्, स्त्री० ओसुँस् "मैं था, थी" (अस्- का अपूर्ण, प्राकृत आसीं से निकले कृदन्त के आधार पर निर्मित)।

(बहु० के उत्तम पुरुष प्रथम की भाँति नामजात रहते हैं)।

सिंधी, पु० बिठुस्[ए] "मैं आरा से हूँ", हलिस्[ए], स्त्री० हलुस्[ए] "मैं गया, गयी"; लहदा पु० आहुस्, स्त्री० आहिस् "मैं था, थी"।

क्रिया "होना" के साथ इस योग का परिणाम पुरुषवाचक क्रिया के कृदन्त के साथ निकटता के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

कश्मीरी मे मध्यम पुरुष प्रत्यय द्वारा सामान्य क्रियाओ से भेद उपस्थित नहीं

करता · एक० पु० वुपुख्, स्त्री० वुप् उंख् सीधे वर्तमान वुपख्, जो अस्पष्ट भी है, की याद दिलाता है; बहु० पु० वुपिव, स्त्री० वुपॅव वर्तमान वुपिव् के साथ-साथ चलता है।

पु० मराठी मे, देखिलासि, पुजिलासि के निकट उत्तम पुरुष मे मीं कवलिलों मोहें मिलता है जिसमे कृदन्त और क्रियामूलक प्रत्यय के बीच मे कोई मध्यवर्ती धातु नहीं है। इसलिए अकर्मक क्रिया मे है :

मी पड्लों, पड्ल्यें।

तूं पड्लास्, पड्लीस्, नपु० पड्लेंस् ।

यह रूप-रचना, कर्तृव्याच्य क्रियाओ मे भी पायी जाती है :

तूं काम् (नपु०) केलेंस् (न कि, त्वां काम् केलें) ।

तुम्ही काम् केलेंत् ।

तूं पोथी (स्त्री०) लिहिलीस ।

तूं पोथ्या लिहिल्यास् ।

यहाँ कर्तृवाच्य प्रत्यय कृदन्त मे, जो साम्य की प्रवृत्ति रखता है, जुड़ जाता है; भूत० रूप-रचना के वर्तमान० वाले मे पूर्णत मिल जाने मे केवल थोडा-सा ही अन्तर रह जाता है, और मराठी बहुत बडी सख्या मे क्रियाओ का अतिक्रमण कर गयी है :

पु० म० मुकुट लेइलासि ।

मिं पाणी (नपु०) प्यालों ('प्याल्यें' यदि 'म्या पाणी प्यालें' के तुल्य कर्त्ता स्त्री० है)।

मीं तुझी गोष्ट् (स्त्री०) विसार्लों ।

प्रथम पुरुष मे केवल कृदन्त ही रहता है, किन्तु जिसका कर्त्ता० के साथ साम्य होता है और जो फलत कर्तृवाच्य कृदन्त हो जाता है

ती असें म्हणली।

तो सस्कृत् शिक्ला।

इसी लिंग की नेपाली मे रचना है, अन्तर केवल इतना है कि कर्त्ता (कर्तृवाची कारक) मे रहता है; निस्सन्देह ऐसा तिब्बती आधार के प्रभावान्तर्गत होता है :

वेस्या-ले भनी (स्त्री०) ।

तिनिहरु-ले आनन्द माने (पु० बहु०) ।

क्रिया 'होना' के साथ आने वाले कृदन्त को कर्तृवाच्य का भाव प्रदान करने की प्रवृत्ति प्राचीन होनी चाहिए; निय के प्रमाण प्राप्त होते हैं कदम्हि, पेसिदम्हि, प्रहिदेसि, असिवन्ति की भाँति। इससे पु० सिंहली दुनमो (*दिन्ना-स्मः), कलम्ह और आधुनिक

रूप-रचना कॄअपिमि (*कल्पितो'स्मि) कॄअपुवमि (*कल्पितको'स्मि) आदि, जिससे प्रथम पुरुष नामजात एक० कॄअपुवे, बहु० कॄअपुवो से भिन्न है, की घोषणा होती है।

बिहारी मे ऐसा ही है मैथिली १ एक० पु० देखलेहुँ, स्त्री० देखलि, २ एक० देखले", २ बहु० देखलहु, प्रथम पुरुष मे उसमे कुछ व्याप्तियुक्त नामजात रूप है : एक० देखलक्, बहु० देखलन्हि, स्त्री० मरली।

बगाली मे, जिसमे लिंग नही है (दे० पीछे), देखिल प्रथम पुरुष का विचित्र रूप है, शेष तिङ वर्तमान से साम्य रखता है १ देखिलाम्, ३ देखिला(हा), ३ देखिलेन्।

जिप्सी-भाषा अकर्मक और कर्तृवाच्य के भेद के प्रति उदासीन हो गयी है, किन्तु लिंग की दृष्टि से उसमें साम्य है यूरोपीय बेसेंतो "वह बैठा", खलो "उसने खाया", फेन्दि "उसने (स्त्री०) कहा", दीने "उन्होने दिया"; नूरी नन्द, नन्दि "वह लाया, लायी है", बीर, बीरि "उसे डर है (स्त्री० पु०)"।

इस प्रकार विभिन्न रीतियो के कारण, और असमान सफलता के साथ, भारतीय-आर्य भाषा ने उस समस्या को हल करने की चेष्टा की है जो कृदन्त के प्रयोग द्वारा उत्पन्न हुई है · भूत० के कारण वर्तमान और भविष्यत् के क्रियामूलक रूपो और नामजात रूपो का विरोध प्रस्तुत करने का परिणाम कर्त्ता के साथ साम्य मे हुआ, किन्तु क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने के अनुसार, यह कर्त्ता० न्यायानुकूल कर्त्ता होता था या नही होता था। उससे कुछ ऐसी दुरूहताएँ उत्पन्न हुईं जिनसे प्रत्येक भाषा ने बचने की चेष्टा की, कभी-कभी वे और भी अवाछनीय दुरूहताओ मे फँस गयी, इन प्रायौगिको का भी जो निस्सन्देह अपनी सीमा पर नही पहुँच पाये, इतिहास अज्ञात है, उनका प्रेरक सिद्धान्त स्पष्ट है।

विकृत कारक में कृदन्त

अधिकरण मे साम्य रखने वाली सज्ञा और कृदन्त का समुदाय, जिससे पूर्वत्व और अवसर पर आनुषगिक अवस्था प्रकट होती है, बडी कठिनाई से आधुनिक काल तक कुछ-कुछ बच पाता है, कृदन्त का क्रियामूलक भाव यहाँ तक प्रमुख हो गया प्रतीत होता है कि उसका कर्त्ता कर्त्ताकारक मे प्रस्तुत करता हुआ मिलेगा .

पु० राज० मे .

जाइँ पाप जस लीधे नामि, जो एक प्राचीन रचना प्रदान करता है, के निकट मिलता है :

जनम्यइँ देर्स्यू नाम वर्धमानकुमार।

उससे हिन्दी में :

क्युँ इत्नी रात् (स्त्री०) गये (विकृत पु०) तुम् आये ?

तीन् बजे (एक०)।

पूर्ण कृदन्त बिना कठिनाई के प्रधान कर्त्ता से संबंधित हो जाता है और कर्तृवाच्य रूप मे वास्तविक क्रियामूलक विशेष्य हो जाता है; तुल० लैटिन ओमीना पोलीसीटो (सैल्यूस्टे) "सब कुछ का वायदा"।

पु० राज० :

मद्य पीधाइ गहिलाई करी।

हिं० पगड़ी बाँधे आया (विकृत० एक० बाँधे स्त्री० पगड़ी के साथ, जिससे वह सबधित रहता है, साम्य नही रखता, न कि पु० एक० आया के कर्त्ता के साथ)।

इससे हिन्दी मे एक विविधता-सपन्न शब्द-प्रयोग-पद्धति मिलती है

चल्ते हुए बेगम् ने कहा, "चलते हुए" (विकृत० पु० एक०)।

मैं समझे हुए था कि।

उससे 'लिये' की भाँति व्याकरण-सबधी साधन हैं।

यही रूप, क्रिया "होना" के साथ सान्निध्य प्राप्त करने पर, अवधी मे अतीत के कुछ रूप प्रदान करता है।

तुलसीदास

अनुचित बचन कहेउँ (कर्ता० पु० परशुराम)।

देखिउँ (कर्ता स्त्री० शूर्पणखा)।

और आज लखीमपुरी मे देखेउँ, देखे हुउँ से, (देखे विकृत), देखिस्[ई], *देखे (आ) सी। विकृत बहु० भी मिलता है.

पु० राज० : आगि समीपि रह्याँ, रहिज्यो बेंतृषाँ, मारवाड़ी लियाँ, गु० मार्‍याँ, गुज० मारवाड़ी बोल्याँ कर्वुं।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उसमे बोल्या कर्वुं "बोलना करना" ठीक-ठीक, हिन्दी 'बोला करना' की अनुकूलता है; अथवा क्या इसके विपरीत ये अन्तिम रूप विकृत रूप के स्थान पर हैं। पहला अधिक सभव है, क्योंकि हिन्दी का विकृत रूप बहु० -आँ युक्त बहुत नही है, वरन् -ओं में है। यहाँ पर कृदन्त का प्रयोग विशेष्य के भाव की भाँति होगा।

यह प्रयोग प्राचीन है :

सं० तस्य गतं सविलासम्।

इदम् एषाम् आसितम्।

किं पृष्टेन ?

पा० किं ते अञ्ञत्थ गतेन ?

प्रा० इच्छामि पव्वाविअ, मुण्डाविअ, (प्रव्राजितम्, मुण्डापितम्)।

इसी प्रकार आधुनिक बगाली बिनि जाँचिले, हि० तुम क्यों ऐसा किया करते हो, कहे से, शिना खिदीते औं मुर्तुम्।

नेपाली मे यह कृदन्त विशेष्य, सबध के माध्यम द्वारा सज्ञा के साथ सम्बद्ध हो सकता है, जिससे एक नवीन कृदन्त उपलब्ध होता है

मार्या अथवा मरे को थियो "वह मौत का था (नपु०; न कि "मौत से"), मरा"।

बाबु का घर बसे को।

येक् जोगी रुख् मा झुण्डीये को (वर्तमानकालिक कृदन्त का भी ऐसा ही प्रयोग होगा झुण्डे को "लटका हुआ")।

बगाली मे पर-प्रत्यय -ल्- रहित कृदन्त भी प्रयोग मे आता है मार होइ, आमा के देक्का होइ, कि कारा होइ ("क्या किया आपने" का अनिश्चित विनम्र रूप), खाया गेले। यह कर्तृवाच्य कृदन्त राखा, आना करान् जैसी अभिव्यजनाओ मे 'कारन्' पर निर्भर रहता है, रचना वैसी ही है जैसी गान् करान् मे। यह पूछा जा सकता है कि एक ही रूप जैसे क्रियामूलक विशेष्य के प्रयोग मे निश्चित बन्धन कौन-सा है पाया देइ "(कभी मिला) यदि वह पाता है, वह खाता है", आमि आसिया देखिताम् "आ जाने पर, मैंने देखा है", यह स्वीकार किया जा सकता है कि द्वितीय उदाहरण मे एक कर्तृकारक है (इसी प्रकार मारा जाय् अथवा पडे, दखा पडि "मैं गिरता हूँ, देखा है, कोई मुझे देखता है") तथा पहले मे कृदन्त कर्तृवाच्य भाव धारण कर लेता है। यह तथ्य कि यह रूप अपरिवर्तनीय है उस विशेष्य-प्रयोग के विस्तार की ओर सकेत करता है जिसके क्रियार्थ-भेद रह जाते हैं, अथवा यहाँ भी प्राचीन विकृत रूप बहु० मे प्रत्यक्षत अनुनासिकता-विहीन हुए (अ तो विकल्प मे अनुनासिक है, दे० पीछे) रूप की स्थानापन्नता है।

यहाँ कृदन्त के नामजात भाव का यह तकाजा है कि उसका न्यायानुकूल कर्त्ता निर्भरता के साथ प्रस्तुत हो, फिर सबधवाची विशेषण के साथ हो जाय, अथवा यदि सर्वनाम हो, तो अधिकारमूलक विशेषण के रूप के अन्तर्गत .

गुज० सिकन्दर् ना मुआ पाछि, हि० सिकन्दर् के मुए के पीछे।

बगाली आमार् न दिले "अस्माकम् न दत्ते"।

पु० म० (तुकाराम) मज् आल्या विणा।

किन्तु यह हो सकता है कि क्रिया की सामान्य रचना के अन्तर्गत, न्यायानुकूल कर्त्ता कर्त्ता कारक मे हो। नेपाली मे मिलते हैं (श्री टर्नर द्वारा सूचित उदाहरण) :

मैं-ले गर्दा दुनिया सबै भाग् गयो।

'मैं-ले गर्-छु' की भाँति; किन्तु नपु० क्रिया मे, उसी प्रकार जैसा लोग कहते हैं, म अउँ छु, कहा जायगा :

मा आउँदै मा (अहम् आगतस्य मध्ये)।

बगाली मे, आमार न दिले के निकट बडी अच्छी तरह कहा जायगा, आमि दिले, आधुनिक बगाली, तुमि जनमिला होते। आधुनिक मराठी मे इस विन्यास ने काफ़ी विस्तार ग्रहण कर लिया है, निस्सन्देह द्रविड आधार के प्रभावान्तर्गत : मी तेथे गेल्या ने, पाव्‌माला सर्ल्या-वर् (वरसा सृतस्य उपरि)।

यह एक द्रविड आधार ही है जिससे ग्रामीण सिहली मे कर्त्ता० मे अपने न्यायानुकूल कर्त्ता के साथ आये हुए अव्ययी विशेषण स्पष्ट होते हैं : ममन्‌की दे "अह कथित-कार्यम्" "काम जो मैंने कहा है", उडिया मे ऐसा ही विन्यास, प्राचीन भविष्यत् कृदन्त के आधार पर निर्मित क्रियार्थक सज्ञा, दृष्टिगोचर होता है मु देबा धान "अहम् दातव्य-धान्यम्" "धान जो मैंने दिये है।"

यह ध्यान देने की बात है कि ये समस्त प्रयोग कृदन्त को उसके मूल से, जो विशेषण है, दूर हटा देते हैं, जिससे सस्कृत मे कुछ ऐसे विशेषण दृष्टिगोचर होते है जो क्रिया से अलग हो जाते हैं जैसे प्रीत-, शीन-, दृष्ट-। आधुनिक भाषाओ मे विशेषण का प्रयोग अज्ञात नही है साथ ही सिद्धान्तत स्थान विशेषण और क्रिया मे भेद उपस्थित कर देता है उडिया, पडिला गछ् "गिरा हुआ पेड", गछ् पडिला "पेड गिर गया है"। तो भी विशेषण-भाव साधितो या वाक्य-विस्तार द्वारा सुविधानुसार बनता है

साधित गु० करेलुँ काम् "किया गया काम" (काम् कर्युँ "काम किया गया है"); म० पाठविलेलें आज्ञापत्र "भेजा हुआ आज्ञापत्र" (और साथ ही, हें आज्ञापत्र लिहितेलें असून् "यह आज्ञापत्र जो भेजा जा रहा है"), नौका बाँध्‌लेले आहे "नौका बँधी है", मारवाडी मारियोड़ो "पिटा हुआ" (मारियो) "पिटा था", कुमायूँनी हिटियो "अलग किया हुआ" (हिटो "वह अलग हो गया है"); तुल० शिना ज़मीतु "पिटा हुआ, पीटे जाने की बात", जो सभवत एक पूर्वकालिक कृदन्त और *स्थित- का सान्निध्य-प्राप्त रूप है, हर कारक मे ज़में "पीट लेने पर" और ज़मेगस् "मैंने पीटा है" के विपरीत है।

वाक्य-विस्तार : इसकी रचना भू- के कृदन्त सहित होती है। सस्कृत मे तो भूत-का प्रयोग समासों की पार्श्व स्थिति और द्वितीय शब्द के रूप मे, किन्तु चाहे जिन सज्ञाओं

के साथ, हुआ ही है अग्लान-भूत "अथक", पाली मे केवल कुछ अगारिक-भूत-, गिहिभूत- प्रकार मिलते हैं। ऐसा ही सिंहली मे है, सुदुवू अश्वयेक "सफेद घोडा" (शुद्ध-भूत)। किन्तु कुछ आधुनिक भाषाओ मे प्रथम शब्द सज्ञा-रूप धारण करता है हिन्दी में "खड़ा आदमी" को "खडा हुआ आदमी" (न कि, खडा आदमी) द्वारा प्रकट किया जाता है, कृदन्त मे इस सूत्र का प्रयोग करते हुए कहा जाता है इनाम् पाया हुआ लड़का, नीचे नाम् दी हुई पुस्तकें, इसी प्रकार मारवाडी मारियो हुवो, मारियोडो के तुल्य है, मैथिली मूतल् भेल्, देखल् भेल्। हिन्दी मे 'पूरा' 'पूरना' का कृदन्त है; किन्तु ऐसा पाया जाता है कि इस क्रिया का बहुत प्रयोग हुआ है, और सुविधानुसार उसे 'पूरा करना' कहा जाता है यहाँ कृदन्त का विशेषण की भाँति प्रयोग होने पर उसने क्रिया को निकाल बाहर किया है।

भविष्यत्० कृदन्त

बन्धनसूचक विशेषण की रचना करने वाले विविध पर-प्रत्ययो मे से जो -य- युक्त था और जो प्रारभ मे बहुत प्रचलित था, वह भी शीघ्र ही निकाल बाहर किया जाता है, क्योकि उस काल से हटते ही जब व्यजनो के समुदायो का परस्पर सामजस्य होता है, रचना की स्पष्टता नष्ट हो जाती है। स्वय स० पूजनीय, पा० पूजनेय्य- (अथर्ववेद शपथेय्य प्रकार के साथ योग द्वारा), प्रा० पूअणीअ-, पूयणिज्ज- (पूजनम्) प्रकार जीवित नही रह सके—वह भी उनका विशेष्य रूप के साथ, जिससे क्रियार्थक सज्ञाएँ प्राप्त होने वाली थी, सबध रहने पर भी। वह रूप जो उसे हटा देता है -(इ)तव्य- है जिसे -त- युक्त विशेषण के मुकाबले मे आने का सौभाग्य प्राप्त था, यद्यपि मूल की अन्य स्वर-सबंधी श्रेणी के साथ पाली मे पत्तब्ब- सुरक्षित है जो पत्त-(प्राप्त-) के साथ चलता है और पापुणाति आदि से अलग हो जाता है; उसमे दातब्ब- (दातव्य-), नेतब्ब- (नेतव्य-), जो क्रियार्थक सज्ञाओ दातवे, नेतवे के साथ चलते है और वर्तमान नेति (नयति) के साथ भी।

वर्तमान पचति, पुच्छति, पूजेति, गहेति के आधार पर ही पचितब्ब-, पुच्छितब्ब-, पूजेतब्ब-, गहेतब्ब- (तुल० प्रा० गण्हिदव्व-, गेण्हइ से) निर्मित होते है, जो स० पक्तव्य-, प्रष्टव्य-, पूज्य-, वैदिक गृह्य-, महाभारत गृहीतव्य- के विपरीत हैं।

प्राचीन रूपो मे से केवल कुछ स्फुट सज्ञाएँ रह जाती हैं जैसे हिं० काज् (कार्य-, प्रा० कज्ज-, किन्तु सिंधी कतबु, स० कर्त्तव्य -), अनाज् (स० अन्नाद्य-) सिंधी पेजु, हिं० पेज् (स० पेय-, पा० पेय्य-, प्रा० पेज्ज-), तुल० संस्कृत में ही पानीयाम्, हिं० पानी।

भारतीय-आर्य भाषा में यह रचना लगभग सर्वत्र पायी जाती है; पीछे -न्- युक्त कृदन्त, और विशेषत: सिंधी मारिणो, लहंदा मार्ना प्रकार, देखे ही जा चुके हैं।

किन्तु जीवित रहते हुए उसका प्रयोग प्राय: बदल जाता है। प्राचीन प्रयोग केवल गुजराती और मराठी में रह गये हैं :

अप० (भव०)	उत्तरु देव्वउ
	उज्जवणु करिव्वउ
पु० राज०	हिंसा न करावी (स्त्री०)
गुज०	तेने आ चोपडी वाचवी (स्त्री०)
पु० म०	अह्मी काय् करावें (नपु०) ?
म०	आं पाऊस् पातडावा (पु०)

सिंधी मे 'मारिबो' प्रकार वर्तमान में प्रभावित हुआ है; वह सान्निध्य में मारिबो आँहियाँ (मार्यमाणो'स्मि), मारिबो होस्[ए] "किसी ने मुझे पीटा", आदि की भाँति प्रवेश पाता है। कृदन्त के प्रथम पुरुष क्रिया का भाव ग्रहण करने पर भविष्यत् का अर्थ फिर आ जाता है मारिबो "वह पीटा जायगा", मारिबी "वह पीटी जायगी", मारिबा "वे पीटे जाएँगे", मारिबिऊँ "वे पीटी जाएँगी" (किन्तु साथ ही, मध्यम० बहु० के सर्वनाम मे "तुम पीटी जाओगी")। इस रूप के चारो ओर एक क्रियामूलक तिङ की, अन्य कृदन्तो की भाँति, रचना हुई है मारिबुस्[ए] "मैं पीटा जाऊँगा", मारिबिअस[ए] "मैं पीटी जाऊँगी" आदि।

इसी प्रकार मराठी मे, बन्धनसूचक कृदन्त, जिसका संज्ञा-रूप था ही, मध्यम० एक० मे -स् जोड लेता है, बहु० के प्रथम ० और मध्यम० में -त् तू ग्रन्थ् लिहावास्, पोथी वाचवीस् आणी दूसरें काम कार्वेंस्। इसके अतिरिक्त वह सबल क्रिया-रूप का मूलाधार प्रतीत होता है . हे सरिता न तरवे जीवाँ, आह्मिं कैसें करवेल् ? (-ल्- पर-प्रत्यय भविष्यत् का तुल० दे० आगे)।

पूर्वी भाषाओं में इसी कृदन्त से कर्तृवाच्य अर्थ मे एक क्रियामूलक आधार उपलब्ध होता है, -ल्- युक्त भूतकालिक कृदन्त की भाँति, किंतु भविष्यत् इस प्रकार केवल बंगाली में पूर्ण है : एक० १ देखिब, २ देखिबि और उड़िया मे है . एक० देखिबि २ देखिबु आदि। प्राचीन अवधी मे -ह्- युक्त स-भविष्यत् पूर्ण रूप मे -अब्, स्त्री० -अबि, सभी पुरुषों में प्रयुक्त, कृदन्त के साथ मिलता है, आज, फ़ैज़ाबाद में मिलता है १ देख्[अ]बू, २ देख्[अ]बे और देख्[अ]बेस्, किन्तु ३ देखिहै, और इसी प्रकार बहुवचन में; लखीमपुर

मे स-भविष्यत् केवल बहुवचन के उत्तम० मे शुरू होता है (देखिबा), छत्तीसगढ़ी में है 'देखिहौं' न कि 'देखब्' तथा इसके विपरीत २ देख्^अ^बे और देखिहो, तीनो पुरुषो में प्राचीन भविष्यत् को छोडकर कुछ नही . एक० देखिहै, बहु० देखिहैं। अस्तु, प्रथम पुरुषो मे ही -ब्- रूप नही मिलता और बिहारी मे भी ऐसा ही है; यह जान लेना कि ऐसा नामजात मूल के रूप से होता है, एक महत्त्वपूर्ण बात है। निस्सन्देह स्वय रूप के विशेष्य के भाव से प्रतिद्वन्द्विता ही इस प्रतिरोध मे कुछ चीज़ है।

वास्तव मे सस्कृत के काल से ही उदासीन कृदन्त भाववाचक विशेष्य का मूल्य ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है : कार्यम्, रक्षितव्यम्, अप० भणियव्व-जाणय।

भाव क्रियार्थक सज्ञा के बिल्कुल निकट है मया गन्तव्यम्, पच० नाय वक्तव्यस्य काल । यह भाव आधुनिक भाषाओ मे, विकृत कारक मे विकसित होता है, साथ ही वह क्रियार्थक सज्ञा के अनुकूल पडता है .

अप० (भव०) अवसरु न हुउ पुच्छिव्वइ, भण्डारिउ पालेव्वइ निउत्तु,

पु० राज० खाइवा नी वाँछा, जीपवा वाँछै, पाइसिवा न पामै, चिन्तविवा लागो, जिमवा बैठो,

मारवाडी चराबा मेल्यो।

गुजराती मे कर्वुं सामान्य क्रियार्थक सज्ञा है, उसमे मे सबधवाची विशेषण के साथ-साथ बन्धनसूचक भावनात्मक विशेषण निकलता है . करवा-नो (पु० एक०)। इसी प्रकार करावयाचा (विशेषण), करावयास्, करून् (प्राचीन *करवौनि)। ऐसा ही राज० चळबो, चळ्वो, ब्रज० चलिबौं, पू० हिंदी चलब्, अत मे बगाली, उडिया चलिबा।

अस्तु, यह रूप हिन्दी और पजाबी को छोडकर समस्त मध्य और पूर्वी भारत मे मिलता है। उडिया के सबधवाचक कृदन्त के लिये, दे० थोड़ा पीछे।

अस्तु, सस्कृत के कृदन्तो और क्रियामूलक विशेषणो का एक समुदाय है और उनका प्रत्यक्षत समानान्तर विकास हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि इस विकास की सीमा वह नही है जिसमे समुदाय सस्कृत मे, कृदन्तो की प्रणाली के रूप मे, हो गया था, कृदन्त फिर नही मिलते, अर्थात् क्रियामूलक विकरणों से साधित विशेषण के कृदन्त, कृदन्ती भाव केवल उन सहायक क्रियाओ के सबध में अधिक मिलता है जो प्राय मिश्रण की सीमा तक, तत्पश्चात् रूप के पूर्ण ह्रास तक पहुँच जाती है। किसी अन्य रूप मे प्राचीन कृदन्त, अपना विशेषण वाला कार्य खोते हुए, कुछ क्रियाओ के तुल्य हो जाते हैं अथवा कुछ क्रियार्थक सज्ञाओ या पूर्वकालिक कृदन्तो के निकट पहुँच जाते हैं।

क्रियार्थक संज्ञा

इसमे हमे अधिक देर न लगेगी। सच तो यह है कि सस्कृत का विकास एक सच्ची क्रियार्थक सज्ञा की रचना की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् सज्ञा-रूप की एक पृथक् रचना की ओर (अत्यन्त स्पष्ट मूल होने पर भी) और एक साथ किसी सज्ञा या क्रिया पर आधारित रहना और सज्ञा पर शासन करने की क्षमता रखता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु सस्कृत क्रियार्थक सज्ञा की तुलना उन भाषाओ की क्रियार्थक सज्ञाओ से करना यथेष्ट होगा जिनमे यह वर्ग वास्तव मे यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य कहाँ तक कम हो गया है . उसमे मुश्किल से केवल अतिम भाव मिलता है, अथवा उसका प्रयोग 'इच्छा होना, प्रयत्न करना, जाना, सकना' भावो के द्योतक शब्दो के साथ होता है, इन्ही मूल्यो के साथ वह मध्यकालीन भारतीय भाषा मे दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ अशोक के अभिलेखो मे। किन्तु कर्त्ता० का भाव नही मिलता, क्रियार्थक सज्ञा वाले पूर्व सर्ग का, जिसकी कुछ-कुछ रूपरेखा देखी जा चुकी है, निर्माण नही होता। अत मे, केवल एक रूप है, जो अस्थायी विकरणो से पृथक् और कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के लिये एक साथ बराबर हो गया है।

सभवत मराठी को छोडकर, आधुनिक भाषाओ मे से सस्कृत क्रियार्थक सज्ञाएँ लुप्त हो गयी है तो तें करूँ इच्छितो। यह स्मरण करना ठीक होगा कि यही पर रचना क्रियामूलक विशेष्य वाली हो सकती है अथवा मध्यकालीन भारतीय भाषा में -इउ युक्त क्रियामूलक विशेष्य था, दे० थोड़ा आगे।

सीमान्तवर्ती छोटे-से समुदाय से अलग (प्रशुन और गवर्‌बती -क्-, खोवार और पशई -इक्, शिना -ओइकि), ईरानी से उधार लिये गये (बली -अक्, ओर्मुरी -एक्) सर्वत्र नामजात रूप मिलते हैं।

बहुत अधिक प्रयुक्त होने वालो मे एक -अनम् युक्त सस्कृत कार्यवाची सज्ञा से निकला है : एक ओर मूल (सामान्य) रूप है . सिहली -णु, कश० -उन्, लहदा -उण् (विकृत० -अण्), सिधी -अणु, बुन्देली -अन्, जिनके साथ, अन्य के अतिरिक्त, बगाली का 'तत्सम' जोड देना आवश्यक है, दूसरी ओर व्याप्ति-युक्त हैं . म० -णें, ब्रज -नौं, प० -णा (-ना मूर्द्धन्य के बाद), राज० -णो -नू, नेपाली -नु (विकृत -न)। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे ये ही प्रयोग पहले से ज्ञात थे एसो अयलो मम घर' आगमणे निवारेयव्वो (मम घर आगन्तु, के तुल्य) : तुल० मारणे छिद्द (जाकोबी, 'एर्‌त्साहलुंगेन', ग्रैम० ११६, १०१)।

अन्य किसी रूप मे अवनसूचक कृदन्त (गुज० -वुं, राज० -बो, ब्रज -इबौ,

बंगाली -इब, उड़िया -इबा; और म० -अया- केवल विकृत० में), और वर्तमान० तथा भूत० कृदन्त मिलते हैं जिनका उल्लेख पीछे किया गया है।

इन संज्ञाओं का वास्तविक भाव अर्थपूर्ण रहता है और उनका प्रयोग रूप-रचना के साधारण भाव-सहित हर कारक में होता है। इसके विपरीत उन्हें थोड़े-बहुत व्याकरण-संबंधी मूल्य वाले वाक्य-विस्तारों में बहुत कम स्थान मिल पाया है और यह प्रश्न आगे उठेगा। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा को क्रियार्थक संज्ञा की रचना में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

शेष, क्रियार्थक संज्ञाओं के कार्य का एक भाग पूर्वकालिक कृदन्त द्वारा अथवा उनके आगामी रूपों द्वारा पूर्ण होता है।

पूर्वकालिक कृदन्त

ईरानी में इस संज्ञा के अन्तर्गत, परिस्थिति के द्योतक, नाम-धातुओं अथवा -ति-युक्त संज्ञाओं के, सामान्यतः समास रूप में, कुछ क्रिया-विशेषणमूलक कर्म० रखे जाते हैं : अ० पैति सह्हर्अम् "खंडन करने में", ऐवि नप्तीम् "गीला करने में"। वेद में कर्म० के तुलनीय रूपों में क्रियार्थक संज्ञा का भाव है, दे० पीछे, किंतु श्री रनू को अवेस्ती रूपों की तुल्यता वेद के परवर्ती रूपों में मिली है, और इन सूत्रों तक सीमित रहती है, इत्य-कारम् से, अ-विवेकम्।

इसके विपरीत संस्कृत में निश्चित रूप से "पूर्वकालिक कृदन्त" अथवा क्रियामूलक विशेष्य के एक वर्ग की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है जिससे सिद्धान्ततः पूर्ववर्ती अथवा समकालीन परिस्थिति का द्योतन होता है, उसकी अभिव्यक्ति करण० (और अधि-करण ?) में बद्ध कुछ रूपों द्वारा होती है जिनका कर्त्ता, कम-से-कम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर्त्ता, वही होना चाहिए जो प्रधान वाक्यांश का होता है : पिबा निर्षद्य, स्त्रिय दृष्ट्वाय कितवं ततापं।

विकरणों का संबंध -तु-, -इ-, -ति- युक्त क्रियार्थक संज्ञा में काम आने वाले विकरणों से है, वैदिक प्रत्ययों -त्वी, -त्वा, -त्वाय का मूल क्रियाओं में व्यवहार होता है, -यॉ और -त्यॉ का साधितों और समासों में।

इन तुल्य रूपों की समृद्धि क्लैसीकल संस्कृत में कम हो जाती है, जो भाषा की इस स्थिति के अनुकूल ही है, किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की सजीवता रूपों के विस्तार और पुनःसंस्कार द्वारा प्रकट होती है : पहले क्रम में, वैदिक भाषा में त्वाय और पाणिनि के अनुसार -त्वीनम् (इष्ट्वीनम्), का संकलन मिलता ही है, पाली में -त्वा (जिससे प्राकृत शौर० -दुअ) के निकट, -त्वान (जैन -त्ताण) का प्रयोग हुआ है; अशोक० में गिर०

-त्पा, माह० -ति- (पढ़ने में निस्सन्देह -ती)- सुरक्षित मिलते हैं, साथ ही -तु (तुल० निय विजबेतु "जिस भाँति गणना की जाय", एफ० डब्ल्यू० टॉमस, 'ऐक्टा ऑरिएंट', XII, पृ० ४९), और एक बार -तून भी, प्रथम बहुत कम मिलता है, द्वितीय पाली में बहुत कम है, किन्तु प्रा० माह० -ऊण में वह बराबर मिलता है।

जो -ई- युक्त विकरण हैं उनकी दृष्टि से, पाली में सामान्य -य में (जो प्रा० -इअ में सुरक्षित है) काव्यात्मक व्याप्ति -यान (उदा०, उत्तरियान, उत्तरित्वा द्वारा विवेचित) जुड़ जाता है, इसी क्रम में जैन आयाए (आदाय) प्रकार भी सम्बद्ध हो जाता है जो सामान्य विकृत० स्त्री० (तुल० पा० अत्थाय जो एक साथ आस्थाय और अर्थाय से साम्य रखता है) के सदृश है, जिससे निस्सन्देह अशोक० में उद्देश्यसूचक सम्प्रदान अ(ट्)थाए आदि (तुल० पीछे दे०) हैं। -(इ)उं का न केवल क्रियार्थक संज्ञा की भाँति प्रयोग का, किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की भाँति प्रयोग का भी उल्लेख करना आवश्यक है, अशोक० में मिलता ही है 'तथा करु', रूप जिसकी व्याख्या करना कठिन है (-अं युक्त पूर्वकालिक कृदन्त के प्रत्यय का विकरण करो- में प्रयोग ?)।

अपभ्रंश का खास अपना रूप है -इ चलि, करि; -एप्पि और -एप्पिणु भी है जो स०-त्वी, त्वीनम् और -वि -विणु (*नुवीनम् का शेषांश ?) की याद दिलाते हैं। जो -इ है उसके लिये, अनेक प्रतिपादन संभव हैं; उनमें से कोई स्थापित नहीं होता; इसके अतिरिक्त राजस्थान के वीर-ग्रन्थों की दीर्घ लेखन-प्रणाली के कारण भी दुरूहता उत्पन्न हो जाती है, उदा० करी, जिसके कारण टेसिटरी को भूत० कृदन्त का अधिकरण, करियौ, खोजना पड़ा था। गुजराती, पहाड़ी (विविध व्याप्ति-युक्त रूपों सहित), पुरानी हिन्दी, मैथिली और हिन्दूकुश की अनेक बोलियों (प्रशुन, कलाश, गवर्‌बती, खोवार) में यही रूप -ई बना रहता है, शिना में भी -ए अथवा -इ हैं जो क्रिया-रूप का अनुगमन करते हैं। आधुनिक हिन्दी में, प्रत्यय लुप्त हो गया है, और क्रियामूलक विशेष्य क्रियाजात मूल के रूप में आता है, संभवत उसी कारण, तथा साथ ही आज्ञार्थ एक० से उसके साम्य के कारण, वह केवल संहिति में मुश्किल से ही आता है : कह्-कर्, कर्-के प्राचीन करि-कै (द्वितीय शब्द यहाँ अधिकरण अथवा भूत० कृदन्त के विकृत० में अधिक है)।

अन्य आधुनिक भाषाओं में, अकेली काफिर में कुछ प्राचीन अप्रचलित रूप हैं : कती, अश्कुन, वैगेलि -हि स० -त्वी का भली भाँति प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिनके प्रमाण उत्तर-पश्चिम के अशोक के अभिलेखों में मिलते हैं। कश० -थ्, प्राचीन -त्[ह] में अथवा -त्वाय में (तुल० सं० त्वया की क्रियाओं में -थ् विकृत सर्वनाम), वही है, अथवा वह कुछ और ही है ? वैगे० -वि क्या भूय से सम्बद्ध है ? सिंहली -कोट, पु० सिंहली -कोटु "द्वारा"

अशोक० धौ० क(ट्)टु से आया प्रतीत होता है, किन्तु सामान्य रूप -य अथवा -आय पर आधारित प्रतीत होता है।

अन्यत्र ये रूप बिल्कुल ही नही मिलते, यह देखा जा चुका है कि उनका कार्य कृदन्ती रूपों द्वारा सपन्न होने लगता है। जो महत्त्वपूर्ण बात है वह है कार्य की निरतरता, पूर्वकालिक कृदन्त केवल अफगान प्रदेश की सीमा पर (पशई, तीराही और कोहिस्तानी समुदाय) और जिप्सी-भाषा मे नही मिलता।

इसके अतिरिक्त, पीछे दी गयी सिद्धान्त की परिभाषा की अपेक्षा कार्य अधिक विविधता-सपन्न है, वास्तव मे, पूर्ण अधिकरण, जो उसमे सिद्धान्तत आनुषगिक परिस्थिति प्रकट करता है, के साथ, पूर्वकालिक कृदन्त सस्कृत मे वाक्यांशो के सबध के अनेक प्रधान साधनो मे से एक प्रधान साधन प्रस्तुत करता है, कृदन्त या लैटिन क्रिया-मूलक विशेष्य की भाँति वह मुख्य क्रिया की तुल्यता वहन करता है। ऐ० ब्रा० अपक्रम्य प्रतिवादतो'तिष्ठन् "वे हठपूर्वक प्रतिवाद करते हुए जाते है " (अनुवाद "वे जाते है, किन्तु रुक जाते है " मे अर्थ भ्रष्ट हो जायगा)।

एक सबध, और वह भी लचीला है, के कारण अनेक वाक्य-विस्तारो की उत्पत्ति होती है जिनमे मुख्य क्रिया मे केवल सहायक भाव होता है ऐ० ब्रा० इन्द्रम् .. आरम्भ यन्ति, यहाँ क्रियामूलक विशेष्य का वही रूप है जो ऋ० विभंजन् एति मे उपलब्ध कृदन्त का है, और वास्तव मे, इस रूप मे प्रयुक्त वर्तमान० कृदन्त की वह कमी पूरी करता है। श० ब्रा० न हिंसित्वेंव मेने मे, पूर्ण० कृदन्त की तुल्यता होगी, वह भी लुप्त हो जाने को थी, तुल० ऋ० सोमम् मन्यते पपिवान्। 'होना, रहना" क्रियाओ का भी प्रयोग किया जाता है वे जो केवल क्रियामूलक प्रत्यय के वहन करने का कार्य करती है दश० सर्वपौरान् अतीत्य वर्तते, इसी प्रकार कृदन्त के साथ रामा० धर्मम् आश्रित्य तिष्ठता, जिसमे एक ऐसा सूक्ष्म भेद उपलब्ध होता है जो न तो आश्रयमाण-, एक प्रकार से प्रारभिक क्रिया, को व्यक्त करता है, न आश्रित-को जिसमे भूत० की भावना निहित ही है।

आधुनिक भाषाओ मे अब भी ये वाक्य-विस्तार मिलते है, और उनसे शब्दावली मे विशेषता उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार क्रिया "सकना" का प्रयोग होता है, प्रारभ मे सभवत शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुरूप कर्मवाच्य-भाव-सहित (किंतु म० शक्यते का क्रियार्थक सज्ञा से निर्माण हुआ है)। अप० (भव०) केणवि गणिवि न सक्कियइँ, पु० राज० बोली न सकै, हि० बोल् सकता नाँहि। 'देना' और 'लेना' क्रियाओ का भी ऐसा ही प्रयोग है हि० यें खत् पढ़ लो, दो "पढ यह पत्र लो, दो, जान लो, यह पत्र मुझे पढ दो", सिंधी चै डिअणु,

हिं० कह देना (यहाँ गुजराती मे क्रियार्थक सज्ञा का प्रयोग होता है जो प्राचीन भविष्यत्० कृदन्त है : तेमे हिआँ रेहेवा दधो।

कुछ क्रियामूलक विशेष्य, प्रयोग द्वारा अपने वास्तविक अर्थ के एक अश से रिक्त, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे परसर्गों का काम करते हैं, दे० पीछे। आधुनिक भाषाओ मे उनका प्रतिनिधित्व मुश्किल से मिलता है। पीछे दिये गये उदाहरणो मे, हमे (एच० स्मिथ के अनुसार) सिहली सिट "का, से" (स्थीत्वा), मुत्, मिस "बजाय" (मुक्त्वा, मुञ्चिय), करणकोट (करण कृत्वा) "के कारण से" और जोड़ लेने चाहिए। किन्तु विकृत कृदन्तो, जो उनका कार्य करने लगते हैं, से सर्वत्र एक काफी लबी सूची मिलती है, उदाहरणार्थ, हिं०, नेपाली, बिहारी, पु० बगाली लागि, नेपाली लाइ "लिये", सिंधी लागे "दृष्टि मे", हिं० लिये, म० होऊन् और वह पूरी परपरा जिसका पूर्वज स० कृते, कृतेन है ब्रज कै, प० हिं० बि० के, तुल० ब्रज करि, प० हिं० कर्, राज० अर्।

नवीन क्रियामूलक रूप

प्रणाली का ह्रास हो जाने पर भी, मध्यकालीन भारतीय क्रिया मे कई कालो और कई क्रियार्थ-भेदो का अन्तर मिलता ही है। आधुनिक भाषाओ मे प्राचीन क्रियार्थ-भेदो का कोई खास चिह्न नही रह गया, जब तक कोई आज्ञार्थ को, जिसका साधारणत: एक० मध्यम पुरुष की अपेक्षा कोई अन्य रूप नही है, मूल क्रिया के समान न गिने, इसके अतिरिक्त स्वय आज्ञार्थ चाहे क्रियार्थक सज्ञा (विशेष भाव-रहित) द्वारा अथवा कर्मवाच्य वर्तमान (भिन्न अथवा आदरपूर्ण भेद) द्वारा अपना स्थान लिये जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है।

स्वय निश्चयार्थ मे, अतीत लुप्त हो जाते हैं, स-भविष्यत् केवल कुछ भाषाओ में रह जाता है, केवल वर्तमान निरतर रूप मे बना रहता है, और ऐसे अर्थ प्रकट करने की क्षमता रखता है जिनकी अभिव्यजना बहुत उचित नही होती, सस्कृत मे ही वह आश्रित पूर्वसर्ग में सशयार्थसूचक रूप का स्थान ग्रहण कर लेता है। वर्णन करते समय वह सुविधानुसार निश्चयार्थ के अन्य कालो मे मिश्रित हो जाता है . मध्यकालीन भारतीय भाषा मे खारवेल का अभिलेख, वस्तुत ऐतिहासिक, पूरा-का-पूरा वर्तमान मे है केवल भूमिका को छोडकर जिसमे राजा के बचपन वाला सबधवाचक अतीत -त- युक्त कृदन्तो द्वारा व्यक्त किया गया है, और अत मे, हस्ताक्षरो मे है जो केवल सामान्य वाक्याशो से बना है : निस्सन्देह ऐसा दो शैलियो के सघर्ष की अपेक्षा अर्थ के सूक्ष्म भेद मे कम होता है। भविष्यत् के अर्थ वाला वर्तमान बहुत कम मिलता है।

आधुनिक साहित्यो तथा साथ ही ग्रामीण बोलियो मे, जो प्राचीन हैं, प्राचीन

वर्तमान में साधारणत वास्तविक अर्थ सुरक्षित रहता है, साथ ही सूत्र या कहावत-सबंधी वर्तमान का, जो निरन्तर रहता है। ऐतिहासिक वर्तमान वर्णन मे अधिक मिलता है; मराठी तो और आगे जाती है उसमे प्राचीन वर्तमान भूत० मे पुनरावृत्त हुए कार्य को नियमित रूप से द्योतित करता है। दूसरी ओर मराठी मे वह सभावना, अनिश्चितता व्यक्त करने का काम देता है, उसमे उसका वह भाव है जो हिंदी मे, पजाबी मे, कश्मीरी मे [गुपि "वह छिपेगा, वह छिप सकता है, (यदि) वह छिपे"] प्रचलित है, उसमें भविष्यत् का भाव निहित रहता है, शिना मे सामान्य (हरम् "मैं ले जाऊँगा") तथा अन्य दर्द-बोलियो मे (दमेली, तोरवाली, प्रथम० एक० के विचित्र रूप-सहित), मैथिली में (सभाव्य अर्थ भी)। वास्तव मे केवल नूरी मे उससे आश्रित पूर्वसर्ग का सशयार्थसूचक बनना है, और निश्चयार्थ भाव प्रकट करने के लिये उसमे एक निपात जुड जाता है ननम् "मैं जो लाता हूँ", ननमि "मै लाता हूँ", इसी प्रकार यूरोप मे कमाव् एक प्रकार से सशयार्थसूचक है, कमाव वास्तविक भविष्य है "मैं प्यार करूँगा।"

विपर्यस्त रूप मे क्रियार्थ-भेद-सबधी सूक्ष्म भेद वर्तमान से सम्बद्ध निपात द्वारा उपलब्ध हो सकता है। यह सिहली वा है, और क्षेत्र की दूसरी सीमा पर, कती, अश्कुन, वैगेलि बा (गवर्बती -अ?) ऐसा निस्सन्देह, कम-से-कम अन्तिम समुदाय मे, सस्कृत भू- धातु के रूप, सभवत आदरार्थ, से हो जाता है, इसके अतिरिक्त ब- मे काफिर मे "सकना" क्रिया उपलब्ध होती है। यही शब्द यूरोप की जिप्सी-भाषा (रूमानियन, हगेरियन, वेल्श) के आज्ञार्थ मे सामान्य प्रत्यय हो जाता है। नीराही मे भविष्यत् बताने वाला उपसर्ग ब- का और अफगानी से उधार लिये गये का भेद करना आवश्यक है।

लहँदा मे काफिर के "आदरार्थ" के सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए अयथार्थ की रचना होती है मारॉ-हा, मारेन्-हा। इसी प्रकार कश्मीरी मे हैं, निपात के बाद आने वाले प्रत्ययो को छोडकर, गुप-हस्, गुपि-हिव्।

किन्तु सामान्यत अयथार्थ, जिससे भूत० अनिश्चितता का द्योतन होता है, अपूर्ण के साथ सम्बद्ध हो जाता है, उदाहरणार्थ हि० करता।

दूसरी ओर यह देखा जा चुका है कि कर्मवाच्य वर्तमान, अपने सूत्र या कहावत-संबंधी भाव के नाम मे, प्राय बन्धन का भाव ग्रहण कर लेता है, और नम्र आज्ञा देने के काम आता है। म० पाहिजे, हि० चाहिये, अव० देखज्, हि० दीजे, दीजिये, पु० कश० पेजे "उसे गिरना चाहिए", खेजे "उसे खाना चाहिए", कश० आधु० गुपिजि, हि० दीजियो आदि, -इयो युक्त बगाली का आशीर्वादात्मक (हिन्दी से उधार लिया गया?) सभवत. प्राकृत शौर० दिज्जदु के आज्ञार्थ प्रकार वाले इन रूपो का अनुकूल रूप है।

क्रियार्थ-भेद-सबधी सूक्ष्म भेद, अतः, अस्थायी सूक्ष्म भेद विविध रूप मे आते हैं।

मुख्य कालो मे, वर्तमान मे प्राचीन वर्तमान की सभव अभिव्यजना थी, सस्कृत -(इ)त- मे निकला कृदन्त सामान्यत अतीत का प्रतिनिधित्व करता है। अकेला भविष्यत्, वहाँ जहाँ स्-भविष्यत् रूप नही है, उचित अभिव्यजना-रहित रहता है। ऐसे कारक देखे जा चुके हैं जिनमे वह बन्धन के कृदन्त द्वारा आती है, स० -(इ)तव्य-।

अन्य रीतियाँ भी हैं, जिनके तत्त्व आधुनिक है।

प्रथमत सामान्य वाक्य-विस्तारो की रीति म० बोल्णार आहे, गु० चाल्वानो छुं, सिंहली कपन्ने-मि (प्राचीन काल मे सततताासूचक वर्तमान और वर्णनात्मक भूत० के रूप मे); क्रियार्थक सज्ञा के साथ, नेपाली मे गर्ने छ बनता है, पशई वर्तमान प्रत्यक्षतः सहिति पर आधारित है हनीक्-अम "मैं मारता हूँ, मैंने मारा"।

एक दूसरी रीति वर्तमान से सम्बद्ध निपातों की है; यह देखा जा चुका है कि यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे यह कारक है (ग्रीक थ्अ के अनुकरण पर कम- "इच्छा होना" के बालकानी प्रयोग को छोड कर), गवर्बती मे -आ और -ओं क्रिया-रूप मूल के साथ सम्बद्ध हो गया प्रतीत होता है (सामान्य वर्तमान म् पर-प्रत्यय के साथ है) θलेम्-ओ "मैं पीटूंगा", θलेस्-आ, तुल० बोएम्, बोएस् (स्वय एक कृदन्त और क्रियामूलक रूप-रचना का सान्निध्य रूप), शिना में दूॲष् अनिश्चित को थोड़े-से भविष्यत् का भाव प्रदान करता है।

प्राय प्रयुक्त निपात नामजात मूल का रहता है, और ठीक-ठीक रूप मे कहा जाय तो कृदन्त। एक विशेष रूप से स्पष्ट कारक हिन्दी मे मिलता है :

एक०	१	पु० चलूं(ऊ)गा	स्त्री० चलूं(ऊ)गी
	२-३	चलेगा	चलेगी
बहु०	१-३	चलें(ऊ)गे	चलें(ऊ)गी
	२	चलोगे	चलोगी

हिन्दी तथा आसपास की सभी बोलियों में यह प्रकार ज्यो-का-त्यो मिलता है : मैथिली (आंशिक), पजाबी, मेवाती। किन्तु राजस्थान के दक्षिण मे, मारवाड़ी और मालवी गा, भीली गो पु० एक० के रूप मे स्थित हैं। पजाब की उत्तरी जातियों की बोलियों और पड़ोसी हिमालय-निवासियों की बोलियों में, पर-प्रत्यय ग अथवा घा है, तथा इसके अतिरिक्त मुख्य क्रिया के प्रत्यय दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरण, डोगरा (पजाबी) :

१ एक०	मारऊ	बहु०	पु०	मारन् मार्गे
			स्त्री०	मार्गिआँ
२ पु०	मार्ग		पु०	मार्गिओ, मार्गे
स्त्री०	मर्गी		स्त्री०	मार्गिअँ
३	मारग्			मारन्गे, -गन्,
				मार्गन्, मार्गुअँ

तुल० पु० मे, कांगडा बोली मे

एक० १ मराँग्(ह्)आ, १ २ ३ मार्ग्(ह्)आ, बहु० १ २ ३ मार्ग्(ह्)ए।

कुछ रूप इस सामान्य अनुमान को प्रश्रय देते हैं कि प्रथम शब्द क्रिया-रूप-युक्त रूपो का अवशिष्ट अंश है, यह भी सभव है कि क्रियामूलक विशेष्य बीच मे आ टपका हो, जैसा शिना के भूत० मे है जमेगु, जमेगि "उसने (पु०), उसने (स्त्री०) पीटा है"।

द्वितीय अश स्पष्टत नामजात और स्वतत्र है, इस अवसर पर हिन्दी उन्हे पृथक् कर देती है हो ही गा। क्रिया "जाना", स० गत- के भूत० कृदन्त के अ-व्याप्ति-युक्त रूप को पहचानना सरल है, पु० प्रा० गओ, ब्रज गौ, हि० गा [व्याप्ति-युक्त रूप प्रा० ग(य्)अओ, ब्रज गयौ, हि० गया]। यह कृदन्त, जो शिना मे भूत० अर्थ-युक्त वाक्य-विस्तारो की रचना करता है (हरीगु, हरीगि "वह ले गया, ले गयी है") और फलत: स्वाभाविक रूप मे, अश्कुन मे, अयथार्थ भाव मे (दिअले-गोम् "मैं जाऊँगा", तुल० तुल० दिअलेम् "मैं जाऊँगा"), यहाँ पूर्ण होने का भाव ग्रहण कर लेता है इसलिए अर्थ होगा मैं गया हूँ (गयी हूँ) ताकि मैं पीटूँ" आदि। तुल० वेल्श जिप्सी-भाषा की अभिव्यजना मे जाव ते खअँ "मैं जाता हूँ कि मै खाऊँ, मैं खाने के लिये जाता हूँ", और भूत० कृदन्त के साथ नूरी गर जारि "गया कि वह जा सके, वह जाना चाहता है"।

अन्यत्र द्वितीय अश ल् अकेले या व्याप्ति द्वारा निर्मित होता है। मराठी मे, अत्यन्त प्राचीन पाठो के काल से -ल् अकेला है पडेल्, पडेल्, करील्। भीली मे और मारवाडी मे पर-प्रत्यय, अव्यय -लो, -ला है। किन्तु जैपुरी मे -लो सज्ञा-रूप प्राप्त करता है, और साथ ही हिमालय के समुदाय मे कुमायूंनी -लो, नेपाली -ला .

१ गरुँ ला (अव्यक्त भविष्यत् मे गर्ने छ, दे० पीछे) "मैं बनाऊँगा, मैं बनाना चाहता हूँ"।

२ गरे-ला-स्।

३ गरे-ला।

(प्राचीन रूपो के साथ योग, उदाहरणार्थ, पूंच की लहँदा, कुल्लू की बोली, मे)।

समीपवर्ती बोलियो मे मार्‌ला प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता मारूँला से है जैसा कि उसी क्षेत्र मे देखा जाता है कि मार्‌गा की प्रतिद्वन्द्विता मारौंगा से है।

अपरिवर्तनीय मूल की उत्पत्ति यहाँ इतनी कम स्पष्ट है कि कुछ बोलियो मे द्वितीय अंश के क्रियामूलक प्रत्यय प्रभावित हो गये हैं जैसे काफिर मे, अश्कुन बलेइ, कती बेलोम्-, अश्कुन कलिम्, कती कुलुम् "मैं जाऊँगा"; तुल० अश्कुन सेम्, कती स्अंम् "मैं हूँ"।

मध्य० बगाली मे स-भविष्यत् के उत्तम० एक० के विकरण मे, जो क्षीण हो चुका था, -लि जुड जाता है करिह्‌लि, दिह्‌लि।

प्रणालियो के व्यवधान और भिन्नता रहने पर भी, भोजपुरी वर्तमान-भविष्यत् की गणना करने के लिये भी यह उपयुक्त स्थल है पु० देखले, स्त्री० देखलिसि, देखे-ले, देखे-लन्, देख-लिन् (तुल० देखन् "यदि वे देखते है", देखिन् "यदि वे देखती हैं")। ऐसा यहाँ प्रतीत होता ही है, यद्यपि हमारे सामने चाहे भूत० कृदन्त हो अथवा क्रियामूलक विशेष्य, कोंकणी वर्तमान० कृदन्त से अपना काम चला लेती है निद्‌तो-लों "मैं सोऊँगा"।

अस्तु, इन रूपो का इतिहास जटिल है, किन्तु ग्- युक्त रूप के साथ समानता द्वितीय शब्द मे कृदन्त देखने के लिये बाध्य करती है, कृदन्त जो निस्सन्देह स० ला- से है, जो वस्तुत मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से ले-(दे- के अनुकरण पर निर्मित) द्वारा सामान्यत स्थान-च्युत कर दिया गया है, रूसी जिप्सी-भाषा ल- "लेना" के प्रयोग के साथ ससरण ध्यान देने योग्य है।

भविष्यत् से बाहर, ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिनमे सहायक एक कृदन्त हो। सिंधी मे निश्चयार्थ वर्तमान अऊँ हलाँ थो (स्त्री० थी) अथवा थो(थी)हलाँ "मैं जाता हूँ" सस्कृत स्था- धातु के कृदन्त-सहित है, 'पिओ चारे' जिसमे कृदन्त सस्कृत पतित- से निकला है।

इसी प्रकार की रचना, किन्तु क्रियामूलक सहायक के साथ (तुल० जिप्सी-भाषा का भविष्यत् जिसका पीछे उल्लेख किया गया है) गुजराती-राजस्थानी-ब्रज समुदाय मे यथार्थ वर्तमान निर्मित करने का कार्य करती है . गु० चलूं छूं, ब्रज मारौं हौं।

क्रियामूलक सहायक, जो प्रधान भाव को द्योतित करने वाले कृदन्त कर्त्ता या विकृत रूप के साथ आते हैं,अस्थायी और क्रियार्थ-भेद-सबधी सूक्ष्म भेद की साधारण-से-साधारण अभिव्यजना के साधन बनते हैं और जिनके अब तक देखे गये रूप अनुवाद के अयोग्य हैं · सतत, सबध काल, आदि। इस अवसर पर व्याकरण और शब्दावली के बीच कोई निश्चित सीमा नही है, यद्यपि क्रिया-रूप भाषाओ के अधिक परिष्करण और उनकी

गंभीरता के अनुरूप ही समृद्ध प्रतीत होते हैं उनका यहाँ उल्लेख करना उतना ही अनावश्यक है जितना संज्ञा का आकृति-मूलक वर्णन करते समय समस्त प्रयुक्त परसर्गों की सूची का। यहाँ 'होना' क्रिया के साथ योग के ऐसे कुछ उदाहरण देना यथेष्ट होगा जो अत्यन्त स्पष्ट उदाहरणों में से छाँटे गये हैं (सभी अव्ययी रूप पु० में प्रकट होते हैं) :

मराठी :

क्रिया "होना" के रूप

चालत् आहें
चाल्तो आहें
चाल्लों आहें
चाल्णार् आहें
चालत् असें
चालत् अस्तों
चालत् अस्लों
चाल्लों अस्तों
चाल्लों अस्लों
चाल्णार् अस्तों
चाल्णार् अस्लो
चालत् असेन्
चाल्लों असेन्
चाल्णार् असेन्
चालत् होतों
चाल्लों होतों
चाल्ता झालो
चाल्ता होइन्

कृदन्ती रूप से क्रिया "होना" ·

चालत् असावा
चाल्लों असावा
चाल्णार असावा
म्याँ चालत् असावे
म्याँ चालावा होतें

सिन्धी (सामान्य या परसर्गात्मक विकृत सर्वनामों की रचना किये बिना):

क्रिया "होना" का रूप .

हलन्दो आँहियाँ

हल्यो आँहियाँ

हलन्दो हुआँ

हलन्दो हो-स्[ए]

हलन्दो हुन्दु-स्[ए]

क्रिया "होना" कृदन्त

हलों थो, थो हलों

तुल० हलिउस्[ए] थे (विकृत कृदन्त), जो वास्तव में है हलिउस्[ए]

मारवाड़ी ·

मार्‌तो हुऊँ "मैं पीट सकता हूँ" (निश्चयार्थ वर्तमान के लिये द्विगुण अनिश्चित . मारूँ हूँ)।

मार्‌तो हुऊँला

मार्‌तो हो (तथा भूत० कृदन्त के अधिकरण सहित . मारै हो)

मार्‌तो होतो

हिन्दी :

क्रिया "होना" के रूप :

गिर्‌ता (-ती) हूँ

गिरा (-ई) हूँ

गिर्‌ता होऊँ

गिरा होऊँ

गिर्‌ता हूँगा

गिरा हूँगा

क्रिया "होना" कृदन्त में :

गिर्‌ता होता

गिरा होता

गिर्‌ता था

गिरा था

मैथिली .

देखइ छी, देखइत (देखइत् ^{इ}) छी।

देखल् अथवा देख्^{अ}लहुँ अछि (अथवा अहि)।

देखले॑ छि।

देखइ अथवा देखइत् (-त्^{इ}) चलह्^{ऊ} (अछ्- का क्रिया-रूप कृदन्त)।

देखले॑ चलह्$^{उँ}$।

आद्य० बगाली करिते छि, करिते छिलाम्।
करिया छि, करिया छिलाम्।

म० बगाली : करि छि, करि छिलो।

नूरी

नन्-ओ-चम् (क्रियामूलक विशेष्य+*हो+*अच्छामि) "मैं लाना चाहता हूँ", "मैं लाता हूँ, ला रहा हूँ"।

क्रिया "होना" कर्मवाच्य बनाने के भी काम आती है

सिंधी मारिबो आहियाँ, नुल० मारिब्-स्^{ए}, विपर्यस्त रूप मे "होना" का कृदन्त प्राचीन कर्मवाच्य मे सम्बद्ध पाया जाता है मारिजाँ थो "मैं पीटा जा रहा हूँ"।

मारवाडी मारियो है, हो, और फलत म्हैं मारियो है, हो, म्हैं मारियो हुवै; यह केवल कर्मवाच्य है, प्रयोग कर्तृवाच्य का पूरक है।

बगाली खत्रा होइ, मारा होबे, धरा होइआ छे, ए बोइ आमार् पडा आछे।

पशई (समुदाय मे, ऐसा प्रतीत होता है केवल यही) हनिन् लियिम्, बीकीम् "मैं पीटा जाता हूँ, तुम पीटे जाते हो", हनिन् बिगाकुम् "हम पीटे जाते है।"

जिप्सी-भाषा मे भी -ओव्- (प्रा० हो-) से कर्मवाच्य बराबर बनता है . चिंन्दोवव "मैं गिरा हूँ", यह बरिओवव "मैं बडा हो गया हूँ" प्रकार का विस्तार है। नूरी मे ऐसा कुछ भी नही है।

इन समस्त अभिव्यजनाओ का महत्त्व भली भाँति समझने के लिये (जिनमे प्राचीनकालीन श्रेणियाँ नही ढूँढनी पडती अथवा प्रयोग की आवृत्ति नही ढूँढनी पडती), न केवल कृदन्तो के सबध मे सकेतित यौगिक सान्निध्य की और पीछे सकेतित भविष्यत्० की ओर ही ध्यान जाना आवश्यक है, वरन् दूसरी ओर उन समुदायो की आवृत्ति की ओर भी जो "होना" के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ के साथ सादृश्य रखती हैं।

अत्यधिक विशेषता-सूचक अभिव्यंजनाओ में से उन अभिव्यंजनाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो "जाना" से बनती हैं; पीछे यह देखा जा चुका है कि शिना में भविष्यत्० और भूत० मे यह क्रिया कृदन्त रूप में है। व्यक्तिवाचक रूपो मे प्रयुक्त होने पर, उससे कर्मवाच्य बनाये जा सकते हैं।

कश्मीरी मे यह क्रिया विकृत क्रियार्थक सज्ञा से निर्मित होती है गुपन यिम "मैं ढूंढने जाऊँगा, मैंने ढूंढ लिया होता", बगाली मे प्रत्यक्षत कर्तृ क्रियार्थक सज्ञा (प्राचीन कृदन्त) से : देखा जाय् अथवा होइ।

"जाना" कर्त्ता से साम्य रखने वाला कर्मवाच्य कृदन्त के साथ भी मिलता है, और ऐसा विशेषत हिन्दी, पजाबी, मराठी और उड़िया मे है . वों मारा गया, मै मारा जाता हूँ।

यह रचना कुछ कम स्पष्ट है, क्या अलग-अलग होने के समय जन्- धातु के सस्कृत जात- से निकले प्रा० जाअ- (कर्पूर० छूरिओ जाओ म्हि) और प्राकृत जा-, स० या- "जाना" जिसका निरन्तरता का भाव एक प्रकार से सहायक का था, के बीच गडबड है [तुल० हिं० वों कहता गया अथवा रहता, मेरा गला बैठता (बैठा) जाता है] ? क्या यह ईरानी प्रभाव है ? फारसी और अफगानी वास्तव मे इसी रीति से शुंदन् का प्रयोग करती हैं, जिसका प्राचीन अर्थ है "जाना"। इस सबध मे उर्दू मध्यम मार्ग और अन्य भाषाओं के लिये आदर्श होगी। हर हालत मे यह रचना केवल हाल की ही प्रतीत होती है, और सभवत उस पर अँगरेजी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

क्या ऐसा ही "होना" क्रिया की रचना मे है ? प्रत्येक परिस्थिति मे प्राचीन देशी प्रणाली मे, कर्मवाच्य के स्थान पर, प्रेरणार्थक कर्तृवाच्य विकरण के विपरीत नपु० कर्मवाच्य विकरण उपलब्ध होता है, दे० पीछे, स्थानीय स्वरूपो की गणना किये बिना, उदाहरणार्थ, कती विनगन् उन्ग-, पु० सिंहली गसनु लबमि (रूप जो अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धघोष की पाली मे मिलता ही है, दे० "क्रिटि० पाली डिक्श०", s w. अन्तरकरण-), सिंहली आधु० गसण्ट येदेनवा, हिं० देखने मे आना, दिखाई देना, जहाँ तक मार् खाना, सुनाई पडना "सुनाई मे गिरना, सुन पडना" प्रकारों से सबध है, इस बात की ओर सकेत किया ही जा चुका है कि उनके कुछ सदृश रूप हैं, पहला ईरानी मे, दूसरा द्रविड़ मे। बगाली मे, आमि देखा पडि "मैं पडता हूँ देखा" के निकट आमाके देखन् जाय् अथवा होय् "मेरी ओर देखा जाता है, होता है", जो बराबर है "मैं देखा जाता हूँ" के।

यहाँ यह देखा जाता है कि व्याकरण का बहुत काम नहीं है। ऐसा अति सामान्य प्रयोग के स्वरूपो के विशेष प्रयोग द्वारा हो जाता है, और जो भारतीय शब्दावली की

विशेषता है। उदाहरणार्थ, बंगाली मे "गिरना" के प्रयोग की ओर ध्यान देना यथेष्ट होगा : से गाँछे उठिया पँडिल, से गाँछे उठिया पड़िल जिनमे अतिशयता के बल-स्थल का अनुगमन करते हुए, उस प्रणाली का समुदाय है अथवा नही जिससे दो विरोधी अर्थ उपलब्ध होते है "पेड पर चढा हुआ, वह गिर पडा है, वह पेड पर चढ़ने को हो गया है" (ऐंडर्सन, 'मैनुअल आव दि बेंग्० लैंग्०', पृ० ३५)। "लेना", "देना", "फेंकना" के लिये क्रियाओं से प्रमुखत अतिशयता का भाव प्राप्त होता है . बंगाली डाकिया देइ, "छोड देना" दो भाषाओ मे, जो व्याप्ति-युक्त भी हैं, आता है जिससे गुजराती और कश्मीरी अपने भूत० कृदन्त को सशक्त बनाती हैं · गु० तेने राणी ने नसाड़ी-मुकी (उसके द्वारा रानी का पीछा किया गया), कश० छुह गुपु़-मोतु़ "वह छिपा हुआ है"। अस्तु, रूप, जो प्रचुर हैं और वर्णनात्मक व्याकरणो मे कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं, वास्तविक सच्चे क्रिया-रूपों के निर्माण के प्रमाण नही हैं।

कर्त्ता के साथ क्रिया के संबंध

वाच्य

प्राचीन सस्कृत मे अकर्तृक क्रिया नही थी · मै० स० यद् वै पुरुषस्यमर्मयति, तै० स० प्रजाभ्यो'कल्पत, ऋ०, अवर्षीत्, श० ब्रा० वर्षिष्यति, किन्तु वर्ष- द्वारा एक कर्त्ता व्यक्त होता है, तथा श० ब्रा० मे उग्रो वाति वास्तव मे सामान्य सूत्र की भाँति आता है, यदा बलवद् वाति, एक पु० कर्त्ता निहित है। वास्तव मे सस्कृत मे कर्मवाच्य के रूप मे केवल अकर्तृक का ही विकास हो सका, यह एक वास्तविकता है कि न्यायानुकूल कर्त्ता यहाँ करण० द्वारा प्रकट होता है, और समानता से भी जिसे कर्मवाच्य पुरुषवाचक रूप -तव्य तथा -त- युक्त क्रियामूलक विशेषण के सहित प्रस्तुत करते है। आधुनिक भाषाएँ सुविधा के अनुसार कर्त्ता प्रकट करती है हिन्दी मेह या पानी पडता है, बादल गरज्ती (?) है, बिजली चमकती है, सिर् मे दर्द है, कती सैं तिम्र्, नूरी को पृथक् रखना आवश्यक है जिसमे वर्सर्' एद् दिन्य एक अरबी प्रभाव है, जिसके निकट उसमे बर्सरि "बरसता है" भी है। यह समझा जाता है कि कर्त्ता, सभवत. एक उपसर्गात्मक अव्यय, बाद मे "कि" लगा कर अपना परिचय देता है, जैसे सस्कृत यत् और बाद को फारसी से लिया गया कि हिं० बिहतर् होगा कि।

जहाँ तक कर्त्ता के पुरुषवाचक क्रिया से सबध की बात है, वह सस्कृत मे दो प्रकार के प्रत्ययो द्वारा प्रकट होता है .

कर्तृवाच्य और मध्य। दूसरे मे, क्लैसीकल सस्कृत मे केवल कर्मवाच्यो का निश्चित भाव सुरक्षित रहा है, साथ ही उनमे एक विशेष पर-प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसा कि देखा जा चुका है, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे यह वर्ग बना रहता है, किन्तु उसके विशेषता-सूचक प्रत्यय लुप्त हो जाते है। नव्य-भारतीय भाषाओ मे यह वर्ग सीमित रूप मे मिलता है, अनेक स्थलो पर कर्मवाच्य अपने प्रागैतिहासिक तुल्य रूपो द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु कर्मवाच्य का ह्रास अपूर्ण रह जाता है। जहाँ तक पीछे उल्लिखित हाल के रूपो से सबध है, उनका मूल साहित्यिक है, और अधिकाशत वे यूरोपीय प्रभाव के कारण हैं।

हर हालत में, अकर्तृक के अभाव की भाँति, सामान्य कर्मवाच्य का इतिहास इस

बात का प्रमाण है कि चीजों को कर्तृवाच्य रूप के अन्तर्गत देखने की आवश्यकता है; कुछ समय के लिये कर्मवाच्य रूपो के वर्तमान भविष्यत् मे कर्मवाच्यो के जीवित रहने के कारण, जब कि भूत० की अनिवार्यत कर्मवाच्य वाली अभिव्यजना थी, इस बात की आशा की जा सकती है कि एक पूर्णत कर्मवाच्य क्रिया की रचना हो। वास्तव मे कई भाषाओ मे कर्ता कारक मे ऐसे कुछ रूपो का प्रयोग होता है जिनके विकृत रूप होने का सन्देह किया जा सकता है, विशेषत सर्वनामो मे यह स्पष्ट है, और वह भी न केवल शिना मे, जिसमे तिब्बती का प्रभाव माना जाता है (एल० एस० आई०, पृ० ३५०), किन्तु, उदाहरणार्थ, हिन्दी मे भी मैं। लेकिन, वास्तविक भाषा-विज्ञान की भावना के अनुसार, य सदैव कर्ता० से होते है, तथा स्वय भाषा-विज्ञान की भावना, व्याकरण-सबधी सूचनाओ के प्रकाश मे देखने पर, उस रचना का कर्तृवाच्य की भाँति विश्लेषण करती है जिसका पूर्ण साम्य कर्मवाच्य प्रकार के साथ होता है मैं ने ये किताब् पढी।

लिग

पुरुषवाचक शब्द-रूप क्रिया-रूप मे एक बहुत ही न्यूनत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते है—यदि उनकी तुलना अन्य क्रियाओ के साथ आने या न आने वाले कृदन्ती रूपो के साथ की जाय। तो फिर यह कहा जा सकता है कि लिंग की अभिव्यक्ति उन भाषाओ मे महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है जिनमे विशेषण उसे स्वीकार कर लेते हैं हि० मैं बोल्ता या बोल्ती, मैं बोला या बोली, म० मिं उठों या उठ्नों, मिं उठ्लों अथवा उठ्ले, आदि।

हिन्दी जैसी भाषाओ मे भूत० के लिये कर्मवाच्य अभिव्यजना मिलती है (औरत् ने घोडा मारा, घोडी मारी, जिसका ठीक-ठीक रूप होगा "औरत द्वारा घोडा मारा गया, घोडी मारी गयी"), लिग पूर्णत पुरुष पर छाया हुआ है। अकर्मक रूप "औरत ने घोडे (घोडी) को मारा" "औरत द्वारा घोडे को (घोडी को) उसे कुछ आघात दिये गये हैं" लिग के महत्व को, बिना पुरुष को उसके अधिकार दिये बिना, दबा देते है, इसी प्रकार नेपाली आदरसूचक हे।

लिग की अभिव्यक्ति केवल वही नही मिलती जहाँ वह विशेषण मे नही है सिंहली मे, काफिर मे (उसमे गवर्बती भी शामिल कर लीजिए जिसमे विशेषण का आशिक साम्य स्थापित होता है), कलाश मे, पशई और खोवार मे, अत मे पूर्वी समुदाय मे; स्वय भोजपुरी मे, उसके क्रिया-रूप मे गणना की जाती है २ एक० पु० देखस्, स्त्री० देखिस्, जब कि विशेषण का साम्य केवल सबधवाची काव्य-रूप 'मोरी' मे अधिक प्रमाणित होता है।

पुरुष तथा वचन

यह देखा जा चुका है कि पुरुष की अभिव्यक्ति किस प्रकार कृदन्ती रूपो मे प्रकट होती है जो सिद्धान्तत उसे स्वीकार नही करते, इसके अतिरिक्त सर्वनाम, विशेषत उत्तम और मध्यम पुरुषो मे, साधारणत उनमे अभिव्यक्त होते हैं—जब तक कि उनके बिना आना सर्वनामो के लिए अनिवार्य न हो।

भारतवर्ष मे अत्यधिक विकसित सामाजिक ऊँच-नीच के कारण पुरुषो का प्राचीन प्रयोग कुछ जटिल हो गया है। प्राचीन सस्कृत मे तो नही, जिसमे अधिक-से-अधिक पद के अनुसार लोगो को सबोधित करने मे भेद था (उदा० ब्राह्मणो के लिये भो), किन्तु बाद को एक और रूप भवन्त्- निकल पडा जो एक सम्मानित व्यक्ति को सबोधित करने के काम आता था, पाली और सस्कृत मे, विशेषत शिष्ट और नम्रताशील साहित्य मे, सर्वनामो के बहुवचन भी मिलते है।

शिष्ट भाषाओ मे वह एक नियम बन जाता है। यद्यपि जिप्सी-भाषा मे सर्वत्र 'तू-नेग' प्रचलित है, गगा-सिंधु घाटियो की भाषाओ मे उसमे घनिष्ठता, स्नेहशीलता अथवा घृणा निहित रहती है। हिन्दी मे बहु० का मध्यम पुरुष छोटो के साथ सामान्य सबध मे काम आता है, शिष्ट रूप प्रथम० बहुवचन का होगा, जिसके साथ या मान लिया गया एक प्रथम० एक० का कर्त्ता होगा, किन्तु जो सम्मानसूचक होगा आप्, वास्तव मे "स्वय", तुल० दे० पीछे, महाराज्, हुजूर्, साहेब्, आदि क्योकि प्रथम० एक० मे आदरसूचक कर्त्ता हर हालत मे क्रिया को बहु० मे परिणत कर देगा राजा फर्माते हैं। फलस्वरूप, एक० उत्तम० को व्यक्त करने के लिये, 'मै' का प्रयोग किया जा सकता है, और विनम्रता के सूक्ष्म भेद के साथ, 'बन्दा' प्रकार के शब्दो का प्रथम० एक० मे, किन्तु 'हम्' बिना किसी विशेष मूल्य के सामान्य है हम नहिँ करेन्गे "मै (उसे) नही करूँगा"। मराठी और गुजराती मे, सदृश नियम है, किन्तु तीन लिंगो के अस्तित्व के कारण यह दुरूहता है कि स्त्री० का आदरसूचक रूप नपु० है, म० बाई-साहेब् आलिँ अस्तिँ, गु० तेम्नी साथे राणी पण् अव्याँ छे (क्या इसमे और हिन्दी प्रकार के स्त्री० बहु० के बीच का सबध प्राचीन नपु० प्रतीत होता है, दे० पीछे)। सिंहली मे बहु० उम्ँब अथवा नु(म्ँ)ब, प्रथम० उन्-द्आँ की भाँति, बराबर वाले अथवा उस छोटे का, जिसके साथ विनम्रतापूर्ण व्यवहार किया जाता है (जिससे नवीन बहु० उम्ँब-ला की उत्पत्ति), द्योतन होता है, आदर तमु-से (अर्थात् स्पष्टत आत्मना छाया) अथवा नुब वहन्से "आपकी बुराइयो की छाया (?)" द्वारा प्रकट किया जाता है, इसी प्रकार पु० प्रथम० में उन्न्अँहे, उन्- वहन्से का 'ऊ' "उसे" (क्योंकि स्त्री० अँ के आदरसूचक रूप नहीं होते) के स्थान पर प्रयोग होता है; तुल० गुरुन्नान्से "स्वामी"।

बहु० सर्वनामो के प्रयोग के कुछ आकृतिमूलक परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। बगाली मे 'मुइ' के प्रतिकूल आमि "मुझे · हमे", तुइ, तुमि "तू . तुम" में विपरीतता मिलती है :

मुइ, तुइ "मैं, तू"
मोरा, तोरा "हम, तुम" } निम्न

आमि, तुमि "मैं, तुम"
आम्‌रा, तोम्‌रा "हम, तुम" } सामान्य

अस्तु, मध्यम पुरुष मे मिलेंगे

तुइ करिस् (घनिष्ठतासूचक)
तुमि कर (एक व्यक्ति)
तोम्‌रा कर (बहुत-से व्यक्ति)

स्वभावत बिना गणना किये

आप्‌नि (आप्‌नारा) करेन्

और आज्ञार्थ मे प्रथम० बहु० का रूप वैसा ही होगा जैसा मध्यम० के लिये :

आप्‌नार् अभिप्राय् व्यक्त करुन् ।

और प्रथम पुरुष मे, न केवल मिलते हैं

से करे, तहारा करेन्, किन्तु, यह मान कर कि शुरू मे बहु० सर्वनाम तिनि, एक० मे व्यवहृत होता है, एक ऐसा क्रियामूलक रूप मिलता है जो प्राचीन रूप मे बहु० होते हुए भी दो भावो के साथ प्रयुक्त होता है

तिनि करेन्, तहारा अथवा ताँहारा करेन् ।

मैथिली मे चीजे और भी दूर चली जाती हैं, एक ओर तो बगाली की भाँति सर्वनाम बन्धनमुक्त होते है हम्, तोँह् (प्राचीन बहुवचन), हम् सभ् "सब बहुत-से मैं" अथवा कहना चाहिए "हम सब", अस्तु "हम", तोँह् सभ्, किन्तु क्रिया किसी भी तरह उसका वचन प्रकट नही करती। एक दुरूह प्रणाली में आदर की भावना ने वचन का स्थान पूर्णत· ग्रहण कर लिया है—ऐसी दुरूह प्रणाली मे जिसमे नवीन भावनाओ के मूल मे स्वभावत ऐसे रूपो की झलक मिलती है जो प्राचीन की भावना प्रकट करते हैं "तू देखता है" की तीन साधारण अभिव्यजनाएँ मिलती हैं . देख्, देखहू् (उ) प्राचीन बहुवचन, इसी प्रकार एक अव्यय निपात-सहित देख् (अ) हु-क्; इसके अतिरिक्त "तुझे", "तुम्हे" के साथ देखइछहू् (उ) का प्रयोग किया जाता है, यदि पूरक, साक्षात् हो अथवा नहीं,

वस्तु, पशु अथवा नगण्य व्यक्ति है, तथा देखाइ ब्युन्ह्[ह] (बहु० विकृत सर्वनाम को संबद्ध करता है) यदि वह सम्मानित व्यक्ति के संबंध में होता है; दूसरी ओर यदि कर्त्ता "तुम" एक या अनेक सम्मानित व्यक्तियों का द्योतन करता है, तो देखइछिअइ और देखइछिअन्ह्[ह] से पूरक के सम्मान के पद का अनुसरण करते हुए काम लिया जाता है।

यहाँ यह देखा जाता है कि पूरक की प्रकृति प्रत्यय के आधार पर होती है; यह परिणाम स्वयं निकलता है कि प्रत्यय के होने पर, पूरक का पुरुष अपने को प्रदर्शित करता है :

मुर्ता नेना कें मुर्भरल्[अ] के।

मुर्ता तोग्[अ]रा कें मुर्भरल्[अ] को।

प्रत्यय मध्यम० बहु० अहु का प्राचीन प्रत्यय है, अस्तु, यहाँ क्रिया का पूरक के साथ साम्य है।

यह निष्कर्ष हो सकता है कि नम्रता के कारण अप्रत्यक्ष अभिव्यंजना पुरुष को हटा देती है। पहले ऐसा कुछ अकर्तृक कर्मवाच्य द्वारा व्यक्त नम्रता या आदरसूचक आज्ञार्थ में होता है, जैसे हि० देखिये, अथवा केवल क्रियार्थक संज्ञा द्वारा (जो नम्रतासूचक है), अथवा कुछ 'चाहिये' सहित अभिव्यंजनाओं द्वारा। नेपाली में तिब्बती के अनुकरण पर एक अकर्तृक आदरसूचक क्रिया-रूप निर्मित हो गया है :

तेस् ले गर्नु भो

और वह परसर्ग के लोप-सहित निर्मित हुआ है जिसके कारण रचना स्पष्ट रहती है :

तपाईं सुष्ु हुनुछ; दूसरा, पुरुषवाचक आदरसूचक क्रिया-रूप है जो बराबर क्रियार्थक संज्ञा पर आधारित है, त्यो गर्ने भयो, प्रसन्न-गराउने भये-का छादा।

. ेप की जिप्सी-भाषा में २ बहु० -थ ध्वनि की दृष्टि से -*एल् के निकट आ जाता है, जो प्रथम० एक० -अति से निकले -एल् सहित दृष्टिगोचर होता है; निस्सन्देह ऐसा प्रथम० द्वारा सामान्यतः मध्यम० का स्थान ग्रहण करने के कारण होता है (जिसका संबंध क्रिया से है, न कि सर्वनाम से)। इसके अतिरिक्त केवल क्रिया "होना" में, यह मध्यम० बहु० अस्पष्ट परिस्थितियों के अंतर्गत एक० का भाव ग्रहण कर लेता है, किन्तु जो ध्वनि-संबंधी संयोग के कारण भी हो जाता है, क्योंकि जिप्सी-भाषा में 'तु' का 'तुमे' से नियमित रूप से भेद मिलता है।

चतुर्थ खण्ड

भाष्यांश

१. क्रिया "होना" और नामवाचक वाक्यांश

भारतीय-ईरानी से संस्कृत में एक अस्तित्वसूचक क्रिया, अस्-, आयी है, जो प्रधानतः क्रिया भू- द्वारा भविष्यत् और सामान्य अतीत में मिलती है; इसके अतिरिक्त, द्वितीय क्रिया का वर्तमान, विकरणयुक्त होने के कारण, धीरे-धीरे "होना" का अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। भारोपीय और भारतीय-ईरानी परंपरा के अनुसार क्रिया 'बना रहना, होना' साधारण युग्म का काम दे सकती है : "होना"; किन्तु इस प्रकार के प्रयोग में वह सामान्यतः प्रथम पुरुष में नहीं होती और जब सर्वनाम व्यक्त होता है तो अन्य पुरुषों में भी नहीं रह जाती :

R.V. क्वे॑दानीं॒ सूर्यः॑, क्व॑ ऋ॒तं पू॒र्व्यं ग॒तम्, न॑ दे॒वासः॑ कव॒त्नवे॑; त्वं॑ व॑रुण उ॒त मि॒त्रो अ॑ग्ने; किन्तु त्वं॑ हि र॑त्न॒धा असि॑।

वैदिक गद्य में यह परंपरा सुरक्षित बनी रहती है और कुछ नयी-नयी बातें विकसित हो जाती हैं, उदाहरणार्थ, तुल्यता का मंत्र ऐ० ब्रा० पार्श्वो वा एते यद आपः। महाभारत में, आवृत्तिमूलक सहित सर्वनाम द्वारा प्रवर्तित वाक्यांशों का, प्रश्नसूचक वाक्यांशों का, और विशेषतः उनका प्रयोग हुआ है जिनमें विधेय या तो कल का [(-त-), -तवन्त-] अथवा भविष्यत् का (-य-, -तव्य-) क्रियामूलक विशेषण होता है; जिसके साथ पु० एक० से सबद्ध कर्तृवाची संज्ञा द्वारा उपलब्ध वाक्य-विस्तार से निर्मित सुदूर भविष्यत् को भी जोड़ देना आवश्यक है : श० ब्रा० अर्धं वर्षिष्यति....स्वो वष्टा; इसके अतिरिक्त यह वाक्य-विस्तार भविष्य-रहित था।

संक्षेप में क्रिया "होना" केवल कठिनाई से प्रथम दो पुरुषों में मिलती है, जिनमें वह सर्वनामों के तुल्य होती है।

अशोक ने "मैं कुशल हूँ" को कभी 'सुमि उपासके' (पवीमठ), कभी 'उपासके सुमि' (सहसराम) अथवा कभी 'हकं उपासके' (सिद्दपुर, बैराट) द्वारा व्यक्त किया है। क्रिया "होना" एक ऐसे वाक्यांश में आती है जिसमें एक क्रिया, कर्ता के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति रखती है : महा० एषो 'स्मि हृतुषि संकल्पम्, पा० संविग्गो म्हि तथा अस्मि; उत्तरकाल सिलेखों वाली सिंहली Epig. Zeyl. III, २५८, १३२ तथा २६१ n. ४) : दकुसा-मि से बद् दिनूमि-मि, की-दि मम-द्...बतक् दिनूमि-यि "(मह) मैं दक्षा हूँ मैंने शोध किया है; मैं ही हूँ..."; तथा बहुवचन में : देसमो...दुनूमो "हम लोग

(*जन-सृम) हमने दिया है (*दिन्न-स्म)"। और भी अच्छे रूप मे प्रथम पुरुष में अस्ति "अथवा तब" का साधारण अर्थ-सहित वर्णन प्रवर्तित करता है।

इसके अतिरिक्त अस्तित्त्व प्रकट करने वाला शब्द विविध प्रकार का रहा है। केवल उत्तर-पश्चिम सीमा पर अस् का स्वतत्र रूप मे प्रयोग सुरक्षित है, साथ ही वहाँ वह विकरणयुक्त मे परिवर्तित हो जाता है कती तुसे नम् के अजे "तुम्हार नाम क्या है" (इसके अतिरिक्त आस्-, सस्कृत आस्ते, पा० आसति के जीवित रहने को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है, कम-से-कम कश्मीरी मे)। बोलियो के अनेक समुदायो मे प्राचीन अतीत का भी प्रयोग हुआ, स० आसीत्, पा० प्रा० आसि, और यह प्रयोग भूत-काल की रचना के लिये हुआ है तुलसीदास रचेसि, लखीमपुरी २, ३ एक० देखिस्[इ], यूरोप की जिप्सी-भाषा के अतीत ग्री० केर्ड्-अस् "उसने बनाया है", केरेल्-अस् "उसने किया", तथा उत्तर-पश्चिम के मैयाँ कुट्-अस् "मैंने पीटा", कुटेल्-अस् "मैंने पीटा था", और कृदन्त सहित, शिना जमॅसु "वह पीटता है", प० जान्दा-सा, गिआ-सा।

अन्य किसी तरह से प्राचीन क्रिया मे से केवल बडी मुश्किल से वर्तमान का प्रथम पुरुष एक० बच पाता है, पा० प्रा० अत्थि, और नकारात्मकता सहित, पा० प्रा० नत्थि "है, नही है" के अर्थ मे, मराठी आथि, नाथि, सिंहली अँति, नॲति आदि।

सस्कृत के समय से, जैसा कि देखा जा चुका है, वर्तमान मे भवति, बहु० स्म , स्थ, द्वि० स्त की अपेक्षा अधिक अच्छे ध्वनि-सबधी रूप प्रदान करता है, तुल० मारूजो, 'मेल० द'ऑदिअनिज्म एस० लेवी', पृ० १५३, सामान्यत सभी प्रथम पुरुष उससे उपलब्ध होते हैं। क्रियामूलक विशेषणो को सहायक के रूप मे शीघ्र ही कार्य करते हुए पाया जाता है पतजलि के 'भाषितो भवति' पर निरुक्त की टीका है ११ २ शवति . भाष्यते "क्रिया शव्- भाषा मे है।"

सस्कृत के समय से ही अन्य ऐसी क्रियाएँ भी मिलती हैं जिनसे विशेषत सतत स्थिति का द्योतन होता है . आस्- और स्था- के अतिरिक्त हमे इ- (वैदिक), या-(हिं० जा- आदि), चर- मिलते हैं जिनका कृदन्तों के साथ प्रयोग होता है, विद्यते, वर्तते (यह अतिम पूर्वी समुदाय मे, आशिक रूप मे काफिर मे, सहायक की भाँति मिलता है), मध्यकालीन भारतीय भाषा मे मिलता है अच्छ्-, बहुत बाद को रह्- आह्-। ये सब ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति देना कठिन है, सिंहली मे इन्ॅद्-(स० सद्-) वास्तव मे "बैठा हुआ", तुल० हिं० बैठ्ना। इन शब्दो से एक साथ कुछ साधारण सयोजक और कृदन्तो से थोड़े-बहुत सम्बद्ध सान्निध्य-प्राप्त शब्द उपलब्ध होते हैं।

किन्तु सयोजक का रहना आवश्यक नही है, आधुनिक भाषाओ में नामजात वाक्याश हैं—ये भाषाएँ क्रियामूलक और कृदन्ती प्रयोगो से मुक्त हैं ही। तो भी उसके

स्थायी होने में अभी देर थी; वह कभी-कभी प्राचीन अप्रचलित रूप में इन भाषाओं में दृष्टिगोचर हो जाता है : काव्य, वर्णनात्मक साहित्य, वाक्य, सिंधी ऊन्हो लूहु उथें; पु० गु० पान्ख् पीळा ने पग् पाण्डुरा; पु० कश० गन्गि ह्यूह्^उ न तीरथ् कंह् "गंगा के बराबर कोई तीर्थ नही है"; उड़िया (गीत) कोइलि, ठण जे पुसुन्दर बेनि पोए; हिं० जैसी बोनी वैसी भर्नी, चोरी का गुड् मीठा।

बगाली मे यही वाक्य-विन्यास अधिक स्वतत्रता के प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है : स्पष्ट कथा-इ भाल, ए सुटि बड मिष्टि, से एक्जन् बिदेसी लोक, एटा मोरग् ना मुर्गी ? किन्तु अधिकतर भाषाओ मे क्रिया "होना" ही व्यक्त करना पसन्द किया गया है : द्विभाषिक वार्तालाप की पुस्तक मे, जिससे ये अन्तिम उदाहरण लिये गये हैं (एन० सी० चैटर्जी, 'ए मैनुअल ऑव कोलोक्विअल हिन्दी ऐन्ड बेगाली', १९१४), हिन्दी के सबध में मिलता है साफ् साफ् बोल्ना बहुत् ही अच्छी बात् है, यें राग् बहुत् अच्छा है, वों पर्देसी है, यें मुर्गा है या मुर्गी ? क्या यह विकसित सभ्यता का चिन्ह नही है . अश्कुन तोअ नाम् का सेइ, अप्अं‌इ गोडवें चीत्-व्येली सेइ "घोडा कितना बुड्ढा है", जो मुली दो रुपै या किरान् "उसका दाम दो रुपए और आधा है", शिना मे स्वय क्रिया का इस प्रकार के वाक्यांशो मे से तीसरे मे प्रयोग होता है अनिसेइ गाच् दु डबले ग अंष् आन (२ रु० ८ आ०) हनि।

सिंहली अधिक प्राचीनता-प्रिय प्रतीत होती है महात्मया मे रतु मिरिस्; मोकद करेन्ने "कि कर्तव्यम्", मेन्न एक, उसमें सस्कृत 'इति' का प्रतिनिधित्व करने वाला, सयोजक -यि की तुल्यता में प्राय प्रयोग होता है ꞏ ऊ होर-यि, इड मदि-यि "स्थान अयथेष्ट है", मे सोप् तदे वंडि-यि "यह शोरवा बहुत गरम है", तुल० बोहोम होर्नंद। इसी तरह के प्रयोग मे नूरी अ-क्रिया-मूलक पर-प्रत्यय का व्यवहार करती है, एक० -एक् (ईरानी ? तुल० दे० पीछे), बहु० -नि।

यह ध्यान देने की बात है कि सयोजक के कार्य से, जो सामान्य होता हुआ प्रतीत होता है, अस्तित्व के प्राचीन अर्थ को आघात नही पहुँचता, तथा जिसके स्थायित्व के प्रतिरोध में क्रिया 'to have' का पूर्ण अभाव मिलता है।

२. अंशों का क्रम

सस्कृत में भारोपीय रूप-रचना-संबंधी समृद्धि के साथ-साथ, सुविधानुसार वाक्यांश के अशों को यथास्थान सजाने की संभावना, जो उसी पर निर्भर है, सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त, इस शक्ति का प्रयोग साहित्यिक प्रभाव के लिये किया गया है;

उसमें एक स्वाभाविक क्रम है जो भारोपीय से उत्तराधिकार मे मिला और मध्यकालीन भारतीय भाषा तक आया।

वह इस प्रकार रूप धारण करता है : (१) उद्देश्य (अथवा उसका मनोवैज्ञानिक तुल्यार्थक) आदि में; (२) विधेय का समुदाय : क्रिया, अथवा उसके तुल्यार्थक, अत में, वर्णन मे प्रवर्तित आज्ञार्थ और निश्चयार्थ को छोड कर, जो आदि मे सामान्य रहते हैं; क्रिया से पहले उनके पूरक आते हैं, अप्रत्यक्ष पूरक सिद्धान्ततः मुख्य कर्मकारक से पहले : तो भी लक्ष्य द्योतित करने वाले पूरक क्रियार्थक सज्ञा, विशेष्य या सप्रदान कम-से-कम ब्राह्मण-ग्रथों मे सुविधानुसार क्रिया के बाद अस्वीकृत हो जाते हैं : यह एक ऐसा प्रयोग है जो भारतीय-ईरानी से आता है (तुल० मेइए-बॉवनिस्त, 'ग्रै० दु व्यू पर्स पुरानी फारसी का व्याकरण, पृ० २४०) और फिर बना रहता है : अशोक के अभिलेखों मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

सिद्धान्ततः शब्दों के समुदायो का सगठन इन्ही प्रधान प्रवृत्तियो का अनुसरण करता है : निर्धारित सबधकारक, विशेषणजात उपाधि, निर्धारक से पहले आते हैं, नाम-जात सामासिक शब्दो के मध्य मे भी यही क्रम रहता है। पूर्व-क्रियाएँ, प्रारभ मे स्वतत्र, जिस क्रिया के अर्थ को सीमा-बद्ध करती है उसके बाद अपनी शक्ति का लोप कर देती हैं, तत्पश्चात् वे उसके प्रतिकूल स्थान प्राप्त करती है उपसर्गात्मक अव्ययों की भाँति प्रयुक्त होने के कारण (इसके अतिरिक्त प्रयोग धीरे-धीरे विरल हो जाता है), वे सज्ञा के बाद आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं—उस सज्ञा के जो क्रिया से पहले ही बद्ध हो जाने की अपनी प्रवृत्ति के साथ साम्य रखती है—और फिर अपने को क्रिया-विशेषणों के रूप मे तथा नामजात रूपो अथवा पूर्वकालिक कृदन्त के रूप मे, जो अधिकाधिक उपसर्गात्मक अव्यय का स्थान ग्रहण करते हैं, रख कर विलीन हो जाती हैं।

यह देखा जा चुका है कि कर्त्ता और कर्मकारक का विरोध, जो सस्कृत मे एक साथ विकरण के रूप और प्रत्यय द्वारा प्रकट होता है, क्षीण हो जाता है और अत मे लुप्त हो जाता है, तत्पश्चात् लगभग सभी आधुनिक भाषाओ मे दो प्रकार का कार्य करने वाले विशेष्य का केवल एक रूप रहता है। यह गडबड एक ऐसे क्रम के बद्ध हो जाने से साम्य रखने के कारण है जो प्रारभ मे केवल स्वभावगत था। विशेषणबोधक शब्दों की भाँति प्रयुक्त कृदन्तो और विधेयो की भाँति प्रयुक्त कृदन्तो मे भेद उपस्थित करने की आवश्यकता के कारण भी इस प्रवृत्ति का समर्थन हुआ, जैसे उड़िया पडिला गछ "गिरा हुआ पेड", गछ पडिला "पेड गिर गया है।"

सामान्य आधुनिक क्रम इस प्रकार है : यथार्थ अथवा न्यायानुकूल कर्त्ता, अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष पूरक, क्रियाविशेषण, क्रिया :

हिन्दी : मैं तुम्-को यें किताब् देता हूँ, गुरुपत्नी ने हमें तुम्हें इन्धन् लेने भेजा।

छत्तीसगढ़ी : सीकारी-हर् मँचान्-ऊपर्-ले बन्दुक्-माँ भालू-ला गोली मारिस्।

बंगाली : आमि तोमाके एक टाका दिबो।

किन्तु यह ·

आमि एइ आम्-गुलो नूतन्-बजार्-थेके एनेछि "मैं नये बाजार से तुम्हे ये आम लाया हूँ।"

इससे भिन्न है .

आमि नूतन् बजार् थेके एइ आम्-गुलो एनेछि "यह नये बाजार से है कि मैं तुम्हें ये आम लाया हूँ।"

सिंहली . गुरुन्नान्से मट इस्कोलेडि सिंहल अकुरु इगेनुवा "गुरु ने मुझे स्कूल में सिंहली अक्षर सिखाये है।"

ऐसा ही दर्द मे मिलता है—केवल विचित्र कश्मीरी को छोड कर जिसमे क्रिया पूरक और विधेय से पहले आ सकती है

यिम् पोसँ म चटुख् "ये फूल मत चुनो।"

किन्तु

खस् (खोतु) यिमिस् गुरिस् "इस घोडे पर चढ़ता है (वह चढ़ा)।"

हातिम के किस्सो मे यह पढ़ने को मिलता है

दुन्याहस् मन्ज गछहव् "हम दुनिया मे आते हैं।"

किन्तु ·

तिछ छँन पातसॅ्ओहि मन्ज "ऐसी (स्त्रियाँ) राज्य मे नही हैं।"

तिम् अननय् खॅन् चमरुव्[उ] कर "वे तेरे लिये लाते हैं खाने (को) कुछ खालकी मटर।"

इसी प्रकार निम्नलिखित उल्लेखो मे अन्त्य कर्त्ता मिलता है

अमिस् मा आसिम् सॅह्मारसोन्द्[उ] जहर् " . . जहर बडे साँप का।"

तथ्-क्युत्[उ] द्युत्[उ] नस् सॅसॅनुन्[उ] पन्ज "उसके लिये दिया गया उसके द्वारा उसे एक लोहे का काँटा।"

किन्तु आश्रित वाक्य मे क्रिया निरन्तर अन्त में बनी रहती है ·

में द्युतुथ् न जाह् यहान्ति-छिर यॅमि, सुॅउंतिन् पनन्यौ-मि ग्रौसान् वॉत्सद् हरहस्मौ " . . . मैं सफल बना।"

रचना की इस उलट-फेर का मूल कारण ज्ञात नही है; बुरुशस्की और तिब्बती, बोलियाँ जो कश्मीर की सीमा पर हैं, भारतीय क्रम का अनुसरण करती हैं।

जिप्सी-भाषा मे यह क्रम बराबर पसन्द किया गया मिलता है . कर्त्ता, पूरक या विधेय क्रिया (और वर्णनो मे क्रिया, कर्त्ता) रूमानियन बोली वृश्र ल'अस लेस पल इ कोर् "वह उसे अपने हृदय मे धारण करती है", वेल्श बोली ई तर्नी श्रुँवेल् पिरदस् खेस्तिअर "जवान लडकी अल्मारी खोलती है", किन्तु यही बिना किसी कठोर नियम के रूमानियन लोग जिप्सी-भाषाओ को 'मर् मन् दे "हाथ मुझे दे" कहते हैं। यहाँ पर यूरोपीय प्रभाव देखा जा सकता है, वास्तव मे, फारसी का मुख्य भाग भारतीय क्रम है, जहाँ तक आरमीनियन से सबध है, उसमे प्राचीन स्वतत्रता अब तक बनी हुई है। दूसरी ओर नूरी सुविधानुसार वाक्याश के आगे, बिना अरब प्रभाव के, क्रिया को अस्वीकार करती है।

भारतीय-ईरानी नकारात्मकता या तो वाक्याश के आदि मे आती है या क्रिया से पूर्व, दूसरे प्रकार की रचना, जिसका साम्य क्रिया-विशेषणो और पूर्व-क्रियाओ से है, अधिक प्रचलित हो जाती है, उसमे स० न शक्नोमि, नास्ति, पा० प्रा० नत्थि (जिससे म० नाथि, सिहली नुवैति, आरमीनियन जिप्सी-भाषा नथ् आदि) और इधर हाल मे म० न-ये, शिना नुशे, जो सज्ञा-रूप धारण नही करता, की भाँति सामान्य समुदाय हैं। किन्तु नकारात्मकता सुविधानुसार कश्मीरी मे, नेपाली मे (नकारात्मक क्रिया-रूप जहाँ नकारात्मकता पहले या बाद मे आती है), बगाली मे, मराठी मे (विकरण और प्रत्यय के बीच मे स्थान प्राप्त करने की दृष्टि से नकारात्मकता क्रिया के बाद स्थित होती है : न करी अथवा करी ना); करीस् ना तथा करी-ना-स्, करी-ना-त्, .जिससे कोकणी का नकारात्मक क्रिया-रूप निद्ना, निद्नान्त्।

इस बाद मे आयी हुई नकारात्मकता को प्रश्नसूचक अन्त्य नकारात्मकता से अलग करने की आवश्यकता है "is it not ?" "ऐसा नही है क्या" या "है न ?" जो उदाहरणार्थ हिन्दी मे प्रचलित है। वास्तव मे यह एक शब्द है जो पूरे वाक्याश की आवृत्ति करता है। उसी से विकल्प बताने वाली नकारात्मकता का मूल भी है . कती अओघान् स्याहि लेस्त् ऐ न बिलिअन् लेस्त् ऐ "सिपाही अफगानी है (वह) क्या अच्छा, (यदि) नही, चितराली है (वह) क्या अच्छा ?"

लगभग सर्वत्र यह निरोध आज्ञार्थ या उसके उत्तराधिकारियो सहित 'न' द्वारा प्रकट होता है; स० मा, भारोपीय मूल का, केवल जिप्सी-भाषा (मा), सिन्धी, कश्मीरी (म, म-त ; मा सदेह भी प्रकट करता है) तथा हिन्दी मत्, बोली मति (शब्द-व्युत्पत्ति ? मह्न-त् से कल्पित किया जाता है, किन्तु यह सबध आवश्यक नही है) मे मिलता है।

प्रश्नसूचक वाक्यांश, स्वीकारात्मक प्रतीत हो सकता है तथा केवल ध्वनि द्वारा उस समय भिन्न हो सकता है जब उसका प्रारभ प्रश्नवाचक सर्वनामो अथवा क्रिया-विशेषणों से नहीं होता। किन्तु—भारतीय-ईरानी के अनुकरण पर—एक शब्द जोड देना पसन्द किया जाता है जिसका भाव होता है "क्या quoi? what ? जो "is-it-that" "est-ce-que" के तुल्य होता है : गाथा कत्_, का, अ० चिंम्; वैदिक० कंत्, स० किम्, पा० कि, सिंधी, नेपाली कि, गु० शूँ, कश्० क्याह्, हिंदी क्या, म० काय्। नकारात्मकता का ही काम देता है हिं० छत्तीस० ना, बगाली किना। सिंहली -द केवल ज्ञात है जो वाक्याशो को समाप्त कर देता है, जो प्रारभ मे 'भी' का द्योतन भी करता था, और जो प्रश्नवाचक से अपने को सबद्ध कर लेता है कव्-द "qui, who कौन" ? न ही कती, अश्कुन, खोवार, शिना 'अ' बाद मे आया हुआ, जो आश्चर्यजनक रूप मे द्रविड भाषा की याद दिलाता है, यह कहा जा सकता है कि वैकल्पिक रूप मे शिना कती की भाँति नकारात्मकता मे काम लेती है ·

त्शै कुयै सुम् मिष्टु हहनु अ खचु हनु "जमीन तुम्हारे गाँव की क्या है वह अच्छी अथवा क्या है वह बुरी ?"

३. वाक्यांशों का संयोजन

स्वतंत्र वाक्यांशों का संयोजन

सस्कृत मे भारतीय-ईरानी से प्राप्त कुछ ऐसे निपात हैं जिनसे वाक्याशो का सयोजन या विरोध ज्ञात होता है, एक तो प्रथम शब्द के बाद रखे जाते है च, इंद, नुं, हिं, वा आदि, दूसरे वाक्याश का प्रारभ कर सकते हैं . अंपि, अंथ, आंद् आदि, प्रारभ मे ते, अन्य रीतियो के अतिरिक्त अनेक निपातो का सान्निध्य कर, सख्या मे वृद्धि कर लेते है, जैसे अंथो, चेंद्, कुविंद् आदि, निपात सुविधानुसार प्राचीन गद्य मे भी सकलित हो जाते हैं, किन्तु उसमे निश्चित नवीन, सान्निध्य-प्राप्त स० 'अथवा', पा० इष (सद्नीति मे व्याख्या, पृ० ८९८, n २) की भाँति, कम मिलते हैं। वास्तव मे ज्यो-ज्यो निपातो की सख्या कम होती जाती है वे, प्रचलित रहने पर भी, अपनी शक्ति खोते जाते हैं; महाकाव्यो मे वे प्राय. पूरक रूप मे आते हैं।

सयोजन, जो सिद्धान्तत सामान्य है, का अभाव एक शैलीगत भाव ग्रहण कर लेता है : वह विरोधी बातों को तीव्रता प्रदान करता और गद्य-पद्धति को विशेषता-सपन्न बनाता है। इसी प्रकार विरोध प्रकट करने के लिये ही अशोक की भाषा में एक नवीन शब्द उत्पन्न हो गया है चु (च+तु)। अशोक की घोषणाओ का अवलोकन करते समय यह देखा जाता है कि शायद ही कभी वाक्याश सपर्क-रहित है। यह बात,

उदाहरणार्थ, गिरनार की पाँचवी घोषणा के प्रारभ में है : क(ल्)लाणं दु(क्)करं; यो आदिकरो क(ल्)लाणस सो दु(क्)कर करोति; वाक्यगत शैली के कारण ऐसा होते हुए देखा जाता है; तथा बाद में सर्वनाममूलक निपात के अनुकूल है (रूप की दृष्टि से वैदिक तद् अथवा तांद् के तुल्य) जिसका अनुवाद करना कठिन है—यदि इस वाक्यांश पर जो आगे है विचार किया जाय . त मया बहु क(ल्)लाणं कत त मम पु(त्)ता च पो(त्)ता च . .य् मे अप(च्)च अनुव(त्)तिसरे तथा सो सुकतं का(स्)सति; सेनर्त ने अनुवाद किया है "अथवा (त) मैंने, स्वय, किये हैं बहुत अच्छे काम। इसी प्रकार(त)वे मेरे पुत्र . .जो अनुसरण करते हैं इस प्रकार मेरे उदाहरण का वे भली भाँति करेंगे।"

निपात के अर्थ की अनिश्चितता इस बात का सकेत करती है कि उसका प्रधान कार्य एक वाक्याश के अश को दूसरे के अश से अलग करना था।

जैसा कि उल्लिखित अतिम उदाहरण मे है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्याशो के बीच का सपर्क एक सर्वनाममूलक अश द्वारा सकेतित हो। यह सभवत. वास्तव मे सर्वनाम कहा जाने वाला हो, जिसका सबध पूर्ववर्ती वाक्याश की सज्ञा या सबधवाचक सर्वनाम से हो, यह आवृत्ति मूलक स(त-)है; उसका प्रयोग प्राय प्राचीन गद्य को नीरसता प्रदान करता है। यह सर्वनाम भी दुर्बल पड जाता है · नित्यसबधी की भाँति वह वैदिक गद्य मे सामान्य हो जाता है और तब काव्य मे उसका सरलतापूर्वक अभाव मिलने लगता है, इस प्रकार उसका अर्थ लुप्त हो जाता है और उसमे विचित्र रूप मे वाक्यांश का उच्चारण दृष्टिगोचर होने लगता है, और जो अधिक-से-अधिक उसे क्रमागत सूक्ष्म भेद प्रदान करता है, स० स यदि, स यद्, पा सचे, पा० सेय्यथा अथवा तयथ, अशोक० स, से, सो, पा० से मे कर्त्ता० पु० एक० स पूर्णत पूरक हो जाता है, यह अवसर इस बात के स्मरण करने का है कि महाकाव्यो की भाषा मे वह एक मुख्य उपपद प्रदान करने वाला हो जाता है—प्रवृत्ति किन्तु, जैसा कि देखा जा चुका, जिसका अंत नही हुआ है।

आधुनिक भाषाओ मे आवृत्तिमूलक सर्वनामो द्वारा लुप्त समुच्चयबोधक और सयोजन अब भी प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए हैं। निपात वाला कोष बहुत क्षीण है। सिंहली -च, -त् ही सभवत च का अकेला उत्तराधिकारी है, क्योंकि वैसे वह म० च्(इ), छत्तीस० च् जो प्रा० च्चेअ से है, तुल० मारवाड़ी -ईज्, गु० सिंधी ज्, जो प्रा० ज्जेव से है, की भाँति आग्रहसूचक निपात से नही होता। कुछ नवीन मन्द समुच्चयबोधक उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका आशय होता है "और भी अन्य बाते" : पु० हिं० अवर,हिं० और, नेपाली अरु, असामी आरु (अपरम्), म० आणी, -न्, गु० अने, नेपाली अनि, सिंधी

अन्ना (अन्यत्); इसी प्रकार हि० सिं० पर् (सं० परम्); जिप्सी-भाषा ते, कश्० त, नेपाली त (संभवतः तथा से सबंधित), सिंहली हा (सह), शिना ग् (?) की उत्पत्ति कम स्पष्ट है। विरोधवाची क्रियाविशेषण, जो उत्तर-वैदिककालीन है तथा जो स्पष्ट नही किया जा सकता, पुन मध्यकालीन भारतीय भाषा के काल मे दीर्घ हो जाता है (पा० पन; पुन 'नये' के अर्थ मे बना रहता है) सिंधी उडिया पुणि, गु० म० पण्, नेपाली पनि, पु० हि० पुनि (सिंहली पन, पुन एक प्रकार से "फिर से" का अर्थ प्रकट करते हैं, यह पाली का प्रभाव हो सकता है); आदि में आने वाले को वह ज्यों-का-त्यो बनाये रखती है, जो शुरू के प्रयोग का चिन्ह है। 'या' को प्रकट करने का ढंग अत्यन्त विशेषता-सपन्न है: सर्वनाममूलक विकरण से काम चला लिया जाता है, हि० ब० नेपाली कि, सिंधी प० गु० के (अन्यत्र सस्कृत अथवा अरबी से उधार लिये गये द्वारा स्थानापन्न); अन्य शब्दो मे समुच्चयबोधक नही मिलते, प्रश्नवाचक वाक्यांश अलग से बनाना पड़ता है।

आश्रित वाक्य-योजना

प्राचीन सस्कृत मे आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने की दो रीतियाँ मिलती हैं

(१) सशयार्थसूचक (लेट्-लकार) का प्रयोग, जिसमे इस परिस्थिति के अतर्गत किसी क्रियार्थ-भेद का भाव नही होता, और जो व्याकरण का एक साधन मात्र हो जाता है, वह सबधवाचियों द्वारा अथवा सबधवाची क्रिया-विशेषणो द्वारा, अथवा नकारात्मक नेँद् द्वारा, जो मुख्य पूर्वसर्ग मे निश्चयार्थ के साथ आता है, प्रवर्तित होता है :

ऋ० १०, ८५, २५-२६ :

प्रेतो मुञ्चामि नामुत. सुबद्धाम् अमुतस् करम्

.. ..

यथेयम्..., इन्द्र मीढ्वः, सुपुत्रा सुभगासति ।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः ... ।

१०, ५१, ४ :

. आयम्

नेँद् एवं मा युनजन् अत्र देवा. ।

(२) क्रिया का स्वरित होना। उपर्युक्त उदाहरणों मे "यदि" सभाव्य के अर्थ में च का विशेष प्रयोग जोड़ा जा सकता है :

२. ४१, ११ :

इन्द्रश् च मृळयाति नः

न नः पश्चाद् अघं नशत् ।

इसी प्रकार कुविद "यदि" (प्रश्नवाचक) है, जो असाक्षात् प्रश्न संकेतित करता है, और साथ ही हिं (क्यों) है जो स्वभावत. स्वीकारात्मक है जो निश्चयार्थ के साथ आता है :

३. ५३, १८ :

बलं धेहि तनूंषु न. त्वं हिं बलदा असि।

स्वराघात मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने के काम आता है जो इसके सिवाय और कुछ प्रकट नही करता (दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १२२) मै० स० तस्माद बधिरो वाचा वदति न श्रृणोति, ऋ० तूयम् आ गहि कण्वेषु सु सचा पिब, तै० स० उतावर्षिष्यन् वर्षत्य एवं।

दोनो रीतियो का सबध केवल प्राचीन भाषा से है। सशयार्थसूचक (लेट्-लकार) से जहाँ तक सबध है, ब्राह्मण ग्रन्थो मे उसका प्रयोग काफी कम हो गया था, अशोक० मे केवल कुछ शेष रहते हैं, जहाँ तक स्वराघात से सबध है, न केवल पाणिनि ने उसे नवीन आश्रित वाक्य-योजना-युक्त मे (पुरा सहित) देखा है, किन्तु वे मुख्य पूर्वसर्ग के अनेक रूपों मे उसे स्वीकार करते हैं, उदाहरणार्थ, किम् सहित या रहित प्रश्नवाचक मे : यहाँ तक कि उस युग के अत मे, जब कि वह हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, स्वराघात अपना वाक्य-विचार-सबधी भाव करीब-करीब खो चुका था।

क्लैसीकल सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे आश्रित वाक्य-योजना बताने की कोई व्याकरणीय पद्धति नही मिलती।

सबधवाची यत् द्वारा तथा अन्य सबधवाची क्रियाविशेषण यावत्, यदि, यथा आदि द्वारा प्रवर्तित पूर्वसर्गों की रचना इस प्रकार होती है मानो वे स्वतत्र हों और निश्चयार्थ आदरार्थ के आधार पर प्रगति प्राप्त करता है। निपातों का अर्थ मुश्किल ही से विकसित हुआ था, स्वय यत् मे, जो एक वास्तविक निपात के अधिक निकट पहुँच जाता है, सबधवाची अर्थ अब भी समकक्ष ही होता जाता है, "कहना, विश्वास करना, जानना" क्रियाओ के बाद उसका प्रयोग सामान्य नही हो पाता, इसी प्रकार अशोक० मे तथा पाली मे, 'किंति' मन्तव्य बताता है, किन्तु उसका अनुवाद केवल "अपने से क्या कहते हुए ? किसलिए ?" होता है और सभवत· अनूदित होना भी चाहिए; क्योंकि लोकप्रिय भाषा मे बातचीत के मध्य रुकने वाले स्थलो को बताने के लिये प्रश्नवाचक एक साधन के रूप मे रहता है; तुल० स० किंच जब कि वह अपरम् तथा च की भाँति समानाश्रय के लिये काम आता है।

प्राचीन भाषा आश्रित वाक्य-योजना प्रदान करने वाले साधन प्रस्तुत करती है। भारोपीय परपरा के अनुसार, उनकी सख्या से ही कृदन्त की पार्श्व स्थिति है। एक

संज्ञा की दूसरी संज्ञा के साथ साधारण पार्श्व स्थिति मे अभिप्राय की भावना निहित रह सकती है और समकक्ष हो सकती है,उदाहरणार्थ "क्योकि . . .,यद्यपि . ." के, इसके अतिरिक्त कृदन्त के कारण एक क्रियामूलक भाव का प्रवेश हो जाता है, जो फिर पूर्वसर्ग के तुल्य हो जाता है।

इस प्रकार के प्रयोग मे वह उद्देश्य या पूरक की पार्श्व स्थिति प्राप्त करता है, विशेषत मुख्य कर्मकारक मे। उसकी अनुरूपता इसमे मिलती है .

ऋ० अरुणो मा . .यन्तु ददर्श हि;

इसमे विरोध मिलता है :

तै० स० मित्रं सन् क्रूरम अक ;

सभाव्य रूप इसमे है :

कौटिल्य ' त्यक्त गूढपुरुषा' . . .हन्यु ।

भावना अथवा विचार-सबधी क्रियाओ सहित :

तै० स० पराभविष्यन्ती मन्ये, क्लैसीकल प्रहरन् न लज्जसे, आशङ्के चिरम् आत्मानम् परिभ्रान्तम्।

पाली जातक के इस वाक्याश मे क्रियामूलक विशेष्य के कृदन्ती कर्मकारक के लिये फ्रेच मे अप्रत्यक्ष मे सुमज्जित सबधवाचक होगा

कुमारो कम्मारेन कत रूपक सुवण्णगब्भे खिपापेत्वा।

कृदन्त से, विकृत कारक (विशेषत. अधिकरण) के विशेष्य से साम्य होने पर, उस उपसर्गात्मक अव्यय की तुल्यता प्राप्त होती है जो पहले अप्रत्यक्ष रहता है, तत्पश्चात् उसमे मनोवैज्ञानिकता निहित रहती है, जो मुख्य में स्थान प्राप्त कर लेती है, किन्तु अपने मे पूर्ण रहती है और उसका स्वतत्र वाक्यांश मे व्यवहार होता है रघु० मा मेति व्याहरत्य् एव तस्मिन्।

इसी प्रकार के निष्कर्ष और भी प्राप्त होते हैं ·

(१) कारक के अनुसार व्यक्त क्रियार्थक सज्ञा सहित, उद्देश्य (कर्म० मे अथवा सप्रदान मे ऋ० अहये हन्तवै "अहि के लिए, मारने के लिए", पारम् एतवे), अथवा हेतु (अपादान मे : ब्राह्म० कर्तात् अवपद., अक्षरश "जानना चाहिए हमे गढ़े को, गिरने से", युयोत नो अनपत्यानि गन्तो),

(२) भूत परिस्थिति और उस समय मानसिक सूक्ष्म भेद प्रकट करने वाले पूर्वकालिक क्रियापद सहित (दे० पीछे);

(३) अन्त मे, नामजात रचना द्वारा, दुरूह अनुकूलता प्रकट करते हुए, और विशेषत: जब उसमें कृदन्त रहता है :

रघु० श्रुत-देहविसर्जन. पितु. ।
काद० प्रतीहार्या गृहीतपञ्जरः ।
पा० कुमारिकाय लद्धभाव।

मध्यवर्ती अनुकूलता तथा नित्यसबधी वाक्याश का थोडा-बहुत विरोध, ये ही साधन है जिनके द्वारा दो क्रियामूलक तत्त्व एक-दूसरे के आश्रित किये जाते हैं; फलत. सस्कृत मे जटिल पूर्वसर्ग नही है।

और भी, उसमे असाक्षात् उक्ति नही है कथित या सोची गयी बात को व्यक्त करने वाला वाक्याश, साक्षात् उक्ति होता है, अथवा भली भाँति पृथक् होता है, अथवा यत् द्वारा प्रवर्तित होता है, अथवा, और यह बहुत अधिक प्रचलित है, इति द्वारा समाप्त होता है जिसकी शब्द-व्युत्पत्ति (लै० आइटा) यह प्रदर्शित करती है कि प्राचीन अर्थ "ainsi, इस प्रकार, इसलिए" है ऋ० ४, २५, ४ यं इन्द्राय सुनंवामेत्य् आह, "कौन—जोर दे के लिये इन्द्र इस प्रकार कहता है", अर्थात् "कौन कहता है जोर दे के लिये इन्द्र", १, १६१, ८ इदम् उदकं पिबतेत्य् अब्रवीतन "यह पानी पिओ, इस प्रकार तुमने कहा है", १०, १७, १ त्वंष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीति इदं विश्वम् भुवन सम् एति "त्व० करता है रस्म विवाह के लिये अपनी पुत्री इस प्रकार फलत समस्त ससार इकट्ठा होता है" इस प्रकार सुनायी पडता है "ससार इकट्ठा होता है यह कहते हुए कि क्योकि त्व ."।

साक्षात् या तर्क-पूर्ण उक्ति प्रवर्तित करते समय, 'इति' मूलत अपना प्राचीन भाव सुरक्षित रखता है (इससे अशोक के अभिलेखो का अन्त्य ति तथा सिंहली के एक सयोजक के तुल्य -यि भी स्पष्ट हो जाता है) और सक्षेप मे केवल लुप्त समुच्चयबोधक को महत्त्व प्रदान करता है। किन्तु आश्रय का यह एक बहुमूल्य साधन है पा० आदाय न गमिस्सामीति आगतो'म्हि, ऐसे ही क्रम मे लैटिन मे सशयार्थसूचक की क्रिया के सबध में प्रमुख स्थान रखने वाला सबधवाची था। पाली मे फिर यह सक्षिप्तता देखने को मिलती है . सुवण्णरूप'ति सञ्ञ अकत्वा।

अस्तु, मध्यकालीन भारतीय भाषा और आधुनिक भारतीय भाषाओ को सस्कृत से वाक्य-विचार-सबधी आश्रय और असाक्षात् उक्ति के उचित साधन प्राप्त नही होते; ये भाषाएँ इस दिशा मे विकसित भी नहीं हुईं। लुप्त समुच्चयबोधक, क्रियामूलक विशेष्य तथा पूर्ण के स्थल, नित्य सबधवाची पूर्वसर्ग, केवल ये ही साधन हैं जिनका वे आज भी आश्रय ग्रहण करती हैं। स्पष्ट रूप-रचना-विहीन भाषाओ में अनुकूलता, (पार्श्व स्थिति) सभव नहीं थी : कृदन्त केवल पूर्ण विकृत मे ही अधिक मिलता है। नामजात रचना से जो कुछ है उसकी दृष्टि से, निधान-शास्त्रीय विकास, जो संस्कृत

साहित्य में मिलता है, अपने वास्तविक इतिहास से साम्य नही रखता। अशोक के जैसे प्रामाणिक पाठ, महाकाव्यो के माध्यम, नाटकीय कथोपकथन तथा अत में आधुनिक भाषाओ मे केवल दो शब्दो के समास प्रचलित है, अस्तु, सभी भारोपीय भाषाओं की भाँति भारतीय भाषाओं मे वही परिस्थिति है; सस्कृत मे इस रीति का असाधारण प्रसार, व्याकरण की दृष्टि से नही, साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से रोचक है; यह प्रसार विशेषत उस समय से प्रारभ होता है जब से जीवित भाषाओ के प्रत्यय अस्पष्ट हो गये, इससे वर्णनों मे शिथिल सबध आ गया . इसी के द्वारा वह असम्बद्ध वाक्य-विन्यास वाली भाषा की सामान्य प्रकृति के साथ साम्य स्थापित करता है।

लुप्त समुच्चयबोधक निरतर मिलता है, विशेषत. अपरिमार्जित भाषाओ में : उदा० अश्कुन

तू जावें अलिम्-ब, किताब् प्रलिम् "(जब) कल तू आये, मैं (तुझे) एक किताब दूंगा।"

उम्अँइद् मेइ जात्रे अलेग् "आज्ञा है (कि) कल तुम आओ।"

तु बाबुर दिर्एँडेम् का कोम् "(जब) तू बाबर के पास जायगा, तू क्या करेगा ?"

कुँड् व गोंस् कल्, चेइ अष्कुण् तो विएँत्अँब, सकाँड्ये मिसें वे री कलेस् "कुछ भाग (जो) तू चला है (इस) समय, (और जो) कोई (जो) अश्कुन तुझसे देखा जाय, उसके साथ तू बात करेगा।"

अत्यधिक परिष्कृत भाषाओ मे, मनोवैज्ञानिक सयोजक प्राय सर्वनामो द्वारा अथवा सर्वनाममूलक विकरण मे अव्ययो द्वारा व्यक्त होता है।

निश्चयवाचक

सिंधी तूं ईमानदार् उ माण्हूं आहीं, तँहे-करे तो-खे नाइब् उ काजी मुकरिर् उ कार्यो-थो, निश्चयवाचक की भाँति मराठी की रूप-रचना मे दृष्टिगोचर होता है हत्ति घोडे आणि बैल् ह्यांस् चारा घाता, इसी प्रकार है रामा गेला असें त्यानें ऐक्लें, इसी प्रकार गुज० ते गयो हतो ए मे सम्भल्यूं।

सबधवाचकों अथवा सबधवाचको से निकले, जो सुविधानुसार (जैसा सस्कृत में था ही) उसी व्युत्पत्ति के निश्चयवाचको के विरोध मे आते हैं और उन्हे बताते हैं :

म० : जो मुल्गा मीं काल् पाहिला तोच् हा आहे
"यह बच्चा है (२) जो मैंने कल देखा है (१)।"

हिं० : खुदा जो चाहे सो करे।
"खुदा करे वह (२) जो वह चाहे (१)।"

जित्ना चाहिये इत्ना ले लो।

"इतना ले लो (२) जितना तुम चाहो (१)।"

जहाँ गुल है, वहाँ काण्टा भी है।

जिस् रूप मे ये ग्रन्थ् अब मिलता है, वोँ उसे सत्रहवीं शताब्दी मे प्राप्त हुआ होगा।

ब० जाहा इच्छा जाइबे ताहा खाइओ ना।

जत्खन् ना तिनि आसेन् तत्खन् बसिया थाक्।

केवल सबधवाचक का ही लचीला प्रयोग हो सकता है :

हिं० वोँ आद्मी जो पढना नाहिँ जान्ता नादान् है।

सिंधी : फुलाणे वापारि अ से पँह् अ जो माल् उ डिनो होम् ए, जो हुँ हाणे उन्ह् ए खां इन्कार् उ थो-करे।

अनुमान की अभिव्यक्ति, सभवत क्योकि उसमे परस्पर सबध का कोई स्पष्ट चिन्ह दृष्टिगोचर नही होता, कुछ-कुछ अस्थिर है। पजाबी, सिंधी मे जे (यदि) मिलता है; किन्तु हिन्दी जो (नित्यसबधी तो, तौ) अस्पष्ट है क्या वह स० यावत् से निकला है? किन्तु प्रधानत अस्थायी जब्, तब् हैं। उच्च कोटि के उधार लिये गये शब्दो का भी प्रयोग होता है ब० हिं० जदि, हिं० शिना अगर्, एक सस्कृत से, दूसरा फारसी से; केवल मराठी ने, और यह ब्राह्मण साहित्य से हाल की उधार लेने की प्रवृत्ति छोड कर, वैदिक के युग्म यर्हि, तर्हि ग्रहण किये है जो सस्कृत मे केवल पुराणो मे आते हैं और जिनका मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अभाव है :

जर् पाऊस् पडत् अस्ला, तर येऊँ नको।

जिन भाषाओ मे, जैसे दर्द और जिप्सी-भाषा मे, सबधवाचक नही है, प्रश्नवाचक उसका स्थान ग्रहण कर लेता है, वह भी उस समय जब कि वह सामान्य निश्चयवाचक के रूप मे नही होता, जैसे शिना ओँ मुशा वतुस् ओँ "आदमी (जो) आया है, वह . .।"

हेतु, लुप्त समुच्चयबोधक द्वारा प्रकट होता है ब० कारन्, गु० कारण् "कारण (यह कि)", अथवा प्रश्नवाचक द्वारा सिंधी छो जो, हिं० प० क्यूँ कि; अत में पूर्ववर्ती बात के अश की आवृत्ति करते हुए क्रियामूलक विशेष्य द्वारा, जैसे स० इति, इति कृत्वा, पा० इति कत्वा : म० (हें) म्हणून्, अप० भाणिवि, नेपाली भनि, पूर्वी हिन्दी बोल्के, ब० बोलिया, सिंहली किय से वास्तव मे "कह लेने पर" द्योतित होता है; यह अन्तिम रूप भी बराबर द्रविड है।

कई भाषाओ मे एक शिथिल आश्रित वाक्य-योजना का प्रयोग होता है या हो ही

चुका है, जो स० यत् से सादृश्य और रूप के साथ परिवर्तन की प्रवृत्ति रखता है। येन मे वह निस्सन्देह प्रभावपूर्ण रूप मे दृष्टिगोचर होता है : म० जें, गु० ब० जे, कश० जि। फारसी के प्रभावान्तर्गत सिंधी मे त का, हिन्दी और बगाली में कि का, मराठी मे किं और गुजराती मे के (दिवतिया के अनुसार मराठी के अनुकरण पर, 'गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिट्रेचर', पृ० २२) का प्रयोग होता है, इस निपात (यहाँ तक कि जो द्रविड भाषा, माल्तो—malto—तक मे पाया जाता है) की सफलता, अशत: प्रश्नवाचक स० किम् के साथ गडबड़ हो जाने से होनी चाहिए :

हि० : खुल जाएगा कि मै राजा हूँ।
तुम् को अवश्य है कि वहाँ जाओ।
गु० त्यॉं में एवी वस्तु जोंइ के जिव्ना सुधि मने साम्भरशे।

हिन्दी मे इस निपात का विभिन्नता लिये हुए (फ़ारसी के अनुकरण पर ?) और प्राय. शब्द-बाहुल्य-युक्त प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य बड़े विचित्र रूप मे वाक्याश को उच्चरित करना है :

हि० माल्म् हुआ कि चोर् कौन् है।
ऐसी तद्बीर् कर् कि जिस से मेरा पेठ् भरे।

किन्तु विपर्यस्त रूप मे साथ ही कहा जाता है

बहुत् दिन् हुआ देवनन्दन् को मैं ने नहीं देखा।
" . कि मैने दे० को नही देखा।"

लडकिआँ अप्ना वक्त् गुडिआँ खेल्ने में खोती हैं बेहुनर रह्ती हैं "लडकियाँ (जो) .।"

सस्कृत को, जिसमे क्रियार्थ-भेद सुरक्षित है, असाक्षात् उक्ति स्वीकार नही है; नव्य-भारतीय भाषाओ मे तो और भी, जो केवल अनिश्चित और यथार्थ काल का भेद करती हैं, और वह भी काफ़ी अनिश्चित रीति से, साक्षात् रूप सुरक्षित रखने वाले कथन अलग हो जाते है .

कश० : चअह् मन्ग् म्औलिस्, मे गछहि आसुन् रत्अ नकोर्उ।
बगाली : एक् दिन् देख्ले, छबि तार् मनेर् हल हाय् ना।
ग्रीक जिप्सी-भाषा : सुंनेन केलिबे केलेन "उन्होने सुना (कि) कोई गाता है।"

अब इस प्रकार की रचनाओ मे फारसी समुच्चयबोधको का बहुत प्रयोग होता है, किन्तु उनसे रचना मे कोई अन्तर नही पडता :

सिंधी . मूं खे चय् आंहे त पैसा छविह् रुपया वठन्दो सॉ^ए "वह मुझसे कहता है (कि) ।"

हिं० : मैंने इरादा किया कि चलूं;

गोपाल ने जाना कि तोते में अब् प्रान् नहिं है।

तो भी मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना सर्वमानो के परस्पर परिवर्तन द्वारा भी कभी-कभी प्रकट होती है :

हिं० · क्या तुम समझते हो कि मैं मूर्ख् हूँ ?
बाबू साहेब् ने मुझे आप्को यें लिखने के लिये कहा था कि वे आप्के (अथवा हम् उन्के) पत्र् का उत्तर् कुछ् बिलम्ब् से देंगे।

बगाली . से बोलिने छे ताहार् भ्रातार् श्राद्धेर् जन्य ताकाहे बारि जेते होइबे।

जिप्सी-भाषा : दिकेल इ रक्लि ननै पर्से लेस्ते "वह देखता है लडके उसके साथ नही है" ("कि", अप्रकट है)।

नेपाली (टर्नर, "इडि० ऐंटी०", १९२२, पृ० ४४ तथा नोट प० ४८) :

हमिहेरु को भारब्अे र्दरि तों पुखानहेरु क गारि न्अे औन्अे सकुन् भनि "(तुर्क), कहते हैं कि हमारा (नेपाली कहने वालो और उनके साथियो का) सामान और हमारी गाडियाँ नही आ सकती।"

अस्तु, नव्य-भारतीय भाषाओं का वाक्य-विन्यास प्राथमिक है, और, जिस हद तक पूर्वसर्ग, नित्यसबधी रूप के अन्तर्गत परस्पर सबधित रहते हैं, वहाँ तक वह अ-परिवर्तनीय और एकरूप है। यह मध्य के अशो के कारण है जिसमे वाक्याशो मे दुरूहता आ जाती है हिन्दी के 'वाला' युक्त, मराठी के -णार् युक्त कर्तृवाची सज्ञाएँ, कृदन्ती गुण-वाचक विशेषण, म० -लेला, हिन्दी '-आ हुआ', तुल० दे० पीछे, विभिन्न क्रियार्थक सज्ञाएँ :

गु० तेने हिअँ रेहेवा द्यो।

हि० उस् मे प्रताप्सिंह् तक् वर्णन् मिल्ने से, यें निश्चित् रूप् से कहा जा सक्ता है, कि ।

क्रियार्थक सज्ञाओ मे, सामान्यत ग्रहण किये गये कृदन्त, जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है, इसके अतिरिक्त, विकृत कारको मे कृदन्त, दे० पीछे, अत में और विशेष रूप मे पूर्वकालिक कृदन्त और पूर्वकालिक कृदन्तो का कार्य करने वाले कृदन्त हैं, जिनके पीछे अनेक उदाहरण दिये जा चुके हैं। इन नवीन पूर्वकालिक कृदन्तो ने एक ऐसा स्थान ग्रहण किया है कि वे भाषाओ को न केवल पूर्वसर्ग का ही, किन्तु सयुक्त क्रियाओ,

क्रिया-विशेषणों, पूर्वसर्गों (बं० होइते, छेये, हि० लिये आदि) का भी आश्रय प्रदान करते हैं।

कुछ उदाहरणों द्वारा यह दिखा कर कि इन साधनो द्वारा साहित्यिक भाषाएँ किस प्रकार वाक्यांश को लचीला और समृद्ध बनाती हैं, हमे विषय समाप्त कर देना चाहिए ·

बं० (टी० गांगोली) आम्र बिवेचना करे स्थिर् कर्लाम् तोमार् और् आमादेर् काछे थेके कष्ट पावा उचित् नाय्।

हि० (हरिऔध) तो क्या दयासन्कर् के यहाँ ब्याह् कर्के लड्की को जन्मभर् के लिये मिट्टी में मिला देना ही आप् अच्छा समझते हैं। "तो क्या (१) आप् अच्छा समझते हैं (५) ब्याह् कर् के जनमभर के लिये   देना ही (४) हमारी लडकी को (३) द० के यहाँ ब्याह कर के।"

हि० (आधुनिक) रघुवर्दास्जी ने तुल्सीचरित् मे गोस्वामी जी की जो कुल्-परम्परा लिखी है, वौ मान्ने योग्य है।

अत्यन्त् आश्चर्य की वात् है कि भारत्वर्ष् मे सौ वर्ष् से अधिक् अन्ग्रेज़ी शिक्षा होते हुए भी वौ उन्नति जो जपान् ने केवल् पचास् वर्षों मे प्रत्येक् विषय् में प्राप्त् की है भारत्वर्ष् के किसी भाग् मे दृष्टि नहिं आती।

यह देखने की बात है कि यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत एक ऐसी दुरूह शैली का निर्माण हो रहा है, जिसमे परपरागत वाक्य-विन्यास के अश अस्थायी रूप से ज्यो-के-त्यो बने हुए है। स्वभावत यह तथ्य केवल अत्यन्त परिष्कृत भाषाओ मे ही दृष्टिगोचर होता है. मराठी, हिन्दी, बगाली। अन्तिम भाषा के १९ वी शताब्दी के साहित्यिक प्रायौगिक रूपो के कुछ अच्छे उदाहरण डी० सी० सेन, 'बेंगाली प्रोज स्टाइल १८००-१८५७' मे मिलेंगे; उससे पता चलता है कि युग की शैली के सम्बन्ध में खोज कितनी मद गति से की जा सकती है। एक प्रतिक्रिया सामने आती है   बगाली कम-से-कम एक ऐसी भाषा है जो जितनी समृद्ध है उतनी ही लचीली होने के बहुत निकट है। किंतु यह एक अपवाद है।

उपसंहार

भारतीय-आर्य भाषाओं में, अधिकांशत संस्कृत और साथ ही फ़ारसी से अनेक बातें ग्रहण करने वाली अत्यन्त परिष्कृत भाषाओं में, एक अत्यन्त समृद्ध शब्दावली मिलती है जो यूरोपीय भाषाओं के समान है, किन्तु उनमें सूक्ष्म भेद और मनोवैज्ञानिक संयोजन की उतनी ही समृद्धि नहीं मिलती। क्योंकि, एक दीर्घकालीन संसरण दृष्टिगोचर होते हुए भी, विशेषत रोमन समुदाय के विकास की दृष्टि से, भारतवर्ष में संस्कृति न तो यथेष्ट मात्रा में परिवर्तनशील रही है, और न इतने यथेष्ट रूप में प्रसारित रही है कि सार्वजनीन भाषा ग्रन्थकारों की रचनाओं से लाभ उठाती, तथा ग्रन्थकारों की भाषा जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर अधिक विकसित होती भाषा और संस्कृति में पार्थक्य रहा।

हमें यह बताया जाता है कि उस समय देशी प्राथमिक पाठशालाएँ थी, किन्तु कोई भी यह कहने का साहस न करेगा कि इन पाठशालाओं में, यूरोप की भाँति, वह भी वास्तव में अपेक्षाकृत हाल ही में, भाषाओं का, उनकी समृद्धियों तथा बारीकियों का, अध्ययन होता था। संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी जिसका प्रत्येक युग में अध्ययन हुआ; वह अल्प-संख्यक लोगों तक सीमित थी और ज्ञान तथा परिष्कृत विचारों के प्रचार का एकमात्र साधन थी। आधुनिक साहित्यों की प्रारंभिक सामग्री क्या है? संक्षिप्त तथा दुष्प्राप्य मराठी अभिलेखों, आधे दर्जन राजपूत तथा बंगाली पत्रों, एक या दो पद्यात्मक व्यावहारिक नीति-वाक्यों के संग्रहों को छोड़ कर, वह वीर-काव्य अथवा भक्ति या लोक-प्रचलित काव्य के रूप में है, कुलीनों तथा जनसाधारण के लिये लिखित ये रचनाएँ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्राय प्रचार नहीं करती, जहाँ तक उनका संबंध ब्राह्मण साहित्य से है, वह उसके क्रम-परिवर्तन के लिये है, न कि उसका स्थान ग्रहण करने के लिये। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, कुछ साहित्य संस्कृत पर आश्रित मिलते हैं, किन्तु वे परिष्कृत अभिजात-वर्ग तक सीमित थे : मराठी गीति-काव्य की भाषा, क्लैसीकल नाटकों की प्राकृतें, उसके विपरीत, जनसाधारण की भाषाएँ हैं, जो साथ ही संस्कृत से प्रभावित थी, जहाँ तक पैशाची में लिखित बृहत्कथा से संबंध है, उसके जो थोड़े-से अंश उपलब्ध हैं वे इस बात का प्रमाण नहीं देते कि वह लोकप्रिय रचना थी। इन सब बातों को देखते हुए, तो बोलचाल की भाषाएँ मिलती कहाँ हैं? अशोक के

अभिलेखों मे, जिनमे वाक्य-विन्यास कट्टर था; और कुछ हद तक बौद्ध तथा जैन धर्म-नियमों से संबंधित ग्रन्थों मे, जो कर्मकांडो से सबधित अथवा साधारण हैं, और जहाँ तक सस्कृति से उनका सबध है, वे सस्कृत में निहित सस्कृति से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इतने विस्तृत जन-समूह और निम्न स्तरो मे प्रचलित होने पर, भारतीय-आर्य भाषा जो वैदिक और ब्राह्मण रूपो के अतर्गत, भारोपीय के इतिहास मे उसी समय विचित्र रूप मे परिष्कृत हो गयी थी, अपना परिष्करण खो देती है और, यदि यह कहा जा सकता है, असस्कृत हो जाती है। क्या उस पर और गभीरतापूर्वक सोचने और उसका मूल्याकन करने पर कम-से-कम कुछ विस्तार से यह दृष्टिगोचर नही होता कि जनसमूह ने, जिसने सस्कृत सीखी, अथवा अत्यधिक समान बोलियो ने तथा इसके अतिरिक्त उसके साथ निरन्तर सपर्क के प्रभाव ने उसे प्रभावित किया?

सिन्धु की प्रागैतिहासिक सभ्यता को तो छोड दीजिए, और अब तक वहाँ की भाषा भी अज्ञात है, सीमान्तवर्तिनी यह सभ्यता निस्सन्देह आर्यों के भारतागमन के समय ही पतित हो चुकी थी---उत्तर मे, पजाब के उपजाऊ भूमि-भागो मे, भली भाँति। यह ज्ञात नही है कि इस भूमि-भाग के किन निवासियो पर आर्यों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, तथा इससे भी अधिक मुश्किल से यह ज्ञात है कि बाद मे उन्होने किन लोगो के साथ सम्पर्क स्थापित किया।

इन लोगो का सबंध जन-समूह के उस भाग से स्थापित करने का प्रलोभन होता है जो उस समय तक स्थापित आर्यों के भूमि-भाग के चारों ओर बसे हुए थे और जिनकी भाषाएँ अब भी जीवित थी। इन भाषाओ मे से, केवल तिब्बती भारत मे पहुँचती है; जो भाषा बुरुशस्की नाम से भली भाँति ज्ञात है, क्या वह कुछ ऐसे तथ्य प्रदान करती है जो तुलनाओं का समर्थन करे? इसमे अभी देर प्रतीत होती है। द्रविड भाषाओ और मुण्डा बोलियो पर आने से यह ज्ञात होता है कि वे वास्तविक भारतीय-आर्य भाषा के सपर्क मे थी।

द्रविड भाषा इस प्रायद्वीप के दक्षिण मे और बलूचिस्तान के छोटे से भूमि-भाग मे है; मुण्डा गगा के मैदान, और पश्चिम मे महादेव गिरि-मालाओ की ओर जिसकी सहायक नदियाँ चली गयी हैं उस महानदी के मुहाने के बीच छोटा-नागपुर के पठार में बोली जाती है।

अथवा, ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रायद्वीप मे आर्यों से पहले कम-से-कम दो बार बाहर की जातियाँ आयी; एक, जो अधिक प्राचीन प्रतीत होती है, और जिसकी उत्पत्ति भी लोग पश्चिम में खोजने की चेष्टा करते मालूम होते है, द्रविडो की होगी.

दूसरी, मुण्डा समूह की, जिसकी भाषाएँ हिन्द-चीन की मोन्-ख्मर से संबंधित प्रतीत होती हैं, अन्यथा, जैसा कि कुछ लोग देखना चाहते हैं, जिनका संबंध उसी दिशा में और दूर की भाषाओ से है। इन दो समुदायो के संबंध मे, अप्रत्यक्ष रूप से भी, प्राचीन काल के लिये हम कुछ नही कह सकते, किन्तु इधर हाल के इतिहास मे उनका योग बहुत भिन्न रहा है द्रविड लोग सभ्य है, और ईसवी सन् से पहले ही, तमिल-भाषियों ने, भू-मध्य सागर की ओर समुद्री व्यापार द्वारा समृद्ध राज्य स्थापित किये, और कम-से-कम आंशिक रूप में मौलिक, परिष्कृत साहित्य को जन्म दिया, इसके विपरीत मुण्डा लोगो के संबंध मे मुश्किल ही से कोई समस्या है, तथा आधुनिक जाति-विज्ञान ने, सभ्य भारत के किनारे-किनारे कम-से-कम तीस लाख मनुष्यो के छोटे-छोटे समुदायों के रूप मे उनका महत्त्व और अस्तित्त्व स्थापित किया है। इन दोनो समुदायो की भाषाओ मे उनके भारतीय-आर्य भाषा के साथ स्थापित सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं, यह बात इस कारण भी बतायी जाती है कि आर्यों के आक्रमण से पूर्व ये ही लोग उत्तर भारत मे निवास करते थे।

एक ऐसे प्रागैतिहासिक भारत की बडी सरलता के साथ कल्पना की जा सकती है जिसमे द्रविड लोग, अपने से पहले के तथा बाद के लोगो की भाँति, सिन्धु की निम्न घाटी मे, गुजरात मे और दक्षिण के समुद्री राज्यो मे निवास करते थे, और जिस भारत में मुण्डा लोग गगा नदी द्वारा सिंचित भूमि-भाग मे और पंजाब के निम्न हिमालय प्रदेश मे निवास करते थे दोनो सभ्यताओ के बीच पंजाब के रेतीले भूमि-भाग और गंगा तथा दक्खिन के बीच के पठार का पार्थक्य था, और उनमे एक ओर मालवा के निकट, और दूसरी ओर संभवत पूर्व की तरफ संपर्क था। बाद को, द्रविड लोग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर हटा दिये गये, एक विकसित सभ्यता की वाहक भाषाओ की प्रतिरोध-शक्ति के चिन्ह आज तक बने हुए है (तुल० मराठी और उडिया मे इस संपर्क के चिन्ह, दे० पीछे), मुण्डा लोग, जो एक ऐसी सभ्यता के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता नही रखते थे जिसमे अश्व, तलवार और बौद्धिक श्रेष्ठता थी, पठार के भीतरी भागो मे खदेड दिये गये। किन्तु दोनो समुदाय आर्यों के उच्चारण तथा व्याकरण पर अपना प्रभाव छोड गये है, और उनकी शब्दावली समृद्ध कर गये है।

कुछ हद तक यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है, तो भी यह भूल जाने की बात नहीं है कि उत्तर भारत मे कुछ भाषाओ के कुल पूर्णत· लुप्त हो सकते हैं। किन्तु इसके प्रमाण के संबंध मे भारी कठिनाइयाँ होंगी, दोनो अंशो का काल-व्यवधान बहुत अधिक है; अर्थात्, संकेतित भाषाओ की प्राचीन स्थिति लगभग अज्ञात है। द्रविड भाग में साहित्यों द्वारा सुरक्षित अपेक्षाकृत प्राचीन अप्रचलित रूप मिलते हैं, तथा इसके

अतिरिक्त ऐसे रूप मिलते हैं जो पुनर्निर्माण के अंश प्रदान करने की दृष्टि से यथेष्ट भिन्न है। मुण्डा भाग मे भाषाएँ, जहाँ तक वे ज्ञात हैं, हमारे अनभिज्ञ नेत्रों के सामने या तो बहुत अधिक या बहुत कम भिन्न हो जाती हैं, केवल कुछ आधुनिक प्रमाण मिलते है, और हिन्द-चीन की बोलियो पर आधारित समर्थन अब भी बहुत कम निश्चित है।

तो भी हमे समस्या की वास्तविक स्थिति समझने की चेष्टा करनी चाहिए

स्थानीय नामो से सबधित, जिन्होने यूरोप की प्रागैतिहासिक भाषाओ के सबध मे इतनी बहुमूल्य बाते प्रदान की है, का अभी अध्ययन नही हुआ। श्री एस० लेवी ने उत्तर भारत के प्राचीन लोगो के कुछ ऐसे नाम बताये है जो युग्म हैं और जो ऑस्ट्रो-एशियाटिक की याद दिलाने वाली प्रणाली से साम्य रखते हैं (पुलिन्द-कुलिन्द, कोसल-तोसल, कलिंग-त्रिलिंग प्रकार), श्री प्रिज़ीलुस्की का अनुसरण करते हुए, उनमे पजाब के उदुम्बर तथा आंध्र का सातकर्णी वश (द्रविड जनसमूह ? दे०, जे० ए-एस०, १९२६, I, पृ० २५, जे० आर० ए० एस०, १९२९, पृ० २७३) भी जोड देने चाहिए। इससे बिना किसी कठिनाई के यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सस्कृत शब्दावली के कुछ तत्त्व मुण्डा बोलियो के कारण हो सकते हैं। अन्य के अतिरिक्त, श्री प्रिज़ीलुस्की ने कुछ पौधो के नाम प्रस्तुत किये हैं (दे०, 'प्री-एरियन ऐंड प्रो-ड्रैवेडिअन इन् इडिया', पी० सी० बागची द्वारा अनूदित) ताम्बूल-, कदल- और ऋग्वेद मे ही भारोपीय इषु- का स्थान ग्रहण करने वाला बाण- और लांगूल- (कृष्- "मजदूर", उर्वरा और सीता भारोपीय है, किन्तु कीनाश मे एक विदेशीपन भी है)।

दूसरी ओर, क्लैसीकल सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा की शब्दावली के कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो भारोपीय मे अज्ञात हैं, किन्तु जिनके लिये द्रविड भाषा मे साम्य मिलते है, वेदो मे ही कुछ उधार लिये गये शब्द देखने का प्रलोभन होता है : ऋ० उलूखल-, अथर्व० मूसल-, श० ब्रा० सदनीरा, एक नदी (गण्डक् ?) का नीर-, जो बाद को पृथक् हो गया प्रतीत होता है, हीं से बराबर प्रमाणित नाम।

ये तथा अन्य निकट की बाते, जो न्यूनाधिक सभव हैं, यह प्रमाणित करती दृष्टि-गोचर होती हैं कि आर्य तथा अन्य भाषाओ मे कुछ आदान-प्रदान हुआ था, किन्तु हमारे पास न तो काल-क्रम है और न शब्द-व्युत्पत्ति-सबधी प्रमाण हैं जिनके आधार पर यह निश्चित हो सके कि ये भाषा-सबधी समुदाय वे ही थे जो हमे ज्ञात हैं, और फिर किन-किन शब्दो का आगमन हुआ ? ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनके सबध मे यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल दोनो कुलो मे से (दो ही तक अपने को सीमित रखते हुए) किसमे स्थापित करना चाहिए, न यही ज्ञात होता है कि किस मे वह उधार लिया

गया, क्योंकि अधिक कुशल आर्य भाषा ने "देशी" भाषाओं पर जोरों से धावा बोल दिया था।

दो बातें तो भी कही जा सकती हैं :

एक ओर तो, संथाली की शब्दावली की सरसरी परीक्षा यह प्रदर्शित करती है कि उसका हिन्दी के, विशेषतः बंगाली और उड़िया के, कुछ रूपों के साथ घनिष्ठ और हाल का सम्बन्ध है, विपर्यस्त रूप में, बंगाली में ही, और ग्रामीण बंगाली में सर्वश्री चटर्जी और बागची ने मुण्डा और आर्य भाषाओं का एक नवीन संबंध खोज निकाला है। अस्तु, कुछ समय के लिये ही ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डा से आर्य भाषा द्वारा तत्त्वों का लिया जाना बीच के काल में बन्द हो गया होगा, और धार्मिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक कारणों से अब फिर शुरू हो गया है।

द्रविड, उसके प्राचीनतम ज्ञात रूप, से जहाँ तक सम्बन्ध है, प्राचीन तमिल साहित्य में, संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा से लिये गये शब्दों की काफी संख्या है; आधुनिक युग में, आर्य भाषाओं द्वारा द्रविड भाषाओं से लिये गये एक प्रकार से आधे शब्द पश्चिमी भाग के प्रतीत होते हैं (उदा० बी० एस० ओ० एस०, V, पृ० ७४२), दूसरी ओर संस्कृत में प्रवेश पा गये कुछ शब्द आधुनिक भाषाओं में बने नहीं रह सके। इससे ऐसा विचार में आता है कि सम्पर्क एक प्रकार से पश्चिम की ओर रहा होगा, कहना चाहिए आंध्र देश की अपेक्षा मालवा में क्या यह गौरवपूर्ण उज्जैनी थी, जो उस भूमि-भाग का केन्द्र थी, जहाँ यह बौद्धिक आदान-प्रदान हुआ ?

यद्यपि ऐसा भले ही हुआ हो, शब्दावली का आदान-प्रदान ही केवल, जो निश्चित है, अन्य प्रकार की बातों की दृष्टि से, संभावनाएँ प्रकट करता है। इन संभावनाओं का उपयोग करने और उन्हें स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि मुण्डा और द्रविड उन लोगों की भाषाएँ रही होंगी जिन्हें आर्य भाषा ग्रहण करनी पड़ी, अब देखना यह है कि स्वयं आर्य भाषा पर उनका प्रभाव कहाँ तक पड़ा।

सर्वप्रथम ध्वनि-मात्र के परिवर्तन-क्रम ने भाषा में जो परिवर्तन उपस्थित किया उसमें जन-समूह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। और, वास्तव में, व्यंजनों की प्रणाली में परिवर्तन उपस्थित करने की दृष्टि से एक प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा। भारतीय-आर्य भाषा में दन्त्यों का एक वर्ग है, उससे भाषा के पूर्ववर्ती भाग में उच्चरित व्यंजनों की आशा की जाती है, प्राचीनतम संस्कृत में वे दो हैं, जो वास्तविक दन्त्य हैं वे, और मूर्द्धन्य। यदि इन दोनों के उद्गमों का खोजना पसंद किया जाय तो वैदिक भाषा में गौण रूप से निकले ळ् का अस्तित्व -ड्- स्वर-मध्यग से मानने का प्रलोभन होता है, और आधुनिक भाषाओं के एक महत्त्वपूर्ण समुदाय में -ल्- स्वर-मध्यग से। किन्तु द्रविड भाषा

में ऴ है, जो मुण्डा में नहीं है। दूसरी ओर ऴ का भौगोलिक विभाजन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है : (सिन्धी के अतिरिक्त जिसमे ऱ् है, मूर्द्धन्य भी) पश्चिमी बोलियों को छोड कर, उड़िया मे, जो द्रविड प्रदेश से लगी हुई पूर्व की बोली है, वह है, इससे कृदन्त के अनुमान का महत्त्व कम हो जाता है जिसकी पूर्व की ओर फैलते समय मुण्डा मे, भारतीय-आर्य की भाँति, एक प्राचीन ध्वनि-मात्र लुप्त हो जानी चाहिए।

जहाँ तक दन्त्यों और मूर्द्धन्यों के विभाजन से सबध है, यह देखा जा चुका है कि उसमे, प्रागैतिहासिक आर्य शकार-ध्वनि के कारण प्रारभ मे हुए परिवर्तन की एक शृंखला के साथ अनुकूलता और नियमित रूप आता है।

भारतीय-आर्य भाषा की ध्वनि-प्रणाली की एक विशेष बात है महाप्राण व्यजनो का अस्तित्व। किन्तु, मुण्डा में, अथवा कम-से-कम मुण्डा के खेरवारी समुदाय में (सोरा उसमे नही है) महाप्राण है, द्रविड मे वे नही हैं। इस बात को पिछली बात से मिला देने की दृष्टि से, इस बात के जानने का लाभ उठाया जा सकता है कि वैदिक -ऴ- का स्थान क्लैसीकल सस्कृत मे -ड्- ग्रहण कर लेता है, और इसमे द्रविड प्रभाव के बाद मुण्डा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है मुण्डा द्वारा बचाये जाने के मुकाबले द्रविड ही महाप्राणो की प्राचीन प्रणाली को नष्ट करने मे यथेष्ट न होती; इसके अतिरिक्त यह स्वीकार करने में कोई बाधा नही है कि द्रविड मे, उसके सामने, दक्खिन के नवीन भूमि-भागो मे, जहाँ देसी प्रभाव प्रमाणित किये जाने योग्य नही है, और बलूचिस्तान (जहाँ केवल पूर्वी बोली मे हाल के कुछ महाप्राण है) मे फैलते समय महाप्राण लुप्त हो गये होंगे।

यह विशेषत स्मरण रखने की बात है कि महाप्राणों की परिस्थिति वही नही थी जो दन्त्यो की थी, पहलो का केवल रक्षण रहा, जब कि दन्त्यों को पहले ही से आघात पहुँचा और उतनी ही उनमे परिवर्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। आधारों का प्रभाव अनुकूल परिस्थिति के बिना उत्पन्न नही होता, यही कारण है कि आर्य भाषा किसी चीज़ की फिर से याद नही दिलाती, वे चाहे मुण्डा की विशेषता के सूचक अतरग स्फोटक हो (अवरुद्ध व्यंजन), चाहे द्रविड भाषा के तालव्यीय व्यजनो का वर्ग हो। जो अन्य प्रभाव देखे जा सकते हैं, वे आधुनिक और पूर्णत. स्थानीय हैं : ऐसे सभवत है मराठी और तेलेगू मे आदि (य्)ए-(व्)ओ- का संयुक्त स्वर-भाव (नेपाली और दर्द मे भी ज्ञात), अथवा मराठी-आर्य भाषा मे, तेलेगू तथा कुइ- द्रविड भाषाओ मे, कुर्कू, पृथक् हो गयी मुण्डा बोली मे अ, ओ, साथ ही उ से पूर्व तालव्यों का दन्त्य हो जाना; सभवत तेलेगू के स्वर-संबंधी साम्य और सथाली तथा बंगाली की प्रसूत ध्वनियो को भी निकट से देखना आवश्यक है।

इन प्रभावो को छोड़ कर, एक और समानता की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिसके बिना प्रतिपादित विषय स्पष्ट न हो सकेगा।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे जो एक यह विशेषता मिलती है कि व्यजन-समुदायों का उच्चारण करना कठिन होता है, यही विशेषता द्रविड में भी मिलती है। आपस्तम्ब के श्रौत सूत्र मे सस्कृत मे घोडे का एक नया नाम दृष्टिगोचर होता है : घोट- जो निश्चित रूप मे अश्व का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस उधार लिये गये शब्द से (किस भाषा से ?) *घुत्र- प्रकार की कल्पना की जा सकती है जो मुण्डा की दो छोटी-छोटी बोलियों के रूपों मे भी दृष्टिगोचर होता है सोरा कुर्ता, गदब कुता आदि, जो निस्सन्देह द्रविड़ से लिये गये है, के कठोरत्व से यही निष्कर्ष निकलता है, स्वय द्रविड मे एक ओर तमिल कुदिरइ, कन्नड कुदुरे है, दूसरी ओर तेलेगू गुर्रमु अस्तु, आर्य भाषा की भाँति, स्वर-सबधी आगम अथवा समुदाय का समीकरण। इसी प्रकार गधे के नाम ऋ० गर्दभ- के सामने—काफी निकट—तलेगू गादिडे, तमिल कलुदेइ, किन्तु कन्नड कल्‌ते, कत्ते मिलते हैं, तुल० तमिल कुरुड्- "अधा", तेलेगू गुड्डु-, कन्नड कुडु-, तमिल कलट्टेइ, तेलेगू गड्डु-, कन्नड गड्डे [प्रसगवश यह देखा जा सकता है कि कठोर और आदि मुखर (घोष) ध्वनियो की अनियमित प्रतिकूलता से प्रागैतिहासिक द्रविड भाषा मे महाप्राण व्यजनो के अस्तित्व की बात सोची जा सकती है]।

यह ससर्ग केवल सयोगवश ही मुश्किल से हो सकता है। किन्तु यदि उन भाषाओ मे समानान्तर बाते है, तो क्या समकालीन बाते भी नही हैं ?

उनका समय कुछ भी हो, यह प्रवृत्ति, भारतीय-आर्य भाषा की भाँति द्रविड भाषा मे भी इधर के युगो की प्रतीत होती है। इस प्रवृत्ति का महाकाव्यो मे और मनु द्वारा ज्ञात पुरुषवाचक नाम द्रविड- के, और उसे बशर्ते कि सभवत केवल उधार लिया गया हो, इतिहास मे प्राचीन प्रमाण उपलब्ध करने का लोभ होता है; अथवा प्यूटिंजर (ती० श०) की तालिका मे दिमिरीस (Dimirice), पाली महावश मे (पाँ० श०) दमिल-, और प्राचीनतम तमिल व्याकरण मे तमिल मिलता है। किन्तु कौन कह सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे बीच की स्थिति नही थी ?

तमिल मे स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनियाँ मुखर (घोष) हो जाती हैं (तथा उस हालत मे उनका सोष्मीकरण हो जाता है), किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा से उसका सबध स्थापित नही किया जा सकता, कुमारिल ने सातवी शताब्दी मे ही कठोर शब्दो का उल्लेख किया है; तथा इसके अतिरिक्त परिवर्तन द्रविड भाषा मे सर्वत्र नही पाया जाता।

यह देखा जा चुका है कि सस्कृत के ए और ओ केवल दीर्घ हैं, किन्तु धीरे-धीरे इन

स्वरों में दो मात्रा-काल उत्पन्न हो जाते हैं : अर्थात ए तथा ओ द्रविड और मुण्डा में ह्रस्व या दीर्घ हो जाते हैं। किन्तु ऐसा एक अत्यन्त सामान्य तथा पहले से दिखायी पडने वाले तथ्य द्वारा हो जाता है जिससे कोई अन्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, सिवाय इसके कि दीर्घ शब्दों मे प्राचीन दीर्घ ए तथा दीर्घ ओ के सामान्य ह्रस्वीकरण मे कोई स्थानीय बाधा नहीं थी।

इन सब बातों मे, केवल जिसका मूर्द्धन्यो से सबंध है वह निर्विवाद है। आधार के अन्य चिन्हो को, विशेषत· द्रविड़ आधार को ढूंढ़ना ठीक होगा।

क्योकि द्रविड भाषा ही है जिसमे आर्य भाषा की बहुत-सी समान बातें मिलती हैं; तथा ये साम्य जितने अधिकाशत· गौण है उतने ही महत्त्वपूर्ण।

शब्द मे, पर-प्रत्ययों के लगाने का निरतर प्रयोग और उपसर्गों (पुरः प्रत्ययों) तथा मध्यवर्ती प्रत्ययों का अभाव (आर्य भाषा से जहाँ तक सभव है, लोप) जो मुण्डा मे प्रचलित हैं, समुदाय मे, उपसर्गात्मक अव्ययों और पूर्व-क्रियाओ का अभाव (लोप) भी ऐसा ही है। रूप-रचना मे, मुण्डा मे प्रचलित, द्विवचन का अभाव (लोप)। सज्ञाओ मे, द्विगुण विकरण, विकृत विकरण मे सबध० के भाव की प्रवृत्ति होने, और न्यूनाधिक वास्तविक अर्थ से हीन शब्दो का अनुसरण करने के कारण, दो विकरणो वाले पुरुषवाचक सर्वनाम : कर्ता० वाले, और मुख्य तथा गौण कर्म कारक वाले (मुण्डा में केवल एक विकरण)।

क्रिया मे, नामजात रूप तथा परिवर्तनशील लिंग के तीन पुरुष; क्रियामूलक विशेष्य का अस्तित्त्व (मुण्डा मे नही है) जो वाक्याशों के सयोजन मे और शैलीगत अथवा व्याकरण-सबधी भाव वाले सयुक्त या मिश्र वाक्यावली की उत्पत्ति मे महत्त्वपूर्ण भाग लेता है, सिंहली किय, अप० भणिवि, म० म्हणून्, ने० बहणिये, बगाली बोलिया का तमिल ऐन्रु, तेलेगू भनि, कन्नड एन्दु "कह लेने पर" से स्पष्टीकरण करने के लिये साम्य है : यह साम्य केवल दक्षिण की द्रविड भाषाओ द्वारा प्रमाणित है, कुरुख, गोँड मे, मुण्डा की भाँति, वह नही है (इस सबध मे भी सोरा मुण्डा-समुदाय से अलग रहती है, दे०, आर० वी० राममूर्ति, §१७९)। अनुमान की बात है, किन्तु इससे ऐसी अन्य बातो की तुलना करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है जिनके लिये दक्षिण की भाषाएँ महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक तुलनीय अभिव्यजनाओ से, तथा उदाहरणार्थ, द्वित्व-युक्त तथा प्रतिध्वनित (दे० पीछे) शब्दो से सबध है, द्रविड भाषाओ के समस्त कुलो मे सरलतापूर्वक एक लबी सूची बनायी जा सकती है।

नकारात्मक बातें भी हैं : कर्मवाच्य, उपपद, तुलना की श्रेणी का अभाव। किन्तु

जहाँ पूर्वोल्लिखित बातें कुछ सिद्ध हो सकती है, ये कुछ भी सिद्ध नहीं होतीं, विशेषतः द्रविड और मुण्डा मे अज्ञात वर्गों का आर्य भाषा मे सुरक्षित रहने की बात पर ध्यान रखना होगा . एक ओर सबधवाचक तथा सबधवाचक वाक्याश, दूसरी ओर विशेषण अथवा अन्य सज्ञा से साम्य रखने वाली सज्ञा कभी-कभी प्रसगवश यह पूछा जा सकता है कि क्या देशी भाषाओं मे विशेषण के भाव वाले अव्ययी विकरणो का अस्तित्त्व आर्यों की साहित्यिक भाषाओ के समासो के लाभ के लिये नही है। हर हालत मे स्थानीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है . मराठी, उडिया, सिंहली मे अपने-अपने ढग से द्रविड "सबधवाची कृदन्त" वाक्य-विन्यास के अनुकूल हो गया है, कोई रचना हो उसमें अपरिवर्तनशील विशेषण मे कर्त्ता कारक कर्त्ता की ग्रहणशीलता रहती है।

इतने महत्त्वपूर्ण और कुछ बातो मे इतने निश्चित साम्य होने पर भी, भारतीय-आर्य भाषा का विकास अस्वाभाविकता की सीमा पर नही पहुँच जाता। आर्य भाषा का ईरानी के साथ केवल ससरण देखना है जिसमे ज्ञात स्थानीय प्रभाव विशेष प्रकार के है लिंग का लोप एक ऐसे आधार का अनुमान कराता है जो भारतीय आधार से भिन्न है।

दोनो क्षेत्रो मे, जैसा कि देखा जा चुका है, अत्यधिक प्रमुख अतर ध्वनि-क्रम का है। यदि ईरानी के आकृति-विज्ञान पर विचार किया जाय, तो विशेष्य, अपरिवर्तनशील हो कर (भारत की कुछ भाषाओ मे ऐसा है) तुलना के लिये उपयुक्त नहीं रहता, किन्तु विशेषण का वर्ग बना रहता है, सर्वनामो मे, विकृत विकरण के सामान्यीकरण का प्रतिरूप भारत मे मिलता है प्रणाली का सबसे बडा अन्तर वह है जिसके अतर्गत बाद मे आने वाले विशेषण की भाँति प्रयुक्त प्राचीन सबधवाचक का अभाव आता है (यह इज़ाफत है, जो भारत मे उर्दू मे है)। क्रिया मे, भारत की भाँति ही, प्राचीन वर्तमान का और भूत० कृदन्त का विरोध क्रिया-रूप मे प्रमुख स्थान रखता है, सर्वनाममूलक रूप को सम्बद्ध कर लेने और सहायको के योग के अपने-अपने प्रतिरूप भारत मे है।

दूसरी ओर भाषा-रेखाओ की सीमाओ का एक क्षेत्र मे दूसरे क्षेत्र मे अतिक्रमण यह प्रकट करता है कि उनके मौलिक सबध वास्तव मे छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते। हमे और स्पष्ट रूप से देख लेना चाहिए

दोनो समुदायो मे ऋ का प्रयोग बिल्कुल एक-सा नही है . अफगानी (अशत:) तथा बलूची मे उसका ह्रस्व स्वर बनता है, जब कि अशोक के अभिलेखो के उत्तर-पश्चिमी समुदाय मे इस बात का प्रमाण मिलता है कि कुछ भारतीय बोलियो मे उसका उपयोग स्वर+र् की भाँति था।

अफगानी और वक्सी मे मूर्धन्य मिलते है। जिनका सबध अफगानी और बलूची

से है उन पर दूसरे रूप मे विचार किया जा सकता है; वास्तव मे हम जानते हैं कि ये बोलियाँ बाहर से आयी, और भारतीय सभ्यता ने इन क्षेत्रो मे प्रवेश कर लिया था। अस्तु, -तो युक्त बलूची क्रियामूलक विशेष्य, तुल० स० -त्वा, और अफ़गानी, वक्सी तथा यिद्‌गा का -अव- युक्त प्रेरणार्थक भारत मे लिये गये है। इस प्रकार पूर्वी ईरान मे भारतीय आधार का प्रभाव देखा जा सकता है, जिप्सी-भाषाएँ सभवत इसी भूमिभाग से निकलती है, और साथ ही इससे उनकी कुछ ध्वनि-सबधी विशेषताओ और शब्दावली का मिलना, ये बाते स्पष्ट हो जाती है (उदाहरणार्थ अफगानी और जिप्सी-भाषा लसँत्, हि० लाठी, स० यष्टि-। इन्ही कारणो से अफगानी मे सशयार्थसूचक (लेट्-लकार) और तुलनात्मक का अभाव बताया जा सकता है।

म् और सँ के बीच की सीमा भारत मे नही रह जाती; जैसे पिछले समय मे अशोक की उत्तर-पश्चिम और ह० दुत्र० की बोलियो, दर्द तथा यूरोप की जिप्सी-भाषा (एशियाई जिप्सी-भाषा भारत के साथ चलती है) मे प्राचीन शकार ध्वनियाँ सुरक्षित रहती हैं, कश्मीरी और सिधी मे श् ह् हो जाता है, और सँय् म् हो जाता है, सँर् सँ हो जाता है, जैसे ईरानी मे। ईरानी मे भी मिलने वाले एक सूत्र के अनुसार कश्मीरी मे पहले आने वाले स्पर्श पर शिन्-ध्वनि हावी होते हुए देखी जाती है (दे० पीछे)। अफगानी अतुअं "आट" मे भारतवर्ष मे एक महाप्राण की आशा की जाती है, किन्तु ध्यान देना चाहिए कि स्त् बना रहता है।

काफिर को तालव्यो को दन्त्य रूप प्रदान करना प्रिय है प्राचीन काल से, ईरानी विशेषता का चिन्ह।

खरोष्ठी लिपि मे लिखित कुषाण युग के अभिलेखो मे प्राचीन काल मे भारतीय सोष्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, दे० पीछे, दर्द मे वह आज भी है। दूसरी ओर महाप्राण घोष का अल्पप्राणीकरण, जो शेष भारत मे कही-कही मिलता है, दर्द और पजाबी (यहाँ महाप्राणत्व एक स्वर-सबधी सुर छोड जाता है) मे ईरानी की भाँति सामान्य है। प्रसगवश यह जान लेना चाहिए कि पूर्वी बलूची मे कुछ हाल ही मे उत्पन्न महाप्राण हैं।

कुछ बाते दोनो क्षेत्रो मे से एक मे भी सामान्य हुए दोनो पक्षो को सीमान्त से अलग कर देती हैं, इस प्रकार स्व् जो स्वतत्र रूप मे फारसी और भारत की "प्राकृत" बोलियो मे स् प्रदान करता है, किन्तु शेष ईरान मे तथा भारत के पश्चिम की प्राचीन बोलियों मे स्प् [अशोक० स्पसु-(स्वसृ-), ह० दुत्र० विश्प-(विश्व-), अभिलेख वेस्पसिरि, पिस्पसिरि]।

आधुनिक काल तक, फारसी में ब्- हो गया आदि -व्, शेष ईरान मे मिलता है; वह

पश्चिमी भारत मे भी बना हुआ है, जब कि पूर्व की ओर वह -य् हो जाता है। बीच के समय में स्वर-मध्यग -ड्- से -ल्- का प्रयोग ईरान के उत्तर-पूर्व और भारत के उत्तर-पश्चिमी भागो मे (अफगानिस्तान मे) समान रूप से होता है, जहाँ वह जिप्सी-भाषा से सम्बद्ध हो जाता है।

रूप-विचार की दृष्टि से यह देखा जा सकता है कि संबंधवाचक य-, जो भारतवर्ष मे बना रहता है और अत्यधिक महत्त्व ग्रहण कर लेता है, उत्तर-पश्चिम और जिप्सी-भाषा मे नही है, जैसे ईरान मे नही है। क्रिया मे सर्वनाममूलक पर-प्रत्ययों का प्रयोग भारतवर्ष मे ईरानी सीमा की ओर स्थानीय हो जाता है, दूसरी ओर भारतीय सीमा की ईरानी भाषाओ मे मशयार्थसूचक (लेट्-लकार) नही है। अफगानी, बलूची तथा बीच की बोलियो मे दो विकरणो वाली एक नामजात प्रणाली है . फारसी और कुर्द मे केवल एक रूप है, यह अन्तर, जो विकास की सापेक्षिक तीव्रता के कारण हो सकता है, स्वभावत पहले वालो की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है।

तत्पश्चात् शब्दावली की बातों को कुछ महत्त्व प्रदान करना भी उपयुक्त है। अब भी दर्द मे प्रचलित, स० 'स्त्री' के तुल्य रूप की बलूची मे (सेंर्अ्ज)अनुरूपता मिलती है, मुख- मे अफ० मख्, परवर्ती मुख् की अनुरूपता है (दे० मौर्गेन्सटिएर्न, 'एटी० वोके० ऑव पश्तो', पृ० ४८)। श्री तेदेस्को ने सोग्दिअन मे सिंधी रीझ्- का सादृश्य देखा है तथा सिंधी वीझ्-(स० व्यध्), कुह (स० कुष्-) तथा प्राचीन ईरानी मे अर्थ-विचार-संबंधी सादृश्य देखा है (बी० एस० एल०, XXIII, पृ० ११४), इसी प्रकार श्री टर्नर ने बताया है कि सिंधी वणु, अफगानी वन की भाँति, "पेड" का अर्थ देता है, संस्कृत वन- का यह अर्थ वेदो के बाद लुप्त हो गया था। प्राचीनतम वैयाकरणो ने ही काम्बोज में सेव्- "जाना" के अस्तित्व की ओर संकेत किया है, तुल० पु० फा० सियव्-, अ० सेंग्रव्-, सोग्दिअन सैव्-(संस्कृत मे यही धातु च्यव्- रूप धारण कर लेती है और एक दूसरे अर्थ मे धारण करती है)। निश्चित रूप से अन्य ऐसे ही सादृश्य हैं, और उनसे निस्सन्देह आंशिक रूप मे यह ज्ञात होता है कि पूर्व और दक्षिण की ओर फैलने पर संस्कृत शब्दावली मे नवीनता आयी, किन्तु प्रत्येक युग मे उधार लिये गये शब्दो को अलग करना कठिन है वैदिक द्वार्-, जिसमे आदि महाप्राण दृष्टिगोचर होता है, संभवत, जैसा कि श्री हरतेल ने संकेत किया है, एक ईरानी शब्द है। इतिहास ने वास्तव मे दो सभ्यताओ मे एक स्थायी संपर्क स्थापित और कार्यान्वित होने मे सहायता प्रदान की है; एक दूसरे से ग्रहण किये जाने की जिस प्रवृत्ति का यहाँ उल्लेख हुआ है यह इस बात से और भी सुगम हो गयी कि दोनो क्षेत्रो के शब्दो की ध्वनि-संबंधी प्रणाली एक-दूसरे के बहुत निकट है, तथा निस्सन्देह हमारी शब्द-व्युत्पत्तियों का एक भाग ऐसे क्रम-

परिवर्तनो की सरलतापूर्वक गणना नही करता जो ठीक हैं, किन्तु जो ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या सिद्ध होते हैं।

अस्तु, इस प्रकार स्थानीय प्रभाव चाहे जितने गहरे रहे हो, उनसे भारतवर्ष की आर्य भाषा ईरान की आर्य भाषा से वास्तव मे अलग नही हो गयी तथा अन्य भारोपीय भाषाओ से बहुत अधिक भिन्न नही हो गयी, भारतीय-ईरानी की आन्तरिक शक्ति, सस्कृत का सम्मान, पश्चिम से ऐतिहासिक सम्बन्ध, फारसी का प्रभाव एक ही अर्थ मे कार्यान्वित हुए है। निम्सन्देह अँगरेजी के प्रभाव ने, न केवल शब्दावली मे, किन्तु वाक्य-विन्यास मे भी भारोपीय समुदाय और भारत की परिष्कृत भाषाओ के बीच सबधो को एकदम और भी अधिक दृढ करने मे सहायता पहुँचायी है।

पारिभाषिक शब्द-कोश

हिन्दी-अंगरेजी

अंत	Desinence
अंत का	Terminal
अंतरंग स्फोट	Implosion
अंतरंग स्फोटक	Implosive
अंतर्भूत, स्वयवाची	Inclusive
अंतर्वर्ती	Intermediary, Internal
अंतस्थ	Liquid
अंत्य रूप	Termination
अंत्य वर्ण	Apocope
अंश, श्रेणी, मात्रा	Degree
अकर्तृक, भाववाचक क्रिया	Impersonal
अकर्तृक कर्मवाच्य	Impersonal Passive
अकर्मक	Intransitive
अकर्मक विकरण	Intransitive Theme
अ-क्रियामूलक	Non-verbal
अक्षरात्मक	Syllabic
अग्रागम	Prothesis
अघोष	Surd
अघोषत्व	Surdity, Unvoicing
अचेतन	Inanimate
अतिरिक्त	Redundant
अतिशयता, तीव्रता, उत्कर्षता	Intensity
अतिशयार्थक, उत्कर्षसूचक	Intensive
अतीत काल	Preterite

अदर्शन	Elision
अधिकरण कारक	Locative
अनद्यतन भूत, सातत्यार्थक भूत	Durative Past
अनन्वित तमबन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
अनन्वित सबंध कारक	Absolute Genitive
अनासिक्य	Denasalised
अनियमित क्रिया	Irregular Verb
अनिर्धारण	Indetermination
अनिश्चयवाचक	Indefinite
अनिश्चित क्रियार्थ-भेद	Eventual Mood
अनिश्चितता	Eventuality
अनुकूल रूप	Adaptation
अनुकूलता, समानता	Apposition
अनुकूलत्व, अनुकूल रूप	Adaptation
अनुधारणात्मक	Conclusive
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकताविहीन, अनासिक्य	Denasalised
अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय	Nasal Infix
अनुबंधता, योग	Adjunction
अनुमतिबोधक	Permissive
अनुमान	Hypothesis
अनुलेखन-पद्धति	Orthography
अनुसर्ग	Postposition
अनेकाक्षर	Polysyllable
अपनिहिति	Epenthesis
अपरिवर्तनीय विकरण	Non-alternant Theme
अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
अपश्रुति	Ablaut
अपादान	Ablative
अपूर्ण, घटमान	Imperfect
अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप	Imperfect Participle

अप्राण तालव्य	Non-aspirate Palatal
अभिनिधान	Elision
अभिव्यंजक	Expressive
अभिव्यंजक रूप	Expressive Form
अमूर्त	Abstract
अमूर्तत्व	Abstraction
अयथार्थ	Unreal
अयथार्थ संभाव्य	Unreal Conditional
अर्थ-विचार-संबंधी	Semantics
अर्थानुकूल कर्त्ता	Logical Subject
अर्द्ध-स्वर	Semi-vowel
अल्पप्राणीकरण	Deaspiration
अल्पार्थक	Diminutive
अवरुद्ध व्यंजन	Checked Consonant
अवरोध	Obstruction
अवस्थावाची या स्थानवाची पर-प्रत्यय	Suffix of Position
अ-विकरणयुक्त	A-thematic
अव्यय	Indeclinable
अव्यय रूपी उपसर्ग	Preposition
असमापिका	Conjunction, Conjunctive
असमापिका क्रिया	Infinite Verb, Conjunctive Participle
असमापिका (धातु)	Infinitive
असम्पन्न भूत	Pluperfect
असाक्षात्	Indirect
असावर्ण्य	Dissimilation
अस्तित्वसूचक क्रिया	Verb of Existence
आकृति-विचार, रूप-विचार	Morphology
आगम	Augment
आगम, निवेश	Insertion

आगम, संयोग	Affixation
आघात, स्वरित होना	Accentuation
आज्ञार्थ	Imperative
आदरसूचक	Honorific
आदरार्थ, सभावक प्रकार	Optative
आदर्श	Norm
आदि या मूल या प्रधान स्वराघात	Initial Accent
आदि शब्द	Premier Term
आदेशार्थ	Injunctive
आरम्भिकताबोधक	Inceptive
आर्ष प्रयोग	Archaism
आवृत्ति	Frequency
आवृत्तिमूलक	Anaphoric
आवृत्तिवाला	Redoubled
आशीर्वादात्मक	Precative
आश्रयसूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Subordination
आश्रित	Dependent, Subordinate
आश्रित वाक्य-योजना	Subordination
आश्रित वाक्य-सयोजक	Subordinating
आश्वसित ध्वनि	Recursive
इच्छार्थक	Desiderative
उच्चरित	Articulated
उच्चारण	Articulation
उत्कर्षता	Intensity
उत्कर्षसूचक	Intensive
उत्कीर्ण लेख	Epigraph
उदात्त	Acute
उदासीन, नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
उदासीनता, दुर्बलता, नाश	Neutralisation

उपपद, उपसर्ग	Article
उपसर्ग	Affix, Article, Preposition
उपसर्गात्मक अव्यय, कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग, अव्यय रूपी उपसर्ग, उपसर्ग, पूर्वसर्ग	Preposition
ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणति	Mute
एक-मूलक भिन्नार्थी दो शब्दों में से एक, युग्मक	Doublet
एकरूपता	Accord
एकांतरकरण	Alternance
एकाक्षरात्मक	Monosyllabic
एकीकरण	Unification
ऐतिहासिक वर्तमान	Historic Present
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य, सादृश्य	Analogy
कंठद्वारीय	Glottal
कंठ्य	Guttural
कंठ्यौष्ठ्य	Labio-Velar
कंपन	Vibrations
कठोर	Solid
कठोर, अघोष	Surd
कठोरत्व, अघोषत्व	Surdity
करण-कारण	Instrumental
कर्त्ता	Subject
कर्त्ता कारक	Nominative

कर्तृ कारक	Subject Case
कर्तृवाची	Agent
कर्तृवाची क्रिया	Active Verb
कर्तृवाची सज्ञा	Noun of Agency
कर्तृवाच्य	Active
कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Participle
कर्तृ० पूर्ण०	Active Perfect
कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Present Participle
कर्म कारक	Accusative, Regime, Objective (Regime)
कर्मणि	Passive
कर्म प्रवचनीय उपसर्ग	Preposition
कर्मवाच्य, कर्मणि	Passive
कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप	Passive Theme
काकलाघात	Stroke of Glottis
काकल्य	Glottal
कारक	Case
कार्य का न्यायानुकूल कर्त्ता	Logical Subject of Action
कार्यवाची सज्ञा	Noun of Action
कृत्प्रत्यय	Primary Suffix
कृदन्त, क्रियामूलक विशेषण	Participle
कृदन्त-विशेष्य (सज्ञा)	Participle-Substantive
कृदन्ती	Participial
कृदन्ती काल	Participial Tense
कृदन्ती गुणवाचक विशेषण	Participial Epithet
कृदन्ती विकरण या मूल रूप	Participial Theme
कोमल	Sonant
क्रिया की रूप-रचना	Verbal Flexion
क्रियाजात मूल	Verbal Radical

क्रिया-भाव	Verbalisation, Mood
क्रियामूलक	Verbal
क्रियामूलक प्रत्यय	Verbal Desinence
क्रियामूलक वर्तमान	Verbal Present
क्रियामूलक विशेषण	Participle, Verbal Adjective
क्रियामूलक विशेष्य	Gerund, Gerundive
क्रियामूलक सज्ञा	Verbal Noun
क्रिया-रूप, तिङन्त-प्रकरण	Conjugation
क्रिया-विशेषण	Adverb
क्रिया-विशेषणमूलक	Adverbial
क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक	Adverbial Accusative
क्रिया-विशेषणमूलक पर-प्रत्यय	Adverbial Suffix
क्रियार्थ-भेद	Mood
क्रियार्थ-भेद-रूप	Modal Form
क्रियार्थक रूप	Verbal Form
क्रियार्थक सज्ञा, पूर्वकालिक क्रिया, आसमापिका (धातु), क्रियासूचक सज्ञा, तुमन्त	Infinitive
क्रियासूचक सज्ञा	Infinitive
क्षीणता	Atrophy
गण	Group
गत्यर्थक	Statical
गुणारोपण	Attribution
गुरु	Long
गौण	Secondary
गौण, असाक्षात्	Indirect
गौण धातु	Secondary Root
गौण प्रत्यय	Secondary Desinence
गौण या विकृत सक्षिप्ति	Secondary Abridgement

घटमान	Imperfect, Progressive
घटमान भविष्यत्	Future Progressive
घटमान वर्तमान	Present Progressive
घर्ष	Spirant
घोष, मुखर	Sonore
घोषत्व	Voicing
चेतन	Animate
चेतन कर्त्ता	Living Subject
छंद-मात्रा-गणना	Scansion
जिप्सी-भाषा	Tsigane (Fr.)
णिजन्त	Causative
तत्पुरुष समास	Determinative Compound
तद्धित प्रत्यय	Secondary Suffix
तमबन्त (विशेषण)	Superlative
तालव्य	Palatal
तालव्याग्रीय	Prepalatal
तिङ्	Paradigm
तिङन्त-प्रकरण	Conjugation
तीव्रता	Intensity
तुमन्त	Infinitive
तुलना	Comparison
तुलनात्मक (विशेषण)	Comparative
दीर्घ	Prolonged
दीर्घ, गुरु	Long
दीर्घ मात्रा	Long Degree
दीर्घ रूप	Long Form

दीर्घरूपता	Elongation
दीर्घ श्रेणी, दीर्घ मात्रा	Long Degree
दुरूह	Complex
दुरूह परसर्ग	Complex Postposition
दुर्बलता	Neutralisation
द्वन्द्व समास	Co-ordinative Compound
द्वयक्षरात्मक	Dissyllabic
द्विकर्मक धातु-संबंधी	Factitive
द्विगु	Collective Compound
द्विगुण	Double
द्विगुणन	Gemination
द्वित्व	Doubling
द्वित्वयुक्त, पुनरावृत्त, आवृत्तिवाला	Redoubled
द्वित्वयुक्त परिवर्तन-क्रम	Double Alternance
धातु	Root
ध्वनि-तत्त्व	Phonology
ध्वनि-भाग, ध्वनि-श्रेणी, स्वनग्राम	Phoneme
ध्वनि-लोप	Haplology
ध्वनि-श्रेणी	Phoneme
ध्वनि-संबंधी	Phonetic
नकारात्मक	Negative
नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
नामजात, सामान्य	Nominal
नामजात पर-प्रत्यय	Nominal Suffix
नामजात पूरक	Nominal Compliment
नामजात रूप	Nominal Form
नामजात रूप-रचना	Nominal Flexion
नामजात विकरण	Nominal Theme
नामजात विकृत रूप	Nominal Oblique

नामधातु, श्रेणीसूचक	Denominative
नाम प्रत्यय	Nominal Desinence
नाश	Neutralisation
निकला हुआ	Derivated
निजवाचक	Reflective
नित्य	Primary
नित्य संबंधी	Co-relative
निपात	Particle
नियम	Formula
नियमित रचना	Regular Formation
निरंतरता बोधक	Continuative
निर्देशक	Definite
निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निर्धारक महत्त्व	Determinate Value
निर्धारण	Determination
निर्धारित	Determined
निर्बल	Weak
निवेश	Insertion
निश्चयवाचक	Demonstrative
निश्चयार्थ, निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निश्चयार्थ वर्तमान	Definite Present
निश्चित	Definite
न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्त्ता	Logical Subject
न्यून	Reduced
न्यूनत्व, परिवर्तन, प्रह्रासन	Reduction
पद	Term
पद-समष्टि	Phrase
पर-प्रत्यय, (अथवा केवल प्रत्यय)	Suffix
परसर्ग, अनुसर्ग	Postposition

परिवर्तन	Reduction, Alteration
परिवर्तन-क्रम, एकान्तरकरण	Alternance
परिवर्तनीय मूल	Alternant Radical
परिस्थितिसूचक कारक	Circumstantial Case
पश्चगामी	Regressive
पुनरावृत्त	Geminated, Redoubled
पुनरावृत्ति (जोर देने के लिये), द्विगुणन, यम	Gemination
पुनरावृत्तिमूलक	Iterative
पुनर्निर्मित रूप	Refection
पुर प्रत्यय	Prefix
पुराघटित	Perfect
पुराघटित अतीत	Past Perfect
पुराघटित कृदन्त, पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पुराघटित भविष्य	Future Perfect
पुराघटित वर्तमान	Present Perfect
पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम)	Person (First, Second, Third)
पुरुषवाचक	Personal
पुरुषवाचक क्रिया	Personal Verb
पुरोगमन	Progression
पुरोगामी	Progressive
पुरोगामी सामान्यीकरण	Progressive Normalisation
पूरक	Complement
पूर्ण	Absolute
पूर्ण, पुराघटित	Perfect
पूर्णकारी	Perfective
पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पूर्ण (या अनन्वित) तमबन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
पूर्णताबोधक	Completive
पूर्ण संबंधकारक, अनन्वित संबंधकारक	Absolute Genitive

पूर्व	Anterior
पूर्वकालिक कृदन्त	Absolutive
पूर्वकालिक क्रिया	Infinitive
पूर्व क्रिया	Preverb
पूर्व-प्रत्यय-संबंधी	Pre-desinencial
पूर्वसर्ग	Preposition
पृच्छावरोध, प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रकार, क्रियार्थ-भेद, क्रिया-भाव	Mood
प्रकार-विषयक	Modal
प्रगतिबोधक, घटमान, पुरोगामी	Progressive
प्रगृह्य	Hiatus
प्रतिध्वनित शब्द	Echo-Word
प्रत्यक्ष	Direct
प्रत्यक्ष रूप में	Directly
प्रत्यय, अंत	Desinence, Suffix
प्रत्ययांश	Enclitic
प्रधान	Initial
प्रधान स्वर	Cardinal Vowel
प्रभाव	Rection
प्रयोगार्थक	Tentative
प्रवेशसूचक वर्तमान	Ingressive Present
प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक	Interrogative
प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रह्रासन	Reduction
प्राचीन वर्तमान	Ancient Present
प्राणागम	Aspiration
प्रातिपदिक	Radical
प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
प्राथमिक	Primary
प्रारम्भिक क्रिया	Inchoative Verb
प्रेरणार्थक धातु, णिजन्त	Causative

प्रेरणार्थक धातु-मूलक संज्ञा	Causative Noun
फुसफुसाहट वाली ध्वनि	Whispered
बंधन	Obligation
बंधनजात या बंधनसूचक	Adjective of Obligation
बल	Reinforcement, Accent
बलाघात	Stress, Accent
बहुपदी समुदाय, अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
बहुव्रीहि	Compound of Appurtenence
भविष्यत्कालिक कृदन्त	Future Participle
भाववाचक, अमूर्त	Abstract
भाववाचकत्व, अमूर्तत्व	Abstraction
भाववाचक क्रिया	Impersonal
भाववाचक संज्ञा	Abstract Noun
भावे प्रयोग	Neuter Participle
भाषा-रेखा, शब्द-रेखा	Isogloss
भूतकालिक क्रियामूलक रूप	Past Verbal Form
भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Past Participle
भूत संभाव्य	Past Conditional
मंद	Dull
मध्य कृदन्त	Middle Participle
मध्यवर्ती	Interior
मध्यवर्ती, अन्तर्वर्ती	Intermediary
मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम	Internal Alternance
मध्यवर्ती प्रत्यय	Infix
मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)	Interior Aspirate
मध्यवर्ती समानता	Internal Apposition

मध्य स्पर्श	Mi-occlusive
महत्त्व	Value
महाप्राण	Aspirate
महाप्राण तालव्य	Aspirate Palatal
मात्रा	Degree
मात्रा-काल	Quantity
मात्राकालिक	Quantitative
मिश्र, यौगिक, संयुक्त	Periphrastic
मिश्र, संयुक्त, दुरूह	Complex
मुखर	Sonore
मुखरता	Sonority
मुख्य, निर्देशक या निश्चित	Definite
मुख्य, मूल, साक्षात्, प्रत्यक्ष	Direct, Proper
मुख्य कर्म कारक	Direct Regime
मुख्यतः	Directly
मुख्य प्रत्यय	Primary Desinence
मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद	Definite Article
मूर्द्धन्य	Cerebral
मूर्द्धन्यत्व	Retroflexion
मूल	Initial, Direct
मूल, प्रातिपदिक	Radical
मूल, प्राथमिक, नित्य	Primary
मूल का स्वरात्मक अंश	Vocalic Degree of Radical
मूल क्रिया	Radical Verb
मूल धातु	Primary Root
मूल या प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
मूल रूप में, साक्षात् रूप में, प्रत्यक्ष रूप में, मुख्यतः	Directly
मूलवाला परसर्ग	Postposition of Origin
मूल विकरण	Radical Theme
मूल स्वर	Radical Vowel

मूल स्वर-पद्धति	Radical Vocalism
मूल्य	Value
मौलिक	Simple
मौलिक काल	Simple Tense

यथार्थ	Real
यम	Gemination
युग्म	Couple
युग्मक	Doublet
योग या संयोग उपस्थित करना	Agglutinate
योग, समुच्चयबोधक, असमापिका, समास्य	Conjunction or Conjunctive
योगात्मक	Agglutinating
यौगिक	Periphrastic, Derivated

रचना	Composition, Formation
रूपमात्र	Morpheme
रूप-रचना	Flexion
रूप-विचार	Morphology

लघु	Short
लङ्-लकार	Aorist
लय-परिवर्तन	Modulation
लयात्मक	Rhythmic
लहजा	Tone, Intonation
लिंग	Gender
लुप्त समुच्चयबोधक	Asyndet
लेखन-प्रणाली	Graphy
लेट्-लकार	Subjunctive
लोकोक्ति-संबंधी वर्तमान	Gnomic Present

वचन	Number
वर्ग	Group
वर्णनात्मक भूत	Narrative Past
वर्ण-विपर्यय	Metathesis
वर्तमान	Present
वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Present Participle
वर्तमान विकरण या मूल रूप	Present Theme
वर्तमान सभाव्य	Present Conditional
वाक्य-रचना	Syntax
वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विन्यास, वाक्य-रचना, वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विस्तार	Periphrase
वाक्यांश या पद-समष्टि	Phrase
वाक्यो आदि का असम्बद्ध विन्यास	Parataxis
वाच्य	Voice
विकरण	Theme
विकरण-युक्त	Thematic
विकरण-युक्त रूप-रचना	Thematisation
विकरण-युक्त स्वर	Thematic Vowel
विकल्प	Alternative
विकार	Variation
विकृत कर्म कारक	Oblique Regime
विकृत कारक	Oblique Case
विकृत रूप	Oblique
विकृत रूप-सबधी मूल्य	Oblique Values
विकृत संक्षिप्ति	Secondary Abridgement
विच्छेद	Hiatus
विद्धतापूर्ण, वैकल्पिक	Facultative
विधेय	Predicate

विधेयात्मक	Predicative
विधेयात्मक पर-प्रत्यय	Predicative Suffix
विपर्यस्त	Inverse
विप्रकर्ष, स्वर-भक्ति	Anaptyxis
विभाजक	Disjunctive
विराम	Stop
विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया-विशेषण	Adversative Adverb
विवृत्ति, विच्छेद, प्रगृह्य	Hiatus
विवेचन-सूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Deliberation
विशेष	Forte
विशेषण	Adjective, Epithet
विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना	Adjectival Flexion
विशेषणबोधक शब्द	Epithet
विशेष्य, संज्ञा	Substantive
विषमीकरण, असावर्ण्य, वैरूप्य	Dissimilation
विस्तार	Extension
वैकल्पिक	Facultative
वैकल्पिक सामान्यीकरण	Facultative Normalisation
वैरूप्य	Dissimilation
व्यंजन-संबंधी विकरण या मूल रूप	Consonantal Theme
व्याकरण का प्रत्यय, शब्द-रूप, शब्द-रूपावली	Accidence
व्याकरणीय कर्त्ता	Grammatical Subject
व्याप्ति	Enlargement
व्युत्पत्ति	Derivation
व्युत्पन्न	Derivated
व्युत्पन्न रूप	Derivative
शकार ध्वनि	Hissing Sound
शक्यताबोधक	Potential
शब्द, पद	Term

शब्द-बाहुल्य-युक्त, स्वार्थिक	Pleonastic
शब्द-रूप	Inflexion
शब्द-रूपावली	Accidence
शब्द-रेखा	Isogloss
शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र	Etymology
शब्दांश	Syllable
शित्-ध्वनि	Sibilant
शून्य	Zero
शून्य पर-प्रत्यय	Zero Suffix
शून्य प्रत्यय	Zero Desinence
शून्य रूप	Zero Form
शून्य श्रेणी	Zero Degree
श्रेणी	Degree
श्रेणी-सूचक	Denominative
श्लेष पद	Amphibology
षष्ठी तत्पुरुष	Possessive Compound
संकेत चिन्ह	Notation
संक्षिप्त	Gnomical
संक्षिप्ति	Abridgement
संज्ञा	Noun, Substantive
संज्ञा-रूप, सुबन्त प्रकरण	Declension
संज्ञा-रूप-योग्य	Declinable
सन्ध्यक्षर	Diphthong
सम्प्रदान	Dative
संबंध	Appurtenance, Alliance
संबंध कारक	Genitive
संबंधवाचक	Relative
संबंधवाचक क्रियाविशेषण	Relative Adverb
संबंधवाचक सर्वनाम	Relative Pronoun

संबंधवाची कृदन्त	Participle of Obligation
संबंधवाची तमबन्त (विशेषण)	Relative Superlative
संबंधवाची विशेषण	Adjective of Appurtenance
संबंध-सूचक संज्ञा	Related (Parented) Noun
संबद्ध	Affixed
संबोधन कारक	Vocative
संभावक प्रकार	Optative
संभावनात्मक विशेषण	Adjective of Possibility
संभाव्य	Conditional, Conjunctive
संयुक्त	Complex, Group, Periphrastic
संयुक्त क्रियापद	Compound Verb
संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली	Compound Locution
संयुक्त-स्वर, सन्ध्यक्षर	Diphthong
संयोग-रहित पद-क्रम, वाक्यों आदि का असंबद्ध विन्यास	Parataxis
संयोजक	Copula
संवृत	Closed
संशयार्थसूचक, लेट्-लकार	Subjunctive
सहिति	Combination
सकर्मक	Transitive
सकर्मक विकरण	Transitive Theme
सकारात्मकता	Affirmation
सतततासूचक	Durative
सतततासूचक वर्तमान	Present Durative
सबल	Strong
स-भविष्यत्	Sigmatic
समानता	Apposition
समान-वाक्य सयोजक	Co-ordinating
समानाश्रय	Co-ordination
समापिका क्रिया	Finite Verb
समास	Compound

समीकरण	Assimilation
समुच्चयबोधक	Cumulative, Conjunction, Conjunctive
समुदाय, वर्ग, संयुक्त, गण	Group
स-युक्त भविष्यत्	Sigmatic Future
स-युक्त सामान्य अतीत	Sigmatic Aorist
सरल किया हुआ	Simplified
सरल या मौलिक काल	Simple Tense
सरल या सामान्य या मौलिक	Simple
सरलीकरण	Simplification
सर्वनामजात	Pronominal
सर्वनामजात प्रत्यय	Pronominal Suffix
सर्वनामजात विकरण	Pronominal Theme
सर्वनामजात विकृत रूप	Pronominal Oblique Case
सर्वनामजात विशेषण	Pronominal Adjective
सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण	Pronoun-Adjective
सहायक (क्रिया)	Auxiliary
सांख्यिक	Statistic
साक्षात्	Direct
साक्षात् रूप मे	Directly
सातत्यार्थक भूत	Durative past
साधारण	Normal
साधारण विकरण	Simple Theme
साधित, यौगिक, व्युत्पन्न, निकला हुआ, साधित शब्द, व्युत्पन्न रूप	Derivative
साधित धातु, गौण धातु	Secondary Root
सान्निध्य	Juxtaposition
सामर्थ्यबोधक	Acqusitive
सामान्य	Nominal, Simple, Common, Normal
सामान्य (विशेषण)	Positive

सामान्य अतीत, लुङ्-लकार	Aorist
सामान्य अतीत-संबंधी विकरण या मूल रूप	Aorist Theme
सामान्य कर्मवाच्य	Medio Passive
सामान्यीकरण	Normalisation
सामासिक रूप	Compound Form
सिद्ध धातु, मूल धातु	Primary Root
सुप्प्रत्यय, उपसर्ग	Affix
सुबन्त प्रकरण	Declension
सुर, लहजा	Intonation, Tone
सूक्ष्म भेद	Nuance
सूत्र, नियम	Formula
सूत्र या कहावत-संबंधी, संक्षिप्त	Gnomical
सोष्म, घर्ष	Spirant
स्थान-पूर्ति	Substitution
स्थानवाची पर-प्रत्यय	Suffix of Position
स्थानीय नामों से संबंधित	Toponomastic
स्पर्श	Occlusive
स्पर्शता	Occlusion
स्फोट	Release
स्फोटक ध्वनि	Explosive
स्वनत वर्ण, कोमल	Sonant
स्वनग्राम	Phoneme
स्वयंवाची	Inclusive
स्वर-पद्धति या प्रणाली, स्वरोच्चार-पद्धति, स्वरान्विति	Vocalism
स्वर-भक्ति, विप्रकर्ष	Anaptyxis
स्वर-भेदक चिन्ह	Diacritical Mark
स्वर-मध्यग	Intervocal
स्वरयंत्रमुखी, काकल्य, कण्ठद्वारीय	Glottal
स्वर वर्ण या शब्दांश-लोप, अदर्शन, अभिनिधान	Elision

स्वर-संधि	Contraction
स्वर-संबंधी	Vocalic
स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance (Fr.)
स्वर-संबंधी प्रत्यय	Vocalic Desinence
स्वराघात	Pitch Accent
स्वराघात, बल	Acccent
स्वराघात-विहीन शब्दांश	Proclitic
स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance
स्वरात्मक विकरण या मूल रूप	Vocalic Theme
स्वरान्विति	Vocalism
स्वरित	Circumflex
स्वरित करना	Accentuate
स्वरित होना	Accentuation
स्वरोच्चार	Vocalism
स्वार्थिक	Pleonastic
हेतुक	Causal

अँगरेजी–हिन्दी

Ablative	अपादान
Ablaut	अपश्रुति
Abridgement	संक्षिप्ति
Absolute	पूर्ण
Absolute Genitive	पूर्ण संबंध कारक, अनन्वित संबंध कारक
Absolute Superlative	पूर्ण (या अनन्वित) तमवन्त (विशेषण)
Absolutive	पूर्वकालिक कृदन्त
Abstract	भाववाचक, अमूर्त
Abstract Noun	भाववाचक संज्ञा
Abstraction	भाववाचकत्व, अमूर्तत्व
Accent	स्वराघात, बल
Accentuate	स्वरित करना
Accentuation	आघात, स्वरित होना
Accidence	व्याकरण का प्रत्यय, शब्द-रूप, शब्द-रूपावली
Accord	एकरूपता
Accusative	कर्म कारक
Acquisitive	सामर्थ्यबोधक
Active	कर्तृवाच्य
Active Participle	कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Active Prefect	कर्तृ० पूर्ण०
Active Present Participle	कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Active Verb	कर्तृवाची क्रिया

Actual Present	यथार्थ वर्तमान
Acute	उदात्त
Adaptation	अनुकूलत्व, अनुकूल रूप
Adjectival Flexion	विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना
Adjective, Adjective-Epithet	विशेषण
Adjective of Appurtenance (Possession)	सबंधवाची विशेषण
Adjective of Obligaton	सबंधजात या बन्धनसूचक विशेषण
Adjective of Possibility	सभावनात्मक विशेषण
Adjunction	अनुबंधता, योग
Adverb	क्रिया-विशेषण
Adverbial	क्रिया-विशेषणमूलक
Adverbial Accusative	क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक
Adverbial Suffix	क्रिया-विशेषणमूलक पर-प्रत्यय
Adversative Adverb	विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया-विशेषण
Affirmation	सकारात्मकता
Affix	सुप्प्रत्यय, उपसर्ग
Affixation	आगम, सयोग
Affixed	सबद्ध
Agent	कर्तृवाची
Agglutinate	योग या सयोग उपस्थित करना
Agglutinating	योगात्मक
Alliance	सबंध
Alteration	परिवर्तन
Alternance	परिवर्तन-क्रम, एकान्तरकरण
Alternant Radical	परिवर्तनीय मूल
Alternative	विकल्प
Amphibology	श्लेष पद
Analogy	औपम्य, सादृश्य
Anaphoric	आवृत्तिमूलक

Anaptyxis	स्वर-भक्ति, विप्रकर्ष
Ancient Present	प्राचीन वर्तमान
Animate	चेतन
Anterior	पूर्व
Aorist	सामान्य अतीत, लुङ्-लकार
Aorist Theme	समान्य अतीत-संबंधी विकरण या मूल रूप
Apocope	अन्त्य वर्ण-लोप
Appositon	अनुकूलता, समानता
Appurtenance	संबंध
Archaism	आर्ष प्रयोग
Article	उपपद, उपसर्ग
Articulated	उच्चरित
Articulation	उच्चारण
Aspirate	महाप्राण
Aspirate Palatal	महाप्राण तालव्य
Aspiration	प्राणागम (हकार), महाप्राणीकरण
Assimilation	समीकरण
Asyndet	लुप्त समुच्चयबोधक
A-thematic	अ-विकरणयुक्त
Atrophy	क्षीणता
Attribution	गुणारोपण
Augment	आगम
Auxiliary	सहायक (क्रिया)
Cardinal Vowel	प्रधान स्वर
Case	कारक
Causal	हेतुक
Causative	प्रेरणार्थक धातु, णिजन्त
Causative Noun	प्रेरणार्थक धातुमूलक संज्ञा
Cerebral	मूर्द्धन्य

Checked Consonant	अवरुद्ध व्यंजन
Circumflex	स्वरित
Circumstantial Case	परिस्थितिसूचक कारक
Closed	संवृत
Collective Compound	द्विगु
Combination	संहिति
Common	सामान्य
Comparative	तुलनात्मक (विशेषण)
Comparison	तुलना
Complement	पूरक
Completive	पूर्णताबोधक
Complex	मिश्र, संयुक्त, दुरूह
Complex Postposition	दुरूह परसर्ग
Composition	रचना
Compound	समास
Compound Form	सामासिक रूप
Compound Locution	संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली
Compound of Appurtenance	बहुव्रीहि समास
Compound Verb	संयुक्त क्रियापद
Conclusive	अनुधारणात्मक
Conditional	संभाव्य
Conjugation	क्रिया-रूप, तिङन्त-प्रकरण
Conjunction, Conjunctive	योग, समुच्चयबोधक, असमापिका, संभाव्य
Conjunctive Participle	असमापिका क्रिया
Consonantal Theme	व्यंजन-संबंधी विकरण या मूल रूप
Construction	रचना
Continuative	निरन्तरताबोधक
Contraction	स्वर-संधि
Co-ordinating	समान-वाक्य संयोजक
Co-ordination	समानाश्रय

Co-ordinative Compound	द्वन्द्व समास
Copula	संयोजक
Co-relative	नित्य संबंधी
Couple	युग्म
Cumulative	समुच्चयबोधक
Dative	सम्प्रदान
Deaspiration	अल्पप्राणीकरण
Declension	सज्ञा-रूप, सुबन्त प्रकरण
Declinable	सज्ञा-रूप-योग्य
Definite	मुख्य, निर्देशक, निश्चित
Definite Article	मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद
Definite Present	निश्चयार्थ वर्तमान
Degree	अश, श्रेणी, मात्रा
Demonstrative	निश्चयवाचक
Denasalised	अनुनासिकताविहीन, अनासिक्य
Denominative	नामधातु, श्रेणीसूचक
Dependent.	आश्रित
Derivated	साधित, यौगिक, व्युत्पन्न, निकला हुआ
Derivation	व्युत्पत्ति
Derivative	साधित शब्द, व्युत्पन्न रूप
Desiderative	इच्छार्थक
Desinence	प्रत्यय, अंत
Determinate Value	निर्धारक महत्त्व
Determination	निर्धारण
Determinative Compound	तत्पुरुष समास
Determined	निर्धारित
Diacritical Mark	स्वर-भेदक चिन्ह
Diminutive	अल्पार्थक
Diphthong	सयुक्त-स्वर, सन्ध्यक्षर
Direct	मुख्य, मूल, साक्षात्, प्रत्यक्ष

Directly	मूल रूप में, साक्षात् रूप में, प्रत्यक्ष रूप मे, मुख्यतः
Direct Regime	मुख्य कर्म कारक
Disjunctive	विभाजक
Dissimilation	विषमीकरण, असावर्ण्य, वैरूप्य
Dissyllabic	द्व्यक्षरात्मक
Double	द्विगुण
Double Alternance	द्वित्वयुक्त परिवर्तन-क्रम
Doublet	एक-मूलक भिन्नार्थी दो शब्दों से एक, युग्मक
Doubling	द्वित्व
Dull	मंद
Durative	सतततासूचक
Durative Past	अनद्यतन भूत, सातत्यार्थक भूत
Echo Word	प्रतिध्वनित शब्द
Elision	स्वर-वर्ण या शब्दांश-लोप, अदर्शन, अभिनिधान
Elongation	दीर्घरूपता
Enclitic	प्रत्ययांश
Enlargement	व्याप्ति
Epenthesis	अपनिहिति
Epigraph	उत्कीर्ण लेख
Epithet	विशेषणबोधक शब्द
Etymology	शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र
Eventuality	अनिश्चितता
Eventual Mood	अनिश्चित क्रियार्थ-भेद
Explosive	स्फोटक ध्वनि
Expressive	अभिव्यंजक
Expressive Form	अभिव्यंजक रूप
Extension	विस्तार

Factitive	द्विकर्मक धातु-संबंधी
Facultative	विद्वत्तापूर्ण, वैकल्पिक
Facultative Normalisation	वैकल्पिक सामान्यीकरण
Finite Verb	समापिका क्रिया
Flexion	रूप-रचना
Formation	रचना
Formula	सूत्र, नियम
Forte	विशेष
Frequency	आवृत्ति
Future Participle	भविष्यत्कालिक कृदत
Future Perfect	पुराघटित भविष्य
Future Progressive	घटमान भविष्यत्
Geminated	पुनरावृत्त
Gemination	पुनरावृत्ति (ज़ोर देने के लिये), द्विगुणन, यम
Gender	लिंग
Genitive	संबंध कारक
Gerund, Gerundive	क्रियामूलक विशेष्य
Glottal	स्वर-यंत्रमुखी, काकल्य, कंठद्वारीय
Gnomical	सूत्र या कहावत-संबंधी, संक्षिप्त
Gnomic Present	लोकोक्ति-संबंधी वर्तमान
Grammatical Subject	व्याकरणीय कर्त्ता
Graphy	लेखन-प्रणाली
Group	समुदाय, वर्ग, संयुक्त, गण
Guttural	कंठ्य
Haplology	ध्वनि-लोप
Hiatus	विवृत्ति, विच्छेद, प्रगृह्य
Hissing Sound	शकार ध्वनि
Historic Present	ऐतिहासिक वर्तमान

Honorific	आदरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्ण, घटमान
Imperfect Participle	अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक, भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अतरग स्फोट
Implosive	अतरग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताबोधक
Inchoative Verb	प्रारंभिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत, स्वयंवाची
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ, निर्देशक क्रिया-भाव
Indirect	गौण, असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक सज्ञा, पूर्वकालिक क्रिया, असमापिका (धातु), क्रियासूचक सज्ञा, तुमन्त
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	शब्द-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान, मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रधान स्वराघात
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम, निवेश
Instrumental	करण, कारण

Intensity	अतिशयता, तीव्रता, उत्कर्षता
Intensive	अतिशयार्थक, उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती, अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छावरोध, प्रश्नोत्तर
Interrogative	प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यग
Intonation	सुर, लहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा, शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	सान्निध्य
Labial	ओष्ठ्य
Labio-Velar	कंठ्योष्ठ्य
Liquid	अन्तस्थ (द्रव वर्ण)
Living Subject	चेतन कर्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्ता
Logical Subject of Action	कार्य का न्यायानुकूल कर्त्ता
Long	दीर्घ, गुरु
Long Degree	दीर्घ श्रेणी, दीर्घ मात्रा
Long Form	दीर्घ रूप

Medio Passive	सामान्य कर्मवाच्य
Metathesis	वर्ण-विपर्यय
Middle Participle	मध्य कृदन्त
Mi-occlusive	मध्य-स्पर्श
Modal	प्रकार-विषयक
Modal Forms	क्रियार्थ-भेद-रूप
Modulation	लय-परिवर्तन
Monosyllabic	एकाक्षरात्मक
Mood	प्रकार, क्रियार्थ-भेद, क्रिया-भाव
Mood of Deliberation	विवेचनसूचक क्रियार्थ-भेद
Mood of Subordination	आश्रयसूचक क्रियार्थ-भेद
Morpheme	रूपमात्र
Morphology	आकृति-विचार, रूप-विचार
Multiple Group	बहुपदी समुदाय, अपवर्त्य समुदाय
Mute	ऊष्मत्व खोकर स्पर्श मे परिणति
Narrative Past	वर्णनात्मक भूत
Nasal	अनुनासिक
Nasal Infix	अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय
Negative	नकारात्मक
Neuter (Gender)	उदासीन, नपुसक लिंग
Neuter Participle	भावे प्रयोग
Neutralisation	उदासीनता, दुर्बलता, नाश
Nominal	नामजात, सामान्य
Nominal Complement	नामजात पूरक
Nominal Desinence	नाम प्रत्यय
Nominal Flexion	नामजात रूप-रचना
Nominal Form	नामजात रूप
Nominal Oblique	नामजात विकृत रूप
Nominal Suffix	नामजात पर-प्रत्यय
Nominal Theme	नामजात विकरण

Nominative	कर्त्ता कारक
Non-alternant Theme	अपरिवर्तनीय विकरण
Non-aspirate Palatal	अप्राण तालव्य
Non-verbal	अ-क्रियामूलक
Norm	आदर्श
Normal	सामान्य, साधारण
Normalisation	सामान्यीकरण
Notation	संकेत-चिन्ह
Noun	संज्ञा
Noun of Action	कार्यवाची सज्ञा
Noun of Agency	कर्तृवाची संज्ञा
Nuance	सूक्ष्म भेद
Number	वचन
Objective Case (Regime)	कर्म कारक
Obligation	बन्धन
Oblique	विकृत रूप
Oblique Case	विकृत कारक
Oblique Regime	विकृत कर्म कारक
Oblique Values	विकृत रूप-सबधी मूल्य
Obstruction	अवरोध
Occlusion	स्पर्शता
Occlusive	स्पर्श
Optative	आदरार्थ, संभावक प्रकार
Orthography	अनुलेखन-पद्धति
Palatal	तालव्य
Paradigm	तिङ
Parataxis	सयोग-रहित पद-क्रम, वाक्यों आदि का असबद्ध विन्यास
Participial	कृदन्ती

Participial Epithets	कृदन्ती गुणवाचक विशेषण
Participial Tense	कृदन्ती काल
Participial Theme	कृदन्ती विकरण या मूल रूप
Participle	कृदन्त, क्रियामूलक विशेषण
Participle of Obligaton	सम्बन्धवाची कृदन्त
Participle-Substantive	कृदन्त-विशेष्य (संज्ञा)
Particle	निपात
Passive	कर्मवाच्य, कर्मणि
Passive Theme	कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप
Past Conditional	भूत संभाव्य
Past Participle	भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Past Perfect	पुराघटित अतीत
Past Verbal Form	भूतकालिक क्रियामूलक रूप
Perfect	पूर्ण, पुराघटित
Perfect Participle	पुराघटित कृदन्त, पूर्ण कृदन्त
Perfective	पूर्णकारी
Periphrase	वाक्य-विस्तार
Periphrastic	मिश्र, यौगिक, संयुक्त
Permissive	अनुमतिबोधक
Person (First, Second, Third)	पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम)
Personal	पुरुषवाचक
Personal Verb	पुरुषवाचक क्रिया
Phoneme	ध्वनि-मात्र, ध्वनि-श्रेणी, स्वनग्राम
Phonetic	ध्वनि-सम्बन्धी
Phonology	ध्वनि-तत्त्व
Phrase	वाक्यांश या पद-समष्टि
Pitch Accent	स्वराघात
Pleonastic	शब्द-बाहुल्य-युक्त, स्वार्थिक
Pluperfect	असंपन्न भूत
Polysyllable	अनेकाक्षर

Positive	सामान्य (विशेषण)
Possessive Compound	षष्ठी तत्पुरुष
Postposition	परसर्ग, अनुसर्ग
Postposition of Origin	मूलवाला परसर्ग
Potential	शक्यताबोधक
Precative	आशीर्वादात्मक
Pre-desinencial	पूर्व-प्रत्यय-संबंधी
Predicate	विधेय
Predicative	विधेयात्मक
Predicative Suffix	विधेयात्मक पर-प्रत्यय
Prefix	पुरःप्रत्यय
Premier Term	आदि शब्द
Prepalatal	तालव्याग्रीय
Preposition	उपसर्गात्मक अव्यय, कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग, अव्यय रूपी उपसर्ग, उपसर्ग, पूर्वसर्ग
Present	वर्तमान
Present Conditional	वर्तमान संभाव्य
Present Durative	सततासूचक वर्तमान
Present Participle	वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Present Perfect	पुराघटित वर्तमान
Present Progressive	घटमान वर्तमान
Present Theme	वर्तमान० विकरण या मूल रूप
Preterite	अतीत काल
Preverb	पूर्वक्रिया
Primary	मूल, प्राथमिक, नित्य
Primary Desinence	मुख्य प्रत्यय
Primary Root	सिद्ध धातु, मूल धातु
Primary Suffix	कृत्प्रत्यय
Proclitic	स्वराघातविहीन सम्बांश

Progression	पुरोगमन
Progessive	प्रगतिबोधक, वटमान, पुरोगामी
Progessive Normalisation	पुरोगामी सामान्यीकरण
Prolonged	दीर्घ
Pronominal	सर्वनामजात
Pronominal Adjective	सर्वनामजात विशेषण
Pronominal Oblique Case	सर्वनामजात विकृत रूप
Pronominal Suffix	सर्वनामजात प्रत्यय
Pronominal Theme	सर्वनामजात विकरण
Pronoun-Adjective	सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण
Proper	मुख्य
Prothesis	अग्रागम
Quantitative	मात्राकालिक
Quantity	मात्रा-काल
Radical	मूल या प्रातिपदिक
Radical Noun	मूल या प्रातिपदिक संज्ञा
Radical Theme	मूल विकरण
Radical Verb	मूल क्रिया
Radical Vocalism	मूल स्वर-पद्धति
Radical Vowel	मूल स्वर
Real	यथार्थ
Rection	प्रभाव
Recursive	आश्वसित ध्वनि
Redoubled	द्वित्वयुक्त, पुनरावृत्त, आवृत्ति वाला
Reduced	न्यून
Reduction	न्यूनत्व, परिवर्तन, प्रह्रासन
Redundant	अतिरिक्त
Refection	पुनर्निर्मित रूप

Reflective	निजवाचक
Regime	कर्म कारक
Regressive	पश्चगामी
Regular Formation	नियमित रचना
Reinforcement	बल
Related (Parented) Noun	संबंधसूचक संज्ञा
Relative	संबंधवाचक
Relative Adverb	संबंधवाचक क्रिया-विशेषण
Relative Pronoun	संबंधवाचक सर्वनाम
Relative Superlative	संबंधवाची तमबन्त (विशेषण)
Release	स्फोट
Retroflexion	मूर्द्धन्यत्व
Rhythmic	लयात्मक
Root	धातु
Scansion	छन्द-मात्रा-गणना
Secondary	गौण
Secondary Abridgement	गौण या विकृत संक्षिप्ति
Secondary Desinence	गौण प्रत्यय
Secondary Root	साधित धातु, गौण धातु
Secondary Suffix	तद्धित प्रत्यय
Semantic	अर्थ-विचार-संबंधी
Semi-vowel	अर्द्ध-स्वर
Short	लघु
Sibilant	शित्-ध्वनि
Sigmatic	स-भविष्यत्
Sigmatic Aorist	स-युक्त सामान्य अतीत
Sigmatic Future	स-युक्त भविष्यत्
Simple	सरल, सामान्य, मौलिक
Simple Tense	सरल या मौलिक काल
Simple Theme	साधारण विकरण

Simplification	सरलीकरण
Simplified	सरल किया हुआ
Solid	कठोर
Sonant	स्वनंत वर्ण, कोमल
Sonore	घोष, मुखर
Sonority	मुखरता
Sonore Whispered	मुखर फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Spirant	सोष्म, वर्ष
Statical	गत्यर्थक
Statistic	सांख्यिक
Stop	विराम
Stress Accent	बलाघात
Stroke of Glottis	काकलाघात
Strong	सबल
Subject	कर्ता
Subject Case	कर्तृ कारक
Subjunctive	सशयार्थसूचक, लेट्-लकार
Subordinate	आश्रित
Subordinating	आश्रित वाक्य-संयोजक
Subordination	आश्रित वाक्य-योजना
Substantive	विशेष्य, संज्ञा
Substitution	स्थान-पूर्ति
Suffix	पर-प्रत्यय (अथवा केवल प्रत्यय)
Suffix of Position	अवस्थावाची या स्थानवाची पर-प्रत्यय
Superlative	तमबन्त (विशेषण)
Surd	कठोर, अघोष
Surdity	कठोरत्व, अघोषत्व
Syllabic	अक्षरात्मक
Syllable	शब्दांश
Syntax	वाक्य-विन्यास, वाक्य-रचना, वाक्य-विचार

Tentative	प्रयोगार्थक
Term	शब्द, पद
Terminal	अंत का
Termination	अन्त्य रूप
Thematic	विकरण-युक्त
Thematic Vowel	विकरण-युक्त स्वर
Thematisation	विकरण-युक्त रूप-रचना
Theme	विकरण
Tone	सुर, लहजा
Toponomastic	स्थानीय नामों से संबंधित
Transitive	सकर्मक
Transitive Theme	सकर्मक विकरण
Tsigane (Fr.)	जिप्सी-भाषा
Unification	एकीकरण
Unreal	अयथार्थ
Unreal Conditional	अयथार्थ संभाव्य
Unvoicing	अघोषत्व
Value	महत्त्व, मूल्य
Variation	विकार
Verbal	क्रियामूलक
Verbal Adjective	क्रियामूलक विशेषण
Verbal Desinence	क्रियामूलक प्रत्यय
Verbal Flexion	क्रिया की रूप-रचना
Verbal Form	क्रियार्थक रूप
Verbal Noun	क्रियामूलक संज्ञा
Verbal Present	क्रियामूलक वर्तमान
Verbal Radical	क्रियाजात मूल
Verbalisation	क्रिया-भाव
Verb of Existence	अस्तित्वसूचक क्रिया

Vibration	कंपन
Vocalic	स्वर-संबंधी
Vocalic Alternance (Fr.)	स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण
Vocalic Degree of Radical	मूल का स्वरात्मक अंश
Vocalic Desinence	स्वर-संबंधी प्रत्यय
Vocalic Theme	स्वरात्मक विकरण या मूल रूप
Vocalism	स्वर-पद्धति या प्रणाली, स्वरोच्चार-पद्धति, स्वरान्विति
Vocative	संबोधन कारक
Voice	वाच्य
Voicing	घोषत्व
Weak	निर्बल
Whispered	फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Zero	शून्य
Zero Degree	शून्य श्रेणी
Zero Desinence	शून्य प्रत्यय
Zero Form	शून्य रूप
Zero Suffix	शून्य पर-प्रत्यय

अनुक्रमणिका

लेखकानुक्रमणिका—

आर० एल० टर्नर २२, २५, २६, ३४, ६३, ६५, ८०, ८६, ९४, १९०, २१२, २८०, २९०, २९३, ३४०, ३५२

आर० वी० राममूर्ति ३४९

आर्नल्ड २४५

ई० लेवी २

ए० मेइए १, २०, २२, २४, ३६, ३८, ३९, ५७, ६७, ८०, १०० १६६, २२४, २२५, २३१, २३५ २३६, २४५, २७२, ३२८, ३३४

ए० स्टाइन २५

एच० जाकोबी २५, ५१, ३०३

एच० स्मिथ ९, २५, ४६, ४७, ५०, ६२, ६९, ७१, ७२, ९७, १४७, १६६, १९०, ३०७

एफ़० डब्ल्यू० टॉमस १६३, ३०५

एन० सी० चैटर्जी ३३७

एम० एच० स्मिथ १५

एम० घोष १०

एल० तैसृनिएर २०

एल० नित्ती (कुमारी) २३

एस० के० चैटर्जी १०, २५ ५२, ६५, ३४६

एम० लेवी ४, ५, ९, १०, २२, ३२, ३६, ६३, ७७, १२०, ३२६, ३४५

एस० वर्मा १६२

एस० स्मिथ २४

ऐंडर्सन २१७, ३१६

कबीर २९०

क़ादरी ६८

काल्डवेल १६७

कुमारिल ३४८

कुरीतोविच १२४

कुरीलोविच ६४, २३२

कोनोव ८

गाइगेर २४

गार्व १६६

ग्रासमन ७८

ग्रियर्सन, दे०, जॉर्ज ग्रियर्सन

ग्रैवोस्का ३८

ग्रैहम बेली २६, ६२

गौरीशंकर १७५

चटर्जी, दे०, एस० के० चैटर्जी

जाकोबी, दे०, एच० जाकोबी

जायसी २१७

जॉर्ज ग्रियर्सन ६, १६, १७, २१, २५, २६, ५६, ६१, ८०, १०२, २१६, २८०

जे० ब्लॉख २४, २५, २६
जे० सैम्पसन २६
टर्नर, दे०, आर० एल० टर्नर
टी० गांगोली ३४१
टेसिटरी २५, १९३
टोलेमी ३२
डब्ल्यू० गाइगेर, दे०, गाइगेर
डी० सी० सेन ३४१
डेलब्रूक २४
तुकाराम २९८
तुलसीदास १८२, १८९, १९०, १९३, १९५, १९८, २१७, २६०, २८७, २९७, ३२६
तेदेस्को ३५२
दवे २१२
दोवरे १८५, २६०, २८४
पतंजलि ७९, ९५, २७३, ३२६
पाणिनि ४८, ५०, ८०, ८२, ८५, १४२, १७०, १७१, १७८, २३९, २७४, २९०, ३३४
पिशरोती ४८
पिशेल २४, ५१, ७१, २८२, २८४
पी० सी० बागची ३४५
प्रिझिलुस्की ८, ६१, ९५, ३४५
बॉवनिस्त १५, २३, २४, ११८, १२९, २७५, ३२८
बागची ३४६
बाबूराम सक्सेना २५
बार्थोलोमी १६३, १६६
बार्नेट २५
बी० घोष २३०
बी० दास जैन ४६, ५१
बीम्स २५
बुर्ले २०३
बोलिंग १६७
ब्रूगमन २१४
मास्टर ६८
मिकेल्सन ३६, ८९
मेइए, दे०, ए० मेइए
मेक्डानेल २४
मैकैलिस्टर २६
मौरगेन्सटिएर्न १९, २६, १७७, २००, २१४, ३५२
रघुबरदासजी ३४१
रनू २३, २४, ११९, १३६, ३०४
राइखेल्ट १, २४
ल्यूडर्स १०, ५८, १४३, १६३
ल्यूमन ४६
वाड्येस २३०
वाकरनागेल ५, २४
वी० हेनरी १७०
वूलनर १९, २४
शहीदुल्ला १५, २५
साहनी ८०
सिओं ३
सिलवें लेवी, दे०, एस० लेवी
स्कोल्ड ५८
स्टाइन २५
स्पेयर २४
हर्तेल ३५२
हरिऔध ३४१
हीरालाल २०२

हुल्श २४
हूल्नर स्मिथ २३
होमर ११४

ग्रन्थ, लेख तथा पत्रिकानुक्रमणिका—

'अथर्ववेद', ६१, २२५, २३८, २७६, २७७, ३०० आदि
'अ प्रोपो दु सबजौंकतीफ़ वेदीक' २४
'अल्टिंडिशे सिन्टैक्स' २४
'अवेस्त० ऐलीमें०', दे०, 'आवेस्तिशेस....'
'अवेस्तिशेस उंठ संस्कृत सिन्टैक्स' २४
'अशोक ऐ ल मागधी' २४
'अशोक टेक्स्ट ऐंड ग्लोसरी' २४
'आर० ऐ स्लाव' २३६
'आई० एच० क्यू०' १०
'आई० एफ़०' २६, ५७, ६७
'आउफ़सात्से ई० कूह्न' ५८
'ऑन द ऑर्ल इंडो-एरियन वर्नाक्युलर्स' २५
'आरकियोलोजीकल सर्वे' ८०
'आल्टइंडिशे ग्रैमेटीक' २४
'आवेस्तिशेस ... कुलीनेराजूर' तथा 'अवेस्त० ऐली मैं०' १, २४
'आशुतोष मेमोरियल' १७०
'आशु० मुकर्जी जुबिली वॉल्यूम' ३४
'इंडोलोजान' २४५
'इंडि० ऐंटी०' ३४०
'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' १०, ४८, ५८, ६५, ११३, १७०
'इंडो-ईरा० ग्रुंडिस्स०' ...
'इंडो-युरियन ऐंड हुँदीइज्म' २६
'इंडोकर्मनिशे फ़ोरशुन्गेन' २६
'इन्स्क्रिप्शन्स ऑव अशोक' २४
'ई-एफ़-ई-ओ' २६, ३८
'ऋग्वेद' ५८, ६०, ६१, ६९, ७८, ७९, ८४, १४९, १६६, १७१, १७२, २२५, २३०, २३१, २३२, २३८, २७३, ३४५
'ए कम्पैरेटिव ऐंड एटिमोलौजिकल डिक्शनरी ऑव द नेपाली लैंग्वेज' २६
'एटी० बोके० ऑव पश्तो' ३५२
'एत्यूद ....आर० लिनोसिए' ६३
'एत्यूद एसियातीक' ३२, ३८
'एपी० इंडि०' ७१
'एपी० ज़ेइल०' ९१, ३२५
'एम० एस० एल०' २४, २६, ३९, ६९, २३१
'ए मैनुअल ऑव फोलोजिकल हिन्दी ऐंड बैंगाली' ३२७
'एर्ग्रांहलुंगेन इन् महा०' १७३, ३०३
'एल० एस० आई०' १९, ५१, ६२, १८४, २०१, २१३, २१६, २६५, ३१८
'ऐक्टा ओरिएंट' ३०५
'ऐसी दी मूर्दो' ३...
'ओरिजिन ऐंड डिवेलेपमेंट ऑव द बैंगाली लैंग्वेज' २५
'कम्पैरेटिव ग्रैमर ऑव द मॉडर्न इंडियन लैंग्वेजेज' २४
'काम नोऊवा ओपीथ लॉजिकिंजे प्रेओनी' २४

'के० ज़ेड०' २६
'केल्क देज़ीनांस दोप्लेतीक़ आं मोयां-आंदिएँ' २४
'केल्क फ़ार्मं वर्बेल ड नूरी' २६
'क्रिटिकल पाली डिक्शनरी' ६६
'खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन्स' ८
'गुजराती फ़ोनोलोजी' २५
'गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिट्‌रेचर' ३३९
'ग्रियर्सन कौमेमोरेशन वौल्यूम' २६
'ग्रुंड्रिस' २१४
'ग्रुंड्रिस डेअर ईरानीशेन फ़ाइलोलोजी' २४
'ग्रै० ड ल्यू पर्स' २४, ३२८
'ग्रैमर ऑव शिना लैंग्वेज' २६
'ग्रैमेअर डेअर प्राकृत स्प्राख़ेन' २४
'ग्रैमेअर सस्कृत' २४
'जर्नल ऑव द जिप्सी लोर सोसायटी' २६, ६६
'जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसायटी' २६
'त्साइटश्रिफ़्ट फ्यूर फ़र्ग्लाइशेन्डे स्प्राख़-फ़ोर्शुंग' २६
'जातक' १६६
'जूर्ना एसिएतीक' २६
'जे० आर० ए० एस०' २५, २६, ५६, ६१, ६२, १६३, १९०, ३४५
'जे० ए० एस०' ४, ९, २६, १२०, ३४५
'जे० ए० ओ० एस०' ३६,८९
'जे० जी० एल० एस०' २६
'टोलेमी, ल निद्देस' ३२
'डिवलेन्शन ऑव द नाउन इन द रामायण ऑव तुलसीदास' २५
'डोनम नेटालिसियम श्रिकनेर' ३६
'तुलसीचरित्' ३४१
'त्रेतमां द्‌ ग्रूप संस्कृत सीफ़्लांत +म्' २५
'दि गविमथ इन्सक्रि० ऑव अशोक' ८६
'द डायलेक्ट ऑव द जिप्सीज़ ऑव वेल्स' २६
'द लिट्‌रेरी लैंग्वेजेज़' २६
'द लैंग्वेज ऑव द अश्कुन काफ़िर्स' २६
'द लैंग्वेज ऑव द नवर ऑर ज़ुट (Zutt),
'द वर्ब इन द आर० ऑव टी०' २५
'द नोमेड स्मिथ्स ऑव पैलेस्टाइन' २६
'दाइलेक्त आंदो-योरोपिएँ' १
'देज़ीनांस द्‌ ताप अपभ्रंश आं पाली' २४
'नोट्‌स ऑन द ग्रैमर ऑव ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी' २५
'पाली रीडर' २१७
'पाली लिट्‌राट्यूर उंठ स्प्राख़' २४
'पेपर्स ऑन पाणिनि' ५८
'पैशाची' ३४२
'पोज़ीशन ऑव रोमनि' २८०
'प्री-एरियन ऐंड प्रो-ड्रैवेडियन इन् इंडिया' ३४५
'प्रेज़ेन्ट रिक्वायर्‌मेंट्‌स ऑव इंडो-एरियन रिसर्च' २६
'फ़ेस्टश्रिफ़्ट याकोबी' ४६, ६३, ८०, ९९, १६६
'फ़ेस्टश्रिफ़्ट वाकरनागेल' ५८
'फ़ेस्टश्रिफ़्ट विंडिश' ७४
'बी० एस० एल०' २४, २६, ४७, ९९,

१००, ११८, १२९, १६६, १९०, २०३, २२५, २३१, २३५, २७२, २७५, ३३४, ३५२
'बी० एस० ओ० एस०' २४, ४६, ४८, ६१, ६५, १८५, १९१, २६०, २८४, २९०, ३४६
'बुलेटीन ऑव द स्कूल ऑव ऑरिएटल स्टडीज' २६
'बूलेतां द ला सोसिएते द लांग्विस्तीक द पारी' २६
'बृहत्कथा' ३४२
'बेंगाली प्रोज स्टाइल' ३४१
'बूलट्युके बुद्ध० ड्रामेन' १०
'भगवद्गीता' २७६
'भविस०' ६७, १५४, १५६, २८४
'भविसत्तकहा फॉन धणवाल (Dhanavala')' २५
'महाभारत' २४३, ३२५
'मॉडर्न रिव्यु' ४२
'मेम्वार द ला सोसिएते द लैंग्विस्तीक द पारी' २६
'मेलांज दाँदिअनिज्म....' ३६
'मेलांज वेंद्रये ५२
'मैटीरियल्स' १६७
'मैटीरिअलेन' २८२,२८४
'मैनुअल आव दि बेंग० लैंग०'' ३१६
'यून तून्योर द्रैवेदिएन आं मराठ' २५
'रिकसिज्म इन् न्यु इंडो-एरियन' ६५
'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु अफ़ग़ानिस्तान' २६
'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु नॉर्थ-वेस्टर्न इंडिया' २६
'रेव्यू द एत० आर्मेनिएन' २२४
'लखीमपुरी, ए डाइलेक्ट ऑव मॉडर्न अवधी' २५
'ल तीप वेदीक' २४
'ल प्रेजांत दु वर्ब 'एत्र' आं सिगान' २६
'ल फॉर्म दोत दां आकृतीफ़ दां ल ऋग्वेद' २४
'ल फौर्मेसियों द ल लांग मराठ' २५
'ल लेजांद द लांपर्योर अशोक' ८
'लल्ला-वाक्यानि' २५
'ल वैल्युर दु पारफै दां ले हीम वैदीक' २४
'लांग द ल्यूरोप नूवेल' २०
'लांतोनेशियों आं पेंजाबी' ५२
'ला देजीनांस द दूजिएम पेर्सन दु प्लुरिएल आं नूरी' २६
'ला प्रीमीएर पेर्सन दु प्रेजांत आं कश्मीरी' २६
'लिंग्विस्टिक सर्वे' (ऑव इंडिया) ६, १६, २५
'लिंग्विस्टिका' २५
'लै फॉर्मेसियों' २३०
'लै शां मिस्तीक द कण्ह ऐ द सरह' २५
'वैदिक ग्रैमर' २४
'वैदिक मीटर' २४५
'शतपथ ब्राह्मण' ७९, ८५
'संस्कृतिक ऐलीमेंट...., द्रैवीडिक स्टडीज' १६३
'सद्दनीति' ९, १५, १४५, १४७, १५१, १५३, १६६, ३३१

'सम प्रौब्लेम्स ऑव इंडो-एरियन फ़ाइलौलौजी' २६
'सिद्धस०' १४३, १६३, १६६
'सिम्बोली ग्रैमैटीक रोजाबदौस्की' ६४, २३२
'सिंधी रिफ़्लेक्सिज़' २५, ६५
'सुर्वीवांस द संस्कृत आसीत (ASIT) आँ आँदिएन मौदर्न', २६
'सिकालिनेमार द लोम्बेके प्रैतीक दे होल पस्पूद' ४८
'सेरीब्रेलाइज़ेशन इन् सिंधी' २५
'स्टूडिया इंडो-ईरानिका' ११९, १३६, १५०
'स्तुदी बाल्तीची' १५
'हातिम्स टेल्स' २५
'हिन्द० फ़ोनेटिक्स' ६८